विश्व संस्कृति की खोज

(Discovery of World Culture)

प्रथम भाग

विश्व संस्कृति के मूल स्रोत

(वेद और जिन्दा अवेस्ता)

जयदेव वेदालंकार

प्रस्तुत ग्रन्थ विश्व संस्कृति की खोज में समस्त विश्व में लेखक ने विश्व संस्कृतियों के मूल स्रोत एवं मूल ग्रन्थों में जो संस्कृति के मुख्य सिद्धान्त उपलब्ध हैं उनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। लेखक डॉ. जयदेव वेदालंकार ने वेद, जिन्दा, अवेस्ता, बाईबिल और कुरआन मजीद के संस्कृतियों के मूल ग्रन्थों के रूप स्वीकार किया है। इस प्रथम खण्ड में वेद, जिन्दा, अवेस्ता, बाईबिल और कुरआन के भाष्यों के अनुसार ही विश्व संस्कृति का विशाल अध्ययन प्रस्तुत किया है।

प्रथम अध्याय में वेद का अर्थ, संस्कृति की परिभाषा, संस्कृति एवं कुरआन का सामान्य संस्कृतियों के अद्‌गम एवं अभिर्भाव का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

द्वितीय अध्याय में ऋग्वेदीय संस्कृति का वर्णन करते हुए समाज निर्माण के मूल सूत्र ऋग्वेद में दर्शन, गृहस्थ आश्रम व्यवस्था और संस्कृति के मौलिक सम्प्रदायों का वर्णन किया गया है।

इससे आगे सामवेदीय संस्कृति में सोमपान संस्कृति का प्रतिपादन करते हुए यजुर्वेदीय संस्कृति में कर्मकाण्ड एवं यज्ञ की प्रतिपादन करते हुए यजुर्वेदीय संस्कृति का विवेचन किया है। अथर्ववेदीय संस्कृति का वर्णन करते हुए समाज व्यवस्था, पञ्चतत्त्वरूप संस्कार, चरित्र निर्माण और गृहस्थ का सुन्दर विवेचन किया गया है। जिन्दा अवेस्ता और वेदमन्त्रों की तुलना, यज्ञ संस्कार और दर्शन का वर्णन किया है। बाईबिल की संस्कृति की विवेचना प्रस्तुत करते हुए विश्वसंरचना, आदम सन्तति, मनुष्यों का पापाचरण और प्रभु का उपदेश आदि का प्रतिपादन किया है। कुरआन की संस्कृति का वर्णन करते हुए धर्म, मर्यादा, इस्लाम की निष्ठा, ईश्वर का आदेश और पुनरुथान आदि की विवेचना की गई है। ग्रन्थ के अन्त में समीक्षा प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि संस्कृति के मूल तत्त्व वेद, जिन्दा, अवेस्ता, बाईबिल और कुरआन में समान रूप में उपलब्ध हैं।

इस ग्रन्थ में लेखक डॉ जयदेव वेदालंकार भारतीय दर्शन, धर्म और संस्कृति के सुविख्यात विद्वान हैं। आपने संस्कृति की खोज ग्रन्थ में विश्व में सौमन्यता स्थापित करने के सफल प्रयास किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ विश्व की संस्कृतियों की खोज करने वाले जिज्ञासुओं अध्येताओं अध्यापकों के लिए अनुपम कृति सिद्ध होगी। अतः यह ग्रन्थ समस्त धर्मावलम्बिओं, विश्व विद्यालयों और संस्कृति के प्रतिष्ठानों एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है।

ISBN : 81-8315-150-7
978-81-8315-150-4
1st Edition 2011

₹ 1600.00 (दो भाग में)

विश्व संस्कृति की खोज

(Discovery of World Culture)

भाग-१

विश्व संस्कृति के मूल स्रोत

(वेद, जिन्दा अवेस्ता) (बाइबिल और कुरआन)

लेखक

आचार्य डॉ० जयदेव वेदालंकार

New BBC

2011

न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन

दिल्ली भारत

आत्म निवेदन

विश्व में अनेक धर्म एवं सम्प्रदाय हैं। उन्हीं सम्प्रदायों की मूलभूत मान्यताओं एवं अवस्थाओं की जो उनमें सतत धारा प्रवाहित हो रही है, उसी के अंशों को संस्कृति कहा जाता है। विश्व संस्कृति की खोज प्रथम खण्ड के रूप में जो विश्वसंस्कृति मूल स्रोत के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। इन स्रोतों में वेद जिन्दा अवेस्ता बाईबिल और क़ुरान माने जाते हैं।

यह सर्वमान्य मत है कि विश्व संस्कृति के आदि ग्रन्थ वेद हैं। यद्यपि आधुनिक काल में आर्य एवं हिन्दुओं का वेदों को आदि ग्रन्थ मान लिया गया है, जबकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस समय वेदों का प्रादुर्भाव हुआ उस समय इस धरती पर कोई भी धर्म एवं सम्प्रदाय नहीं था। वेदों में इसलिए ही हिन्दू शब्द उपलब्ध नहीं है। केवल आर्य शब्द वेदों में मिलता है, जहाँ भी आर्य शब्द वेदों में है वह सम्प्रदाय जातिवाचक अर्थ में न होकर गुणवाचक अर्थ में आया है। आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ मानव एवं इन्सान चाहे वह किसी भी मत का हो।

वेदों के पश्चात् जिन्दा अवेस्ता का काल निश्चित किया जाता है। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों की भाषा एवं जिन्दा अवेस्ता की भाषा में अधिकतर लिपि भेद है। कुछ एक अक्षरों एवं शब्दों के भेद को छोड़कर जिन्दा अवेस्ता के मन्त्र भी प्रायः समान ही हैं।

विश्व में ईसाई सम्प्रदाय बहुत अधिक जनसंख्या के रूप में है, बाइबिल इनका पूजनीय ग्रन्थ है। ये लोग बाइबिल को ईश्वर के पुत्र ईसा मसीह के द्वारा रचित मानते हैं। एक प्रकार से इनके द्वारा यह माना गया है कि ईश्वर के पुत्र के द्वारा अवतरित होने के कारण बाईबिल ईश्वर का ही ज्ञान है।

इस्लाम के अनुयायी क़ुरआन को ईश्वर का ज्ञान मानते हुए क़ुरआन को ईश्वर के ज्ञान का नवीनतम संस्करण मानते हैं। इनकी मान्यता है कि कुरान का अवतरण हज़रत मुहम्मद की दिव्य-दृष्टि के कारण हुआ था। किन्तु कुरान यह नहीं कहता कि दिव्य-दृष्टि केवल हज़रत मुहम्मद को ही मिली थी। प्रत्येक जाति में दिव्य-दृष्टि वाले लोग उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कुरान का मत है। इसलिए सच्चा मुसलमान सभी धर्मग्रन्थों को प्यार करता है क्योंकि ये सभी धर्म भगवान् के ही बताये हुए हैं। मुहम्मद की तरह फकीर भी दिव्य-दृष्टि

सम्पन्न होते हैं अन्तर यह है कि मुहम्मद "अम्बिया" में से थे और फकीर औलिया होते हैं। संसार में जितने भी पैगम्बर हुए हैं कुरान सबको दिव्य दृष्टि सम्पन्न मानता है। मुहम्मद साहब के साथ उसका इतना ही पक्षपात है कि उन्हें कुरान धरती का आखिरी पैगम्बर मानता है और यह समझता है कि दिव्य-दृष्टि में भी मुहम्मद पहले के सभी पैगम्बरों से अधिक पूर्ण थे।

बरजख क्या है, इस पर बड़ा विवाद है। कुरान की कल्पना यह मालूम होती है कि मनुष्य का लक्ष्य आध्यात्मिकता की प्राप्ति है। आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ इसी स्थूल शरीर में हो जाता है, किन्तु इस जीवन में मनुष्य को इसका भान नहीं हो पाता। बरजख वह अवस्था है जब सूक्ष्म जीवन का भान उसे होने लगता है, यद्यपि पूरी आध्यात्मिकता की अनुभूति मनुष्य को कयामत के बाद ही होती है। बरजख एक तरह का परलोक है। अतएव बरजख के दिक्काल का वर्णन हम उस भाषा में नहीं कर सकते, जिस भाषा में इस लोक के दिक्काल का वर्णन करते हैं। बरजख की स्थिति कदाचित् अर्ध-चेतना की स्थिति है। कदाचित् वह स्वप्न अथवा सुषुप्ति है जब मनुष्य चल फिर तो नहीं सकता, किन्तु मन उसका तब भी कुछ-न कुछ काम करता रहता है। मनुष्य की पार्थिव मृत्यु केवल शरीर की मृत्यु है। उसकी आत्मा एक भिन्न प्रकार से कब्र में भी जीवित पड़ी रहती है और इसी आत्मा को कयामत के दिन उठकर ईश्वर के समक्ष जाना पड़ता है।

इस ग्रन्थ में क़ुरान की विभिन्न मान्यताओं का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया है।

यह सर्वविदित है कि ऐतिहासिक क्रम में क़ुरआन का आविर्भाव सब के बाद हुआ है। इन उपर्युक्त पवित्र ग्रन्थों में से ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान कौन सा है? इस पर अपने-अपने पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। यहाँ पर हम सारांश में यही कहना चाहेंगे कि वेद आदि ग्रन्थ होने के कारण वे ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त हैं क्योंकि यह समझ से परे है कि ईश्वर अपने ज्ञान को बार-बार परिवर्तित क्यों करेगा। मैं इस समय तक इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि बाइबिल तथा कुरान आदि वेदों के साथ-साथ पवित्र ग्रन्थ हैं। ईश्वर के ज्ञान की एक व्याख्या यह मानी जा सकती है कि ईश्वर का सार्वभौमिक ज्ञान सदा से प्रभावित है। समय-समय पर जो भी आत्माएँ ईश्वर एवं खुदा का साक्षात्कार कर लेती हैं वह ईश्वर का ज्ञान उस-उस आत्मा में अवतरित हो जाया करता है। जैसे दूरदर्शन के किसी भी चैनल को सुनना चाहते हैं तो उस चैनल के समाचार को हम सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। कालान्तर में पवित्र आत्माऐं आती रहती

हैं और आगे भी आती रहेंगी। इस प्रकार ईश्वर का आदेश एवं उपदेश भी अखिल ब्रह्माण्ड में अवतरित होता रहेगा। जैसे श्री गुरु नानक, महात्मा कबीर, स्वामी ज्ञानेश्वर के दोहों एवं वचनों का जब हम अवलोकन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी वेद मन्त्र का अनुवाद है।

जिन पवित्र ग्रन्थों की संस्कृति का वर्णन किया गया है, उन सब की भाषा का पूर्णरूपेण मेल, उसकी उत्तरवर्ती भाषा में नहीं मिलता है। इन सभी ग्रन्थों में निराकारवादी अवधारणा उपलब्ध है।

इस ग्रन्थ "विश्व संस्कृत की खोज़" के लेखन में अनेक ग्रन्थों, आचार्यों, सम्प्रदायों के अनेक विद्वानों एवं प्रचेताओं की प्रेरणा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्राप्त की है, उन सभी का मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में कु० सुजाता, प्रशान्त, ब० चहाण गोपाल और सुनील दीप ने बहुत अधिक सहायता प्रदान की है उनका मैं धन्यवाद करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि वे अपने जीवन में पूर्णरूपेण सफल हों। प्रूफ परिशोधन में श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार ने बहुत अधिक सहायता प्रदान की है उनका भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

मेरी जीवन संगिनी श्रीमती आचार्या डॉ० सुषमा स्नातिका जो मेरी अन्तः प्रेरणादायिनी बनकर शोधकार्यों में मेरा साथ देती हैं उनको धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं, जिनको मैं लिपिबद्ध कर सकूँ।

मैं अपने दोनों पुत्र प्रवक्ता श्री हेमेन्द्र कुमार महाराजा सूरजमल संस्थान जनकपुरी नई दिल्ली एवं श्री प्रिय रंजन (ऑस्ट्रेलिया) को भी साधुवाद देता हूँ कि वे कम्प्यूटर सम्बन्धी सहायता करते रहे हैं।

अन्त में मैं ईश्वर की कृपा मानता हूँ कि यह ग्रन्थ पूर्ण होकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। जिन मुख्य ग्रन्थों को आधार बनाकर यह ग्रन्थ परिपूर्ण किया गया है, उनके अनुयायी कभी-कभी अत्यधिक उग्र भी होते रहे हैं; मेरा यह ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य एवं प्रयोजन यह है कि विश्व में शान्ति एवं सौमन्यता स्थापित हो, परस्पर विद्वेष न फैले इसलिए ही विश्व संस्कृति के सांस्कृतिक सूत्र खोजने का प्रयास किया है। यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यह ग्रन्थ परस्पर विद्वेष फैलाने को नहीं कहते अपितु स्नेह तथा प्रेम का सन्देश देते हैं।

विदुषां वंशवदः

दिनांक 31-8-2010

जयदेव वेदालंकार

विषय सूची

(प्रथम-भाग)

(द्वितीय भाग)

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

वेद– वेद का काल क्रम निर्धारित करते समय इनके मूल साहित्य के काल को मानना अपेक्षित है। यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जाता है कि वेद विश्व के सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं। जैसे कि मैक्समूलर ने कहा था कि ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालय का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसलिए वेद शब्द का अर्थ, उसकी उत्पति के काल के विषय में जितने भी मत प्रचलित हैं उनको यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेद का अर्थ– वेद भारतीयों के धर्म, दर्शन सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक हैं। ये विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थों में माने जाते हैं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की नींव इन्हीं वेदों पर रखी हुई है। वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् इनका साक्षात् दर्शन किया गया था। इसलिए ऋषियों को मन्त्र दृष्टा कहा जाता था। वेद को श्रुति कहते हैं। श्रुति का तात्पर्य है कि जो ज्ञान परम्परा से चलता था उसे श्रुति कहते हैं। वेद शब्द ज्ञान, विद्या व विद्या का बोधक है। तात्पर्य है कि आरम्भ में 'श्रुति' और 'वेद' शब्द केवल मन्त्र संहिताओं तक ही सीमित नहीं थे। प्राचीन काल में वेद शब्द का तात्पर्य है धनुर्वेद, पुराण वेद, इतिहास वेद संहिताओं और ब्राह्मण– ग्रन्थों को वेद कहना इसी आशय का सूचक प्रतीत होता है ब्राह्मण ग्रन्थों से हमारा तात्पर्य है– ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

वेद शब्द की सिद्धि– वेद शब्द विद्' धातु से 'करण' व अधिकरण कारको में 'धञ्' प्रत्यय लगाने से बना है। पाणिनि के अनुसार 'विद्' धातु चार अर्थों में पाई जाती है जो कि इस प्रकार है– 'विद्' ज्ञाने, सत्तायांश्च, विदलृ लाभे, विद् विचारणे च। इन धातुओं में हलश्चेति सूत्र के करण एवं अधिकरण में 'धञ्' करने से वेद शब्द निष्पन्न हुआ।

महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं कि 'विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते, विचारयन्ति

सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्य विद्यायैर्येषुवा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।'

विद्वान् आचार्यों के मत में वेद से ही परमात्मा, आत्मा और संसार का स्वरूप जाना जाता है। **वेद संख्या** –वेदों की संख्या के विषय में अति प्राचीन काल से प्रश्न उठाया जाता रहा है। पुराणों में यह मत मिलता है कि एक ही वेद के चार विभाग हैं। महाभारत में सनत्सुजात पर्व में धृतराष्ट्र बतलाते हैं कि एक ही वेद के कालान्तर में पांच वेद बन गये थे। वेद त्रयी और वेद चतुष्टय भी प्रसिद्ध हैं। स्वामी दयानन्द जी के अनुसार चार वेद नित्य सनातन हैं उनमें पौर्वापर्य का अन्तर नहीं है। स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास की उत्तरार्द्ध अनुभूमिका में लिखा है "यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व वेद मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था, क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या के अविरुद्ध हैं। वेदों की अपवृत्ति होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रम युक्त होकर जिसके मन जैसा आया वैसा मत चलाया। उन सब मतों के चार मत अर्थात् जो वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सभी मतों के मूल हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा तीसरा चौथा चला है। अब इन चारों की शाखा एक सहस्र से कम नहीं है।

वेद निर्माण काल के विषय में विभिन्न मत– वेदों की रचना काल के विषय में विभिन्न मत हैं। जितना मतभेद वेदों के निर्माण काल के विषय में है इतना मतभेद शायद ही अन्य किसी के विषय में हो। लेकिन आमतौर पर विचार धारा यह है कि वेदों को अपौरुषेय मानने का मत सिर्फ कुछ धार्मिक पण्डितों का ही है। महाभारत के अनुसार– सृष्टि के आदि में ईश्वर के निःश्वास से वेद उत्पन्न हुए। (1) सृष्टि की आयु के साथ भी वेदों की आयु भी अनुमानतः दो अरब वर्ष के लगभग पुरातन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मा के चारों मुखों से वेदों की रचना हुई। (श्वेत 6/18) इस मान्यता के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान है। (2) इस मान्यता के अनुसार– वेदों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी, वेदों का ज्ञान ईश्वर प्रदत्त माना जाता है। जैसा कि यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में स्पष्ट कहा है कि उस यज्ञस्वरूप ईश्वर से ही ऋग्, यजु, साम, अथर्ववेद इन चारों का ज्ञान प्राप्त हुआ है।

मध्यकालीन आचार्यों में आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व तथा समकालीन विद्वानों में महर्षि दयानन्द का मत है कि वेदों का ज्ञान नित्य है। तात्पर्य है कि सृष्टि के आदि काल के चार ऋषियों के अन्तःकरण में परमकारुणिक भगवान् अवतरित कर देते हैं।

वेदों के निर्माण काल के विषय में विद्वानों का मतभेद आज भी पूर्ववत् है। भारतीय विश्वास के अनुसार वेद अनादि हैं। अतः सीमा में नहीं बांधे जा सकते। कुछ साम्प्रदायिक भारतीय विद्वानों ने इस विषय पर विचार व्यक्त किए हैं। इस मत के मानने वालों के अनुसार वेदों की तिथि लाखों वर्ष पूर्व की होती है जो लगभग अनादि सिद्धान्त के समान है।

लेकिन पश्चिमी विद्वानों ने जो कि वेदों को पौरुषेय अर्थात् मनुष्य कृत मानते हैं उनकी सीमा का जो निर्धारण किया है उसको भी अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

बेबर-बेबर ने भारतीय वाङ्मय को प्राचीन बताते हुए अपने मत की पुष्टि में भौगोलिक एवं धार्मिक प्रमाण दिए हैं। ऋग्वेद संहिता से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय आर्य लोग काबुल से उत्तर पश्चिम पंजाब तक आ गये थे। तथा धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ते हुए सरस्वती से गंगातट के प्रदेश तक आ गए। यह स्थिति बाद की ऋचाओं से विदित होती है। ब्राह्मण काल में उनकी स्थिति की प्रगति दक्षिण की ओर दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार ऋग्वेद की प्रकृति की उपासना से लेकर उपनिषद् के अध्यात्मवाद तक के विचार-विकास एवं ब्राह्मण धर्म के प्रचार से भी इसी काल क्रम की ओर संकेत होता है। आर्यों के पश्चिमोत्तर पंजाब से दक्षिण की ओर आने में तथा प्रकृति उपासना के अध्यात्मस्वरूप को ग्रहण करने में पर्याप्त समय लगा होगा। अतः वेद प्राचीन है, यह कहकर बेबर मौन है।

मैक्समूलर– मैक्समूलर ने सर्वप्रथम हिस्ट्री आफ एनशिएंट संस्कृत लिटरेचर नामक पुस्तक में ऋग्वेद का काल निर्णय करने का प्रयत्न किया। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया रूप में हुई थी। अतः वैदिक साहित्य की रचना निश्चय ही बुद्ध धर्म से पूर्व अर्थात् ई० पू० 500 वर्ष से पहले समाप्त हो गई थी। इस सिद्धान्त को मैक्समूलर ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस मत के अनुसार उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मण काल और सूत्रकाल इन चार युगों में विभाजित किया। वैदिक साहित्य के सबसे अन्तिम भाग सूत्र ग्रन्थों का निर्माण काल उन्होंने अनुमानतः 600-200 ई० पू० माना। तथा प्रत्येक युग के विकास के लिए दो सौ वर्ष का समय दिया। ब्राह्मण ग्रन्थ सूत्र ग्रन्थों से पूर्व बने अतः इनका रचना काल 600-800 ई० पू० हुआ। संहिताओं का संकलित रूप जिसे उन्होंने मन्त्र काल कहा है। 800-1000 ई०पू० होता है। इसी प्रकार मन्त्र काल से पूर्व छन्द काल को

1000-1200 ई० पू० माना जाता है।

जैकोबी– जैकोबी ने ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर लिखा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि उस समय कृत्तिका नक्षत्र उदित था वसन्त सम्पात (Vernal Equinon) कृत्तिका नक्षत्र में होता था। जिसका समय अनय गति की गणना से 2500 ई०पू० होता है। अतः प्रोफेसर जैकोबी ने ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के काल निर्णय के बाद संहिता ग्रन्थों की रचना के काल निर्णय के बाद संहिता ग्रन्थों की रचना के लिए आनुमानिक कल्पना करते हुए उनके उदय काल तथा सभ्यता के विकास के लिए 4500 ई०पू० का समय माना। वे अपने मत के प्रति एक अन्य ज्योतिष सम्बंधी प्रमाण से और अधिक विश्वस्त हुए। कल्पसूत्र के विवाह प्रकरण में उल्लिखित "ध्रुव के समान स्थिर हो" वाक्य में आए ध्रुव शब्द की व्याख्या इन्होंने ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर की तथा नक्षत्र ध्रुव की स्थिति गणना लगभग 2780 ई०पू० निश्चित की। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में ध्रुव दर्शन की प्रथा दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद का समय 300 ई० पू० पहले का रहा होगा।

बाल गंगाधर तिलक– गंगाधर के निष्कर्ष के अनुसार यह समय और भी पहले का होना चाहिए। ऋग्वेद से उन्होंने निष्कर्ष निकाला की मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त सम्पात होने के अनेक निर्देश को एकत्र किया। तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि 'फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष का मुख है। यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुनी नक्षत्र में था तो सूर्य अवश्यमेव मृगशिरा में रहेगा, जब वसन्त सम्पात भी होगा। ऋग्वेद की अनेक आख्यायिकाएं इस ग्रह स्थिति की सूचना देने वाली हैं।

वेद मन्त्रों में कहीं छः महीने का दिन व कहीं छः महीने की रात का वर्णन मिलता है। इसके आधार पर तिलक के अनुसार आर्य लोग ईसा से आठ दस सहस्र वर्ष पूर्व उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहते थे। उस प्रदेश का मौसम इतना ठंडा था, जितना अब है। ऋतु परिवर्तन के कारण आर्य लोग उत्तरी ध्रुव से दक्षिण की ओर यूरोप, एशिया और भारत वर्ष में आये। श्री तिलक ने 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' पुस्तंक में लिखा है कि आर्य सभ्यता का प्रथम युग पूर्व मृगशीर्ष युग का 'अदिति युग' था। लोकमान्य तिलक वैदिक काल को चार कालों में विभक्त करते हैं जो कि इस प्रकार है :–

(1) अदिति – 600-400 वि० पूर्व।
(2) मृगशिरा काल – 400-2500 वि० पूर्व।
(3) कृत्तिका काल – 2500-1400 वि० पूर्व।
(4) अन्तिम काल – 1400-500 वि० पूर्व।

विभिन्न विद्वानों के वेद विषयक विचार–

ग्रिफिथ ने अपने यजुर्वेद की भूमिका में स्पष्ट लिखा है–All that I have attempted to do is to give a faithful translation to the best of my ability of the text and sacrificial formulas of the Vedas, with just sufficient commentary.

वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन आर्ष साहित्य का एक ही मत है कि ईश्वर ने मानव मात्र के अज्ञान को दूर करने के लिए अर्थात् मनुष्य को प्रत्येक वस्तु का ज्ञान कराने के लिए वेद का ज्ञान प्रदान किया है। यद्यपि वेदों के विषय में आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेद मन्त्रों की रचना ऋषियों द्वारा की गई है। इन दोनों मतों की विवेचना विस्तार पूर्वक प्रस्तुत की जाएगी। सर्वप्रथम प्राचीन आर्ष साहित्य के मत को विस्तार पूर्वक बतलाया जा रहा है। जैसा कि यजुर्वेद के पुरुष सूक्त और ऋग्वेद में स्पष्ट कहा है कि उस यज्ञ स्वरूप परमात्मा से ऋवेद, साम, यजु और अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं।[1] इसी प्रकार अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त में ईश्वर को ही वेद प्रदाता माना है।[2] अर्थात् उसी परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, यजु और अथर्ववेद का ज्ञान मानव को उपलब्ध हुआ है।

अखिल आर्ष साहित्य ने वेदों को स्वतः प्रमाण रूप में स्वीकार किया है।

---

1. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दा थ्ठसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। यजुर्वेद, 31.7 ऋग्वेद 10.90.9.

2. यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।
अथर्ववेद का० 10. प्रपा 23. अनु० 4. सू० 7. म० 20
जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋच.) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (अङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के मुखतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है। (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारो वेद जिससे उत्पन्न हुए है सो कौन सा देव है उसको तुम मुझसे कहो। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि– (स्कम्भं त०) जो सब जगत् का धारण कर्ता परमेश्वर है उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानों कि उसको छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है। क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करें।
–ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वैदिक यन्त्रालय पृष्ठ 11-12

(1) वैशेषिक दर्शन ने माना है कि वेद ईश्वरोक्त हैं। इनमें सत्य विद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन है।[1]

(2) न्याय दर्शन में कहा है कि जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र की कुछ औषधियों के लाभदायक सिद्ध होने से समस्त शास्त्र प्रामाणिक माना जाता है, उसी प्रकार आप्त द्वारा कहे जाने से वेद भी प्रामाणिक शास्त्र है।[2]

(3) योग दर्शन में गुरु ईश्वर को स्वीकृत किया है क्योंकि शेष गुरु एक काल में आकर समाप्त हो जाते हैं परन्तु वह ईश्वर जो वेदों का प्रकाश करता है सर्वदा नित्य और काल से परे है।[3]

(4) ईश्वर की जो निज अर्थात् स्वाभाविक विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः प्रमाणत्व सांख्य दर्शनकार महर्षि कपिल को अभीष्ट है।[4]

(5) वेदान्त दर्शन में ब्रह्म की सिद्धि करते हुए उल्लेख किया गया है कि वह ब्रह्म जिसकी जिज्ञासा करनी अपेक्षित है वह शास्त्र अर्थात् वेद का प्रकाश करने (कारण) वाला है अर्थात् उसने ही वेद ज्ञान को हम सब प्राणियों के कल्याण के लिए दिया है।[5]

आचार्य शंकर भी उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि ऋग्वेदादि चारों वेद, अनेक विद्याओं से युक्त हैं। सूर्य के समान सब सत्य, अर्थो को प्रकाशित करने वाले हैं। उनको बनाने वाला सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त परब्रह्म है। ...."मनुष्य ऐसे ग्रन्थों का निर्माण नहीं कर सकता अतः परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं से पूर्ण कोई भी नहीं है। इत्यादि...........[6]

---

1. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। -वैशेषिक दर्शन –अ० 1. आ० 1 सू० 3
2. मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यात्। -न्याय दर्शन, अ० 1. आ० 2 सू०67
3. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योग दर्शन, 1.26
4. निजशक्त्यभित्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। -सांख्य दर्शन 5.51
5. शास्त्रयोनित्वात्। वेदान्त दर्शन, 1.13
6. ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानेपबृं हितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थ शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्सम्भवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतर विज्ञान इति प्रसिद्धं लोके, किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेद भिन्नस्य देवर्तियङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाधारत्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वास वद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वस्तिमेतद्यदृग्वेदः (बृ०2.4.10) इत्यादिश्रुतेः तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। वेदान्त दर्शन (1.1.3) पर शाङ्करभाष्य

वेदों के अन्तः साक्ष्य से लेकर आचार्य शंकर आदि ने भी वेदों के ज्ञान को प्रामाणिक और ईश्वर प्रदत्त माना है। महर्षि दयानन्द ने, इस युग में आकर वेद के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणाएं उत्पन्न हो गई थीं उन भ्रान्त विचार धाराओं का खण्डन ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और सत्यार्थ प्रकाश तथा वेदों का भाष्य रचकर किया है। वेदों के भाष्य की परम्परा में रावण से लेकर स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररुचि, भट्ट भास्कर, महीधर, उव्वट और सायण आदि मध्यकालीन भाष्यकार और वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द, श्री अरविन्द, जयदेव विद्यालकांर, पण्डित धर्मदेव, स्वामी ब्रह्म मुनि, प्रभृति विद्वान् हैं। मध्यकालीन भाष्यकारों में आचार्य सायण का नाम अधिक प्रसिद्ध है। सायण के वेद भाष्य में प्रायः कर्म-काण्ड को ही अधिक महत्व दिया गया है, ऐसा प्रातीत होता है। इसी प्रकार उन्होंने प्रायः सभी मन्त्रों की संगति यज्ञों के विनियोग तक ही सीमित सी कर दी है, जिससे उसका भाष्य संकुचित होकर बौद्धिक नहीं रहा है। उसने स्वयं ही वेदों का विषय कर्मों का व्याख्यान माना है।[1]

पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों का नवीन विकासवादी दृष्टि से भाष्य किया है। इनका अभिप्राय यह है कि प्राचीन आर्यों ने अपने परिवार और समाज का प्रारम्भिक अवस्था से विकास का वृतान्त वेदों के रूप में संग्रहीत किया है। इन विद्वानों पर सायण का प्रभाव है। यद्यपि इन विद्वानों ने परिश्रम किया है, स्वच्छन्द उड़ानें एवं कल्पना भी की हैं, परन्तु वेद में जो ज्ञान विज्ञान भरा पड़ा है वहाँ तक ये लोग नहीं पहुंच सके हैं। कुछ पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों को गडरियों के गीत भी कहा है, परन्तु इसका दोषी श्री अरविन्द ने आचार्य सायण को ठहराया है।[2]

चाहे मध्यकालीन भाष्यकार हो अथवा योरोपीय उन्नीसवीं शताब्दी के

---

1. ....एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य देवता........कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्।''

काण्व संहिता, सायण आचार्य कृत भाष्य उपक्रमणिका से।

2. वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है कि जिसके लिए सायण उत्तरदायी है कि वेद एक ऐसे आदिम जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति संहिता है जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसको सामाजिक रचना..........थी। और अपने चारों ओर के जगत् के विषय में जिनका दृष्टिकोण बिल्कुल बच्चों का था।

(वेद रहस्य भाग -1 पृष्ठ -31. श्री अरविन्द, अनुवादक-अभय 1948)

विद्वान् हों, दोनों का ही वेदों के मन्त्रों का भ्रान्त अर्थ करने का एक प्रमुख कारण था –मन्त्रों या सूक्तों में आए देवता। ये भाष्यकार 'देवता' से अभिप्राय उस मन्त्र या सूक्त की प्रतिष्ठापित शक्ति से लेते थे। परन्तु दयानन्द ने नैरुक्त प्रक्रिया को, जो आर्ष मानी जाती है, माना है और मन्त्रों के देवता का अर्थ किया है –मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय अर्थात् निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि देवता उनको कहते हैं जिनके गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो संज्ञा जिन-जिन मंत्रों में जिस-जिस अर्थ की होती है उन-उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है जैसे "वाचं ते शुन्धामि (यजु० 6.14) मन्त्र का देवता "विद्वान्सः" है। इसका यह अर्थ हुआ कि इस मन्त्र में विद्या से सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन है। जैसा कि दयानन्द ने यजुर्वेद के 6 अध्याय के 14 वें मन्त्र का अर्थ उक्त अभिप्राय से किया है, परन्तु उव्वट ने देवता शब्द का समुचित अर्थ नहीं लिया, अजा के बच्चे मैमने को यज्ञ में आहुति करते समय इस मन्त्र को बोलकर उसके अंगों के प्रक्षालन के लिए विनियोग रूप में माना है। विस्तार भय से हम इस पर अधिक प्रकाश नहीं डाल रहे हैं।[1] ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में भाष्यकरण समाधानादि विषय नामक अध्याय में दयानन्द ने महीधर, उव्वट, सायण प्रभृति विद्वानों के कुछ मन्त्रों की समीक्षा की है। विशेष अध्ययन के लिए उसे देखना चाहिए। अरविन्द ने महर्षि दयानन्द की भाष्य-शैली को वैज्ञानिक एवं सत्य का उद्घाटन करने वाली शैली माना है। उनकी भाष्य शैली के विषय में श्री अरविन्द के उद्गार, "ऋषि दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों सत्य पाए जाते हैं, कोई कल्पित बात नहीं है। मैं इसके साथ अपनी धारणा जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में एक दूसरे विज्ञान की सच्चाईयाँ भी विद्यमान हैं।[2]

जिस प्रकार उपनिषदों में केवल एक ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है उसी

---

1. यत्काम ऋर्षियस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।
   –निरुक्त, अध्याय 7 खण्ड 1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेद विषय विचार
2. There is nothing fantastic in Dayanand's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains either truth of science the modern world. In it Dayanand held on strong enough grounds. the Vedas revels to us God....Soul....God and nature.....I am convinced that what ever may be the final complete. Dayanand will be. the first discover of the right clues. A mids......Misunderstanding, his was the age of direction vision....truth and fastend....he has found of keys of the doors that time has closed as under the scale of the imprisoned fountains. –Shri Aurobindo. Bamkum Tilak Dayanand P. 57 3rd Ed.

प्रकार वेद भी एक ही ईश्वर की उपासना मानता है। ईश्वर को अनेक नामों से कहा गया है, उसके असंख्य नाम हो सकते हैं। वे अनेक नाम बहुदेवतावाद के द्योतक नहीं है अपितु एक ही ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के नाम हैं। जैसा कि यजुर्वेद के 32 वें अध्याय, श्वेताश्वतरोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि उसी को अग्नि, उसी को आदित्य, उसी को वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आप आदि नामों से कहा जाता है।[1]

संस्कृति की परिभाषा–

वेदों में संस्कृति की परिभाषा– यजुर्वेद में संस्कृति की परिभाषा करते हुए स्पष्ट कहा है, कि "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः"[2] इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि संस्कृति वह मानो-समाज का निर्माण करने वाला मुख्य तत्त्व है जिसके द्वारा शोधन, परिमार्जन, परिष्करण और संस्करण के द्वारा व्यक्ति एवं समाज में निर्मलता एवं पवित्रता का संचार होता है। अनेक व्यक्ति मिलकर समाज तथा जाति का निर्माण करते हैं। अतः निर्मल एवं संस्कृत व्यक्तियों के समाज तथा राष्ट्र भी संस्कृत होते हैं और उनके निर्मलता विधायक तत्त्व संस्कृति के मूल सूत्र बन जाते हैं। आजकल हिन्दी में संस्कृति शब्द अंग्रेजी के कल्चर शब्द का पर्यायवाची बन गया है कल्चर का विशुद्ध पर्यायवाची वैदिक शब्द कृष्टि है। जैसे कृषि कर्म में भूमि का संशोधन तदुपरान्त बीजवपन किया जाता है और सिंचन निरयन आदि के द्वारा आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श देकर भूमि को शस्य सम्पन्न बनाया जाता है वैसे ही मानव-मानस में सत्संस्कारों द्वारा विकास की भूमिका तैयार की जाती है। जिस मानस का मन जिनता ही अधिक विकार रहित तथा विशुद्ध है, उतना ही अधिक वह संस्कृत कहा जाता है।

विशुद्धि, निर्मलता, परिष्कृति एक मानव से चलकर जैसे समाज तथा जाति की सम्पत्ति बनती है, उसी प्रकार विश्व भर की थाती भी बन सकती है। संस्कृत के इस व्यापक रूप को वेद विश्ववारा संस्कृति का नाम देता है। यजुर्वेद के सप्तम अध्याय के चौदहवें मन्त्र में "सा प्रथमा संस्कृति, विश्ववारा" जो पद आता है वह विश्वभर के लिए वरणीय संस्कृति को प्रथम या सर्वप्रमुख कहता

---

1. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
   तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा ताऽआपः स प्रजापतिः।

   यजुर्वेद -32.1 श्वेताश्वतरोपनिषद् -4.2

2. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य............. यजु. 7.14

है। सभ्यता देश विशेष के अनुसार अनेक रूप में दूसरी सभ्यताओं से पृथक् हो सकती है, परन्तु संस्कृति तो विश्व भर की एक ही होगी। सभी मानवों का आन्तरिक विकास एक ही पद्धति से होता है इस विकास के मूल में अच्छिन्न सुवीर्य की प्रतिष्ठा है। विकास क्रम में आगे आने वाले रायस्पोष आदि वीर्य की अच्छिन्ना बलवती शक्ति पर ही अवलम्बित है। उपनिषद् की रयि का पोषण आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में इसी मूल बिन्दु पर आश्रित है। वीर्य की रक्षा जहाँ व्यक्ति को तेजस्वी तथा सदाचार परायण बनाती है वहीं वह जाति तथा विश्वभर को सदाचार की ओर ले जाती है। कामुक व्यक्ति बाहर से सभ्य होने का ढोंग भले कर ले, पर वह अन्दर से संस्कृत नहीं हो सकता।

संस्कृत भाषा में सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति शब्द परिष्कृत कार्य अथवा उत्तम स्थिति का बोध कराता है, किन्तु इस शब्द का भावार्थ अथवा तात्पर्यार्थ अत्यन्त व्यापक है। वस्तुतः यह शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों और उनके परिष्कार का द्योतक है। प्रत्येक देश के मनुष्यों के आचार विचार में भिन्नता भी होती है और निरन्तर परिष्कार अथवा सुधार की दृष्टि भी भिन्न होती है। संस्कृति शब्द से पृथ्वी के किसी भी विशिष्ट भूखण्ड की मानसिक क्षमता एवं प्रगति का एक दीर्घकालीन इतिहास प्रकट होता है। व्यक्ति के मन, शरीर तथा आत्मा से सम्बन्ध नैसर्गिक शक्तियां संस्कृति से ही परिवर्धित और परिष्कृत होती हैं। या यों भी कह सकते हैं, कि प्रकृति प्रदत्त शक्तियों का सामूहिक विकास और परिष्कार संस्कृति का मूलाधार है। निरन्तर सत्य की खोज करते हुए चिरन्तन सौन्दर्य और मानव प्रेम के मूल तत्त्वों को अनुप्राणित करते रहने से ही संस्कृति पुष्पित-पल्लवित होती है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं की अभिलाषा एवं संरक्षण ही संस्कृति का प्राणतत्त्व है। यही कारण है, कि किसी भी मनुष्य के सुव्यवस्थित उदात्त एवं शोभासम्पन्न आचरण के कारण हम उसे सुसंस्कृत मानव कह उठते हैं। मन और आत्मा की तृप्ति के लिए मनुष्य जो विकास या उन्नति करता है, वह समग्र रूप से संस्कृति के अन्तर्गत आता है। अतः यह स्पष्ट है कि मानसिक क्षेत्र में मानव की प्रत्येक 'सम्यक् कृति' संस्कृति की अंगभूत हो जाती है। इनमें मुख्यतया सभी कलाओं ज्ञान विज्ञानों, धर्म दर्शन तथा विभिन्न सामाजिक प्रथाओं का ग्रहण किया जा सकता है।

प्रायः सभी शिक्षाविदों, समाजशास्त्रियों, साहित्यकारों आदि ने संस्कृति शब्द को परिभाषित किया है। इनमें से कुछ परिभाषाओं को प्रस्तुत करना समीचीन रहेगा।

डॉ० सम्पूर्णानन्द–

मानव का प्रत्येक विचार प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं है पर जिन कामों से किसी देश विशेष के समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े वही स्थायी प्रभाव ही संस्कृति है।

संस्कृति वह आधारशिला है, जिसके आश्रय से जाति समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

रामधारीसिंह दिनकर–

संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी तरह व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग-युगान्तर में होता है।

ई. बी. टायलर–

संस्कृति एक जटिल सम्पूर्ण है जिसमें समस्त ज्ञान विश्वास, कलाएं नीति, विधि, रीतिरिवाज तथा वे अन्य योग्यताएँ समाहित हैं जिन्हें मनुष्य किसी समाज का सदस्य होने के नाते अर्जित करता है।[1]

मैथ्यू आर्नोल्ड–

विश्व में जो कुछ उत्तमोत्तम कहा गया या जाना गया है उससे स्वयं को भिज्ञ कराना ही संस्कृति है।[2]

संस्कृति शब्द के साथ प्रायः एक और शब्द-सभ्यता का भी प्रयोग प्राप्त होता है। सभ्यता शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है सभा में बैठने की योग्यता (सभायाम् अर्हति इति = सभा + यत् = सभ्यः सभ्य + तल् + टाप् = सभ्यता) इस दृष्टि से सभ्यता शब्द का प्रधान अर्थ सामाजिकता है। सभ्यता सामाजिक प्रतिबन्धों (विधि निषेधों) तथा कर्तव्यों पर बल देती है। शिष्टाचारगत नियमों के साथ-साथ सामाजिक उत्तरदायित्व एवं सामाजिक आचरण भी सभ्यता

---

1. E.B Taglor. Culture is that complex, the whole of which includes knowledge belief. art; moral. law. custom and any other capabilites and habits aquired by man as a member of society.
2. Mathew Arhold- Culture is aequainting ourselves with the best, that has been known and said in the world.

के द्वारा निर्दिष्ट होता है। सभ्यता का सम्बन्ध मूर्त एवं भौतिक पदार्थों से है जो हमें उत्तराधिकार में भले ही प्राप्त नहीं हों, अपनी आवश्यकता के अनुसार हम इनका निर्माण कर लेते हैं। अतः सभ्यता के द्वारा मनुष्य की भौतिक सुख समृद्धि तथा तदन्तर्गत व्यवहार का परिज्ञान होता है। इसी आधार पर जो राष्ट्र भौतिक दृष्टि से अधिक प्रगतिशील हैं, वे स्वयं को दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक सभ्य मानते हैं।

संस्कृति एवं सभ्यता के अन्तर को निम्नलिखित कतिपय बिन्दुओं से अधिक स्पष्टतया समझा जा सकता है।

(1) इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति नितान्त भिन्न होने के कारण इनका शब्दार्थ ही भिन्न-भिन्न है, किन्तु आजकल इन्हें प्रायः पर्याय रूप में प्रयोग कर लिया जाता है।

(2) संस्कृति आन्तरिक उन्नति है और सभ्यता से बाह्य (भौतिक) उन्नति सूचित होती है। यही कारण है, कि संस्कृति का अनुकरण नहीं किया जा सकता, उसे अपनाना होता है किन्तु सभ्यता का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है।

(3) संस्कृति को माप सकने का कोई भी मानदण्ड नहीं है, किन्तु सभ्यता को मापने का मानदण्ड-उपयोगिता है।

(4) संस्कृति विकसित नहीं होती किन्तु सभ्यता का निश्चय ही विकास होता है। किसी अद्यतन संस्कृति के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्राचीनकाल की अपेक्षा अधिक विकसित है। किन्तु प्रत्येक देश की सभ्यता का विकास स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति एवं सभ्यता ये दो शब्द व्युत्पत्ति तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से नितान्त भिन्न हैं। भारत के प्राचीन साहित्य में भारतीय मनीषियों ने संस्कृति शब्द के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया था और सभ्यता शब्द का अन्तर्भाव 'अर्थ' शब्द में हो जाता था। किन्तु समय की गति में धर्म और अर्थ शब्दों का अभिप्राय अत्यन्त संकुचित होता गया। अतः आज के युग में अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए संस्कृति एवं सभ्यता शब्दों का प्रयोग ही समीचीन है। ये दोनों शब्द परस्पर भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से बहुत संयुक्त भी हैं। इन दोनों में जो पारस्परिक सम्बन्ध है, उसके कारण इनको एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसे व्यक्ति और समाज अलग-अलग होकर भी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक दूसरे के पूरक हैं वही

स्थिति संस्कृति और सभ्यता की है। संस्कृति के बिना कोई देश किं वा जाति सभ्य नहीं कहला सकती और सभ्यता के बिना संस्कृति की कल्पना कर पाना भी दुष्कर है। सभ्यता से यदि व्यक्ति के शारीरिक और भौतिक विकास की सूचना मिलती है तो संस्कृति शब्द बौद्धिक और मानसिक प्रगति को परिलक्षित कराता है। सांस्कृतिक विचारधारा का बाह्य क्रियात्मक रूप ही सभ्यता बन जाता है। फिर भी संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। मानव का युग युगीन समस्त आन्तरिक परिष्कार संस्कृति शब्द से द्योतित होता है।

संस्कृति मानव को मानव बना देने वाले कतिपय विशिष्ट तत्त्वों में अन्यतम है। वे सारी अभिव्यक्तियां ही संस्कृति हैं जो मनुष्यों को मानसिक, आत्मिक एवं बौद्धिक विशिष्टता प्रदान करती हैं। किन्तु यह संस्कृति किसी व्यक्ति के कुछ समय के अथवा सम्पूर्ण जीवन के कार्यों में निर्मित नहीं होती। यह संस्कृति तो किसी भी देश के ज्ञात अथवा अज्ञात असंख्य व्यक्तियों के दीर्घकालीन एवं कष्टसाध्य प्रयत्नों के परिणाम से पल्लवित पुष्पित होती है। देश की परम्परागत सम्पूर्ण मानसिक विधि ही संस्कृति शब्द में समाहित हो जाती है। समय की निर्बाध गति में सभी अपनी-अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार अपने देश के संस्कृति निर्माण में योगदान देते जाते हैं। श्री हरिदत्त वेदालंकार ने संस्कृति निर्माण की इस प्रक्रिया के लिए अत्यन्त सुन्दर उपमान प्रस्तुत किया है "संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पाई जाने वाली मूंगे की भीमकाय चट्टानों से की जा सकती है। मूँगें के असंख्य कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गए, फिर नए कीड़ों ने घर बनाए, उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी अगली पीढ़ी ने भी यही किया और यह क्रम हजारों वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। आज उन सब मूंगों के नन्हें नन्हें घरों ने परस्पर जुड़ते हुए विशाल चट्टानों का रूप धारण कर लिया है। संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्माण होता है और उसके निर्माण में हजारों वर्ष लगते हैं। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति की भी इसी प्रकार रचना हुई है।"

किसी भी देश की संस्कृति उसके विभिन्न युगों के आचारों एवं विचारों कि परम्परा से उत्पन्न एक भूषणयुक्त परिष्कृत स्थिति की द्योतक होती है।

विश्व में प्राचीन एवं आर्वाचीन अनेक संस्कृतियाँ हैं किन्तु उन सबमें भारतीय संस्कृति का स्थान अनुपम एवं सर्वोच्च है। भारतीय संस्कृति के अनूठे महत्त्व को पाश्चात्य अथवा पौरस्त्य सभी मनीषियों ने एक स्वर से स्वीकार ही नहीं किया है, अपितु मुक्त कण्ठ से प्रशंसा भी की है।

आज जो संस्कृति भारतीय नाम से अभिहित है, उस संस्कृति का किस विशिष्ट भूखण्ड से सदैव सम्बन्ध रहा। इस प्रश्न के उत्तर में भारत की भौगोलिक स्थिति अथवा भौगोलिक विस्तार को भी तनिक समझ लेना अधिक सुकर होगा। भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष की एक सदृढ़ इकाई है। पुराणों तथा स्मृतियों में भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं का अनेकशः कथन किया गया है। विष्णु पुराण ने प्रकृति द्वारा विरचित इस एक भौगोलिक इकाई का इस प्रकार वर्णन किया है–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नामा, भारती यत्र सन्तति।।[1]

प्राचीन काल में भारत के लिए आर्यावर्त नाम अत्यधिक प्रचलित रहा। मनुस्मृति ने इस आर्यावर्त की भौगोलिक सीमा का बहुत विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किया जो सरस्वती तथा द्वषद्वती नदियों के मध्य में है, देव-निर्मित वह देश ब्रह्मावर्त कहलाता है। उस देश का परम्परागत आचरण ही भिन्न-भिन्न शाखाओं सहित वर्णों के लिए सदाचार है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल, शूरसेन आदि से मिलकर ब्रह्मर्षि देश बनता है। यह ब्रह्मावर्त के पश्चात् है। इसमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से पृथिवी के सभी जनों को अपना चरित्र सीखना चाहिए। हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य में विनशन (वंश) के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम में स्थित देश मध्यदेश कहलाता है। पूर्वीय समुद्र से दक्षिणी समुद्र तक हिमालय एवं विंध्य पर्वतों के मध्य जो देश है, वह विद्वानों के द्वारा आर्यावर्त नाम से जाना जाता है।[2]

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने भी भौगोलिक दृष्टि से भारत के विभिन्न भागों का वर्णन इस प्रकार किया है। यह भगवान् मेरु प्रथम वर्ष पर्वत है। उसके चारों और इलावृत्त वर्ष है। उसके उत्तर में श्वेत नील तथा श्रृंगवान् नामक

---

1. विष्णु पुराण 2/3/1
   वायु पुराण 45/75 उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवदक्षिणं च यत्।
2. मनुस्मृति 2/17..........22 –भारतीय संस्कृति डॉ० प्रीतिप्रभा गोयल

तीन वर्ष हैं। उनके देश रम्यक् हिरण्यमय उत्तरकुरु आदि हैं। दक्षिण में भी निषध, हेमकूट तथा हिमवान् तीन पर्वत हैं। इनके भी हरिवर्ष, किम्पुरुष, भारत आदि तीन देश है। उनमें यह भारत वर्ष है और इसके नौ भेद विभाग हैं यथा इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभिस्तमान, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण तथा कुमारी। हिमालय तथा विन्ध्याचल एवं पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र के मध्य आर्यावर्त है। वहीं पर चतुराश्रम तथा चार वर्ण पाए जाते हैं। वहीं पर सदाचार की जड़ भी है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'कल्चर' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition, the accounting ourselves with the best."

मन का शिक्षण तथा परिष्करण जिनसे रुचि एवं व्यावहारिक आचरण का निर्माण होता है संस्कृति के उपादान है। संस्कृति सभ्यता का बौद्धिक पार्श्व है, जिससे हम सर्वोत्तम के साथ अपना संसर्ग स्थापित करते हैं।

संस्कृति इस रूप में अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने वाली है। जो व्यक्ति पूर्णता की खोज में संलग्न है, जो चतुर्दिक प्रसूत अन्धकार अज्ञान अविवेक से निकल कर ज्ञान और प्रकाश के अनुशीलन में मग्न है, जो माधुर्य सौन्दर्य तथा ज्योति का उपासक है वहीं संस्कृत कहलाने का अधिकारी है। व्यक्ति एवं विश्व अपनी आन्तरिक प्रतिभा का इसी रूप में प्रकाशन करते हैं।

संस्कृति, व्यक्ति, कुल, समाज, जाति तथा विश्वभर के समक्ष आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिपालित तथा पोषित होकर अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली संतति को प्रेरणा देते रहते हैं। संस्कृति वस्तुतः मानवता का मेरुदण्ड है। वह शिष्टता, सौजन्य तथा शील की आधारशिला है। किसी जाति की ज्ञानधारा किस दिशा में प्रवाहित हुई है, उसकी गुण गरिमा में कौन से स्थायी मूल्यवान तत्त्व है, उसको भावना कितनी विशुद्ध तथा उद्देश्य कितना प्रांजल एवं मनोवृत्ति कितनी निर्मल और जनहित साधिका है, उसकी जीवनचर्या कितनी अहिंसामयी है, वह सत्य के लिए कितनी लालायित है एक शब्द में वह उपन्नयशील है अथवा अवमानमुखी इसी से उसके संस्कृत अथवा असंस्कृत होने का परिज्ञान हो जायेगा।

भारतीय साधना और सूर साहित्य में भी संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार की गयी है। जब हम किसी देश, प्रदेश अथवा प्रान्त की संस्कृति की चर्चा करते हैं, हमारा उद्देश्य उस प्रदेश के विकसित आचार-व्यवहार रीति-रिवाज

पर्व उत्सव, संस्कार कला कौशल, ज्ञान विज्ञान पूजा आदि के विधि-विधान एवं अनुक्रम का ही उल्लेख करना होता है। एक व्यक्ति और समग्र समाज का भी विकसित एवं संस्कृत जीवन इन्हीं रूपों में प्रकट होता है।

संस्कृति इस प्रकार विचार तथा कर्म दोनों को सींचती तथा पल्लवित करती रहती है। विचार और कर्म ही ऐसे साधन हैं जो या तो हमें कल्याण की ओर अग्रसर कर दें या नियति को मध्य धारा में डुबो दें। संस्कृत व्यक्ति के विचार तथा आचरण में एकता होती है। असंस्कृत मानव की कथनी-करनी में वैषम्य रहता है।

संस्कृत बनने के लिए मानव को साधना करनी पड़ती है। उसकी श्रेष्ठ साधना ही उसे विकास की ओर ले जाती है। व्यक्तिगत न रहकर सर्वजन ग्राह्य भी बनती है। मानव को बोधवृत्ति एवं भावुकता दोनों ही उसे ग्रहण करने के लिए लपकती हैं। संस्कृति मानव महिमा का उच्च स्वर से उद्घोष करती है।

विश्व भर के दार्शनिक अपना चिन्तन अभी तक तीन सत्ताओं पर ही केन्द्रित करते हैं। ये सत्तायें हैं, प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा। इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, प्रकृति की व्यवस्था का संचालन कहाँ से होता है। प्राणियों के विविध रूपों में आविर्भाव एवं तिरोभाव का प्रेरक केन्द्र कौन है (मैं प्रकृति तथा परमात्मा दोनों से किस रूप में भिन्न हूँ। ये प्रश्न आज के नहीं शाश्वत प्रश्न हैं) प्रकृति मेरी सहचारी बाहर तो है ही वह शरीर के अन्दर-अन्दर बहुत दूर तक मेरा साथ देती है। परमात्मा भी मेरा सहचर है। वेद जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों को सुयजा तथा सखा कहता है। वेदान्त दर्शन अद्वैतपरक कहा जाता है पर गुहा प्रविष्टो आत्मनो हि तद्दर्शनात् (1-2-11) इस सूत्र से हृदय की गुहा में प्रविष्ट जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों की ही सत्ता उसे स्वीकार है।

वेद के शब्द में प्रकृति स्वधा है, पृश्नि तथा पिशंगिला-पिलिप्पिला अज्य अमृत, अदिति, उत् अप, अवि, सिन्धु, ब्रह्म, ऋत, त्रिधातु आदि अनेक नामों वाली है। उसमें जीव को विविध प्रकार की भोग सामग्री प्राप्त होती है जिसे वह अपने कौशल द्वारा और भी अधिक उपयोगी बना लेता है। प्रकृति के क्षेत्र बहुमुखी हैं, जिनका सम्पूर्ण ज्ञान अभी तक मानव को नहीं हो सका। जितना अंश ज्ञान हो सका है उसी ने हमारे क्रिया-कलापों को इतना अधिक प्रभावित किया है, कि हमारी जीवन धारा उससे असंपृक्त होकर चल ही नहीं सकती। अपनी विशिष्ट पद्धतियों के लिए हम दिन रात उसी में चक्कर काटा करते हैं।

हमारी दैनिक भौतिक जीवनचर्या ही नहीं, आध्यात्मिक सृष्टि भी उसी के संकेतों पर चलती है।

प्रकृति के इस क्षेत्र में वैसे तो पशु-पक्षी आदि सभी भाग ले रहे हैं, पर मानव का भाग विषेष महत्त्व रखता है। ऐतरेय उपनिषद् के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृति के सभी दैवी अंग मानव में अवतरित हुए हैं अन्य योनियों में नहीं। यही कारण है कि प्राणियों में सर्वाधिक विकसित वाणी मानव को ही प्राप्त है। इसी के माध्यम से उसने काव्य धर्म-दर्शन आदि का सृजन किया है तथा जीवन परिमार्जन की परिपाटी निकाली है।

लोक जीवन की विशिष्टतायें तथा आध्यात्मिक क्षेत्र की उपलब्धियों जिनसे मानव की पूर्णता का बोध होता है, संस्कृति के आवश्यक अवयव हैं। स्पिनोजा के मतानुसार मानव ज्यों-ज्यों स्वतन्त्र होता जाता है त्यों-त्यों वह पूर्णता की ओर प्रयास करता जाता है, जब वह विशुद्ध रूप से ज्ञान के प्रकाश में विचरण करने लगता है और उद्वेग आदि के वशीभूत नहीं होता, अर्थात् इनको अपने वश में कर लेता है उसी समय वह विकास की ऊर्ध्व शिखा पर अवस्थित होता है संस्कृति का यही चरम बिन्दु है।

यदि हमारी आत्मिक शक्ति क्रियाशील नहीं है विचार शक्ति कुंठित है, सत्य, शिव और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण का अभाव है, हमारा दृष्टिकोण उदार नहीं है, हमारी भावना में तीव्रता तथा चित्रद्युति में विस्तार नहीं है, हमारे हाथ पैर बंधे हुए हैं, किसी दिल का चीत्कार सुनकर न पैर आगे बढ़ते हैं न हाथ देने के लिए उठते हैं, तो हम संस्कृत कहाँ, विकसित कहाँ, सम्पूर्णत्व हमसे बहुत दूर खड़ा है।

जीवन की जिस विशिष्ट विधि को अपनाकर प्राणि-मात्र के साथ सहयोग एवं सहानुभूति की स्थापना करते हैं सबको अपना समझने में सफल होते हैं, मत-मतान्तरों की भिन्न रूपता; प्रथाओं और रीति प्रणालियों की अनेकता जहाँ मानव-मानव में भेद नहीं डालती सब शुभ-भद्र-निश्रेयस जहाँ सबके प्रेम के अधिष्ठान हैं। पारस्परिक सौहार्द जिसकी अनिवार्य विशेषता है, संवेदनशीलता जिसका अमिट चिन्ह्न है, वही संस्कृति है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भले ही विरूप हो पर उसकी आत्मा सर्वत्र और सदैव एकरूपा है।

संस्कृत व्यक्ति संकीर्ण नहीं, सहिष्णु होता है। उसकी उदारता में काले गोरे, पीले, नीले श्वेत, लम्बे, स्त्री, पुरुष सभी समा जाते हैं। सबको आत्म-सदृश मानकर वह स्वयं निर्भय हो जाता है और प्राणिमात्र को निर्भयता का दान

मुक्त हस्त होकर देता है। उसकी विद्या विवाद के लिए नहीं ज्ञान के लिए होती है। उसकी शक्ति, उसका बल-पौरुष, परपीड़न में नहीं पर रक्षण में प्रयुक्त होते हैं। उसका धन, मद और अंहकार के लिए नहीं दीन जन-त्राण के लिए काम आता है, उसका लक्ष्य दैन्य का निराकरण बनता है। उसका श्रम दूसरों को शान्त करने के लिए नहीं विश्राम देने के लिए होता है।

जहाँ पथ वीथियों में स्वर्ण को उछालते हुए निकल जाइये। गृहों में ताला लगाने की आवश्यकता न हो, जहाँ नारी, सम्मान की भावना समझी जाती हो और किसी भी पुरुष की कुदृष्टि उस पर न पड़ती हो, जहाँ अशक्त एवं पंगु को भी जीवन का अधिकार प्राप्त हो, जहाँ ज्ञानी तथा सदाचारी को पूज्य दृष्टि से देखा जाता हो, जहाँ शमशान की नहीं, चेतना की, जागरूकता की सचेष्टता की शान्ति विद्यमान हो जहाँ चारों ओर स्वस्थता के दर्शन होते हों, वातावरण में निर्मलता की सुगन्ध फैली हो, व्यक्ति कर्तव्य परायण तथा अकरणीय से हाथ खींचने वाला हो, जहाँ शील से पुष्ट तथा साधुता से अनुप्राणित हृदय विद्यमान हो, संस्कृति का वही विकास है।

ब्रह्माण्डीय ग्रह एवं नक्षत्र स्वार्थरहित होकर एक दूसरे की सहायता करते हुए अपने-अपने पक्ष पर तथा नियत क्रान्ति-कक्ष में घूम रहे हैं। कहीं राग और द्वेष नहीं है। इसका आलोक प्रसरणशील है, उनका अस्तित्व अपने लिए नहीं अपने अन्दर बनने वाले प्राणियों के परिपालन के लिए है, सबके अन्दर एक अद्भुत सत है, विचित्र निष्ठा है, न जाने कब से वे इस तपश्चर्या में लीन हैं? क्या हम इनसे अपने आश्रयदाताओं से अपने परिपोषकों जीवनदाताओं से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते। इन सबका एक कुटुम्ब बना हुआ है, जिसमें विग्रह नहीं सहवास की अनुकरणीय भावना है। चतुर्दिक् स्वस्तिमत्ता तथा शक्ति का साम्राज्य है। फिर मानव क्यों अशान्ति एवं अकल्याण का कारण बना हुआ है? क्या वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को नहीं अपना सकता? क्या विश्वमैत्री तथा विश्वशान्ति उसके जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकते? क्या सर्व स्वातंत्र्य की कल्पना उसे मुग्ध नहीं कर सकती? क्या वह सीमता के आकार का उल्लंघन करके असीम का स्पर्श करने के लिए लालायित नहीं हो सकता? हो सकता है, संस्कृति की संभावनाएं उसमें विद्यमान हैं। औदार्य के अंकुर जल नहीं गये, प्रकट होने का सामर्थ्य रखते हैं। पुराकाल में उन सुदूर युगों में जिन्हें अन्धकार का युग कहा जाता है वास्तव में संस्कृति का सूर्य अपने मध्याह्न पर पहुँच गया था। वह काल आज पुनः लौटाया जा

सकता है।

वेद ने संस्कृत पुरुष को आर्य की संज्ञा दी है। वैदिक आर्य स्वकर्त्तव्य निष्ठ है, परोपकार परायण है। उसका वीर्य ओज, तेज सभी वन्दनीय है। वह ज्योति से सम्पन्न है, दिव्यता का साथी है और यजनशील है। वेद के आधार पर जब हम उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं तो संस्कृति का स्वरूप भी नष्ट हो उठता है।

(ख) संस्कृति और सभ्यता–

संस्कृति और सभ्यता दो भिन्न-भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं। एक को आत्मा तो दूसरे को शरीर कहा जा सकता है। संस्कृति आन्तरिक नैर्मल्य है तो सभ्यता बाह्य प्रसाधन। एक में शान्ति है तो दूसरी में चमक-दमक। एक में प्रबुद्धता है तो दूसरी में उपयोगिता। एक केन्द्र की ओर प्रत्यावर्तन करती है तो दूसरी परिधि की ओर प्रगति। एक में निःश्रेयस है, तो दूसरी में अभ्युदय। एक में नितान्त ऐकान्तिकता है तो दूसरी में सामाजिकता।

सभ्यता सभा के योग्य बनने का आदेश देती है हमारा उठना-बैठना व्यवहार करना, वेशभूषा, खान-पान, संवाद-विवाद, कला-कुशलता नृत्यगीत देश-विदेश के सम्बन्ध सबमें एक प्रकार की शालीनता होनी चाहिए। हमारा बाह्य व्यापार क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसके साथ संतुलन बनाये रखने के लिए हमें अनेक बार अपने को दबाना पड़ता है। यह सामाजिकता की मांग है। इसमें व्यवहार कौशल की परीक्षा होती है। समाज में एक ही स्वभाव के व्यक्ति नहीं होते। सबकी भिन्न-भिन्न कमियाँ हैं। भिन्न-भिन्न लक्ष्य हैं, भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्र हैं। सबके साथ अपने सम्बन्ध का निर्वाह करना है। इसके लिए पारस्परिक सहयोग नितान्त अपेक्षित है। सभ्य व्यक्ति संस्कृत होगा ही, यह अनिवार्य नहीं है। बड़े से बड़ा सभ्य व्यक्ति व्यवहार कुशल होने पर भी अत्यन्त असंस्कृत हो सकता है। बातचीत करने में निपुण, वेशभूषा से नागरिकता की छाप लगाये हुए, सभी प्रकार से टिप-टॉप व्यक्ति में एक भयंकर चोर के दर्शन हो सकते हैं। ऊपर से मृदुल दिखाई देने वाले मानव में एक भयंकर भेड़िया निवास कर सकता है।

कुछ विद्वानों की दृष्टि में ग्रामीण व्यक्ति असभ्य है और नगर का निवासी सभ्य है। परन्तु ग्रामीण व्यक्ति में जो निश्छलता है, सहजता है, सरलता है, वह कृत्रिमता छल-कपट एवं धूर्त्तता से भरे नागरिक में कहां है? इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि सभी नागरिक छली हैं और सभी ग्रामीण

सरल। संस्कृति की कसौटी संयम है। वह ग्रामीण तथा नागरिक दोनों में उपलब्ध हो सकता है। बाह्य वैभव से जीवन स्तर को उच्च रखने वाला व्यक्ति संस्कृत भी हो सकता है और असंस्कृत भी। संस्कृति जीवन की पवित्रता में है, वेश-भूषा के मापदण्ड में नहीं। सभ्यता परिवर्तनशील है, संस्कृति नहीं। संस्कृति एकरूपता है, त्याग मैत्री, सहिष्णुता, सत्यवादिता, अहिंसा, आर्जव आदि गुण जैसे पूर्वकाल में मानव को अभिनन्दनीय बनाते थे, वैसे ही वे आज भी बनाते हैं। इनके मूल्यों में अन्तर नहीं पड़ा।

सभ्यता निश्चित रूप से भौतिक है। वह बाह्य आभूषण मात्र है। संस्कृति आत्मा का श्रृंगार करती है, हृदय को उदात्त बनाती है तथा मन को विमल विचारों से सुशोभित करती है। सभ्यता बहिर्मुखी है तो संस्कृति अन्तर्मुखी। सभ्यता नवीन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक संस्थाओं से अपने स्वरूप को उन्नत करती है और जीवन यात्रा को सुगम तथा सरल बनाती है। संस्कृति इनके अभाव में भी फलती और फूलती है।

सभ्यता का जीवन प्रकृति के सुरम्य वातावरण से आज पृथक् हो गया है, वह रोबदाब की कृत्रिमता से आच्छादित है। इसी कारण संस्कृत जीवन से उसका सूत्र विच्छिन्न दिखाई देने लगा है। इसमें आदर्श तो रहा ही नहीं यथार्थ से भी यह कोसों दूर खड़ा है। यह मानवता के विकास का नहीं, ह्रास का सूचक है। वैयक्तिक स्वार्थ, प्रान्तवाद, मतवाद सैद्धान्तिक, हठधर्मिता साम्प्रदायिकता आदि से असहिष्णुता वर्तमान हो रही है, जो मानवता के ह्रास ही नहीं संहार की भी अग्रदूतिका है। भौतिक समृद्धि अवश्य बढ़ रही है पर उसी मात्रा में आध्यात्मिकता घटती जाती है। मोटर, कल-कारखाने, राकेट आदि का आधिक्य है तो सहयोग, संवेदना परदुःखकातरता आदि की न्यूनता भी। बाह्य उपादान समृद्ध और समुन्नत हैं, तो आन्तरिक सम्पदा क्षीण से क्षीणतर होती जाती है।

आज की आवश्यकता सभ्यता को संस्कृति की ओर मोड़ने की है। जो प्रेरणा, जो उत्साह, जो शक्ति भौतिक उपादानों के जुटाने में प्रदर्शित हो रही है वैसे ही आशा संबलित प्रेरक तत्त्व आन्तरिक विकास के उद्बोधन में भी प्रयुक्त होने चाहिए। मानवीय एकता की प्रतिष्ठा हमारा लक्ष्य होना चाहिए। आत्मा की यह चिरन्तन माँग है, जिसे ठुकराकर आज तक न कोई सुखी हुआ है और न भविष्य में होगा ही।

(ग) वैदिक संस्कृति के निर्माता देव और असुर–

वैदिक संस्कृति में समन्वय की जो अन्तर्धारा दृष्टिगत होती है उसके

मूल में देव और असुरों का सम्मिलित अस्तित्व वर्तमान है। देव और असुर ही वैदिक संस्कृति के वास्तविक सूत्रधार तथा उन्नायक हैं। आर्य और आर्येतर जातियों के इतिहास के नायक तथा निर्माता वे ही हैं। वैदिक राष्ट्र के निर्माण में उन्हीं का एकमात्र योगदान रहा। वेदों और वैदिक राष्ट्र पर उनकी अमिट छाप है। इतना ही नहीं, जब वे अपने पारस्परिक कलहों के कारण एशिया के सुदूर भूखण्डों में फैले तो अपने साथ यहाँ की सांस्कृतिक थाती को भी ले गये। सुरों की अपेक्षा असुरों द्वारा यह कार्य अधिक हुआ। मिश्र, यूनान आदि एशिया की प्राचीनतम संस्कृति और साहित्य पर उनके मस्तिष्क और उच्च संस्कारों की छाप अंकित है।

देव और असुर एक ही पिता की सन्तान थे। इस मानवी सृष्टि के सूत्रधार एवं जनक प्रजापति ब्रह्म के सात पुत्र हुए उनके नाम थे दक्ष, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, कृत और अत्रि। उनमें प्रथम दो नाम दक्ष और मरीचि ही इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उद्धरणीय हैं। महर्षि मरीचि के पुत्र महर्षि कश्यप हुए, जिनका आश्रम हरिद्वार में था। देव और असुर दोनों ही महर्षि कश्यप की ही सन्तानें थीं।

ब्रह्मा के मानस पुत्र प्रजापति, दक्ष सर्वप्रथम आर्य नरेश थे। उनकी राजधानी कनखल थी, जिसका उल्लेख महाभारत (वन 84.30.90.22 अनु. 25,130 शान्ति 2843) अनेक स्थलों पर हुआ है। महाराज दक्ष की चौबीस कन्याएं हुईं। उनमें से तेरह कन्याओं का विवाह महर्षि कश्यप से हुआ था। उन तेरह कन्याओं के नाम थे। अदिति, दिति, दनु, अरिष्ठा, सुरक्षा, स्वसा, सुरभि, विनिता, क्रोधवसा, इरा, कद्रु और मुनि। उनमें से बड़ी अदिति और सबसे छोटी दिति थी। अदिति, दिति, दनु और कद्रु से क्रमशः आदित्यों दैत्यों दानवों (असुरों) और नागों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार जिन्हें असुर दैत्य, दानव राक्षस तथा नाग कहा जाता है वे सब देवताओं के ही सौतले भाई थे।

वैदिक संस्कृति परम्परा में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि मातृ नाम से ही पुत्रों की वंश परम्परा बनी। देव और असुर आदि भी पिता के नाम से नहीं, माताओं के नाम से वंशों का विस्तार हुआ। अदिति के आदित्य (देव) दिति के दैत्य, दानु के दानव और कदु के नाग कहलाये।

एक ही पिता के पुत्र होने के कारण देवों और असुरों को वेदमंत्रों में बहुधा एक ही नाम से कहा गया है। ऋग्वेद [1.174.10] के एक मंत्र में द्वन्द्व, वरुण, रुद्र, सूर्य और अग्नि को स्पष्टतः असुर कहा गया है। असुर शब्द को

वहाँ अनिष्ट को दूर करने वाला प्राणदाता देवता के रूप में ग्रहण किया गया है। उन्हें प्रजापति की संतान और देव उपाधिकारी बताया गया है। अवेस्ता में उन्हें (असुर) सर्वोच्च देवता माना गया है। अथर्ववेद (3.15) और तैत्तिरीय संहिता (3.5.4) में असुरों को देवों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है, इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण (2.4-2) और तैत्तिरीय संहिता (5.9) में असुरों को अन्धकार का पर्याय बताकर देवों को दिन का तथा असुरों को रात्रि का प्रतीक माना गया है। देवों के साथ निरन्तर संघर्षों के कारण असुर-शत्रु ही दानव रूप में परिणत हुए। न केवल सुरों, अपितु असुरों का भी वेदों तथा पुराणों में असाधारण महत्त्व प्रतिपादित है। उन्हें देवों की ही भांति वेद मंत्रों के ज्ञाता चरित्रवान, और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कहा गया है। महाभारत (वनपर्व) में उन्हें **सर्वे वेदविदः सर्वे ते सुचरितव्रताः** कहा गया है, इसी प्रकार रामायण (3.11.56) में उन्हें संस्कृतभाषी कहा गया है।

इस दृष्टि से वैदिक परम्परा में सुर और असुर दोनों का मानस एक जैसा प्रतीत होता है। ऋग्वेद में सुर और असुर शब्द विशेष शक्ति सम्पन्न, सम्मानित एवं गुणवन्त व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है, कि वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों की दृष्टि में सुर और असुर दोनों का समान स्थान है। सर्वयाज्ञी ऋषि और असुराचार्य उशाना कवि मंत्र द्रष्टा ऋषि दोनों असुरवंशीय थे। यज्ञों के समय उनको देवर्षियों जितना सम्मान प्राप्त था। जल-प्लावन की समाप्ति पर वैवस्वत मनु ने जिस यज्ञ का आयोजन किया था, उसमें किलात् और आकुली नामक पुरोहित भी आमंत्रित थे।

सुरों और असुरों की समान पद-प्रतिष्ठा के अतिरिक्त वेदों तथा पुराणों में उनके पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्धों का भी पता चलता है। देवराज इन्द्र की पत्नी शुचि (इन्द्राणी) पुलेमा दैत्यराज वैश्वानर की पुत्री थी। वह ऋग्वेद (10.156) की मंत्रद्रष्टा ऋषिका भी है। इस प्रकार दैत्य गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा आर्य नरेश ययाति की पत्नियाँ थीं। महर्षि भृगु की पत्नी च्यवन ऋषि की माता दैत्यकन्या थी। लंकेश्वर रावण के पिता विश्रवामुनि ऋषि भारद्वाज के दामाद थे। रावण आर्य ऋषि पुलस्त्य का पौत्र था। असुरराज सुमाली की पुत्री कैकेसी उसकी माता थी। रावण का सौतेला भाई कुबेर (धनेश) को यम, वरुण, इन्द्र, कुबेर आदि चार दिग्पालों में स्थान दिया गया है, उनके भाई विभीषण की भी यही स्थिति थी। महाभारत काल में पाण्डव भीमसेन ने माता तथा भाईयों की सहमति से असुर महिला हिडिम्बा

से विवाह किया था। भक्तप्रवर प्रह्लाद और उसके पिता हिरण्यकश्यप का उदाहरण भी ध्यान देने योग्य है। कंस की माता परम धार्मिक महिला थी जबकि कंस की क्रूर प्रकृति प्रसिद्ध है। कंस की बहिन देवकी श्रीकृष्ण की माता थी।

इस प्रकार सुरों और असुरों की घनिष्ठ आत्मीयता के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। उनमें जो पारस्परिक द्वेषभाव और शत्रुता का उदय हुआ उसके कारण उनका आपसी कलह एवं वैर बढ़ता ही गया। दोनों के कलह तथा संघर्ष के कारण थे सामाजिक तथा धार्मिक प्रतिस्पर्धा और राजनीतिक अधिकार लिप्सा पारस्परिक मनोमालिन्य एवं उत्तरोत्तर उग्र विरोधों के कारण एक ने दूसरों का विरोध कर देव-दानव, आर्य-अनार्य, छोटा-बड़ा और सभ्य-असभ्य का आरोप प्रत्यारोप लगाना शुरू किया। अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता और बलवत्ता की भावना ने दोनों को पारस्परिक गृहयुद्ध के लिए विवश किया।

एक ही पिता की सन्तानें होने पर भी दोनों में सौतों के संस्कारों का प्राधान्य था। उनकी मातृ प्रधान वंश परम्परा ने उनके वैरभाव को बढ़ाया। पिता के संस्कारों की अपेक्षा उनमें माता के संस्कारों की मुख्यता रही। अदिति के शांत एवं विनयशील स्वभाव की छाया उसके पुत्रों पर पड़ी, किन्तु दिति, दनु और कद्रु के उद्धत क्रोधी एवं अविनीत स्वभाव संस्कारों का प्रभाव उनकी सन्तानों पर पड़ा। इन मातृ संस्कारों के कारण उनके आचार-विचार रहन-सहन, बोली भाषा और रीति रिवाजों में निरन्तर भिन्नता आती गयी, जिनके कारण उनका अलगाव बढ़ता ही गया। इस अलगाव के कारण ही वैदिक साहित्य में देवों और असुरों को भयंकर प्रतिद्वन्द्वी कहा गया है। ऋग्वेद के दसवे मण्डल में असुरों का दिव्य देवताओं के कट्टर शत्रु के रूप में उल्लेख किया गया है और दोनों के निरन्तर संघर्ष का वर्णन हुआ है। उनके वध के लिए देवताओं ने इन्द्र की सहायता प्राप्त की। इन्द्र तथा विष्णु व मायावी सूक्ष्म असुरों सहित उनके एक लाख योद्धाओं का वध किया। अग्नि शक्ति के द्वारा देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की। इस संघर्ष में बृहस्पति और सूर्य ने भी देवताओं की सहायता की।

देवासुर संघर्ष की यह स्थिति बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में दो शक्तिशाली विरोधी दलों के भयंकर संघर्ष के रूप में प्रकट हुई। यह संघर्ष विकसित होकर प्रसिद्ध एवं सुदीर्घ देवासुर संग्राम का कारण बना। ब्राह्मण ग्रन्थों के विवरणों से ज्ञात होता है कि इस संग्राम के आरम्भ में बहुधा देवता ही पराजित होते रहे,

किन्तु बाद में देवताओं ने अपने संगठित सैन्य संचालन द्वारा असुरों पर विजय प्राप्त की।

ये सब कारण थे, जिन्होंने एक ही परिवार के सदस्यों में दो सर्वथा विरोधी संस्कृतियों को जन्म दिया। कालान्तर में जैसे-जैसे उनका पारिवारिक विकास होता गया, दोनों की संस्कृतियों में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से विषमताएं बढ़ती ही गईं। फलस्वरूप देवासुर संग्राम निरन्तर लगभंग चालीस वर्षों तक चलता रहा। कभी किसी की जय और किसी की पराजय होती रही। अन्त में बाणासुर कृष्ण युद्ध में असुरों का और जनमेजय के नागयज्ञ में नागों का रहा सहा अस्तित्व भी समाप्त हो गया। ये पराजित असुर नाग कुछ तो आर्यों द्वारा दास बना लिये गए और कुछ पश्चिम एशिया के देशों में चले गये जहां की संस्कृति तथा इतिहास में उनका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण है।[1]

श्री अरविन्द एवं महर्षि दयानन्द का वेद विषयक मत–

इस युग में वेद मन्त्रों की वैज्ञानिक व्याख्या करने का श्रेय श्री अरविन्द घोष एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती को जाता है। यह सर्वविदित है कि वेदों के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। वेद मन्त्रों के वैज्ञानिक एवं यथार्थ अर्थ किसके माने जाए यह एक जटिल प्रश्न है। महर्षि दयानन्द प्राचीन आर्ष परम्परा के पोषक माने जाते हैं। वहीं श्री अरविन्द आधुनिक विकासवादी तथा पाश्चात्य से प्रभावित विचारधारा के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों के मत वेदों के विषय में परस्पर विरोधी होने चाहिए थे। वेदों के विषय में इन दोनों का परिणाम एक ही केन्द्र बिन्दु पर आकर स्थिर हो जाता है। जैसा कि हम अवलोकित कर आये हैं कि वेदों में वैज्ञानिक रहस्य भरे पड़े हैं। इसलिए वेदों के विषय में महर्षि दयानन्द एवं श्री अरविन्द के मत को विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है। क्योंकि भारतीय संस्कृति को समझने के लिए वेदों को विस्तारपूर्वक समझना परमावश्यक है।

वेद विषयक महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण–

वेद निर्भ्रम और स्वतः प्रमाण क्यों हैं?

क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व विद्या-युक्त तथा सर्वशक्ति वाला है, इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति डॉ. किरण कुमारी

योग्य है, और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे (जीव) सर्व-विद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते, इसलिए उनका कहना स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेद विषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहाँ सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है, अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान हो के सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों को भी प्रकाशित करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते। क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण युक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ-ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण कहे जाते हैं और उनके भिन्न ऐतरेय, शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, ये परतः प्रमाण के योग्य हैं।

—ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका पृ० 214

मैं ब्राह्मण पुस्तकों को भी वेद नही मानता क्योंकि जो ईश्वरोक्त है यही वेद होता है। —जीवोक्त को वेद नही कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, वे सब ऋषि-मुनि-प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत हैं। जैसे—ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे (अर्थात् जीव) सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणों ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय हैं।

—भ्रमोच्छेदन

वेद किन का नाम है ?

जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक् संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको वेद कहते हैं।

सृष्टि के आदि में वेदों का ज्ञान किन्हें और कैसे दिया गया?

अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा, इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्त मान किया था। — ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

वेदों का ज्ञान नित्य है ?

जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में है, इस प्रकार से पूर्व-कल्प में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि ईश्वर की जो विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से ले के चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उनकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती, इस कारण से वेदों का नित्य स्वरूप ही मानना चाहिए।

क्या वेदों में इतिहास है ?

ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखा है और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उसके जन्म के पश्चात् होता है। वेदों में किसी का इतिहास नहीं किन्तु विशेष जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है, किसी मनुष्य की संज्ञा का विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं।

—सत्यार्थ प्रकाश समु॰7

प्रत्येक मन्त्र के साथ ऋषि किसलिए लिखा होता है ?

ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद मन्त्रों के अर्थों का प्रचार करने लगे, फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उस का नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है, इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेद-मन्त्रों अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान् लोग वेद-मन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस-उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है। जो कोई, ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें, वे तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक हैं।

—सत्यार्थ प्रकाश

ऋषि लोगों को वेदों के अर्थ किसने और कैसे बताए ?

परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि जब-जब जिस-जिस के

अर्थ जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो (कर) परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने सभी इष्ट मन्त्रों में, प्राग्वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु आश्चर्य की बात है कि भारतीय अध्यात्म-शास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव संन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है अथवा आश्चर्य की इसमें कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्ति संगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य संन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देता है, दुःखों से भाग खड़ा होने के बदले वह डटकर उनका सामना करता है। आर्यों का यह स्वभाव कई देशों में बिल्कुल अक्षुण्ण रह गया। विशेषतः यूरोप में उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आँच नहीं आयी। किन्तु, कई देशों की स्थानीय संस्कृति और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर भी पस्ती डाल दी एवं उनके मन को निवृत्ति-प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति ने आर्यों की वैदिक संस्कृति के चारों ओर अपना जो विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि "भारतीय संस्कृति के बीच वैदिक संस्कृति समुद्र में टापू के समान है।"

वैदिक और आगमिक तत्त्वों के बीच संघर्ष, कदाचित् वेदों के समय भी चलते होगें, क्योंकि आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञ में हिंसा होती थी। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्मों का मूल आगमों में अधिक, वेदान्त में कम मानना चाहिए। हाँ, जब गीता रची गयी, तब उसका रूप भागवत आगम का रूप हो गया। सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास में भगवान् कृष्ण का चरम महत्त्व यह है कि गीता के द्वारा उन्होंने भागवतों की भक्ति, वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह-सूक्ष्म दर्शन को एकाकार कर दिया।

आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण, कदाचित् महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा था। महाभारत की हिंसा ने भारत के मन को चूर कर दिया। वहीं से, शायद, यह शंका उत्पन्न हुई कि यज्ञ सद्धर्म नहीं है, और जीवन का ध्येय सांसारिक विजय नहीं, प्रत्युत, मोक्ष होना चाहिये। महाभारत की लड़ाई पहले हुई, उपनिषद्, कदाचित् बाद में बने हैं।

संसार को सत्य मानकर जीवन के सुखों में वृद्धि करने की प्रेरणा कर्मठता से आती है, प्रवृत्तिमार्गी विचारों से आती है। इसके विपरीत, मनुष्य जब मोक्ष को अधिक महत्व देने लगता है, तब कर्म के प्रति उसकी श्रद्धा शिथिल होने लगती है। मोक्ष साधना के साथ, भीतर-भीतर यह भाव भी चलता है कि इन्द्रिय तर्पण का दण्ड परलोक में नरकवास होगा। यह विलक्षण बात है कि वेदों में

नरक और मोक्ष की कल्पना, प्रायः नहीं के बराबर है। विश्रुत वैदिक विद्वान डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है "बहुत –से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुःख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला।" अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है "नरक शब्द ऋग्वेद-संहिता, शुक्ल यजुर्वेद-वाजसनेयि–माध्यन्दिन-संहिता तथा साम-संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्ववेद-संहिता में 'नारक' शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।"

अब यह विश्वास दिलाना कठिन है कि जिस निवृत्ति का भारत के अध्यात्म-शास्त्र पर इतना अधिक प्रभाव है, वह आर्येतर तत्त्व थी। किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य में निवृत्ति-विरोधी विचार इतने प्रबल हैं कि निवृत्तिवादी दृष्टिकोण को आर्येत्तर माने बिना काम चल नहीं सकता।

इसी प्रकार, ऋषि और मुनि शब्दों का युग्म भी विचारणीय है। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्रद्रष्टा है, किन्तु, मन्त्रों के द्रष्टा होने पर भी वैदिक ऋषि गृहस्थ होते थे और सामिष आहार से उन्हें परहेज नहीं था। पुराणों में ऋषि और मुनि शब्द, प्रायः, पर्यायवाची समझे गये हैं, फिर भी विश्लेषण करने पर यह पता चल जाता है कि मुनि गृहस्थ नहीं होते थे। उनके साथ ज्ञान, तप, योग और वैराग्य की परम्पराओं का गहरा सम्बन्ध था। ऋषि और मुनि दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति समझे जाते थे। "मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका ऋषि शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1] पुराणों में ऋषि और मुनि के, प्रायः पर्यायवाची होने का एक कारण तो यही मानना होगा कि पुराणों का आधार वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वित रूप है। अतएव, पुराणकार प्रत्येक धर्मप्राण साधु और पंडित को, प्रसंगानुसार, ऋषि या मुनि कहने में कोई औचित्य नहीं मानते थे। जब बौद्ध और जैन आन्दोलन खड़े हुए, बौद्धों और जैनों ने प्रधानता ऋषि शब्द को नहीं मुनि शब्द को दी। इससे भी यही अनुमान दृढ़ होता है कि मुनि– परम्परा प्राग्वैदिक रही होगी।"

"ऋषि –सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में, संक्षेप में, हम इतना ही कहना चाहते है कि दोनों की दृष्टि में हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसामूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहीं दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-

---

1. डॉ० मंगल देव शास्त्री

सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। इनमें से एक के मूल में, वैदिक और दूसरी के, मूल में प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।"[1] इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि महजोदरों की खुदाई में योग के प्रमाण मिले है और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे कालान्तर में, वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति-युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी, वेद-पूर्व हैं।

पंडितों ने एक और युग्म पर विचार करके यह बताने की चेष्टा की है कि हिन्दू-संस्कृति के कुछ उपकरण वैदिक और कुछ अवैदिक हैं। यह युग्म ग्राम और नगर का युग्म है। वैदिक संहिताओं में 'ग्राम' शब्द अनेक बार आया है, किन्तु 'नगर' शब्द का प्रयोग उनमें कहीं भी नहीं मिलता।[2] सम्भव है, वेदों के समय ग्राम और नगर का भेद बहुत प्रत्यक्ष नहीं रहा हो और दोनों के लिए आर्य एक ही शब्द का प्रयोग करते रहे हों। किन्तु यह सम्भावना अधिक टिकाऊ नहीं है। वैदिक संहिताओं और धर्म सूत्रों में वैदिक सभ्यता ग्राम प्रधान दिखती है और पुराणों में नगरों के निर्माता मय वंशीय लोग माने गये हैं, जो दानव जाति के होते थे। अतएव, अनुमान यही ठीक रहता है कि आर्य नगरों के निर्माता नहीं थे। यह कला उन्होंने भारत आकर सीखी। इन्द्र का पुरन्दर (नगर-भंजक) नाम इस अनुमान को और भी सबल बनाता है। आर्यों का सामना इस देश में उन लोगों से हुआ था, जो लौह निर्मित पुरी (आयसीः पुरः) में निवास करते थे। ऐसे नगरों का ध्वंस करने के कारण इन्द्र ने पुरन्दर उपाधि प्राप्त की। आश्चर्य है कि मंहजोदरों की खुदाई में लोहे के निशान नहीं मिले हैं।[3]

कहते हैं, आर्यों के समाज में ग्राम संस्कृति की प्रधानता होने के कारण ही जाति प्रथा रूढ़ हो गयी। अपने पूर्वजों के धन्धों को छोड़कर कोई नया धन्धा सीखना या ग्रहण कर लेना नगरों में जितना आसान होता है ग्रामों में उतना आसान नहीं होता। नगरों पर परिवर्तन का प्रभाव अधिक पड़ता है। ग्राम ऐसे प्रभावों का अवरोध करते हैं। आर्यों की अर्थ व्यवस्था ग्रामों पर आधारित

---

1. वही
2. डॉ० मंगल देव शास्त्री
3. वैदिक संस्कृति का विकास : लक्ष्मण शास्त्री जोशी

थी। इसीलिए, उनकी जाति-व्यवस्था उतनी टिकाऊ हो सकी। सिन्धु संस्कृति के विध्वंस के उपरान्त भारतवर्ष में नगर-संस्कृति को प्रधानता किसी भी समय नहीं मिली। ग्राम या देहात से सम्बद्ध अर्थ-शास्त्र का निरन्तर बने रहना जाति-भेद की उत्पत्ति में सहायक हुआ है।[1] वेदों के विषय में यह पौराणिक एवं आधुनिक अवधारणा आर्ष एवं सत्य अवधारणा नहीं है। इस मान्यता पर पाश्चात्य प्रभाव है, यह अवधारणा भारतीय मूल संस्कृति के विपरीत भी है।

कुरान–

कुरान की रचना काल के विषय में कोई विशेष मत भेद नहीं है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब हैं। उनका जन्म अरब देश में मक्का शहर में सन् 500 ई० में हुआ। जिस समय हजरत मुहम्मद इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। उस समय भारतवर्ष में महाराजा हर्षवर्धन का राज्य था। कुरान वास्तव में हजरत मुहम्मद साहब को समय पर लगभग 23 वर्षों में जो देव दूतों के द्वारा उनकी समाधि अवस्था में प्राप्त हुआ आयतों का संकलित ज्ञान है। मुहम्मद साहब उन आयतों को तालपत्रों, चमड़े के टुकड़ों अथवा लकड़ियों पर लिखकर रखते गये। उनके स्वर्गवास के बाद अबूबक्र पहले खलीफा हुए, तब उन्होंने इन सारी लिखावटों का सम्पादन करके कुरान की पोथी तैयार की जो बहुंत प्रामाणिक मानी जाती है। इन 23 वर्षों में मुहम्मद साहब 13 साल तो मक्के में थे और 10 साल तक मदीने में।

मुहम्मद साहब को जब धर्म का इलहाम हुआ, तब से लोग उन्हें पैगम्बर, नबी और रसूल कहने लगे। पैगम्बर कहते हैं पैगाम (संदेश) ले जाने वाले को। हजरत मुहम्मद के जरिये भगवान् का संदेश पृथ्वी पर पहुँचा, इसलिए वे पैगम्बर कहे जाते हैं। नबी कहते हैं किसी उपयोगी परम ज्ञान की घोषणा को मुहम्मद साहब ने चूँकि ऐसी घोषणा की, इसलिए वे नबी हुए, तब से नबी का अर्थ वह दूत भी हो गया जो परमेश्वर और समझदार प्राणी के बीच आता जाता है। रसूल का अर्थ भी प्रेषित या दूत होता है। मुहम्मद, साहब रसूल हैं, क्योंकि परमात्मा और मनुष्यों के बीच उन्होंने धर्मदूत का काम किया।

'ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह', यह इस्लाम का मूल मन्त्र है। जिसका अर्थ होता है, "अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है तथा मुहम्मद उसके रसूल हैं"। केवल अल्लाह को मानने से कोई आदमी पक्का,

---

1. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर पृष्ठ – 31-33

मुसलमान नहीं हो सकता, उसे यह भी मानना पड़ता है कि मुहम्मद अल्लाह के नबी, रसूल और पैगम्बर हैं। इसके बाद कुरान हर मुसलमान के लिए पाँच धार्मिक कृत्य निर्धारित करता है। वे कृत्य हैं :–

1. कलमा पढ़ना– अर्थात् इस मन्त्र का पारायण करना कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके रसूल हैं। (ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह)। इस्लाम का एकेश्वरवाद (तौहिद) इसी मन्त्र पर आधारित है, अतएव, इसके पारायण की इस्लाम में बहुत महिमा है।

2. नमाज़ पढ़ना– अर्थात् प्रतिदिन पाँच बार भगवान् से प्रार्थना करना। इसको सलात भी कहते हैं।

3. रोजा रखना– अर्थात् रमज़ान के महीने भर केवल एक शाम खाना और वह भी सूर्यास्त के बाद। रमज़ान महीना इसलिए चुना गया कि इसी महीने में पहले-पहल कुरान उतरा था।

4. ज़कात– अर्थात् अपनी वार्षिक आय का चालीसवाँ हिस्सा (ढाई प्रतिशत) दान में दे देना।

5. हज– अर्थात् तीर्थों में जाना। पहले ये तीर्थ केवल मक्का और मदीने में थे। अब सन्तों की समाधियों को भी मुसलमान तीर्थं मानते हैं।

कुरान मजीद का सामान्य परिचय– इस्लाम का सबसे पवित्र ग्रन्थ कुरान है। मुसलमान इसे क़ुरान मजीद या क़ुरान शरीफ कहकर संबोधित करते हैं। यह पुस्तक अरबी भाषा में है और इसे अलौकिक पुस्तक कहते हैं। मुसलमानों के समस्त सम्प्रदाय कुरआन मजीद का अत्यधिक सम्मान करते है। उसे बड़े आदर से हाथों में लेते हैं और उसे बड़े ही उत्साह तथा रुचि से पढ़ते हैं। पढ़ने के पश्चात् किसी वस्त्र में लपेट कर ऊँचे स्थान या दीवार पर रख देते हैं। बिना हाथ मुँह धोए न कोई मुसलमान उसे पढ़ सकता है न छू सकता है। कुरआन मजीद में आदेश है –'उसे (कुरआन को) पवित्र लोगों के अतिरिक्त और कोई न छुए'। क़ुरआन चूँकि अरबी भाषा में अवतरित हुआ था इसलिये उसका अरबी भाषा में पढ़ा जाना ही अनिवार्य है। यही कारण है कि मुसलमान क़ुरआन मजीद का अनुवाद करना या अनुवाद को पढ़ना अधिक पसन्द नहीं करते। परन्तु कुछ आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए क़ुरआन के अनुवाद किये गए और साथ ही यह भी प्रयत्न किया गया है कि

---

1. सूरः 56 : 69

इस अनुवाद के साथ अरबी मूल पाठ को भी छापा जाए। कुछ ऐसे भी अनुवाद बीसवीं शताब्दी में छापे गए हैं जिनमें अरबी का मूल पाठ सम्मिलित नहीं किया गया। क़ुरआन के अनुवाद लगभग संसार की सब प्रमुख भाषाओं में हो चुके हैं। जो मुसलमान अरबी भाषा से अनभिज्ञ हैं, एवं अन्य लोग जो मुसलमान नहीं हैं, इन अनुवादों से क़ुरआन मजीद के अर्थ को समझने का लाभ उठा रहे हैं।

1. क़ुरआन (कुरान) का नामकरण तथा उसका अर्थ– मुसलमानों के धार्मिक एवं ईश्वरीय ग्रन्थ क़ुरआन को 'अल-किताब' (एक मात्र ग्रन्थ) 'अलफ़ुरक़ान' (अर्थात् सत्य और असत्य में भेद करने वाला), कलाम उल्लाह (ईश्वर का वचन) और अत्त नज़ील (ऊपर से अवतरित पुस्तक) भी कहते हैं। परन्तु इसका मूल नाम क़ुरआन है और यही नाम प्रायः मुसलमानों और गैर मुसलमानों में प्रचलित है। क़ुरआन का शाब्दिक अर्थ है 'पढ़ना' अथवा उच्च स्वर में सुनना। क़ुरआन शब्द 'इकरा' से बना है। इस शब्द का अर्थ है 'तू पढ़'। जिस प्रकार कि क़ुरआन में आया है– 'इकरा बइस्मे रब्बिका' (अर्थात् तू यानि ऐ मोहम्मद ! पढ़ अपने अल्लाह के नाम से) क़ुरआन की यह प्रथम आयत जो हज़रत मोहम्मद पर अवतरित हुई और इस शब्द 'इकराः' से समस्त अवतरित आयतें जिनका पढ़ना मुसलमानों पर फर्ज है, क़ुरआन कहलाई। अथवा हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वे समस्त आयतें जो हजरत मोहम्मद पर समय-समय पर अवतरित होती रही और जिन्हें पुस्तक के रूप में एकत्र कर लिया गया, क़ुरआन कहलाई। क़ुरआन का शुद्ध रूप में पढ़ना अनिवार्य है, इसलिये क़ुरआन पढ़ने की विधि का अभ्यास करना पड़ता है। जो मुसलमान इसे शुद्ध उच्चारण से पढ़ सकते हैं और दूसरों को पढ़कर सुना सकते हैं, उन्हें 'कारी' कहते हैं। आरम्भ में क़ुरआन के 'कारियों' का बहुत सम्मान था और मुसलमानों की कोई भी सभा में 'कारी' के क़ुरआन मजीद पढ़कर सुनने के पश्चात् ही अन्य कार्यक्रम प्रारम्भ होता था।

2. क़ुरआन का विवरण तथा अध्याय– क़ुरआन में कुल एक सौ चौदह अध्याय हैं। अरबी में अध्याय को सूरः या सूरत कहते हैं। प्रत्येक सूरः 'अल्लाह के नाम से जो अत्यन्त दयावान एवं कृपाशील है', के स्तुति वाक्य (मंगलाचरण) से प्रारम्भ होता है। केवल नौवां सूरः ही ऐसा है जिसके आरम्भ में यह वाक्य अंकित नहीं है। क़ुरआन के प्रारम्भिक अध्यायों की लम्बाई अधिक है। अन्तिम अध्यायों की लम्बाई छोटी होती गई है। प्रथम अध्याय 'सूरः

अलफातिहः' कहलाता है। यह एक संक्षिप्त अध्याय है, जिसके कुल सात पद हैं, परन्तु इसके पश्चात् बहुत लम्बे अध्याय हैं। द्वितीय अध्याय में 286 आयतें है।

प्रत्येक अध्याय का एक विशेष नाम है। यह नाम उस अध्याय के पदों में किसी विशेष घटना के नाम पर रखा गया है, या किसी व्यक्ति, पशु या स्थान के नाम पर रखा गया है जिसका उल्लेख उस अध्याय में आता है। उदाहरणार्थ एक सूरः में मकड़ी (अंकबूत) का उल्लेख है। अतएव इस अध्याय का नाम 'सूरः अंकबूत' रखा गया है। एक अध्याय में हज़रत मरियम का उल्लेख है तो उस अध्याय का नाम 'सूरः मरियम' रखा गया है। 21 अध्यायों के आरम्भ में कुछ ऐसे वर्ण हैं जिनका अर्थ रहस्यमय है। उदाहरणार्थ दूसरे अध्याय 'सूरः अल-बकर' में 'अलिफ। लाम ! मीम।' तीन वर्ण आए हैं। इन वर्णों के अर्थ के संबंध में विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। परन्तु आज भी हम यह निश्चित रूप से नही कह सकते कि इन तीन वर्णों का अर्थ क्या है ?

क़ुरआन की परम्परागत व्यवस्था में (जिसमें लम्बें अध्याय पहले और छोटे अध्याय अन्त में आए हैं) कोई ऐतिहासिक विषय वस्तु का विकास या क्रम नहीं पाया जाता है। इसलिए क़ुरआन के पाठकों को क़ुरआन समझने में कठिनाई अवश्य होती है।

वर्णन शैली एवं भाषा– हम कह आए हैं कि क़ुरआन अरबी भाषा में लिखा गया है। जिस भाषा शैली का इस ग्रन्थ में उपयोग हुआ है वह भाषा शास्त्रियों की दृष्टि में भव्य एवं मनोरम भाषा है। हम यह कह सकते हैं कि क़ुरआन अपनी वर्णन शैली और शब्द प्रयोग में एक उत्तम ग्रन्थ है। वाक्यों में प्रायः अन्त्यानुप्रास पाया जाता है। आलंकारिक भाषा का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस्लाम से पूर्वकालीन बहुदेववादी कहानियों की भाषा भी कुछ इसी प्रकार की थी। जिस भाषा का वे प्रायः उपयोग करते थे उसमें अनुप्रास होता था और उनके गद्य वाक्यों में पद्यात्मकता झलकती थी। इस प्रकार के वाक्यों को किसी श्रेष्ठ व्यक्ति की वाणी माना जाता था। हजरत मोहम्मद ने जब क़ुरआन के पदों को सुनाना आरम्भ किया तो कुछ व्यक्तियों ने आप पर यह आरोप लगाया कि वह काहिनों की भाषा, जादुई भाषा का उपयोग कर रहे है। इसलिए क़ुरआन में आया है : 'न तो तुम काहिन हो और न उन्मादी। क्या ये लोग कहते हैं कि कवि है?'[1] क़ुरआन के प्रारम्भिक अध्यायों के वाक्य छोटे-छोटे

---

1. सूर : 52 : 2930

हैं और उनमें अनुप्रास की छटा है। यह अनुप्रास गद्य को पद्य की श्रेणी तक पहुँचा देते हैं। परन्तु अन्तिम अध्यायों के वाक्य क्रमशः लम्बाई में बड़े होते गए और उनमें भाषा की वह लोच तथा वर्णन शैली की सुन्दरता, जो प्रारम्भिक अध्यायों के वाक्यों में पाई जाती है, क्षीण होती गई है। फिर भी कुल मिलाकर क़ुरआन की भाषा में पद्य की सी प्रभाव शीलता है। क़ुरआन को साधारणतः एक विशेष लय में पढ़ा जाता है। इस विशेष लय में क़ुरआन का पढ़ना एक कठिन कला है जिसे सीखने के लिए अभ्यास और परिश्रम की आवश्यकता है। क़ुरआन में पदों का क्रम उनके ऐतिहासिक अवतरण क्रम पर आधारित नहीं है इसलिए कुछ अध्यायों में पुराने और नए पदों का मिश्रण हो गया है। कुछ मक्की अध्याय के पद जो पहले अवतरित हुए थे मदनी अध्यायों के अन्त में जुड़े हुए हैं। इस कारण 'कारी' को क़ुरआन के विषयों को समझाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। फिर भी अध्यायों की लम्बाई, उनके विषय एवं वर्णन शैली के आधार पर यह बात सम्भव है कि हम उन अध्यायों को उनके ऐतिहासिक अवतरण क्रम के अनुसार पुनः नवीन ढंग से व्यवस्थित करें।

कुछ विद्वानों ने पुनः नवीन ढंग से व्यवस्थित करने का प्रयास भी किया है। यद्यपि उस क़ुरआन में जो मुसलमानों में परम्परागत रूप में प्रचलित है, अध्यायों की व्यवस्था ऐतिहासिक अवतरण क्रम के अनुसार नहीं है, फिर भी उसमें इतना अवश्य स्पष्ट कर दिया गया है कि अमुक अध्याय मक्की है या मदनी, उसमें कुल कितने पद है तथा उसमें 'अगर मक्की और मदनी' पद मिले जुले हैं तो उनका भी उल्लेख कर दिया गया है।

3. क़ुरआन का संकलन– क़ुरआन में आया है : 'निःसंदेह यह (क़ुरआन) सारे संसार के रब का उतारा हुआ है, जिसे लेकर एक विश्वसनीय आत्मा (हज़रत जिबरील) उतरी है।[1] फिर यह भी आया है : 'वह तो बस "बह्य होती है जो (उस पर) उतरती है। उसे प्रबल शक्ति वाले ने सिखाया जो सुदृढ़ है, पूर्ण रूप में प्रकट हुआ।"[2] इन दो आयतों में 'विश्वसनीय आत्मा' और 'प्रबल शक्तिवाले' शब्द हज़रत जिबरील के लिये प्रयुक्त हैं। अर्थात् जो क़ुरआन में है वह बह्य है जो अल्लाह की ओर से उसके पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद पर

1. सूरा : 26 : 192. 193
2. सूरा : 53 : 4-6

हज़रत जिबरील के द्वारा उतरी। फिर यों भी लिखा है : 'वही (अल्लाह) है जिसने तुम पर किताब उतारी', जिसमें कुछ आयतें तो अर्थ में स्पष्ट, पक्की और अटल हैं। यही किताब की बुनियाद है और दूसरी (आयतें) अस्पष्ट उपलक्षित है जिनके कई अर्थ निकलते हैं। क़ुरआन रमजान की 27 वीं तिथि को हज़रत मोहम्मद पर अवतरित हुआ।'[1] मुसलमानों का यह आम विश्वास है कि समस्त 'स्वर्गिक ग्रन्थ' रमज़ान के पवित्र महीने में ही अवतरित हुए हैं।

मुसलमान क़ुरआन को अल्लाह का आदि वचन मानते हैं। उनका विश्वास है कि अनादिकाल से ही यह वाणी 'लाहे-महफूज़' (सुरक्षित पट्टिका) पर अंकित है। इस पट्टिका की दिन रात चौकसी की जाती है और यह अल्लाह के सिहांसन के निकट रखी गई हैं। क़ुरआन अल्लाह की अंकित वाणी है। इस सम्बन्ध में क़ुरआन में यो लिखा है : 'वह तो क़ुरआन है गौरववाला, सुरक्षित पट्टिका में अंकित है।'[2] रमजान की 27 वीं तिथि को क़ुरआन अल्लाह के सिंहासन के पास नीचे तीसरे आसमान पर उतारा गया। यहाँ से हज़रत जिबरील आवश्यकतानुसार हज़रत मोहम्मद को थोड़ा-थोड़ा लाकर शब्द व शब्द सुनाते रहे।[3] हज़रत मोहम्मद अपने साथियों और निकट मित्रों को सुनाया करते थे। कुछ मित्र उन पदों को जो उन्हें सुनाएं जाते थे कण्ठस्थ कर लेते थे और कुछ उन्हें लिख लेते थे। क़ुरआन का अवतरण तेईस वर्ष निरन्तर होता रहा और इस अवधि में कई व्यक्तियों ने इसे कण्ठस्थ कर लिया और कुछ ने उसे खजूरों के पत्तों, हड्डियों, पत्थर की शिलाओं, चमड़े के टुकड़ों आदि पर अंकित कर लिया। क़ुरआन को कण्ठस्थ करने वाला हाफिज़ कहलाता है। इस हाफिज़ों का बड़ा सम्मान किया जाता है।

हज़रत मोहम्मद की मृत्यु के पश्चात् आपके एक सचिव ज़ैद-इब्न-साबित ने प्रथम खलीफा हज़रत अबुबक्र के आदेश से क़ुरआन के समस्त बिखरे हुए भागों को संकलित किया। हज़रत ज़ैद मोहम्मद के वह्य लेखक भी थे। अतएव आपके लिए यह कार्य अधिक सुलभ था। इन दिनों क़ुरआन का एकत्र करना और उसे सुव्यवस्थित ढ़ंग से संकलित करना इसलिए भी अनिवार्य हो रहा था कि बहुत से हाफिज़ और कारी युद्धों में काम आ चुके थे। क़ुरआन के नष्ट हो

---

1. सूरा : 2 : 185
2. सूर : 85 : 21-22
3. सूर : 17 : 106

जाने का भय भी अनुभव किया जाने लगा। इस कारण हज़रत अबुबक्र ने हज़रत जैद को यह कार्य सौंपा। हज़रत जैद ने बड़े ही परिश्रम से क़ुरआन को खजूर के पत्तों, हड्डियों, पत्थर की शिलाओं, चमड़े के टुकड़ों पर हाफिज़ों की सहायता से एकत्रित किया। वर्तमान क़ुरआन जो मुसलमानों में प्रचलित है वह हज़रत उसमान (तृतीय खलीफा) के काल अर्थात् 651 ईस्वी में संकलित और लिपिबद्ध किया गया क़ुरआन है। इस क़ुरआन की आधार शिला हज़रत ज़ैद से एकत्र की हुई सामग्री ही थी। परन्तु हज़रत उसमान के आदेश से यह क़ुरआन मक्का के शुद्ध उच्चारण के अनुसार लिखा गया है, वही आज हमारे हाथों में हैं। यही क़ुरआन यद्यपि समस्त मुस्लिम सम्प्रदायों में मान्य है, तथापि कुछ शिआ विद्वानों के अनुसार क़ुरआन में से वे पद निकाल दिये गए हैं जो हज़रत अली के सम्मान में अवतरित हुए थे। परन्तु इस दावे का कोई उचित मान्य आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है।

क़ुरआन को सात विभिन्न विधियों में पढ़ा जा सकता है और इस पाठ विधि को फारसी भाषा में 'हफ्त किसअत' कहते हैं अर्थात् सात विधि से पढ़ना। इनमें से एक उच्चारण विधि मक्का वालों, विशेषकर कुरैश की है जो आजकल क़ुरआन पढ़ने की प्रचलित विधि है। हदीस में यह आया है कि हज़रत जिबरिल ने हज़रत मोहम्मद को सात विभिन्न विधियों से क़ुरआन पढ़ना सिखाया था।

प्रारम्भ में क़ुरआन के शब्दों में मात्राएं आदि नहीं थीं। परिणाम स्वरूप क़ुरआनी शब्दों का भिन्न-भिन्न उच्चारण होने लगा। इसलिए क़ुरआनी शब्दों के शुद्ध उच्चारण के लिये ईराक के हाकिम हज्जाज-बिन यूसुफ ने क़ुरआन के शब्दों पर मात्राएं आदि लगाईं और यों क़ुरआन पढ़ने के लिए सुगमता पैदा कर दी। क़ुरआन के एकत्रित और सुव्यवस्थित संकलन के इतिहास का सार यह है कि अल्लाह ने अपने दूत हज़रत जिबरील के द्वारा हज़रत मोहम्मद पर क़ुरआन अवतरित किया। हज़रत अबूबक्र और हज़रत उसमान के आदेश से क़ुरआन के विभिन्न भागों को एकत्रित किया गया और हज़रत जैद द्वारा जो वहां लेखक थे लिखा गया। हज्जाज-बिन-यूसुफ ने उसको शब्दों पर मात्रायें आदि लगाई और इस प्रकार वर्तमान क़ुरआन अस्तित्व में आया।

4. वह्य का अर्थ– इब्ने-खल दून जो एक श्रेष्ठ मुस्लिम विद्वान था, लिखता है : 'स्वर्गिक पुस्तकों में केवल क़ुरआन ही एक ऐसी पुस्तक है जिसका एक-एक शब्द, वाक्य और आयत नबी को स्वर्गदूत द्वारा पहुँचे। तौरात, जुबुर

और अन्य स्वर्गिक पुस्तकें इस प्रकार अवतरित नहीं हुई। नबियों के हृदय में केवल उनके अर्थ और विषयों को डाल दिया जाता था और वे उन्हें अपनी-अपनी भाषाओं में लिपिबद्ध कर लेते थे।[1] वह्य का अर्थ यह है कि वे शब्द जो स्वर्गदूत के मुख से निकलकर नबी के कानों तक पहुँचे और नबी ने निःसन्देह स्वर्गदूत के शब्दों को अपने कानों से सुनकर कण्ठस्थ किया और लोगों को ठीक उसी प्रकार जैसे वे शब्द नबी तक पहुँचे थे सुना दिया। इस वृतान्त से यह स्पष्ट होता है कि जो पुस्तक 'वह्य' द्वारा नबी पर अवतरित होती है उसका अनुलेख, शब्द और वाक्य की रचना अल्लाह की ओर से होती है और नबी केवल उन्हें कण्ठस्थ कर लेता है। उस पुस्तक में नबी का अपना कोई योगदान नहीं होता। मुसलमानों का यह विश्वास है कि क़ुरआन ही केवल एक मात्र पुस्तक है जो वास्तव में वह्य कहलाने के योग्य है। अर्थात् क़ुरआन में न तो किसी प्रकार की कोई कमी है और न ही उसमें किसी अशुद्धि की संभावना है। वह हर दृष्टि से दोषरहित है। परन्तु यह द्रष्टव्य है कि यदि क़ुरआन मजीद में एक आयत से कोई अन्य श्रेष्ठ आयत उसी विषय पर पाई जाती है तो यह श्रेष्ठ आयत पहली आयत और उसके विषय को निरस्त कर देती है। इन आयतों में श्रेष्ठ आयत को नासिख (रद्द करने वाली) और दूसरी आयत को मनसूख (रद्द हो जाने वाली) आयत कहते हैं। ऐसी दोनों प्रकार की आयतें क़ुरआन मजीद में पाई जाती हैं।

5. इलहाम– क़ुरआन के अतिरिक्त अन्य स्वर्गिक पुस्तकों को 'इलहाम' अर्थात् ईश्वरीय प्रेरणा माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उन पुस्तकों में जो श्रेष्ठ विचार एवं शिक्षा पाई जाती है वह तो ईश्वर प्रदत्त है, परन्तु भाषा, शब्द तथा वाक्यों की रचना आदि नबियों की अपनी ही देन है। मुसलमानों के विश्वास के अनुसार पवित्र बाइबिल वह्य नहीं परन्तु 'इलहाम' है अर्थात् उसका स्तर क़ुरआन से नीचे है।

6. क़ुरआन एक अद्‌भुत कार्य (मोजजः) है– मुसलमानों में प्रायः यह विश्वास पाया जाता है कि हज़रत मोहम्मद 'उम्मी' अर्थात् निरक्षर थे। अतः आपके क़ुरआन जैसी श्रेष्ठ पुस्तक की स्वयं रचना करना सम्भव न था। क़ुरआन को पढ़कर सुनाना और उसके अर्थ को समझना हज़रत मोहम्मद का मूल कार्य था। अतएव यदि कोई अद्‌भुत कार्य हज़रत मोहम्मद से संबंधित किया

1. किताब –इब्ने-खल-दूनए प्रथम खण्ड पृष्ठ 195।

जा सकता है तो वह क़ुरआन है। मुस्लिम विश्वास के अनुसार नबी के लिए यह आवश्यक है कि वह कोई अद्‌भुत कार्य भी करे। क़ुरआन वह्य भी है और अद्‌भुत कार्य भी। हज़रत मोहम्मद ने स्वयं यह कहा कि प्रत्येक नबी के साथ लोगों को विश्वास दिलाने के लिये कुछ चिह्न भी दिए जाते हैं और जो चिह्न मुझे मिला है वह क़ुरआन है और इस कारण मुझे यह विश्वास है कि अन्तिम दिन मेरे अनुयायी दूसरे नबियों के अनुयायियों से अधिक होंगे। इब्ने-खल-दून कहते हैं कि इससे नबी का यह अभिप्राय था कि क़ुरआन जो वह्य है एक ऐसा अद्‌भुत कार्य है कि बहुत लोग उससे प्रभावित होकर उस पर दृढ़ विश्वास ले आएंगे।[1]

क़ुरआन की लेखन शैली और उसकी सुन्दरता स्वयं एक अद्‌भुत कार्य समझा जाता है। अरब के बड़े-बड़े कवि और भाषा शास्त्री चुनौती देने पर भी क़ुरआन के किसी एक अध्याय की भांति लिखकर प्रस्तुत करने में असमर्थ थे। क़ुरआन में यह चुनौती इस प्रकार अंकित है। 'यदि तुम इस (किताब) के बारे में, जो हमने अपने बन्दे (हज़रत मोहम्मद सल्लः) पर उतारी है, सन्देह में हो, तो तुम उस जैसी एक सूरः लाओ और अल्लाह के सिवाय तुम्हारी सहायता करने वाले हो उनको भी बुला लो यदि तुम सच्चे हो।'[2]

7. क़ुरआन की तफ़सीर (टीका)— मुसलमानों का यह भी विश्वास है कि हज़रत मोहम्मद और उनके साथियों के अतिरिक्त और किसी को क़ुरआन को समझने तथा उसकी टीका करने की योग्यता नहीं थी। अर्थात् जो अर्थ हज़रत ने और आपके साथियों ने प्रस्तुत किए वही क़ुरआन की टीकाओं के शिलाधार हैं। अतएव आज भी जो टीकाएं विद्यमान हैं वे अति प्राचीन हैं तथा उस काल से ही प्रचलित हैं। यह सत्य है कि क़ुरआन की भाषा और उसके अर्थों को क़ुरआन समझने के लिए इस्लामी इतिहास, हदीसे और सुन्नत आदि का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, परन्तु इस्लाम से पूर्व के धर्म, विशेषकर यहूदी और मसीही धर्म का अध्ययन भी अनिवार्य है। क़ुरआन कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का केवल सांकेतिक उल्लेख है, इसलिए इन घटनाओं को समझने और जानने के लिए अन्य सहायक पुस्तकों के अध्ययन की आवश्यकता है। मुस्लिम विद्वानों ने प्रारम्भ से ही इस आवश्यकता को स्वीकार करते हुए क़ुरआन की बहुत सी

---

1. किताब -इब्ने-खल-दून, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 194
2. सूर : 2 : 23 और देखिए 11 : 12

टीकाएं लिखीं।

भाष्यकारिता एक कठिन कला है। इसलिये मुस्लिम विद्वान् और धर्मगुरु बड़े परिश्रम के साथ इस कला को सीखते और पुराने भाष्यों का अध्ययन करते हैं। ये प्राचीन भाष्य एक विशेष स्थान और मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। इसलिये सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि कोई नया भाष्य लिखा भी जाता है तो उसमें वही प्राचीन भाष्यों की पुनरावृत्ति होती है। इसलिये क़ुरआन मजीद के अर्थ और व्याख्यायें जो प्रारम्भ में लिखी गई वे ही आज भी दोहराई जा रही हैं। यदि कोई इस पथ से हटकर नये दृष्टिकोण और नये प्रकाश में भाष्य लिखने का प्रयास करता है तो वह मुसलमानों में कभी मान्य एवं स्वीकृत नहीं होता।

क़ुरआन के जो भाष्य मुसलमानों में सामान्यतः प्रचलित हैं वे इस प्रकार है : (क) तफ़सीर ए-तबरी-यह भाष्य विद्वान् तबरी द्वारा लिखित है। पुण्य तिथि 923 ईस्वी। (ख) अलकश्शाफ़ यह जमख्शरी द्वारा लिखित भाष्य है। आपकी पुण्य तिथि 1144 ईस्वी है। (ग) तफ़सीरे बैजावी-यह भाष्य बैजावी द्वारा लिखा गया है। आपकी पुण्य तिथि 1286 ईस्वी है। (घ) तफ़सीरे नस्फी- यह भाष्य विद्वान् अब-नस्फी द्वारा लिखा गया है। आपकी पुण्य तिथि 1315 ईस्वी है।

इन भाष्यों के अतिरिक्त शेख फरत्रूद्दीन राज़ी का महाभाष्य, तथा अल-कबीर और दो अन्य हमनाम भाष्यकारों के भाष्य 'जलालैन' भी बहुत प्रसिद्ध है। ये समस्त भाष्य अरबी भाषा में लिखे गए थे। आज इनके अनुवाद मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ भाष्य फारसी और उर्दू में भी लिखे गए हैं।

8. सूरतों का काल, देश, क्रम, अवतरण– भाष्यकार एवं टीकाकार इस बात पर सहमत हैं कि क़ुरआन की बहुत सी आयतें प्रासंगिक एवं सामयिक हैं, अर्थात् उनका संबंध किसी विशेष घटना अथवा आवश्यकता से है। इन घटनाओं एवं प्रसगों का देश, काल और क्रम निश्चित किया जा सकता है। इसलिये क़ुरआन के अधिकांश भागों को तिथि अनुसार व्यवस्थित करना कोई कठिन कार्य नहीं है। क़ुरआन की सूरतों को कालानुसार दो प्रमुख विभागों में विभाजित किया गया है : (क) मक्का सूरतें (ख) मदनी सूरतें। मक्की सूरतें वे सूरतें हैं जो हजरत मोहम्मद पर उस समय अवतरित हुई जब आप मक्का में निवास करते थे। मदनी सूरतें वे है जो आप पर उस समय से अवतरित हुई जब आप फिजरत करके मदीना आए। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि भाष्यकारों ने इस नियम को स्वीकार किया है कि क़ुरआन की उचित टीका

हज़रत मोहम्मद के जीवन की घटनाओं एवं क्रम को समक्ष रखकर ही की जा सकती हैं।

(क) मक्की सूरतें तीन उपविभागों में विभाजित की जा सकती हैं।

(i) हज़रत मोहम्मद के सन्देशवाहक पद पर नियुक्त किए जाने से लेकर उस समय तक जब मुसलमानों के एक छोटे समूह ने अबीसीनिया में शरण ली। यह ई० सन् 612 से 617 तक का काल हैं। इस काल में जो सूरतें हज़रत मोहम्मद पर अवतरित हुई वे संक्षिप्त हैं और उनमें काव्यात्मकता पाई जाती है। उनकी भाषा में लय है। भाषा शैली भी प्रायः वैसी ही जैसी अरब के बहुदेववादी काहिनों की थी। इस उपविभाग में प्रकृति की शक्तियों का उल्लेख है, और उन शक्तियों के नाम की सौगन्ध खाई गई है। बहुदेववादियों को ईश्वर के क्रोध और न्याय के दिन से भयभीत किया गया है। दुष्टों को नरक की चेतावनी और सदाचारियों को स्वर्ग के वचन दिये गए हैं। ईमान लाने वालों को अनाथों एवं दरिद्रों की सहायता के लिए प्रेरणा दी गई है। इस उपविभाग में ईश्वर के ऐक्य (Unity) पर अधिक बल दिया गया है। इस बात पर भी बल दिया गया है हज़रत मोहम्मद ईश्वर के सत्य सन्देशवाहक हैं। इस बात की पुनरावृत्ति की गई है कि हज़रत मोहम्मद कोई जादूगर अथवा काहिन नहीं, हज़रत मोहम्मद की रसालत पर विश्वास करो और क़ुरआन की शिक्षा को मानों। इस उपविभाग में हज़रत मोहम्मद के विरोधियों की निन्दा भी की गई है।

(ii) यह उपविभाग 617 ईस्वी से लेकर 619 ईस्वी तक का है। इस काल में अवतरित होने वाली सूरतें लम्बी हैं। इनमें कविता का रंग तथा भाषा का प्रवाह है। कुछ सूरतों में कुल (तू कह) शब्द सामान्यतः प्रयुक्त हुआ है और कुछ सूरतों में क़ुरआन के अल्लाह की ओर से अवतरित होने के प्रति विवाद पाया जाता है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन कम होता गया है। हज़रत मोहम्मद का अरब निवासियों का सन्देशवाहक होकर आने का अनुमोदन किया गया है और मूर्ति-पूजा की निंदा की गई है। नबियों के सताए जाने के उल्लेख है। यह भी उल्लेख है कि ईश्वर अन्त में नबियों को विजय देता है। पवित्र बाइबल में वर्णित इस्राइली नबियों का वर्णन इसमें आया है। क़ुरआन के वह्य होने का अनुमोदन किया गया है और यह भी बताया गया है कि क़ुरआन अद्वितीय है।

(iii) यह उपविभाग़ 619 ई० से 622 ईस्वी तक है। 622 ईस्वी में हज़रत मोहम्मद मक्का से मदीना प्रस्थान कर गए थे। इस भाग की सूरतें द्वितीय

भाग की सूरतों की भांति है, परन्तु ये सूरतें अधिक लम्बी हैं और इनमें पूर्वकालीन सूरतों की भान्ति भाषा का सौन्दर्य नहीं है। इन सूरतों में बहुत सी घटनाओं और वृत्तान्तों की पुनरावृत्ति की गई है। निराशा और भग्नाशा की झलक इन सूरतों में दिखाई देती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि अरब निवासी क़ुरआन की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दे रहे थे। प्राचीन नबियों की घटनाओं को लोगों को शिक्षा देने का माध्यम बनाया गया है और उन्हें भयभीत करने का अधिक प्रयास किया गया है।

(ख) मदनी सूरतें– यह भाग संपूर्ण क़ुरआन के एक तिहाई से कुछ अधिक है। इस भाग में वे आयतें हैं जो हज़रत मोहम्मद की मदीना को हिजरत करने से लेकर मृत्यु तक आप पर अवतरित होती रहीं। ये आयतें विधि प्रधान हैं। यदि हम इस भाग को विधि कहें तो अनुचित न होगा। इस भाग की सूरतें लम्बी हैं और उनकी शैली उलझी हुई है। इनमें जो वृत्तान्त है वे क्रमशः नहीं है। काव्य प्रभाव अनुपस्थित है। इस भाग में नियम, उचित और अनुचित, वैध और अवैध, वर्जित ओर अवर्जित कार्यों का उल्लेख है। यह भाग धर्मशास्त्र सदृश है। इसमें विश्वास संबंधी अधिक उल्लेख नहीं हैं। इसमें मदीना के संसार और शरणार्थी के आपस में अच्छे संबंध बनाए रखने की सीख दी गई है। यहूदियों, ईसाईयों और मुनाफ़िकीन (छली-कपटी) का भी यत्र तत्र उल्लेख है। लम्बी मक्की सूरतों में यहूदियों के प्रति सद्भावना के बर्त्ताव की शिक्षा है। पर मदनी सूरतों में यहूदियों के प्रति कठोर से कठोरतम व्यवहार का निर्देश है। इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि इस्लाम की केवल एक सत्य एवं पूर्ण धर्म है, और पूर्वकालीन स्वर्गिक पुस्तकों पर ईमान रखना अनिवार्य है, क्योंकि क़ुरआन उनका अनुमोदन करता है। साथ ही यह बताया गया है कि पूर्वकालीन स्वर्गिक पुस्तकें अर्थात् तौरात एवं इंजील को यहूदियों एवं ईसाइयों ने अपने स्वार्थानुसार संशोधित कर दिया है। इस भाग में विवाह, तलाक, संपत्ति एवं इस्लामी व्यवस्था तथा जिहाद का उल्लेख भी है।

9. क़ुरआन की विषय सामग्री– यदि हम क़ुरआन की शिक्षा पर एक विहंगम दृष्टि डाले तो यह बात प्रमाणित हो जाती है कि क़ुरआन के अवतरण का लक्ष्य अरब बहुदेववादियों को मूर्ति पूजा से रोकना और एक ईश्वर की आराधना एवं उपासना की ओर आकर्षित करना था। अतएव क़ुरआन का महत्त्वपूर्ण विषय 'तौहिद' (एक ईश्वर) है। साथ ही साथ मानव समानता का भी संदेश दिया गया है। यह भी बताया गया है कि समस्त स्वर्गिक पुस्तकों

और मनुष्यों का स्रोत एक ईश्वर है। तौरात, जुबूर और इंजिल का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यहूदियों और मसीहियों को 'ऐले-किताब' कहकर सम्बोधित किया गया है। परन्तु यहूदियों और ईसाइयों पर यह आरोप है कि वे अपनी पुस्तकों में परिवर्तन करते रहते हैं। एक ओर मसीहियों को मुसलमानों का मित्र बताया गया है तो दूसरी ओर उन्हें मुश्रिक (अनेकेश्वरवादी) भी कहा गया है। इस्लाम की शिक्षा के अनुसार शिर्क (अनेकेश्वरवाद) एक ऐसा पाप है जो अक्षम्य है।

क़ुरआन का दावा यह भी है कि वह कोई नवीन शिक्षा नहीं लाया वरन् अतीत की स्वर्गिक पुस्तकों की शिक्षा का ही अनुमोदन करने तथा उन्हें पूर्ण करने के लिये अवतरित हुआ है। अतएव क़ुरआन में ऐसे अनेक नबियों का उल्लेख है जो इस्लाम से पूर्वकालीन हैं। इन नबियों में विशेष वे समस्त नबी हैं जिन्हें यहूदी और मसीही मानते और सम्मान देते हैं तथा जिनका उल्लेख पवित्र बाइबिल में पाया जाता है। उदाहरण के लिए हज़रत इब्राहीम, हज़रतमूसा, हज़रत नूह, हज़रत यूनस (योना), हज़रत दाऊद, हज़रत सुलेमान, हज़रत ईसा मसीह (यीशु मसीह) का वृतान्त विस्तृत रूप में पाया जाता है। परन्तु यह बात स्मरण रखने योग्य है कि क़ुरआन हज़रत ईसा का एक पैग़म्बर और ईश्वर का बन्दा रहता है। आपकी क्रूस पर मृत्यु, मृत्यु पर विजय पाकर पुनरुत्थान का कोई वर्णन नहीं है। क़ुरआन इस बात की घोषणा करता है कि हज़रत ईसा के प्रति श्रेष्ठ भावों का उसमें उल्लेख है। क़ुरआन में यह भी आया है कि हज़रत ईसा ने अपने पश्चात् किसी एक और पैग़म्बर के आने की घोषणा की थी और वह पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद हैं।

10. हमने क़ुरआन मजीद की उन शिक्षाओं का, जो विश्वास से संबंधित है, वर्णन अगले अध्याय में किया है। परन्तु यहाँ हम उन बातों का वर्णन करना उचित समझते हैं जो इस्लाम से पूर्व धर्मों और अरब के मूर्तिपूजकों में प्रचलित थी।

(क) नरक, स्वर्ग, दण्ड और पुरस्कार की परिकल्पनाएं जरतुश्ती धर्म में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त स्वर्ग की सुन्दरियों तथा जिन्नों आदि की कथा भी जरतुश्तियों के धर्म साहित्य में उपलब्ध है। जरतुश्ती धर्म इस संसार का एक अति प्राचीन धर्म है। (मिन चेन्ह के वंशज एक ईरानी महात्मा ने, जो यूनान के हक़ीम फीसागोरस का शिष्य था, सम्राट गुश्ताश्प के समय में एक धर्म चलाया

था जिसका मुख्य उद्देश्य अग्नि पूजा था। इसका धर्म जन्द है।)[1]

(ख) क़ुरआन के अनेक विषय पहले से यहूदी धर्म में उपलब्ध थे। उदारहण के लिये, बहुत से नबियों के उल्लेख जो क़ुरआन मजीद में पाए जाते हैं, यहूदियों की किताबों में भी हैं, जो यहूदियों की पुस्तक 'तालमूद' में पाई जाती है। यह पुस्तक यहूदियों की दन्तकथाओं पर आधारित है तथा मोहम्मद साहब से लगभग सौ वर्ष पूर्व लिखी गई है। इस पुस्तक 'तालमूद' में वर्णन है कि दफ़न करने की विधि कौवे ने हज़रत आदम को सिखाई थी। क़ुरआन में 'सूरः अलमाइदः' में यह प्रकरण इस प्रकार वर्णित है : तब अल्लाह ने एक कौवा भेजा जो जमीन खोदता था ताकि उसे दिखा दे कि वह अपने भाई का शव (लाश) कैसे दफ़न करें।[2]

(ग) हज़रत इब्राहीम की मूर्ति के सन्मुख दण्डवत् करने से इन्कार के कारण उनको अग्नि में डालने की कथा भी यहूदियों में प्रचलित थी।[3] इसी प्रकार कुछ 'क़ुरआनी' शब्द जैसे तौरात, जहन्नुम, सकीना आदि पहले से ही इब्रानी साहित्य में मौजूद थे।

(घ) आश्चर्य का विषय यह है कि हज़रत ईसा और उनकी माता से संबंधित कुछ ऐसी घटनाएं क़ुरआन में पाई जाती हैं जो बाइबिल की चारों इंजीलों से न लेकर कुछ ऐसी पुस्तकों से ली गई हैं जो विश्वसनीय नहीं हैं और जो प्रामाणिक नहीं है। उदाहरण के लिये सूर :–ए-इमरान में यह घटना वर्णित है कि हज़रत मरियम का पालन पोषण कौन करे इस संबंध में पर्ची डाली गई।[4] जब हज़रत मरियम बच्चे को जन्म देने लगी तो उन्होंने एक खजूर के वृक्ष का आश्रय लिया।[5]

(च) एक प्राचीन ईसाई संप्रदाय था जो मसीही साहित्य में भ्रान्तमतों में गिना जाता है। उस संप्रदाय का नाम नास्टिक (Gnostic) था। यह ज्ञानवादी सम्प्रदाय था। इसमें तस्लीस (त्रि-एक-ईश्वर) और क्रूस की घटना के संबंध में जो विश्वास प्रचलित थे उनका उल्लेख क़ुरआन में है। नास्टिक संप्रदाय के अनुसार त्रि-एक-ईश्वर से अभिप्राय था, अल्लाह, मरियम और ईसा। इसी प्रकार

---

1. उर्दू-हिन्दी शब्द कोष, मु० मुस्तफा खां मद्दाह, पृष्ठ 221
2. सूर : अलमाइद : 5 :30-35
3. सूर : इब्राहीम
4. सूर : 3 : 32, 49
5. सूर : 19 : 22-25

इस सम्प्रदाय की मान्यता थी कि ईसा की मृत्यु क्रूस पर हुई। यह केवल भ्रम था। वह न क्रूस पर लटकाए गए और न उनके प्राणों का अन्त क्रूस पर हुआ। इसी प्रकार की मान्यता क़ुरआन में है।[1]

इस्लाम में हदीस का महत्त्व– हदीस का शाब्दिक अर्थ है कथन (call)। इस्लाम में हदीस का मतलब यह है कि वे कथन जो हज़रत मोहम्मद से सम्बन्धित हैं। मुसलमानों में एक और शब्द भी प्रचलित है वह शब्द है 'सुन्नत'। इस शब्द का अर्थ है 'रीति रिवाज'। परन्तु इस्लाम के अनुसार इस शब्द का अर्थ है वे कार्य जो हज़रत मोहम्मद के कथनों एवं व्यवहारों के अनुसार हों। सुन्नत शब्द सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है।

(क) सुन्नते कौली अर्थात् वे कार्य जो हज़रत मोहम्मद ने स्वयं किए।

(ख) सुन्नते फेएली अर्थात् वे कार्य जो हज़रत मोहम्मद ने स्वयं नहीं किए परन्तु जिनके करने का आदेश दूसरों को दिया।

(ग) सुन्नते तक़रीरी अर्थात् वे कार्य जो आप के सामने किये गए और जिनके लिये आपने मना नहीं किया। इन तीन अर्थों से मुसलमान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जो कार्य नबी ने स्वयं किए, जो कार्य दूसरों को करने के लिए कहा और जिन कार्यों को करने के लिये आपने मना नहीं किया वे सब ईश्वर की आज्ञा एवं आदेश से किये गए। इन सब बातों और कार्यों पर विश्वास लाना और उनमें रत रहना 'सुन्नत' है। हदीस और सुन्नत पर्यायवाची शब्द है परन्तु इनमें कुछ भेद भी है जो हमें स्मरण रखना चाहिए। हदीस कौल (कथन) भी है और नबी के कार्य भी है, और सुन्नत का लिखित लेखा भी है।

धार्मिक मुसलमान इंजीलो को हदीसों के समान मानते हैं क्योंकि इंजीलें हज़रत ईसा के कार्यों और उनकी शिक्षा का लिखित रूप है जिसे उनके शिष्यों ने एकत्रित कर संसार तक पहुँचा दिया। यही कारण है कि प्रत्येक मुसलमान हदीसों की संख्या और उनके शत प्रतिशत प्रामाणिक होने पर एक मत नहीं है। फिर भी समस्त मुसलमान हदीस को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि शुद्ध हदीस को मानना और उसमें कार्यरत होना अनिवार्य है। जो कुछ इन शुद्ध हदीसों में वर्णित है वह नबी का वचन है, जिसे नबी ने इलहाम (देव वाणी) के रूप में पाया और लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया।

2. सुन्नत का सम्मान एवं आदर = बहुत सी कथाएँ इस प्रकार की हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि हज़रत मोहम्मद के साथी सुन्नत का किस

---

1. इस्लाम एक परिचयः

प्रकार सम्मान और आदर करते थे और उसका अनुकरण करना अपना कर्त्तव्य मानते थे। उदाहरणार्थ, इस्लाम में पत्थरों और मूर्तियों का आदर वर्जित है। लेकिन ख़लीफ़ा उमर ने मक्का के काले पत्थर (संगे अस्वद) को देखकर कहा : ''खुदा की कसम, मैं जानता हूँ कि तू केवल एक पत्थर है, न तू लाभ पहुँचा सकता है न हानि। यदि मुझे यह ज्ञान न होता कि तुझे नबी ने चुम्बन किया था मैं कदापि ऐसा न करता। केवल इस कारण कि नबी ने ऐसा किया है मैं भी ऐसा करता हूँ''। इसी प्रकार वर्णन है कि अब्दुल्ला-बिन-उमर एक बार ऊँट पर सवार होकर एक ही स्थान की परिक्रमा बार-बार कर रहे थे। जब लोगों ने इसका कारण पूछा तो आपने उत्तर दिया, ''मैं और कुछ नहीं जानता, मैंने तो नबी को ऐसा करते देखा है।'' इमाम हमबल का यह हाल था कि तरबूज नहीं खाते थे, जबकि वह जानते थे कि नबी तरबूज खाया करते थे। इमाम हमबल इसलिए तरबूज नही खाते थे कि उन्हें यह विदित नहीं था कि नबी तरबूज को तोड़कर अथवा दांतों से काटकर अथवा चाकू का उपयोग करके खाया करते थे।

3. हदीसों का महत्व एवं आवश्यकता— यदि हम हदीसों के संकलन का अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि इनका एक पूर्ण भाग शरीअत (नियमों) पर प्रकाश डालता है। हम पहले कह आए हैं कि हदीसें शरीअत पर एक प्रकार का भाष्य हैं, जो यह समझाती हैं कि क्या उचित है क्या अनुचित, क्या आवश्यक है क्या अनावश्यक, क्या करना चाहिए क्या नहीं इत्यादि। फिर रोज़ा नमाज़, हज्ज, ज़कात का भी विस्तृत विवरण इनमें पाया जाता है। कुछ ऐसी समस्यायें है जिनका क़ुरआन मजीद में केवल संक्षिप्त या संकेत रूप में उल्लेख पाया जाता है। पर हदीसों में इनका विस्तृत उल्लेख किया गया है। शरीर की स्वच्छता एवं शुद्धता, नैतिक आचरण और सभ्यता के समस्त नियम इन पुस्तकों में मिलते हैं। इसी प्रकार धर्म विज्ञान की कुछ समस्याओं पर, जैसे न्याय का दिन, दण्ड एवं पुरस्कार, नरक एवं स्वर्ग, स्वर्गदूत, संसार की रचना, वह्य आदि विषयों पर प्रचुर सामग्री इन हदीसों में पाई जाती है। इससे हदीसों की महत्ता एवं आवश्यकता स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि हदीसों से क़ुरआन मजीद की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति होती है। वह यह है कि व्याख्या करते हुए बहुत सी समस्याओं को हल करने के साथ द्वन्द्वात्मक आयतों की उलझनों को सुलझाने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है।

4. हदीस के अंग— प्रत्येक हदीस के दो अंग होते है : एक 'सनद'

(प्रमाण) और दूसरा 'मतन' (मूलपाठ)। सनद का आशय है किसी वृत्तान्त के सत्य होने का तर्क या प्रमाण। प्रत्येक हदीस में कुछ व्यक्तियों के नामों का उल्लेख होता है। इन व्यक्तियों के द्वारा हदीस का मूल पाठ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचता है। इन व्यक्तियों को जो हदीस का मूल पाठ एक दूसरे तक पहुँचता है 'रावी' कहते हैं। मतन (मूल पाठ) का प्रारूप कुछ इस प्रकार का होता है। यदि हम किसी संक्षिप्त हदीस को देखे तो इस प्रकार होगी : मुस्लिम (हदीसकार का नाम है) से परम्परा है कि मुझे कहा अमुक (नाम) ने, और उसे कहा अमुक (नाम) ने, और उसे बताया अमुक (नाम) ने, और उसने सुना हज़रत मोहम्मद ने, जिन्होंने फरमाया : 'जो कोई दूध देने वाली गाय दान में देगा उसका पुण्य एक दास को मुक्त करने के बराबर होगा। इस प्रारूप में जो नाम हज़रत मोहम्मद से पहले आए हैं वे अरनाद (सन्द का बहुवचन है) और हज़रत मोहम्मद का कथन हदीस का मूलपाठ अथवा विषय है।

5. हदीसों का मेआर (मान दण्ड)– जिन विद्वानों ने हदीसों को एकत्रित किया उन्होंने कुछ ऐसे नियम बनाए जिनके आधार पर सच्ची हदीस का निर्णय किया जा सकता था। यदि कोई हदीस उन नियमों के अनुसार होती तो वह सच्ची मानी जाती और उसे संकलन में स्थान दिया जाता। यदि कोई हदीस उन नियमों के अनुसार न होती तो वह सच्ची नहीं मानी जाती। इन नियमों की आवश्यकता इसलिये हुई कि हजरत मोहम्मद की मृत्यु के पश्चात् उनके कथन एवं आचरण की बहुत चर्चा होने लगी और कुछ अपने आचरण एवं कार्यों को उचित प्रमाणित करने के लिये हज़रत मोहम्मद के कथन एवं उदाहरण प्रस्तुत करने लगे। यही कथन और उदाहरण लिपिबद्ध होने लगे। इस प्रकार असत्य एवं जाली हदीसों का भण्डार एकत्र होने लगा। विशेषकर उम्मया और अब्बासिया खलीफों के काल में जाली हदीसें गढ़ने का कार्य शिखर तक पहुँच गया। अतः हदीसों की सच्चाई या प्रामाणिकता के लिये कुछ मानदण्ड बनाए गए। ये मानदण्ड दो प्रकार के हैं : (क) रवायत और (ख) दरायत

(क) रवायत– यह वह पद्धति है जिससे प्रत्येक हदीस की सनद (प्रामाणिकता) का परीक्षण किया जाता है। प्रत्येक रावी (हदीसकार) के नैतिक चरित्र, व्यक्तित्व एवं स्मरण शक्ति आदि की छानबीन की जाती है। फिर यह देखा जाता है कि हदीस का विषय रावियों से होता हुआ हज़रत मोहम्मद तक पहुंचता है या नहीं। यदि किसी रावी पर असत्य बोलने या संदिग्ध स्मरण

शक्ति वाला होने का आरोप सिद्ध हो जाए तो उसके द्वारा प्रस्तुत हदीस प्रामाणिक नहीं मानी जाती थी। फिर यह भी जरूरी समझा गया कि रावी रवायत करते समय वयस्क एवं चैतन्य हो। इसलिये इन रावियों की जीवनियां एकत्रित की जाने लगी और उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र की जाँच करके उनको लिपिबद्ध किया जाने लगा। इन प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि मुसलमानों में जीवनी लिखने की परम्परा चल पड़ी और इन जीवनी पुस्तकों की सहायता से हदीसों की जाँच-पड़ताल में बहुत सहायता प्राप्त होने लगी।

(ख) दरायत– दरायत का शाब्दिक अर्थ है परिमितता एवं युक्तियुक्तता। दरायत का संबंध हदीस के मूलपाठ से है। मूलपाठ से संबंधित कुछ ऐसे नियम बनाए गए जिनसे हदीस के मूलपाठ पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली जाने लगी और यह देखा जाने लगा कि क्या स्वयं हज़रत मोहम्मद हदीस के इन शब्दों का प्रयोग कर सकते थे, अथवा हदीस में इन विषयों का वर्णन कर सकते थे, और क्या ये शब्द और विषय नैतिक मूल्यों, न्याय एवं समानता के विरुद्ध तो नहीं हैं। दरायत के कुछ नियम इस प्रकार हैं : यदि हदीस के शब्द या विषय किसी प्रामाणिक ऐतिहासिक घटना से संगत न हों तो उनको निरस्त किया जाए। यदि इस्लामी सम्प्रदायों के कुछ लोग, जैसे शिअः या खवारिज अपने किसी विश्वास या दृष्टिकोण विशेष के सन्दर्भ में किसी हदीस को प्रस्तुत करें तो वह हदीस असत्य मानी जाए। यदि किसी हदीस में ऐसा विषय है जो सामान्य बुद्धि के प्रतिकूल हो अथवा इस्लामी लक्ष्यों से मेल न खाता हो तो उसे विश्वसनीय न माना जाए। यदि किसी हदीस का विषय केवल एक ही 'रावी' के द्वारा प्रस्तुत हुआ हो और किसी अन्य रावी ने उसका वृतान्त न किया हो तो वह भी विश्वसनीय न मानी जाए। यदि किसी हदीस के शब्द ऐसे हों कि वे पैग़म्बर-ए-इस्लाम की वार्तालाप शैली के विरुद्ध हों तो वह हदीस निरस्त मानी जाए। वह हदीस जिसमें जरा सी बात पर कठोर शाप की धमकी हो, अथवा हल्के से कार्य पर भारी पुण्य का वचन हो तो वह भी अविश्वसनीय मानी जाए।

रवायत और दरायत के नियमों का सारांश यह है कि यदि हदीस के शब्द एवं विषय क़ुरआन की शिक्षा के विरुद्ध हो तो वह हदीस अविश्वसनीय न मानी जाए। उपरोक्त नियमों को दृष्टि में रखते हुए ही हदीसों को संकलित करने वाले विद्वानों ने हदीसों को एकत्रित किया है। आज भी हदीसों पर आलोचना एवं खोज के द्वार बन्द नहीं हुए हैं। आज भी कुछ प्रामाणिक हदीसों

को नये मानदण्डों पर परखा जा सकता है और उनके शुद्ध या अशुद्ध होने के विषय में विचार विनियम हो सकता है।

(6) जाली हदीसें– हज़रत मोहम्मद की मृत्यु के पश्चात् खिलाफ़त काल में आपसी मनमुटाव और युद्ध के परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रकार के स्वार्थी समूह इस्लाम में पाए जाने लगे। प्रत्येक समूह को यह आवश्यकता पड़ी कि अपने को सत्य प्रमाणित करने के लिये रसूल का कोई वचन प्रस्तुत करे। अतएव हदीसों को गढ़ने का क्रम चल पड़ा और असत्य हदीसों का निर्माण होने लगा। इसके अतिरिक्त मुसलमानों में भी कुछ ऐसे लोग थे जो मन में मुसलमान न थे। इस्लाम को हानि पहुँचाना चाहते थे। इन लोगों ने भी पैग़म्बर-ए-इस्लाम से ऐसी बातों को संबंधित करना शुरू कर दिया जिनका कोई प्रमाण न था। सारांश यह कि इस काल में अनेक झूठी, अशुद्ध हदीसे प्रामाणिक, शुद्ध हदीसों के साथ प्रकाशित और प्रचलित होने लगी। ऐसी परिस्थिति में ऐसे नियमों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी जिनसे हदीसों की जांच की जाए और सत्य तथा असत्य हदीसों को पृथक् किया जाए। इस काल में हज़रत इमाम बुखारी ने सत्य हदीसों को एकत्रित करना चाहा तो कई लाख हदीसों में से आपने केवल सात हजार तीन सौ सत्तानवें (7397) को ही विश्वसनीय मानकर एकत्रित किया, शेष को रद्द कर दिया। इन 7397 हदीसों से एक ही विषयवाली हदीसों को पृथक् किया जाए तो केवल 2361 सत्य हदीसें शेष रह जाती हैं। कुछ ऐसे मुसलमान भी थे कि जब उन्हें कत्ल किया जाने लगा तो उस समय उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि झूठी हदीसें गढ़ने में उन्होंने विशेष भाग लिया था। ऐसा एक मुसलमान अब्दुल करीम था जो हदीसों की रचना करने के लिए प्रसिद्ध था और आज भी अब्दुल करीम, हदीस रचयिता के नाम से प्रसिद्ध है। उसने स्वयं यह स्वीकार किया कि उसने चार हजार हदीसों की निराधार रचना की थी।

7. हदीसों की तदवीन (खोज)– प्रथम शताब्दी हिज़री के अन्त में लोगों में हदीसों के संकलन में अत्यधिक रुचि उत्पन्न होने लगी। हदीसों को एकत्रित करने के लिये वे एक शहर से दूसरे शहर को एक कबीले से दूसरे कबीले को और इस्लामी जगत् के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करते औंर हज़रत मोहम्मद के जो साथी जीवित थे उनसे या उनके साथियों से मुलाकात करके हज़रत मोहम्मद के वचन सुनते तथा उनको एकत्रित करते थे। पहले पहल खलीफा उमर बिन अब्दुल अज़ीज (खलीफ़ा द्वितीय) ने हदीसों को क्रमबद्ध

रूप में एकत्रित करने का आदेश दिया था। यह हज़रत मोहम्मद की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष बाद की घटना है। हदीसों का प्रथम शुद्ध संकलन दूसरी शताब्दी हिजरी के अन्त में हुआ। इन हदीसों के लेखकों में दो प्रकार के लेखकों को मान्यता प्राप्त है : (क) सहाबाए कराम और (ख) ताबईन

सहाबाए कराम उन लोगों को कहते हैं जो हज़रत मोहम्मद के साथ रहे और जिन्होंने अपने कानों से सुनकर और आंखों से देखकर हदीसों का वर्णन किया है। जो हदीसें इन्होंने कही हैं उन्हें प्रायः प्रामाणिक माना जाता है। ताबईन वे लोग हैं जो हज़रत मोहम्मद के साथियों के साथ रहे और जिन्होंने इन साथियों से हज़रत मोहम्मद के वचन सुने।

(8) हदीसों के विभिन्न स्तर– हदीस रचयिताओं की श्रेणियाँ है जिनका विवेचन करना यहां आवश्यक नहीं। पर इतना कहना उचित होगा कि जिस प्रकार हदीस रचयिताओं के विभिन्न पद हैं उसी प्रकार हदीसों के भी विभिन्न स्तर हैं। कुछ स्तर इस प्रकार हैं : (क) सहीह : वह हदीस जो ऐसे हदीस रचयिता के द्वारा रचित हो जिसका व्यक्तित्व और नैतिक आचरण सुप्रसिद्ध एवं आदर्श हो, और जिसकी हदीस का मूलपाठ क़ुरआन की शिक्षा के अनुसार हो। (ख) हसन : ऐसी हदीस जिसके वक्ता का पद पहले प्रकार के हदीस वक्ता से कुछ कम हो। (ग) जईफ़ : ऐसी हदीस जिसका वर्णन करने वाला विश्वसनीय न हो और हदीस का विषय भी सन्देहास्पद हो।

(क) सहीह : सित्ता या हदीसों के सहीह संकलन-सुन्नी मुसलमानों में हदीसों के छः सहीह संकलन पाए जाते हैं। इनको सहीह सित्ता कहते हैं, जो इस प्रकार है : **(i) सहीह बुख़ारी–** यह संकलन मोहम्मद इब्ने इस्माईल बुखारी द्वारा किया गया है। इनका मृत्यु काल 849 ईस्वी है। यह संकलन अति प्रामाणिक माना जाता है। जो संकलन इसके बाद हुए उनके लिये यह नमूने के रूप में काम आया। **(ii) सहीह मुस्लिम–** यह संकलन मुस्लिम नामक हदीस रचयिता का है। मुस्लिम का मृत्युकाल 874 ईस्वी है। यह भी प्रामाणिक संकलन माना जाता है। **(iii) सुनन अब् दाऊद सहीह–** इस संकलन का कर्त्ता अबू दाऊद था। इनका मृत्युकाल 888 ईस्वी है। **(iv) जामऐ तिरमिज़ी–** यह संकलन तिरमिज़ी द्वारा हुआ। इनका मृत्यु काल 901 ईस्वी माना जाता है। **(v) सुनन अन निसाई–** यह संकलन निसाई ने किया। इनका मृत्युकाल 915 ईस्वी है। **(vi) सुनन इब्ने माज–** इसका संकलन कर्त्ता इमाम इब्ने माजः है। इनका मृत्यु काल 886 ईस्वी है।

(ख) सहीह हदीसों का स्तर– सहीह हदीसों के संकलन मौजूद हैं। परन्तु सभी मुसलमानों में इनके प्रति पूर्ण विश्वास नहीं पाया जाता। प्रत्येक सम्प्रदाय उन हदीसों को जो उनके स्वार्थ के अनुकूल हैं सहीह मानता है और दूसरे सम्प्रदाय के स्वार्थवश हदीसों को असत्य ठहराता है। मुसलमानों में कुछ ऐसे भी लोग हुए हैं जिन्होंने हदीसों को सत्य मानने से बिल्कुल इन्कार किया है। उदाहरणार्थ भारत के विभाजन से पूर्व पंजाब में 'एहले अल-कुरान' ऐसा सम्प्रदाय था जो हदीसों को इन्कार करता था।

बुखारी जैसे सतर्क हदीसकार और अन्य हदीसकारों ने भी ऐसी हदीसों का उल्लेख किया है जो हज़रत मोहम्मद के ऐसे साथियों से संबंधित है जो स्वयं अनुभवहीन थे और हज़रत मोहम्मद के जीवनकाल में बहुत कम आयु के थे। उदाहरणार्थ अबु हुरैरा से हज़ारों हदीसे उद्धृत हैं, परन्तु अबु हुरैरा ने हज़रत मोहम्मद की मृत्यु से केवल चार वर्ष पहले इस्लाम स्वीकार किया था और इन चार वर्षों में भी वह एक गुमनाम युवक था। इसी प्रकार एक अन्य हदीसकार इब्ने अब्बास है, जो हज़रत मोहम्मद की मृत्यु के समय चौदह वर्ष के थे और केवल चार वर्ष मोहम्मद साहब के संपर्क में रहे थे। अन्सबिन मलिक से भी बहुत सी रवायतें उद्घृत है। इसकी आयु हज़रत मोहम्मद की मृत्यु के समय केवल 19 वर्ष की थी। बुखारी द्वारा संकलित हदीसों का आधे से अधिक भाग इन्हीं अनुभवहीन एवं कम आयु वाले हदीसकारों से सम्बन्धित है। बहुत सी हदीसें ऐसी हैं जो हज़रत आएशा से उद्घृत हैं। यद्यपि आप हज़रत मोहम्मद के साथ एक लम्बे समय तक रहीं परन्तु आप पक्षपात के लिये प्रसिद्ध हैं। आपसे बहुत सी ऐसी हदीसें संबंधित है जिनका उल्लेख करना भी अशोभनीय है। पता नहीं ऐसी हदीसों को क्यों लिखा गया ?

9. हदीसों के कुछ नमूने– (क) इब्ने अब्बास से रवायत है कि 'अपने (हज़रत मोहम्मद) ने फरमाया, "मुझसे केवल उसी हदीस का वर्णन करो जिसको तुम जानते हो कि यह मेरी हदीस है। जो मनुष्य मुझसे जानबूझ कर असत्य बात जोड़ेगा वह स्थान आग में समझे" (तिरमिज़ी)।

(ख) मुआज़ बिन जबल से रवायत है कि 'रसूल अल्लाह' ने उन्हें यमन की ओर हाकिम बनाकर भेजा तो फरमाया, "जब कोई समस्या तुम्हारे सामने आए तो किस प्रकार न्याय करोगे ? उत्तर दिया, मैं अल्लाह की पुस्तक से न्याय करूँगा। फरमाया, यदि अल्लाह की पुस्तक में न पाओ ? उत्तर दिया तो अल्लाह की सुन्नत से। फरमाया, यदि रसूल अल्लाह की सुन्नत में न

पाओ ? अर्ज किया, तब अपनी बुद्धि से फैसला करूँगा और इसमें कोई कसर नहीं छोड़ूँगा। तब रसूल अल्लाह ने आपके सीने पर हाथ मारा और फरमाया, अल्लाह की स्तुति हो जिसने रसूल अल्लाह के रसूल को वह शक्ति दी जिस पर अल्लाह का रसूल प्रसन्न है" (सहीह तिरमिज़ी अबु दाऊद)।

(ग) हज़रत आएशा से रवायत है, 'रसूल अल्लाह जब सफर पर जाते तो अपनी बीबियों के नाम पर परची डालते और जिसका नाम निकलता उसे अपने साथ ले जाते' (बुखारी, मुस्लिम)।

10. हदीसकारों की संक्षिप्त जीवनियाँ– छः हदीसकार सुप्रसिद्ध हैं। उनकी जीवनियों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) बुखारी– पूरा नाम मोहम्मद इस्माईल था। बुखारा में पैदा हुए इसलिये बुखारी कहलाते हैं। जब आप केवल ग्यारह वर्ष के थे तब ही आपने हदीस का ज्ञान प्रारम्भ किया और 16 वर्ष की आयु में एक विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हो गए। आपको हदीसें कंठस्थ थीं और विद्यार्थी आप से लाभान्वित होते थे। आप छः वर्ष तक हिजाज़ में पठन पाठन करते रहे। फिर आपने यहाँ से तूफ़ानी यात्रा शुरू की। इस यात्रा का उद्देश्य हदीसों को एकत्रित करना था। चालीस वर्ष आपने इस्लामी जगत् के सब देशों का भ्रमण किया। आप धर्म-परायण एवं कर्त्तव्यनिष्ठ थे। आपने हदीसों की प्रामाणिकता पर विशेष ध्यान दिया और रावी के सम्बन्ध में गहरी छानबीन करने के पश्चात् ही उसके नाम को सम्मिलित किया। आपका संकलन 'अजामे अससहीह' अथवा 'सहीह बुखारी' के नाम से प्रसिद्ध है। यो तो आपने साठ हजार हदीसों को एकत्र किया था। पर उनमें केवल 7397 ही प्रामाणिक है। हदीसों को एकत्र करना आपके लिए एक पवित्र कर्तव्य एवं आराधना थी। सुन्नी मुसलमानों के अनुसार 'सहीह बुखारी' क़ुरआन के बाद सबसे अधिक प्रामाणिक पुस्तक है। आप की मृत्यु ई. सन् 870 में समरकंद में हुई।

(ख) मुस्लिम– पूरा नाम अबु हसन मुस्लिम था। आपका जन्म निशापुर में 817 ई० में हुआ। आप इमाम मुस्लिम के नाम से प्रसिद्ध हैं। 17 वर्ष की आयु में आपने हदीस का ज्ञान आरम्भ किया। हदीस एकत्र करने के उद्देश्य से आपने इराक़, हजाज़, सीरिया, मिस्र, बग़दाद आदि देशों और नगरों की यात्रा की। समस्त आयु हदीस एकत्र करने के कार्य में व्यतीत की। आप ने भी बड़ी सावधानी से हदीसों की छानबीन के बाद ही उनका चयन किया। आपने कुल तीन लाख हदीसें एकत्र की। पर केवल 9200 को ही प्रामाणिक मानकर उनका

चयन किया। आपकी मृत्यु ई. स. 875 में 57 वर्ष की आयु में हुई।

(ग) अबू दाऊद– आप का पूरा नाम अबू दाऊद सुलैमान था। आप सिस्तान में पैदा हुए। हदीस एकत्र करने के उद्देश्य से देश-देश की यात्रा की। आप के संकलन को 'सुनन' कहते हैं जिसमें चार हजार हदीसें पाई जाती हैं। आपने करीब पांच लाख हदीसे 'एकत्र की थी। मुस्लिम न्याय शास्त्र के विद्यार्थी के लिये इस सुनन का स्थान सबसे ऊंचा है। आपकी मृत्यु ईस्वी सन् 888 में हुई।

(घ) इमाम इब्ने माजः– आपका नाम अबू अब्दुल्ला : मोहम्मद बिन यज़ीद अल माजः था। आप ई०स० 824 में ईरान में पैदा हुए। आपने हदीस एकत्र करने के उद्देश्य से इराक़, मिस्र, कूफा, रै, हजाज़ आदि देशों और स्थानों की यात्रा की और अपना संकलन किया। आपका संकलन भी 'सुनन' कहलाता है। आप प्रतिष्ठित विद्वान् थे। आपने क़ुरआन पर भी एक भाष्य लिखा। आपकी एक पुस्तक इतिहास पर भी है। आपने संकलन में कुछ ऐसी हदीसें पाई जाती है जिन्हें परवर्तीकालीन विद्वानों ने 'दुर्बल हदीसे' कहा है। आप की मृत्यु 886 ईस्वी में हुई।

(च) तिरमिज़ी– आपका नाम अबू ईसा अल तिरमिज़ी था। तिरमज़ नगर में 831 ईस्वी में पैदा हुए। आपने खुरासान, इराक और हिजाज़ की यात्रा कर हदीसों को एकत्र किया। आपका संकलन जामे-अस-सहीह के नाम से प्रसिद्ध है। आपने पांच लाख हदीसें एकत्र की। उनमें से केवल 600 का चयन कर संकलन किया। आपने हज़रत मोहम्मद की जीवनी पर भी एक पुस्तक लिखी। आपकी मृत्यु 901 ईस्वी में हुई।

(छ) नसाई– आपका नाम अबू अब्दुर्रहमान नसाई था। आप खुरासान के नसा नगर में हिजरी 215 में पैदा हुए। आपने भी हदीसों को एकत्र करने के लिए अनेक नगरों की यात्रा की आपका संकलन भी 'सुनन' कहलाता है। इसमें 4482 हदीसे है। आपकी मृत्यु हिजरी 303 में मक्का में हुई

11. क़ुरआन और हदीस में अन्तर– क़ुरआन अल्लाह की वाणी और हदीस को रसूल की वाणी माना जाता है। क़ुरआन को हज़रत जिबरील ने हज़रत मोहम्मद तक पहुँचाया परन्तु हदीसे विभिन्न हदीसकारों द्वारा निर्मित हुई। क़ुरआन के हाफिज (कण्ठस्थ करने वाले) पाए जाते थे, परन्तु हदीसों के नही। क़ुरआन एक पुस्तक है, जिसे समस्त मुसलमान प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु हदीसों को नहीं। क़ुरआन एक पुस्तक है, जिसे समस्त मुसलमान प्रामाणिक

मानते है, परन्तु हदीसें विभिन्न पुस्तकें है, और प्रत्येक सम्प्रदाय की हदीसें पृथक् हैं। क़ुरआन की आयत जब किसी मुसलमान के समक्ष प्रस्तुत की जाती है तो वह तत्काल उसे स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब हदीस प्रस्तुत की जाती है तो वाद विवाद के लिये अवसर उपस्थित हो सकता है। जिस प्रकार क़ुरआन को समझने के लिये अरबी भाषा एवं व्याकरण आदि की आवश्यकता है उसी प्रकार क़ुरआन को समझने के लिये सहीह हदीस की भी आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, हदीस क़ुरआन की सेविका है और क़ुरआन हदीस का न्यायाधीश (काज़ी) है। जो हदीस क़ुरआन की कसौटी पर खरी उतरती है वही सफल हदीस है, अन्यथा हदीस किसी मूल्य की नहीं।

इज्माअ और इज्तिहाद का अर्थ

इज्माअ का शाब्दिक अर्थ है इकट्ठे होना। साधारणतः इससे अभिप्राय है किसी एक बात पर सहमत होना। विशेष विद्वान् जब धर्म की किसी समस्या पर एकमत हो जाते हैं तो उसे इज्माअ कहते हैं। विशेष विद्वानों से अभिप्राय है हज़रत मोहम्मद के साथियों अथवा साथियों के साथियों से है। ये लोग धर्म के जिस नियम पर एकमत हो गए वह मुस्लिम शरीअत (LAW) में विधिवत् स्वीकृत हो गया। हज़रत मोहम्मद के साथी हज़रत के आदेशों और क़ुरआन कीं बातों से भली भांति परिचित थे और उन समस्त बातों का ज्ञान इन साथियों से दूसरे साथियों और फिर उनके साथियों तक पहुंचता रहा। आजकल के मुसलमान जिस इज्माअ को मानते हैं वह वास्तव में इस्लाम के इन्हीं प्राचीन विद्वानों का इज्माअ है।

इज्तिहाद— इस शब्द का अर्थ है प्रयत्न करना, कोशिश करना, रास्ता ढूंढना। अर्थात् जहाँ क़ुरआन और हदीस का आदेश साफ न हो वहाँ अपनी राय से उचित रास्ता निकालना।

इस्लाम के कुछ विद्वानों का यह मत है कि इज्माअ प्रत्येक काल में उचित है। परन्तु प्रत्येक काल में कोई न कोई मुसलमान विशिष्ट होना चाहिये जिसे 'मुजतहिद' मान लिया जाए, अर्थात् रास्ता निक़ालने वाला जो अपने प्रयत्न या कोशिश से उचित रास्ता निकाल ले। अतएव मुजतहिद का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो नवीन समस्याओं के हल में अपनी मानसिक शक्ति को बड़े परिश्रम और नेक कोशिश से उपयोग में लाए और उसकी सहायता से तर्कपूर्ण एवं बुद्धिपूर्ण परिणाम निकाल सके तथा उनके अनुसार आदेश दे। मुसलमान

विद्वानों में मुजतहिद का पद सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।[1]

इस्लाम के मूल विश्वास (ईमान)

1. विश्वास (ईमान) का अर्थ एवं महत्त्व

1. अर्थ– सामान्यतः इस्लाम धर्म के दो पक्ष माने जाते हैं : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत इस्लाम धर्म के समस्त तत्व अथवा सिद्धान्त मत या विचार सम्मिलित है। व्यावहारिक पक्ष में वे समस्त कार्य हैं जिन्हें एक मुसलमान को करना चाहिए। प्रथम पक्ष को मुस्लिम उलमा 'असूल' कहते हैं। असूल शब्द की व्युत्पति 'असल' धातु से है जिसका अर्थ है जड़ या नियम। द्वितीय पक्ष को फरा कहते हैं जिसका अर्थ है शाखा। प्रथम पक्ष को 'अकायद' भी कहते हैं जो अक़ीदा शब्द का बहुवचन है और जिसका अभिप्राय है बाध्य होना। द्वितीय पक्ष को 'ऐहकाम' कहते है जो हुक्कम शब्द का बहुवचन है और जिसका अर्थ है धर्म नियम। प्रथम पक्ष को 'मारिफा' अथवा ज्ञान भी कहते हैं। द्वितीय पक्ष को अत्ता या आज्ञापालन कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान जड़ है और आज्ञा पालन उसकी शाखा है। परवर्तीकालीन उलमा ने क़ुरआन के इन दो पक्षों को ईमान और अमल की संज्ञा दी है।

ईमान शब्द अमन से निकला है। अमन का अर्थ है : जिसे शान्ति एवं सुरक्षा प्रदान की गई हो, अर्थात् जीवन को शान्ति एवं सुरक्षा की प्राप्ति। अल्लाह और उसके संदेश पर विश्वास लाने से शान्ति एवं निर्भयता मनुष्य को प्राप्त होती है। विश्वासी को अलमोमिन[2] कहते हैं, जिसका अभिप्राय है वह जो शान्ति और सुरक्षा के वृत्त में आ चुका है। किसी बात पर इतनी सुदृढ़ आस्था को, कि फिर किसी सन्देह के लिये स्थान ही न रहे, विश्वास कहते हैं। किसी वस्तु पर हृदय की दृढ़ धारणा तथा वाणी द्वारा उस वस्तु को स्वीकार करना विश्वास कहलाता है। राग़िब, जो क़ुरआन शरीफ़ का शब्दशास्त्री था, विश्वास और कर्म के परस्पर संबंध पर क़ुरआन का मत व्यक्त करते हुए लिखता है कि विश्वास का अर्थ है –वाणी द्वारा हज़रत मोहम्मद की रसालत और अल्लाह के ऐक्य को स्वीकार करना। अर्थात् जो मनुष्य अल्लाह और उसके रसूल हज़रत मोहम्मद पर ईमान लाता है और वाणी द्वारा यह स्वीकार करता है वह काफ़िर है।

---

1. इस्लाम एक परिचय : साम. व्ही. भजन व बेजामिनखान पृष्ठ -32-40 तक
2. सूरा .59 : 23

2. क़ुरआन शरीफ़ में ईमान का अर्थ– क़ुरआन शरीफ़ में ईमान शब्द का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है। जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है –पहला अर्थ है : वाणी द्वारा अल्लाह और हज़रत मोहम्मद की रसालत पर ईमान लाना। निःसन्देह जो 'ईमान लाए और यहूदी और नसारा (ईसाई) और सवाई हों, जो भी अल्लाह और अन्तिम दिन (न्याय का दिन) पर ईमान लाया और अनुकूल कर्म किया। इस ईमान को अमलुन बिल जवारी कहते हैं। ऐसे लोगों के लिए उनके रब के प्रतिदान है, तो उनके लिये न तो कोई भय होगा और न वे दुखी होंगे।[1]

दूसरा अर्थ : ईमान केवल यही नहीं कि वाणी द्वारा अल्लाह और हज़रत मोहम्मद की रसालत पर ईमान लाना, वरन ह्दय और मन में भी अल्लाह और हज़रत मोहम्मद की रसालत को स्वीकार करना (इस ईमान को तसदीकुन-बिल-कल्ब कहते हैं)[2] इन्हीं दो अर्थों में ईमान शब्द का पुनः पुनः प्रयोग किया गया है।

हदीस में ईमान शब्द का विस्तृत अर्थ में प्रयोग हुआ है। बुख़ारी ईमान शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखते है : 'ईमान की साठ से भी अधिक शाखाएं है, और "हया" ईमान की एक शाखा है।'[3] एक अन्य हदीस (सहीह मुस्लिम) में लिखा है। 'ईमान की 70 से भी अधिक शाखाएं है। परन्तु इस सब में श्रेष्ठ यह है कि अल्लाह के अतिरिक्त और कोई आराधना का अधिकारी नहीं, और सबसे नीची शाखा यह है कि किसी को दुःख न पहुँचाना।'[4] जिस प्रकार ईमान का अर्थ है उस सत्य को अंगीकार करना जो हज़रत मोहम्मद द्वारा प्रकट किया गया है, उसी प्रकार कुफ़्र का अर्थ है उस सत्य का इन्कार करना। बुखारी कुफ़्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि हज़रत मोहम्मद द्वारा प्रकट किए गए सत्य से इन्कार करना और बुरे काम करना कुफ़्र है। अज्ञान (जाहीलीयत) काल को बुख़ारी कुफ़्र का काल कहते हैं। क़ुरआन के उतरने और हज़रत मोहम्मद के आने का लक्ष्य लोगों को ईमानी की ओर आमंत्रित करना है। क़ुरआन अपने लाने वाले हज़रत मोहम्मद के संबंध में स्पष्ट कहता है कि

---

1. सूराः 2 : 62; 4 :136
2. सूराः 49 : 14
3. सूराः 2 :सहीह बुख़ारी 2 : 3
4. मुस्लिम 1 : 12

वह ईमान का प्रचार करने वाला है।[1] क़ुरआन की मनुष्य से पहली मांग ही यह है कि वह ईमान लाए और तत्पश्चात् अपनी शारीरिक इच्छाओं एवं व्यवहार के सुधार की ओर अग्रसर हो।

3. ईमान और इस्लाम– ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि ईमान का अर्थ है : मन की दृढ़ धारणा या दृढ़ आस्था। और इस्लाम का अर्थ है अल्लाह के समक्ष पूर्ण आत्म-समर्पण करना।[2] क़ुरआन और हदीस में 'मोमिन' और मुस्लिम दोनों पर्यायवाची शब्द माने गए हैं। उदाहरणार्थ 'किताब-अल-ईमान' में अबू हुरेरा द्वारा कही गई कथा को बुख़ारी इस रूप में लिखता है : हज़रत मोहम्मद एक दिन बाहर बैठे हुए थे कि उनसे आकर एक व्यक्ति ने पूछा कि ईमान क्या है ? आपने उत्तर दिया कि ईमान अल्लाह और उसके स्वर्गदूतों और उसके रसूल और मृत्यु के पश्चात् जीवन पर विश्वास करना है। फिर उसने पूछा, इस्लाम किसे कहते हैं ? हज़रत मोहम्मद ने उत्तर दिया, इस्लाम से अभिप्राय है एक अल्लाह की आराधना करना। नमाज़ पढ़ना, ज़कात देना।[3]

यहां ईमान और इस्लाम में भेद किया गया है। सत्य यह है कि ईमान और इस्लाम व्यक्ति के धार्मिक विकास में दो भिन्न-भिन्न स्तर हैं। जब मनुष्य इस बात को घोषित करता है कि वह हज़रत मोहम्मद की रसालत और अल्लाह के एकत्व को मानता है तो यह प्रथम स्तर है। जिसे हम ईमान कहते हैं यह प्रारम्भ है जहाँ वह वाणी द्वारा यह स्वीकार करता है और एक नियम को मानने की घोषणा करता है। परन्तु दूसरे स्तर में यह ईमान उसके मन की गहराई में जा उतरता है और मनुष्य में उन परिवर्तनों को उत्पन्न कर देता है जो अल्लाह को स्वीकार है। ऐसा ही अर्थ इस्लाम शब्द का लगाया जा सकता है। प्रथम स्तर में मनुष्य अपने आपको अल्लाह के अधीन कर देता है, फिर यह आत्म समर्पण, समस्त आत्म समर्पण के रूप में परिणत हो जाता है। द्वितीय वह जो पूर्णरूप से अपने आपको अल्लाह को समर्पित कर देता है वही शुभ कार्य को करने वाला है, उसी को अल्लाह की ओर से पुरस्कार दिया जाएगा। उसे किसी प्रकार का भय न होगा।[4] यहां हम देखते हैं कि ईमान और इस्लाम का अपने प्राथमिक और अन्तिम स्तरों में एक जैसा ही अर्थ है, अर्थात् एक साधारण

---

1. सूरः 3 : 193
2. सूरः 3 : 19. 49 :14
3. बुखारी 2 : 37
4. सूर : 2 : 112

घोषणा से एक परिपूर्णता में परिणत होते हैं। जो व्यक्ति अन्तिम अवस्था को पा लेता है उसे ही हम मोमिन या मुस्लिम कहते हैं।

4. ईमान और मुक्ति (नजात)– मुक्ति का अभिप्राय है छुटकारा या रिहाई पाना। इस्लाम में मुक्ति का अर्थ है कि मनुष्य पाप के दण्ड से बच जाएं और पाप का दण्ड यह है कि वह नरक में डाला जाए। इसलिए एक मोमिन की मुक्ति यह है कि वह नरक से बचकर स्वर्ग में प्रवेश पाए। इस्लाम में पाप के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और बताया गया है कि आदम और हव्वा ने शैतान के बहकाने पर अल्लाह के नियम को भुला दिया और पाप कर बैठे और इसके दण्ड स्वरूप वे अदन से निकाले गए लेकिन इनके पाप का प्रभाव न तो उनकी सन्तान पर पड़ा और न इनका पाप शेष रहा क्योंकि अल्लाह ने जो अति दयालु है उनके पश्चाताप करने पर उनके पाप को क्षमा कर दिया। हर व्यक्ति के लिए जो नजात (मुक्ति) पाने का इच्छुक है यह आवश्यक है कि वह यह कलिमा 'ला-इला-इल-लिला मोहम्मद रसूल अल्लाह' (कोई ईश्वर नहीं केवल अल्लाह के, और हज़रत मोहम्मद इनके रसूल है) इसको स्मरण करें, इस पर विश्वास लाए और शुभ कार्य करें। ईमान की नींव पर अच्छे कार्य करने वाले को अल्लाह मुक्ति का अधिकारी बना देता है।

5. ईमान और धर्म– ईमान का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय से है और इसके प्रकटीकरण के दो साधन हैं। एक तो यह है कि मनुष्य शब्दों द्वारा यह स्वीकार करता है कि वह इन बातों पर विश्वास रखता है और दूसरा साधन यह है कि वह केवल मौखिक रूप से कुछ शब्दों का उच्चारण ही नहीं करता वरन उन्हें अपने व्यवहार में परिणत करने की भी चेष्टा करता है, वह कलिमा पढ़ता है, नमाज़ को नियमित रूप से पढ़ता है, हज्ज के लिए जाना, रोजा रखना और ज़कात (दान) वह अपना कर्त्तव्य समझता है। वह उन कार्यों को, जो एक मुसलमान के लिए अनिवार्य है, पूर्ण कर अपने विश्वास को प्रकट करता है। इन्हीं कार्यों को करने से यह प्रकट होता है कि वह एक मुसलमान है। इस्लाम में इन कार्यों को करने का नाम ही धर्म है, अर्थात् इस्लाम में धर्म और विश्वास एक दूसरे के पूरक हैं।

6. ईमान के प्रकार– ईमान दो प्रकार का कहा गया है : (क) ईमान-ए-मुजमिल। अल्लाह के एकत्व और हज़रत मोहम्मद के अल्लाह के रसूल होने पर ईमान लाना ईमान-ए-मुजमिल अर्थात् ईमान का सारतत्त्व है। 'तौहीद' अर्थात् अल्लाह का ऐक्य तथा हज़रत मोहम्मद की रसालत इस्लाम के केन्द्रीय

नियम है। ईमान-ए-मुजमिल की इन शब्दों में व्याख्या की जा सकती है, 'ईमान लाया मैं अल्लाह पर जैसा कि वह अपने नामों एवं गुणों के साथ है, और मैंने उसके समस्त नियमों को स्वीकार किया'। (ख) ईमान-ए-मुफ़स्सल-एक मुसलमान के लिये यह आवश्यक है कि वह ईमान के समस्त भागों को जाने। ईमान-ए-मुफ़स्सल यह है कि 'ईमान लाया मैं अल्लाह पर और उसके रसूलों पर और न्याय के दिन पर और इस पर कि अच्छी व बुरी तक़दीर खुदा की ओर से होती है और मृत्यु के बाद उठाए जाने पर।' ईमान के निम्नांकित अंगों को मान लेना अथवा उन पर विश्वास लाना ईमान-ए-मुफ़स्सल कहलाता है :

(i) अल्लाह (ii) फरिश्ते (स्वर्गदूत) (iii) अल्लाह की किताबें (स्वर्गिक पुस्तकें)। (iv) रसूल और नबी (v) क़ियामत (अन्तिम दिन या न्याय का दिन) (vi) तक़दीर

इन भागों के साथ-साथ हज़रत मोहम्मद की रसालत और क़ुरआन पर भी ईमान लाना जरूरी है। इन भागों में ऐसा घनिष्ठ संबंध है कि यदि हम इनमें से किसी एक कड़ी का भी इन्कार करें तो उसका अर्थ होगा समस्त भागों का इन्कार करना इसीलिये इस्लाम ने मनुष्य के दो विभाग किए हैं : ईमान लाने वाले, और ईमान से इन्कार करने वाले। ईमान लाने वाले 'मोमिन' और इन्कार करने वाले 'काफ़िर' कहलाते हैं। मुसलमानों अर्थात् मोमिनों को काफ़िरों से पृथक् रहने की चेतावनी दी गई है।

यदि ईमान धर्म का मूल आधार है तो यह आवश्यक है कि खुदा, धार्मिक पेशवा, आध्यात्मिक पुस्तकें तथा इनकी शिक्षा ईमान के अनिवार्य अंग होंगे। यदि ईमान धार्मिक न होकर केवल सांसारिक हो तो फिर उसमें इन अंगों की आवश्यकता नहीं होगी। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति जो जाति भावना से इस प्रकार भरपूर हो कि वह जाति को ही सब कुछ समझे और अपने देश के नियमों को ही सर्वश्रेष्ठ पद दे, अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति को ही अपने जीवन का लक्ष्य माने और इस संसार की विद्या और विवेक को लाभदायक मानकर इसी पर विश्वास करे, तो ऐसे व्यक्ति का ईमान केवल सांसारिक है। यह सत्य है कि ये समस्त वस्तुएं इस जीवन के लिए लाभदायक हैं परन्तु इनमें यदि आध्यात्मिकता और नैतिकता का कोई अंश मिला हुआ नहीं है तो यह एक ऐसा विश्वास है जिसके लिए धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। इस्लाम की दृष्टि में ऐसा विश्वास दुर्बल और भ्रांत है। मनुष्य का चरित्र एवं व्यवहार उन प्रतिबिम्बों पर आधारित होता है जो उसके मन में दृढ़ एवं

शक्तिशाली जड़ पकड़े हुए रहते हैं। ये प्रतिबिम्ब मनुष्य पर इस प्रकार अधिकार पा लेते हैं कि फिर उसकी समस्त व्यावहारिक शक्तियां इन्हीं प्रतिविम्बों के अधीन कार्य को करने लगती हैं। मन में इस प्रकार पूर्णरूपेण स्थायी हो जाने वाली संवेदनाओं को हम विश्वास या ईमान कहते हैं।

विश्वास जितना सशक्त होगा उतना ही मनुष्य का चरित्र भी शक्तिशाली एवं स्थायी होगा। अब यह स्पष्ट है कि यदि मन में बसे हुए प्रतिबिम्बों की नींव धर्म के श्रेष्ठ मूल्यों पर आधारित होगी तो अवश्य मनुष्य के चरित्र का झुकाव भी धर्म की ओर अधिक होगा और धर्म की चार दीवारों में पोषित हो पूर्णता की ओर अग्रसर होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्वास वह दीप शिखा है जिसके प्रकाश में मोमिन (विश्वासी) सीधे और टेढ़े पथों का भेद मालूम करता है। विश्वासी प्रतिदिन शुभ कार्य करता है, अर्थात् विश्वास शुभ कार्यों पर आधारित है। इस्लाम में ईमान के बिना कोरे शुभ कार्यों को मुक्ति अथवा उद्धार का साधन नहीं माना जाता। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जो लोग विश्वासी नहीं, उनके शुभ कार्यों का कोई मूल्य नहीं और उनका चरित्र भी आदर्श चरित्र नहीं हो सकता है।

बाइबिल— काल-धर्म के इतिहास में तीन धर्म बहुत प्राचीन माने जाते हैं। वैदिक धर्म, जरथुस्त्र और यहूदी धर्म। इस सम्बन्ध में यह भी माना जाता है कि इनमें से पहले दो आर्यों के मध्य उत्पन्न हुए और तीसरा धर्म सामी जाती के मध्य उत्पन्न हुआ था हम इसकी तुलना इस प्रकार कर सकते हैं कि जैसे प्राचीन वैदिक धर्म से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई थी। इसी प्रकार, ईसाई धर्म भी यहूदी धर्म की कुक्षि से उत्पन्न हुआ है। दूसरी विचित्रता यह हुई कि भारत में पिता (हिन्दुत्व) ने पुत्र (बौद्ध मत) को निर्वासन दिया, किन्तु फिलस्तीन में पुत्र (ईसायत) ने ही पिता (यहूदी धर्म) को अपदस्थ कर दिया।

एक तरह से देखिये तो यहूदी-धर्म से, ईसायत और इस्लाम, दोनों का सम्बन्ध है। यहूदियों की तरह, ईसा और मुहम्मद भी सामी जाति के सदस्य थे। सामी जाति घोर रूप से मूर्तिपूजक थी। मूर्तिपूजा छोड़ने का उपदेश उसे सबसे पहले हज़रत इब्राहीम ने दिया जो यहूदियों के आदि पैगम्बर हुए हैं। चूंकि हज़रत इब्राहीम ने मूर्तिपूजा का विरोध किया और एकेश्वरवाद की प्रथा चलायी इसलिए मुसलमान भी उनकी पैगम्बरी में विश्वास करते हैं। इन्हीं हजरत इब्राहीम के खानदान में ईसा और मुहम्मद, दोनों हुए हैं। हजरत दाऊद, ईसा और मूसा, ये तीन पैगम्बर हजरत इब्राहीम के बड़े बेटे हज़रत इसहाक, के खानदान में

हुए और हजरत मुहम्मद इब्राहीम के छोटे बेटे इस्माईल के वंश में हुए हैं।

यहूदी धर्म के दो पैगम्बरों के नाम हज़रत दाऊद (Dauid) और हज़रत मूसा (moses) है। बाइबिल दो प्रकार की मिलती है। पुरानी बाइबिल (अथवा ओल्ड टेस्टामेन्ट) का कुछ भाग हज़रत दाऊद का लाया हुआ है और अधिकांश हज़रत मूसा का। हज़रत ईसा ने जो नयी बाइबिल कही, उसका नाम न्यू टेस्टामेन्ट है। इन दोनों बाइबिलों में बहुत -कुछ वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध वेद और उपनिषद् अथवा वेद और बौद्ध धर्म में हो सकता है। किन्तु, यहूदी लोग नयी बाइबिल को नही मानते। इसी प्रकार, ईसाइयों का विश्वास पुरानी बाइबिल में नहीं है। मुसलमान जनता दाऊद, मूसा और ईसा को पैगम्बर जरूर मानती है, लेकिन, इस्लाम यह स्वीकार नहीं करता कि हज़रत ईसा परमात्मा के पुत्र थे। फिर भी इन पैगम्वरों के प्रति इस्लाम के बड़े ही आदरयुक्त भाव हैं। मुसलमान हज़रत मूसा को कलीमुल्लाह (प्रभु से बाते करने वाला, हजरत ईसा को रूहुल्लाह (प्रभु की आत्मा) और हज़रत मुहम्मद को रसूलल्लाह (प्रभु का दूत) कहते हैं।

बाइबिल के दो रूप– एक नया रूप और दूसरा पुरानी बाइबिल के रूप में उपलब्ध है। वस्तुतः ईसाई धर्म की नई बाइबिल यहूदी धर्म का सुधरा हुआ रूप है। यहूदी भाषा (हिब्रू) में ईश्वर को ''इलोहा'' और (अरबी ''इलाह'') कहते हैं। किन्तु हज़रत मूसा ने यहूदियों के मुख्य उपास्य देव का नामकरण ''यहोवा'' कर दिया। यह यहोवा शब्द यहूदी भाषा का शब्द नहीं है। वह खाल्दी भाषा के 'यवे' (संस्कृत ''यल्ह'') से निकला बताया जाता है। ''यहूदी लोग मूर्तिपूजक नहीं है। उनके धर्म का मुख्य आचार यह है कि अग्नि में पशु या अन्य वस्तुओं का हवन करें, ईश्वर के बतलाये हुए नियमों का पालन करके यहोवा को सन्तुष्ट करे और उसके द्वारा इस लोक में अपना तथा अपनी जाति का कल्याण प्राप्त करे। अर्थात् संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैदिक-धार्मिक कर्मकाण्ड के अनुसार, यहूदी-धर्म भी यज्ञमय तथा प्रवृत्ति-प्रधान है। इसके विरुद्ध, ईसा का अनेक स्थानों पर उपदेश है कि ''मुझे (हिंसाकारक) यज्ञ नहीं चाहिए, मैं ईश्वर की कृपा चाहता हूँ।'' (मैथ्यू, 91/3) ईश्वर तथा द्रव्य, दोनों को साथ लेना सम्भव नहीं।''(मैथ्यू, 6/24) ''जिसे अमृतत्व की प्राप्ति करनी हो, उसे बाल-बच्चे छोड़कर मेरा भक्त होना चाहिए।'' (मैथ्यू, 19/21) । और जब ईसा ने शिष्यों को धर्म प्रचारार्थ देश-विदेश में भेजा, तब संन्यास-धर्म के इन नियमों का पालन करने के लिए उनको उपदेश किया कि ''तुम अपने पास सोना-चाँदी तथा बहुत-से वस्त्र आभरण भी न रखना।''

राजनीति, समाज और साहित्य के समान धर्म में भी कोई सिद्धान्त अचानक नहीं निकल पड़ता। उसकी कुछ न कुछ पृष्ठभूमि होती है। वैदिक धर्म से बौद्ध धर्म सीधे नहीं निकल सकता था। वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया पहले उपनिषदों में ध्वनित हुई और तब उस प्रतिक्रिया ने बौद्ध क्रान्ति का रूप लिया। इस दृष्टि से देखने पर यह सहसा समझ में नहीं आता कि प्रवृत्तिमय यहूदी धर्म में से अचानक ईसा का संन्यासयुक्त भक्ति मार्ग कैसे निकल पड़ा। इसका समाधान यह कहकर किया जाता है कि ईसा से कोई दो सौ वर्ष पूर्व, यहूदियों के बीच एसी या एसीन नामक संन्यासियों का एक पन्थ आविर्भूत हुआ था, जिसके सदस्य हिसांत्मक यज्ञ-योग को छोड़कर अपना समय किसी शान्त स्थान में बैठकर ईश्वर चिन्तन में बिताया करते थे। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि ये लोग उदर-पोषणार्थ "खेती के समान निरूपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वाँरे रहना, मद्य-मांस से परहेज रखना, हिंसा न करना, शपथ न खाना, संघ के साथ मठ में रहना और जो किसी को कुछ द्रव्य मिल जाय, उसे पूरे संघ की सामाजिक आमदनी समझना आदि उनकी मण्डली के मुख्य तत्त्व थे।" पंडितों का अनुमान है कि संन्यास की यह प्रेरणा यहूदी धर्म में कहीं बाहर से आयी होगी और इस सम्बन्ध में पाश्चात्य पंडितों को आभास होता है कि वह यूनान के दार्शनिक पिथेगोरस के अनुयायियों की देन रही होगी, किन्तु इतना कहने से समस्या का पूरा समाधान नहीं होता। यह सच है कि पिथेगोरस पर भारतीय विचारधारा का प्रभाव खूब पड़ा था, किन्तु ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म में समानता इतनी अधिक है कि उसे बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव माने बिना चल नहीं सकता। जीवों पर दया तथा सबके साथ मैत्री, करुणा और अहिंसा का व्यवहार, पाप से घृणा और पापी से प्यार, संन्यास और यति-वृत्ति, साधुओं का मठों में रहना।

द्वितीय अध्याय

ऋग्वेदीय संस्कृति

समाज निर्माण के मूल सूत्र– ऋग्वेद में समाज निर्माण के अनेक सूत्र बतलाए गए हैं। ऋग्वेद का अन्तिम 10/191 सूक्त 4 मन्त्रों का एक छोटा सा सूक्त है इसमें वह मूल-मन्त्र बताया गया है जिसके द्वारा किसी भी राष्ट्र का मानव समाज सब प्रकार की उन्नति, सब प्रकार का ऐश्वर्य और अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। मन्त्र में कहा है, हे कल्याणों की वर्षा करने वाले ज्ञान का प्रकाश और जीवन की गरमी देकर उन्नति की ओर आगे ले चलने वाले परमात्मन्! संसार के स्वामी आप संसार के सब पदार्थों को सब ओर भली-भांति निश्चित रूप से अपनी व्यवस्था के अनुसार परस्पर मिलाते हो और फिर आप ही उनका वियोग भी करते हो। इस धरती पर आप अपनी महिमा के द्वारा खूब चमक रहे हो, ऐसे महिमाशाली वह आप हमें सब प्रकार के धनों, ऐश्वर्यों को सब ओर से लाकर दीजिये।[1]

भगवान् 'वृषा' हैं। सब प्रकार के कल्याण और मंगलों की वर्षा करने वाले हैं वे ही सब संसार के स्वामी हैं। वे अग्नि स्वरूप हैं। वे ज्ञान का प्रकाश देते हैं और जीवनोन्नति के लिये आवश्यक गरमी और शक्ति प्रदान करते हैं। इन दोनों चीजों को देकर वे हमें आगे उन्नति और समृद्धि की ओर ले जाते हैं। प्रलय के अनन्तर वे अपनी व्यवस्था के अनुसार प्रकृति के परमाणुओं को परस्पर मिलाकर अनेक तत्त्वों का निर्माण करते हैं, फिर इन तत्त्वों को मिला कर वे जगत् के विभिन्न पदार्थों की रचना करते हैं, ये पदार्थ कुछ समय तक बने रहते हैं फिर विनष्ट हो जाते हैं –ये जिन तत्वों से बने होते हैं उनका वियोग हो जाता है। पदार्थों को बनाने वाले तत्त्वों का यह वियोग भी भगवान् की व्यवस्था के अनुसार ही होता है। पुनः प्रलय के समय भगवान् प्रकृति के

---

1. संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
   इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर।। ऋ० 10.191.1

परमाणुओं का भी वियोग करके जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले तत्त्वों का भी संहार कर देते हैं और तब दृश्यमान जगत् सर्वथा ही विलुप्त हो जाता है। 'यु' धातु का मिश्रण और अमिश्रण, मिलाना और वियोग करना, ये दोनों ही अर्थ होते हैं, इसलिये 'युवसे पद उपर्युक्त दोनों भाव देता है। इस प्रकार के महिमाशाली भगवान् अपनी महिमा से धरती पर चमक रहे हैं। जिधर देखो उधर ही उनकी विभूति नजर आ रही है। ऐसे महान गुणों वाले प्रभु ही हमें सब प्रकार का ऐश्वर्य दे सकते हैं। इसलिये उनसे ही ऐश्वर्य-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। वे ही ऐश्वर्य-प्राप्ति का उपाय बतायेंगे क्योंकि वे अग्नि-स्वरूप हैं, प्रकाश -स्वरूप हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं उनमें अनन्त ज्ञान है।

अगला मन्त्र बताता है कि ऐश्वर्य के अभिलाषी हे मनुष्यो ! तुम सब परस्पर मिलकर चलो, मिलकर रहो, प्रेम से मिलकर बातचीत करो तुम्हारे मन मिलकर परस्पर सहयोग से ज्ञान प्राप्त करें जिस प्रकार तुम से पहले के विद्वान् पुरुष मिलकर परस्पर के सहयोग से विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए प्राप्त करने योग्य ऐश्वर्य और अभ्युदय के अपने-अपने भाग को प्राप्त करते रहे हैं, वैसे ही तुम भी करो।[1]

पुनः कहा कि ऐश्वर्य के अभिलाषी इन तुम सबका गुप्त और गम्भीर विषयों की मन्त्रणा करने का विचार करने का, स्थान समान हो, जिसमें तुम समान रूप से जा सको तुम्हारी राज्य सभायें और दूसरी सभायें समान हों, जिनके सदस्य सब बन सकें तुम्हारा मन समान हों, जिसमें परस्पर के लिए प्रेम हो, मन से प्राप्त किया जाने वाला तुम्हारा ज्ञान भी एक साथ हो, परस्पर के सहयोग से मिलकर प्राप्त किया जाये तुम सबको समान रूप से मिलकर की जाने वाली मन्त्रणा और विचार की मैं मन्त्रणा देता हूँ, सलाह देता हूँ, तुम सबको समान रूप से परस्पर के लिए किये जाने वाले त्याग के द्वारा ऐश्वर्य और अभ्युदय प्राप्ति के यज्ञ में मैं नियुक्त करता हूँ।[2]

अन्त में कहा कि तुम सबके संकल्प एक जैसे हों, तुम्हारे हृदय एक समान हों तुम्हारा मन एक समान हो जिससे तुम्हारा भली-भांति परस्पर मिलकर

---

1. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
   देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।। ऋ० 10.191.2
2. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
   समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।ऋ० 10.191.3

साथ रहने से होने वाला ऐश्वर्य और अभ्युदय प्राप्त हो सके।[1] सूक्त के प्रथम मन्त्र में भगवान् से ऐश्वर्य की, अभ्युदय की, प्रार्थना की गई थी। सूक्त के शेष तीन मन्त्रों में भगवान् ने ऐश्वर्य और अभ्युदय प्राप्ति का उपाय बताया है। जो लोग मिल कर रहते हैं, मिलकर बातचीत करते हैं, जिनके हृदय और मन प्रेम से मिले रहते हैं, जो परस्पर के सहयोग से मिलकर विविध प्रकार के ज्ञानों की उन्नति करते हैं जिनके मन्त्रणा स्थान और मन्त्रणा सभायें समान होती हैं, जिनमें सभी बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के समान रूप से भाग लेकर मिलकर मन्त्रणा और विचार विमर्श कर सकते हैं, जो परस्पर की भलाई और उन्नति के लिए सब प्रकार की 'हवि' देने के लिए सब प्रकार का त्याग करने के लिए उद्यत रहते है, जिनके संकल्प और निश्चय मिलकर किये जाते हैं, वे सब प्रकार के ऐश्वर्य और अभ्युदय की चोटी पर चढ़ सकते हैं। उनके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं रहता। अभ्युदय प्राप्ति का यही मूल मन्त्र है।[2]

प्रकाश एवं ज्योति की ओर चलने की संस्कृति– ऋग्वेद में जहाँ इन्द्र के अनेक सूक्त उपलब्ध हैं उसी प्रकार ज्योति एवं प्रकाश की ओर चलने के लिए अनेक मन्त्र आये हैं। ऋग्वेद में तीन प्रकार की ऋचाएं– 1. परोक्षकृता 2. प्रत्यक्ष कृता और 3. आध्यात्मिकी हैं। फिर उसी निरुक्त (7.2) में लिखा है कि 1. प्रत्यक्षकृता वे हैं जिनमें मध्यम पुरुष का योग है और 'त्वम्' इस सर्वनाम से व्यवहार है। इसीलिये वेदों में अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओं (व्यावहारिकों) का मध्यम पुरुष के प्रयोगों और "तुम" इस सर्वनाम से सम्बोधन करके वर्णन किया है। अर्थात् वेद की यह शैली (मुहावरा) है कि प्रत्यक्ष अग्न्यादि पदार्थों का वर्णन इस ढ़ंग से किया जाता है। ऐसा ही आगे भी सर्वत्र जानो। वार-वार न लिखेंगे। तात्पर्य यह है कि अग्नि को अग्निकुण्ड में बुलाना अर्थात् आधान करना चाहिये इसलिये कि होमे हुए द्रव्यों को वायु आदि में फैलावे और हुतद्रव्यों को प्रक्षेप करके फैलाने वा भक्षण करने के लिये। प्र०- वह अग्नि कैसा है ? उ० -जिस की स्तुति की जाती है। प्र० -अग्नि आदि जड़ पदार्थों की स्तुति से क्या फल है ? उ०- जिस प्रकार परमेश्वर की स्तुति अर्थात् गुणानुवाद करने से उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती है इसी प्रकार अग्नि आदि जड़ पदार्थों के गुण वर्णन

---

1. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋ० 10.191.4
2. वेदोद्यान के चुने हुए फूल -प्रियव्रत वेदवाचस्पति

करने से उन गुणों के द्वारा उपकार लेने की श्रद्धा उत्पन्न होती है अर्थात् होमादि करने का क्या फल है, शिल्पादि में अग्नि क्या काम देता है, इत्यादि विदित होता है। इसलिये गुणकीर्तन व्यर्थ नहीं।

जैसा कि वेद में वर्णन करते हुए कहा है कि हम लोग विद्वानों के सत्कार संगम महिमा और कर्म के देने तथा ग्रहण करने वाले उत्पत्ति के समय से पहिले परमाणु आदि सृष्टि के धारण करने और बार-बार उत्पत्ति के समय में स्थूल सृष्टि के रचने वाले तथा ऋतु ऋतु में उपासना करने योग्य और निश्चय करके मनोहर पृथिवी वा सुवर्ण आदि रत्नों के धारण करने वा देने तथा सब पदार्थों के प्रकाश करने वाले परमेश्वर की स्तुति करते हैं। तथा उपकार के लिये हम लोग विद्यादि दान और शिल्प क्रियाओं से उत्पन्न करने योग्य पदार्थों के देने हारे तथा उन पदार्थों के उत्पन्न करने के समय से पूर्व भी छेदन धारण और आकर्षण आदि गुणों के धारण करने वाले शिल्प विद्या साधनों के हेतु अच्छे-अच्छे, सुवर्ण आदि रत्नों के धारण कराने तथा युद्धादिकों में कला युक्त शस्त्रों से विजय कराने हारे भौतिक अग्नि की बारम्बार इच्छा करते हैं।[1]

यहाँ अग्नि शब्द के दो अर्थ करने में प्रमाण ये हैं कि इस ऋग्वेद के मन्त्र से यह जाना जाता है कि एक सद्ब्रह्म के इन्द्र आदि अनेक नाम है। इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार से दो अर्थों का ग्रहण होता है। पिता के समान कृपाकारक परमेश्वर सब जीवों के हित और सब विद्याओं की प्राप्ति के लिए कल्प-कल्प के आदि में वेद का उपदेश करता है। जैसे पिता वा अध्यापक अपने शिष्य वा पुत्र को शिक्षा करता है कि तू ऐसा कर वा ऐसा वचन कह, सत्य वचन बोल, इत्यादि शिक्षा को सुनकर बालक वा शिष्य भी कहता है कि सत्य बोलूंगा, पिता और आचार्य की सेवा करूंगा, झूठ न कहूंगा, इस प्रकार जैसे परस्पर शिक्षक लोग शिष्यों वा लड़कों को उपदेश करते हैं, वैसे ही 'अग्निमिळे' इत्यादि वेद मन्त्रों में भी जानना चाहिये। क्योंकि ईश्वर ने वेद सब जीवों के उत्तम सुख के लिए प्रकट किया है। परमार्थ और व्यवहार विद्या की सिद्धि के लिए अग्नि शब्द करके परमेश्वर और भौतिक ये दोनों अर्थ लिये जाते हैं। जो पहिले समय में आर्य लोगों ने अश्वविद्या के नाम से शीघ्र गमन का हेतु शिल्प विद्या उत्पन्न की थी वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी। आप ही आप प्रकाशमान सबका प्रकाश और अनन्त ज्ञानवान् आदि हेतुओं से अग्निशब्द करके परमेश्वर

---

1. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। ऋ० 1.1.9

तथा रूप दाह प्रकाश वेग छेदन आदि गुण और शिल्प विद्या के मुख्य साधक आदि हेतुओं से प्रथम मन्त्र में भौतिक अर्थ का ग्रहण किया है।

आगे वेद में वर्णन है कि वर्तमान वा पहिले समय के विद्वान्, वेदार्थ के पढ़ने वाले ब्रह्मचारी तथा नवीन तर्क और कार्य्यों में ठहरने वाले प्राण, मन्त्रों के अर्थों को देखने वाले विद्वान्, उन लोगों के तर्क और कारणों में रहने वाले प्राण इन सभों को वह परमेश्वर स्तुति करने योग्य और यह भौतिक अग्नि नित्य खोजने योग्य है।

प्राचीन और नवीन ऋषियों में प्रमाण ये है कि वे ऋषि लोग गूढ़ और अल्प अभिप्राय युक्त मन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानने से प्रशंसा के योग्य होते हैं, और उन्हीं ऋषियों की मन्त्रों में अर्थात् उनके अर्थों के विचार में पुरुषार्थ से यथार्थ ज्ञान और विज्ञान की प्रवृत्ति होती है। इसी से वे सत्कार करने योग्य भी हैं तथा जो धर्म और अधर्म की ठीक-ठीक परीक्षा करने वाले धर्मात्मा और यथार्थ वक्ता थे, तथा जिन्होंने सब विद्या यथावत् जान ली थी, वे ही ऋषि हुए और जिन्होंने मन्त्रों के अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाने थे और नहीं जान सकते थे उन लोगों को अपने उपदेश द्वारा वेद मन्त्रों के अर्थ सहित ज्ञान कराते हुए चले आये, इस प्रयोजन के लिए कि जिससे उत्तरोत्तर अर्थात् पीढ़ी दर पीढ़ी आगे को भी वेदार्थ का प्रचार उन्नति के साथ बना रहे, तथा जिससे कोई मनुष्य अपने और उक्त ऋषियों के लिखे हुए व्याख्यान सुनने के लिये अपने निर्बुद्धिपन से ग्लानि को प्राप्त हो, इस बात के सहाय में उनको सुगमता से वेदार्थ का ज्ञान होने के लिये उन ऋषियों ने निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थों का उपदेश किया है, जिससे कि सब मनुष्यों को वेद और वेदाङ्गों का यथार्थ बोध हो जावे। वही परमेश्वर इस संसार वा इस जन्म में अच्छी-अच्छी इन्द्रियां विद्या आदि गुण भौतिक अग्नि और अच्छे-अच्छे भोगने योग्य पदार्थों को प्राप्त करता है।[1] जो मनुष्य सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाते हैं तथा अपने उपदेश से सबका उपकार करने वाले हैं वा हुए हैं वे पूर्व शब्द से और जो अब पढ़ने वाले विद्या ग्रहण करने के लिए अभ्यास करते हैं, वे नूतन शब्द से ग्रहण किये जाते हैं और वे सब पूर्ण विद्वान् शुभ गुण सहित होने पर, ऋषि कहाते हैं, क्योंकि जो मन्त्रों के अर्थों को जाने हुए धर्म और विद्या के प्रचार अपने सत्य उपदेश से सब पर कृपा करने वाले निष्कपट पुरुषार्थी धर्म के

---

1. अग्नि : पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।। ऋ० 1.1.2

सिद्ध होने के लिये ईश्वर की उपासना करने वाले और कार्यों की सिद्धि के लिये भौतिक अग्नि के गुणों को जानकर अपने कामों को सिद्ध करने वाले होते हैं, तथा प्राचीन और नवीन विद्वानों के तत्त्व जानने के लिये युक्ति प्रमाणों से सिद्ध तर्क और कारण वा कार्य जगत् में रहने वाले जो प्राण हैं, इन सबसे ईश्वर और भौतिक अग्नि का अपने अपने गुणों के साथ खोज करना योग्य है। और जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने पूर्व और वर्तमान अर्थात् त्रिकालस्थ ऋषियों को अपने सर्वज्ञपन से जान के इस मन्त्र में परमार्थ और व्यवहार ये दो विद्या दिखलाई है, इससे इसमें भूत वा भविष्य काल की बातों के कहने में कोई भी दोष नहीं आ सकता, क्योंकि वेद सर्वज्ञ परमेश्वर का वचन है। वह परमेश्वर उत्तम गुणों को तथा भौतिक अग्नि व्यवहार के संयुक्त किया हुआ उत्तम उत्तम भोग के पदार्थों का देने वाला होता है। पुराने की अपेक्षा एक पदार्थ से दूसरा नवीन और नवीन की अपेक्षा पहिला पुराना होता है।

इस मन्त्र का अर्थ नवीन भाष्यकारों ने कुछ का कुछ ही कर दिया है जैसे सायणाचार्य ने लिखा है कि प्राचीन भृगु अङ्गिरा आदियों और नवीन अर्थात् हम लोगों को अग्नि की स्तुति करना उचित है। वह देवों को हवि अर्थात् होम में चढ़े हुये पदार्थ उनके खाने के लिये पहुंचाता है। ऐसा ही व्याख्यान यूरोपखण्डवासी और आर्यावर्त के नवीन लोगों ने अंग्रेजी भाषा में किया है, तथा कल्पित ग्रन्थों में अब भी होता है, सो यह बड़े आश्चर्य की बात है जो ईश्वर के प्रकाशित अनादि वेद का ऐसा व्याख्यान जिसका क्षुद्र आशय और निरुक्त शतपथ आदि सत्य ग्रन्थों के विरुद्ध होवे वह सत्य कैसे हो सकता है।

अगले मन्त्र में कहा है कि यह मनुष्य अच्छी प्रकार ईश्वर की उपासना और भौतिक अग्नि ही को कलाओं में संयुक्त करने से प्रतिदिन आत्मा और शरीर की पुष्टि करने वाला जो उत्तम कीर्ति का बढ़ाने वाला और जिसको अच्छे-अच्छे विद्वान् वा शूरवीर लोग चाहा करते हैं विद्या और सुवर्णादि उत्तम उस धन को सुगमता से प्राप्त होता है।[1]

इसमें दो अर्थों का ग्रहण है। ईश्वर की आज्ञा में रहने तथा शिल्पविद्यासम्बन्धि कार्यों की सिद्धि के लिए भौतिक अग्नि को सिद्ध करने वाले मनुष्यों को अक्षय अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता, सो धन प्राप्त होता है, तथा मनुष्य लोग जिस धन से कीर्ति की वृद्धि और जिस धन को

---

1. अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्।। ऋ 1.1.3

पाके वीर पुरुषों से युक्त होकर नाना सुखों से युक्त होते हैं। सबको उचित है कि इस धन को अवश्य प्राप्त करें।

आगे कहा कि हे परमेश्वर ! आप सर्वत्र व्याप्त होकर जिस हिंसा आदि दोषरहित विद्या आदि पदार्थों के दानरूप यज्ञ को सब प्रकार से पालन करने वाले हैं वही यज्ञ विद्वानों के बीच में फैलकर जगत् को सुख प्राप्त कराता है। तथा जो यह भौतिक अग्नि पृथिव्यादि पदार्थों के साथ अनेक दोषों से अलग होकर जिस विनाश आदि दोषों से रहित शिल्पविद्यामय यज्ञ को सब प्रकार से सिद्ध करता है वही यज्ञ अच्छे-अच्छे पदार्थों में प्राप्त होकर सब को लाभकारी होता है।[1]

जिस कारण व्यापक परमेश्वर अपनी सत्ता से उक्त यज्ञ की निरन्तर रक्षा करता है, इसी से वह अच्छे-अच्छे गुणों के देने का हेतु होता है। इसी प्रकार ईश्वर ने दिव्यगुणयुक्त अग्नि भी रचा है कि जो उत्तम शिल्पविद्या का उत्पन्न करने वाला है। इन गुणों को केवल धार्मिक उद्योगी और विद्वान् मनुष्य ही प्राप्त होने के योग्य होता है।

जो अविनाशी आपसे आप प्रकाश मान सर्वज्ञ है, जिसने परमाणु आदि पदार्थ और उनके उत्तम गुण रच के दिखलाये हैं, जो सब विद्यायुक्त वेद का उपदेश करता है और जिससे परमाणु आदि पदार्थों करके सृष्टि के उत्तम पदार्थों का दर्शन होता है, वही कवि अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर है। तथा भौतिक अग्नि भी स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों से कला युक्त होकर देशदेशान्तर में गमन कराने वाला दिखलाया है। जिसका अति आश्चर्यरूपी श्रवण है, वह परमेश्वर विद्वानों के साथ समागम करने से प्राप्त होता है तथा जो श्रेष्ठ विद्वानों का हित अर्थात् उनके लिए सुखरूप उत्तम गुणों का प्रकार करने वाला सब जगत् को जानने और रचने हारा परमात्मा और जो भौतिक अग्नि सब पृथिवी आदि पदार्थों के साथ व्यापक और शिल्पविद्या का मुख्य हेतु जिसको अद्भुत अर्थात् अति आश्चर्यरूप सुनते हैं, वह दिव्य गुणों के साथ जाना जाता है।[2]

सबका आधार, सर्वज्ञ, सबका रचने वाला, विनाश रहित, अनन्त शक्तिमान् और सबका प्रकाशक आदि गुण हेतुओं के पाये जाने से अग्नि

---

1. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति।। ऋ० 1.1.4
2. अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत्।। ऋ० 1.1.5

शब्द करके परमेश्वर और गुणों से मूर्त्तिमान पदार्थों का धारण करने हारादि गुणों के होने से भौतिक अग्नि का भी ग्रहण होता है। सिवाय इसके मनुष्यों को यह भी जानना उचित है कि विद्वानों के समागम और संसारी पदार्थों को उनके गुण सहित विचारने से परमदयालु, परमेश्वर अनन्त सुखदाता और भौतिक अग्नि शिल्प विद्या का सिद्ध करने वाला होता है। सायणाचार्य ने 'गमत्' इस प्रयोग को लोट् लकार का माना है जो यह उनका व्याख्यान अशुद्ध है क्योंकि इस प्रयोग में यह सामान्य काल बताने वाला सूत्र वर्तमान है।

आगे वेद मन्त्र में कहा है कि ब्रह्माण्ड के अङ्ग पृथ्वी आदि पदार्थों को प्राणरूप और शरीर के अङ्गों को अन्तर्यामीरूप से रसरूप होकर रक्षा करने वाले होने से यहां अङ्गिरः शब्द से ईश्वर लिया है। हे सबके मित्र परमेश्वर! जिस हेतु से आप निर्लोभता से उत्तम उत्तम पदार्थों के दान करने वाले मनुष्य के लिए कल्याण, जो कि शिष्ट विद्वानों के योग्य है उसको करते हैं, सो यह आप ही का सत्यव्रत शील है।[1]

जो न्याय, दया, कल्याण और सका मित्रभाव करने वाला परमेश्वर है, उसी की उपासना करके जीव इस लोक और मोक्ष के सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि इस प्रकार सुख देने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल परमेश्वर का है, दूसरे का नहीं, जैसे शरीरधारी अपने शरीर को धारण करता है वैसे ही परमेश्वर सब संसार को धारण करता है और इसी से यह संसार की यथावत् रक्षा और स्थिति होती है।

आगे कहा कि हे सबके उपासना करने योग्य परमेश्वर ! हम लोग अनेक प्रकार के विज्ञान होने के लिए अपनी बुद्धि और कर्मों से आपकी उपासना को धारण और रात्रिदिन में निरन्तर नमस्कार आदि करते हुए आपके शरण को प्राप्त होते है।[2]

हे सब को देखने और सबमें व्याप्त होने वाले उपासना के योग्य परमेश्वर हम लोग सब कामों के करने में एक क्षण भी आपको नहीं भूलते, इसी से हम लोगों को अधर्म करने में कभी इच्छा भी नहीं होती, क्योंकि जो सर्वज्ञ सबका साक्षी परमेश्वर है, वह हमारे सब कामों को देखता है, इस निश्चय से।

आगे वेद में आया है कि अपने उस परम आनन्द पद में कि जिसमें

1. यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥ ऋ० 1.1.6
2. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥ ऋ० 1.1.7

बड़े-बड़े दुःखों से छूटकर मोक्ष सुख को प्राप्त हुए पुरुष रमण करते हैं, सबसे बड़ा प्रकाशस्वरूप पूर्वोक्त यज्ञादिक अच्छे-अच्छे कर्म और धार्मिक मनुष्य तथा पृथिव्यादिकों की रक्षा सत्यविद्यायुक्त चारों वेदों और कार्य जगत् के अनादि कारण के प्रकाश करने वाले परमेश्वर को हम लोग उपासना योग से प्राप्त होते हैं।[1]

जैसे विनाश और अज्ञान आदि दोष रहित परमात्मा अपने अन्तर्यामी रूप से सब जीवों को सत्य का उपदेश तथा श्रेष्ठ विद्वान् और सब जगत् की रक्षा करता हुआ अपनी सत्ता और परम आनन्द में 'प्रवृत्त हो रहा है' वैसे ही परमेश्वर के उपासक भी आनन्दित, वृद्धियुक्त होकर विज्ञान में विहार करते हुए परम आनन्द रूप विशेष फलों को प्राप्त होते हैं।

सूक्त के अन्त में आया है कि उक्त गुणयुक्त ज्ञानस्वरूप परमेश्वर जैसे पिता अपने पुत्र के लिए उत्तम ज्ञान देने वाला होता है, वैसे ही आप हम लोगों के लिये शोभन ज्ञान जो कि सब सुखों का साधक और उत्तम पदार्थों का प्राप्त करने वाला है, उसके देने वाले होकर हम लोगों को सब सुख के लिए संयुक्त कीजिये।।[2]

सब मनुष्यों को उत्तम प्रयत्न और ईश्वर की प्रार्थना इस प्रकार से करनी चाहिए कि –हे भगवन् ! जैसे पिता अपने पुत्रों को अच्छी प्रकार पालन करके और उत्तम उत्तम शिक्षा देकर उनको शुभ गुण और श्रेष्ठ कर्म करने योग्य बना देता है, वैसे ही आप हम लोगों को शुभ गुणों और शुभ कर्मों से युक्त सदैव कीजिए। इस प्रथम सूक्त में पहिले पांच मन्त्रों में श्लेषालङ्कार से व्यवहार और परमार्थ की विद्याओं का प्रकाश किया और चार मन्त्रों से ईश्वर की उपासना और स्वभाव का वर्णन किया है।

सायणाचार्य आदि और यूरोपदेशवासी डॉक्टर विलसन आदि ने इस सूक्त भर की व्याख्या उलटी की है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में अग्नि तथा मरुत की शक्तियों का वर्णन करते हुए कहा है कि जो भौतिक अग्नि विशेष पवनों के साथ सब प्रकार से प्राप्त होता है, वह विद्वानों की क्रियाओं से उक्त प्रत्येक उत्तम उत्तम यज्ञ में उनकी सिद्धि वा अनेक प्रकार की रक्षा के लिये अच्छी प्रकार क्रिया में युक्त किया

---

1. राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे।। ऋ० 1.1.8
2. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।। ऋ० 1.1.9

जाता है।[1]

जो यह भौतिक अग्नि प्रसिद्ध सूर्य और विद्युत रूप करके पवनों के साथ प्रदीप्त होता है, वह विद्वानों को प्रशंसनीय बुद्धि से हरएक क्रिया की सिद्धि वा सबकी रक्षा के लिये गुणों के विज्ञानपूर्वक उपदेश करना वा सुनना चाहिए।

आगे कहा कि हे विज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! आप कृपा करके प्राणों के साथ प्राप्त हूजिये, आप कैसे हैं कि जिनकी अत्युत्तम महिमा है, आपके कर्मों की पूर्णता से अन्त जानने को न कोई विद्वान् और न कोई अज्ञानी मनुष्य योग्य है, तथा जो जिस भौतिक अग्नि का अति श्रेष्ठ महिमा है, वह कर्म और बुद्धि को प्राप्त करता है, उसके गुणों को न कोई विद्वान् और न कोई अज्ञानी मनुष्य जान सकता है, वह अग्नि प्राणों के साथ सब प्रकार के प्राप्त होता है।[2]

परमेश्वर की सर्वोत्तमता से उत्तम महिमा वा कर्म अपार है, इससे उनका पार कोई नहीं पा सकता, किन्तु जितनी जिसकी बुद्धि वा विद्या है, उसके अनुसार समाधियोगयुक्त प्राणायाम से, जो कि अन्तर्यामीरूप करके वेद और संसार में परमेश्वर ने अपनी रचना स्वरूप वा गुण व जितने अग्नि आदि पदार्थ प्रकाशित किये हैं, उतने ही जान सकता है, अधिक नहीं।

आगे वेद कहता है जो किसी से द्रोह न रखने वाले सब विद्वान लोग हैं, जो कि पवन और अग्नि के साथ संयोग में बड़े-बड़े लोकों को जानते हैं, वे ही सुखी होते हैं। हे स्वयं प्रकाश करने वाले परमेश्वर ! आप पवनों के साथ विदित हूजिये और जो आपका बनाया हुआ सब लोकों का प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है, सो भी आपकी कृपा से पवनों के साथ कार्य सिद्धि के लिये प्राप्त होता है।[3]

जो विद्वान् लोग, अग्नि से आकर्षण वा प्रकाश करके तथा पवनों से चेष्टा करके धारण किये हुए लोक हैं, उनको जानकर उनसे कार्यों में उपयोग लेने को जानते हैं, वे ही अत्यन्त सुखी होते हैं।

वेद में आगे कहा है कि जो तीव्र वेग आदि गुण वाले किसी के रोकने में न आ सकें, वे पवन अपने बल आदि गुणों से संयुक्त हुए सूर्यादि लोकों के गुणों को प्रकाशित करते हैं, इन पवनों के साथ यह विद्युत् और प्रसिद्ध अग्नि

---

1. प्रतित्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि। ऋ० 1.19.1
2. नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः। मरुद्भिरग्न आ गहि। ऋ० 1.19.2
3. ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आ गहि। ऋ० 1.19.3

कार्य में सहाय करने वाला होता है।[1] जितना बल वर्तमान है उतना वायु और विद्युत के सकाश से उत्पन्न होता है, ये वायु सब लोकों के धारण करने वाले हैं, इनके संयोग से बिजली वा सूर्य आदि लोक प्रकाशित होते तथा धारण भी किये जाते हैं, इससे वायु के गुणों का जानना वा उनसे उपकार ग्रहण करने से अनेक प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं।

आगे कहा कि जो घोर अर्थात् जिनका पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने वाला रूप जो और रोगों को नष्ट करने वाला तथा अन्तरिक्ष में निर्भय राज्य करने वाले और अपने गुणों से सुशोभित पवन हैं, उनके साथ भौतिक अग्नि प्रकट होता अर्थात् कार्य सिद्धि को देता है।[2] जो यज्ञ के धूम से शोधे हुए पवन हैं, वे अच्छे राज्य के कराने वाले होकर रोग आदि दोषों का नाश करते हैं और जो अशुद्ध अर्थात् दुर्गन्ध आदि दोषों से भरे हुए हैं वे सुखों का नाश करते हैं। इससे मनुष्यों को चाहिए कि अग्नि में होम द्वारा वायु की शुद्धि से अनेक प्रकार के सुखों को सिद्ध करें।

आगे आया है कि जो प्रकाशमान और अच्छे-अच्छे गुणों वाले पृथ्वी वा चन्द्र आदि लोक सुख की सिद्धि करने वाले सूर्य लोक के रुचिकारक प्रकाश में उनके धारण और प्रकाश करने वाले हैं, उन पवनों के साथ यह अग्नि सुखों की प्राप्ति करता है।[3] सब लोक परमेश्वर के प्रकाश से प्रकाशवान् है, परन्तु उसके रचे हुए सूर्य लोक की दीप्ति अर्थात् प्रकाश से पृथिवी और चन्द्रलोक प्रकाशित होते हैं, उन अच्छे-अच्छे गुणवालों के साथ रहने वाले अग्नि को सब कार्यों में संयुक्त करना चाहिये।

आगे आया जो वायु मेघों को छिन्न-भिन्न करते और वर्षाते हैं, समुद्र का तिरस्कार करते वा अन्तरिक्ष को जल से पूर्ण करते हैं, उन पवनों के साथ अग्नि अर्थात् बिजली प्राप्त होती है अर्थात् सन्मुख आती जाती है।[4] वायु के संयोग से ही वर्षा होती है और जल के कण वा रेणु अर्थात् सब पदार्थों के अत्यन्त छोटे-छोटे कण पृथिवी से अन्तरिक्ष को जाते तथा वहां से पृथिवी को आते हैं, उनके साथ वा उनके निमित्त से बिजली उत्पन्न होती और बादलों में छिप जाती है।

---

1. य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आगहि। ऋ० 1.19.4
2. ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः। मरुद्भिरग्न आगहि। ऋ० 1.19.5
3. ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते। मरुद्भिरग्न आगहि। ऋ० 1.19.6
4. य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न आगहि। ऋ० 1.19.7

जो वायु अपने बल वा वेग से अन्तरिक्ष को प्राप्त होते तथा जलमय समुद्र का तिरस्कार करते हैं तथा जो सूर्य को किरणों के साथ विस्तार को प्राप्त होते हैं, उन पवनों के साथ भौतिक अग्नि कार्य की सिद्धि को देता है।[1] इस पवनों की व्याप्ति से सब पदार्थ बढ़कर बल देने वाले होते हैं, इससे मनुष्यों को वायु और अग्नि के योग से अनेक प्रकार कार्यों की सिद्धि करनी चाहिए।

आगे वेद कहता है जिन पवनों से भौतिक अग्नि कार्यसाधक होता है, उनमें पहले जिसमें प्रीति अर्थात् सुखों का भोग है, उस उत्तम आनन्द के लिये जो कि सुखों के उत्पन्न करने योग्य है, उस मधुर आनन्द देने वाले पदार्थों के रस को मैं उत्पन्न करता हूँ।[2] विद्वान् लोग जिन वायु अग्नि आदि पदार्थों के अनुयोग से सब शिल्पक्रिया रूपी यज्ञ को सिद्ध करते हैं, उन्हीं पदार्थों से सब मनुष्यों को सब कार्य करने चाहियें।

इसमें अग्नि और वायु आदि पदार्थों की विद्या के उपयोग के लिये प्रतिपादन करता और पवनों के साथ रहने वाले अग्नि का प्रकाश करता हुआ परमेश्वर अध्याय की समाप्ति को प्रकाशित करता है। यह भी सूक्त सायणाचार्य आदि तथा यूरोप देशवासी विलसन आदि ने कुछ का कुछ वर्णन किया है।[3]

दम्पती-संस्कृति– पति और पत्नी मिलकर के गृहस्थ की गाड़ी को दूसरे किनारे लगाते हैं और उस स्त्री और पुरुष को अपने जीवन की सफलता के लिये क्या करना चाहिए इसका वर्णन करते हुए वेद में कहा है कि जो विशेष ज्ञानवान् प्रातः काल में जागने वाला सुन्दर वीर मनुष्य प्रभात समय में रमण करने योग्य आनन्दमय पदार्थ को धारण करता और दे लेकर फिर उसको नित्य धारण वा उस धन की पुष्टि से पुत्र पौत्र आदि सन्तान और आयुर्दा को विद्या और उत्तम शिक्षा से बढ़ाता हुआ उसका सम्बन्ध करता है वह निरन्तर सुखी होता है।[4] जो आलस्य को छोड़ धर्म सम्बन्धी व्यवहार से धन को पा उसकी रक्षा, उसका स्वयं भोगकर दूसरों को भोग करा और दे लेकर निरन्तर उत्तम यत्न करे वह सब सुखों को प्राप्त होवे।

आगे आया कि हे प्रातः समय से लेकर अच्छा यत्न करने हारे जो

1. आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा। मरुद्भिरग्न आगहि। ऋ० 1.19.8
2. अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आगहि। ऋ० 1.19.9
3. महर्षिदयानन्द ऋग्वेद भाष्य
4. प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते।
   तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः।। ऋ 1.125.1

ऐश्वर्यवान् पुरुष उत्तम धन के साथ आते हुए तुमको धारण करता इस कार्य के लिये बहुत चिरकाल तक जीवन और जो मूंज से उत्पन्न होती उससे जैसे बांधना बने वैसे साधन से प्राप्त होते हुए धन को अत्यन्त बांधता अर्थात् सम्बन्ध करता वह सुन्दर गौओं अच्छे अच्छे सुवर्ण आदि धनों और उत्तम घोड़ों वाला होवे।[1] जो विद्वान् पाये हुए शिष्यों को उत्तम शिक्षा अर्थात् अधर्म और विषय भोग की चञ्चलता के त्याग आदि के उपदेश के बहुत आयुर्दायुक्त विद्या और धन वाले करता है वह इस संसार में उत्तम कीर्तिमान होता है।

आगे वेद कहता है कि हे धायि! मैं आज प्रशंसित धनयुक्त मनोहर रमण करने योग्य रथ आदि यान से प्रभात समय चाहे हुए गृहाश्रम के स्थान से धर्म युक्त काम की इच्छा करता हुआ जिस पवित्र बालक को पाऊं उस उत्पन्न हुए पुत्र को आनन्द कराने वाला जो स्त्री का शरीर उसके भाग से जो रस अर्थात् दूध उत्पन्न होता उस दूध को पिला। हे वीर ! विद्या सत्यभाषण आदि शुभगुण युक्त वाणियों से शत्रुओं का क्षय करने वालों में प्रशंसित वीर पुरुष की उन्नति कर।[2] स्त्री पुरुष पूरे ब्रह्मचर्य से विद्या का संग्रह और एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह कर धर्मयुक्त व्यवहार से पुत्र आदि सन्तानों को उत्पन्न करें और उनकी रक्षा कराने के लिये धर्मवती धायि को देवे और वह इस सन्तान को उत्तम शिक्षा से युक्त करें।

आगे वेद में आया कि जो बड़े नदों के समान सुख की भावना कराने वाले मनुष्य और दूध देनेहारी गौओं के समान विवाही हुई स्त्री वा धायी यज्ञ करते और यज्ञ करने वाले पुरुष के समीप आनन्द वर्षा वे वा जो आप सुनने की इच्छा करते हुए विद्वान् और विदुषी स्त्री पुष्ट होते और पुष्टि हुए भी पुरुष को शिक्षा देते हैं वे सब ओर से जल की धाराओं के समान सुखों को प्राप्त होते हैं।[3] इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो पुरुष और स्त्री गृहाश्रम में एक दूसरे के प्रिय आचरण और विद्याओं का अभ्यास करके सन्तानों को अभ्यास कराते हैं वे निन्तर सुखों को प्राप्त होते हैं।

---

1. सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
   यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति।। ऋ० 1.125.2
2. आयमद्य सुकृतं प्रातरिच्छन्निष्टेः पुत्रं वसुमता रथेन।
   अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य क्षयद्वीरं वर्द्धय सूनृताभिः।। ऋ० 1.125.3
3. उप क्षरन्ति सिंधवो मयो भुव ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।
   पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उप यन्ति विश्वतः। ऋ० 1.125.4

आगे वेद में कहा है कि जो मनुष्य दिव्य गुण वा उत्तम विद्वानों में जाता है वही विद्या के आश्रय को प्राप्त हुआ जिसमें किञ्चित् दुःख नहीं उस उत्तम सुख के आधार पर स्थिर होता वा विद्या उत्तम शिक्षा और अच्छे बनाए हुए अन्न आदि पदार्थों से आप पुष्ट होता और सन्तान को पुष्ट करता है उसके लिये प्राण वा जल सब कभी घी वर्षाते तथा उसके लिये यह पढ़ाने से मिली हुई दक्षिणा और नदीनद सब कभी प्रसन्नता करते हैं।[1] जो मनुष्य इस मनुष्य देह का आश्रय कर सत्पुरुषों का सङ्ग और धर्म के अनुकूल आचरण को सदा करते वे सदैव सुखी होते हैं जो विद्वान् वा जो विदुषी पण्डिता स्त्री बालक जवान और बूढ़े मनुष्यों तथा कन्या युवति और बूढ़ी स्त्रियों को निष्कपटता से विद्या और उत्तम शिक्षा को निरन्तर प्राप्त कराते वे इस संसार में समग्र सुख को प्राप्त होकर अन्तकाल में मोक्ष को अधिगत होते अर्थात् अधिकता से प्राप्त होते हैं।

आगे वेद में आया है जिनके धर्म से इकट्ठे किये धन विद्या आदि बहुत पदार्थ विद्यमान हैं उन मनुष्यों को ये प्रत्यक्ष चित्र विचित्र अद्‌भुत सुख जिनके प्रशंसित धर्म के अनुकूल धन और विद्या की दक्षिणा का दान होता उन सज्जनों को उत्तम प्रकाश में सूर्य के समान तेजस्वी जन प्राप्त होते हैं बहुत विद्यादान युक्त सत्पुरुष ही मोक्ष का सेवन करते और बहुत प्रकार का अभय देने हारे जन आयु के अच्छे प्रकार पार पहुँचे अर्थात् पूरी आयु भोगते हैं।[2]

जो ब्राह्मण सब मनुष्यों के सुख के लिये विद्या और उत्तम शिक्षा का दान वा जो क्षत्रिय न्याय के अनुकूल व्यवहार से प्रजा जनों को अभय दान वा जो वैश्य धर्म से इकट्ठे किये हुए धन का दान और जो शूद्र सेवा दान करते हैं वे पूर्ण आयु वाले होकर इस जन्म और दूसरे जन्म में निरन्तर आनन्द को भोगते हैं।

वेद में आगे आया है हे मनुष्यों ! आप लोग स्वयं वा अपने संतान आदि को पुष्ट करते हुए दुःख के लिये जो प्राप्त होता अर्थात् पाप का आचरण मत करो और दुःख के लिये प्राप्त होने वाला पापाचरण जैसे हो वैसे खोटे

---

1. नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
   तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा। ऋ० 1.125.5
2. दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
   दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः।। ऋ० 1.125.6

कामों को मत करो किन्तु उत्तम सत्य आचरण वाले विद्वान् होते हुए धर्म ही का आचरण करो और जो तुम्हारे अध्यापक हो उन धार्मिक विद्वानों तथा तुम लोगों के बीच कोई भिन्न परिधिः मर्यादा अर्थात् तुम सभों को ढांपने गुप्त रखने मूर्खपन से बचाने वाला प्रकार हो और धर्म से न पुष्ट होने न दूसरों को पुष्ट करने वाले किन्तु अधर्म से पुष्ट होने तथा अधर्म ही से औरों को पुष्ट करने वाले मनुष्य को शोक विलाप सब ओर से प्राप्त हों।[1] इस संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं एक धार्मिक और दूसरे पापी। ये दोनों अच्छे प्रकार अलग-अलग स्थान और आचरण वाले हैं अर्थात् जो धार्मिक हैं वे धर्मात्माओं के अनुकरण ही से धर्म मार्ग में चलते हैं और जो दुष्ट आचरण करने वाले पापी हैं वे अधर्मी दुष्ट जनों के आचरण ही से अधर्म में चलते हैं। कभी किन्हीं धर्मात्माओं को अधर्मीदुष्ट जनों के मार्ग में नहीं चलना चाहिए और अधर्मी दुष्टों को अपनी दुष्टता छोड़ धार्मिकों के मार्ग में चलना योग्य है। इस प्रकार प्रत्येक जाति के पीछे धार्मिक और अधार्मिकों के दो मार्ग हैं। उन में धर्म करने वालों को सुख और अधर्मी दुष्टों को दुःख सदा प्राप्त होते हैं।

मानव समाज को किस प्रकार का आचरण करके एक स्वर्गमय संसार बनाने के लिए वेद उपाय बताता है कि जो हिंसा आदि के दुःख को न प्राप्त और उत्तम उपदेश सुनने की इच्छा करता हुआ प्रकाशमान सभाध्यक्ष नदी के समीप निरन्तर बसते हुए प्रसिद्ध होने योग्य मेरे निकट हजारों ऐश्वर्य योग्य मन्दपनरहित तीव्र और प्रशंसा करने योग्य विद्यासम्बन्धी विशेष ज्ञानों का बुद्धि से निरन्तर मान करता उसको मैं अपने मन के बीच अच्छे प्रकार धारण करूं।[2] जब तक सकल शास्त्र जानने हारे विद्वान् की आज्ञा से पुरुषार्थी विद्वान् न हो तब तक उसका राज्य के अधिकार में स्थापन न करे।

आगे वेद में आया जो विद्या के बहुत व्यवहारों को जानता हुआ विद्वान् मेघ के समान उत्तम गुणी ऐश्वर्यवान् राजा के सौ निष्क सुवर्णों अच्छे सिखाये हुए सौ घोड़ों और आकाश में अविनाशी सूर्यमण्डल की सैकड़ों किरणों के

---

1. मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जरिषुः सूरयः सुव्रतासः।
   अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः।ऋ० 1.126.7
2. अमन्दान् स्तोमान् प्र भरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य।
   या मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः।। ऋ० 1.126.1

समान श्रूयमाण यश को विस्तारता है उसको मैं शीघ्र स्वीकार करता हूँ।[1] जो न्यायकारी विद्वान् राजा के समीप से सत्कार को प्राप्त होते वे यश का विस्तार हैं।

जिस अपने धन आदि पदार्थ के पहुँचाने अर्थात् देने वाले ने सूर्य की किरणों के समान दिये हुए दश रथ जिनमें प्रशंसित बहुएं विद्यमान वे मुझ सेनापति के समीप स्थित होते तथा जो युद्ध में प्रशंसित कक्षा वाला अर्थात् जिसकी ओर अच्छे वीर योद्धा हैं वह सब ओर से प्राप्ति के निमित्त हजार दिन गौओं के दुग्ध आदि पदार्थ को प्राप्त होता और जिसके साठ पुरुष पीछे चलते वह सदा सुख का बढ़ाने वाला है।[2] इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जिस कारण सब योद्धा राजा के समीप से धन आदि पदार्थ की प्राप्ति चाहते हैं इससे राजा को उनके लिये यथायोग्य धन आदि पदार्थ देना योग्य है, ऐसे बिना किये उत्साह नहीं होता। बनाये। जैसे सूर्य आकर्षण से भूगोलों को धारण करता है वैस सूर्य आदि जगत् को ईश्वर धारण करता है। जो सब जीवों के समस्त पाप पुण्यरूपी कर्मों को जान के फलों को देता है वह ईश्वर सब पदार्थों से बड़ा है।

आगे वेद कहता है जो जीव क्रियामात्र करता है वह इस अपने रूप को नहीं जानता है जो समस्त क्रिया को देखता और अपने रूप को जानता है। वह इससे अलग होता हुआ माता के गर्भाशय के बीच सब ओर से ढपा हुआ बहुत बार जन्म लेने वाला भूमि को ही शीघ्र प्रवेश करता है।[3] जो जीव कर्ममात्र करते किन्तु उपासना और ज्ञान को नहीं प्राप्त होते हैं वे अपने स्वरूप को नही जानते और जो कर्म उपासना और ज्ञान में निपुण हैं वे अपने स्वरूप और परमात्मा को जानने को योग्य है जीवों के अलग जन्मों का आदि और पीछे अन्त नहीं है। जब शरीर को छोड़ते हैं तब आकाशस्थ हो गर्भ में प्रवेश कर और जन्म पाकर पृथिवी में चेष्टा से क्रियावान् होते हैं।

वेद में आया जहां पितृस्थानी सूर्य कन्या रूप उषा प्रभात वेला के किरण

---

1. शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान् शतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम्।
   शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान।। ऋ० 1.216.2
2. उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दश रथासो अस्थुः।
   षष्टिः सहस्रमनु गत्यमागात् सनत्कक्षीवाँ अभिपित्वे अह्नाम्।। ऋ० 1.126.3
3. य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्
   स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।। ऋ० 1.164.32

रूपी वीर्य को स्थापित करता है वहां दो सेनाओं के समान स्थित उपरिस्थ ऊंचे स्थापित किये हुए पृथिवी और सूर्य के बीच मेरा घर है इस जन्म में मेरा उत्पन्न करने वाला पिता प्रकाशमान सूर्य बिजली के समान तथा यहां मेरा बन्धन रूप भाई के समान प्राण और यह बड़ी भूमि के समान मान देने वाली माता वर्तमान है यह जानना चाहिये।[1] भूमि और सूर्य सबके माता पिता और बन्धु के समान वर्तमान हैं, यही हमारा निवास-स्थान है जैसे सूर्य अपने से उत्पन्न हुई उषा के बीच किरण रूपी वीर्य को संस्थापन कर दिन रूपी पुत्र को उत्पन्न करता है वैसे माता पिता प्रकाशमान पुत्र को उत्पन्न करें।

वेद में कहा है कि आपको पृथिवी के पर अन्त को पूछता हूँ जहां लोक समूह का बन्धन है उसको पूछता हूँ वीर्यवान् वर्षाने वाले घोड़ों के समान वीर्यवान् के वीर्य को आपको पूछता हूँ और वाणी के परम व्यापक अवकाश अर्थात् आकाश को आपको पूछता हूँ।[2] यहाँ चार प्रश्न हैं और उनके उत्तर आगे कहे हैं, ऐसे ही जिज्ञासुओं को विद्वान् जन नित्य पूछने चाहिए।

आगे उत्तर देता हुआ वेद कहता है हे मनुष्यों तुम भूमि का पर भाग यह जिसमें शब्दों को जाने वह आकाश और वायु रूप वेदि यह यज्ञः भूगोल समूह का आकर्षण से बन्धन यह सोमलतादि रस वा चन्द्रमा वर्षा करने और आगे वेद कहते हैं जिस दशरथों से युक्त सेनापति के चालीस लाल घोड़े सहस्र योद्धा और सहस्र रथों के आगे अपनी पाँति को पहुँचाते अर्थात् एक साथ होकर आगे चलते वा जिस सेनापति के भृत्य ऐसे हैं कि जिन के साथ मार्गों को जाते और जिनकी प्रशंसित कक्षा विद्यमान अर्थात् जिनके साथी छटे हुए वीर लड़ने वाले हैं वे जो मद को चुआते उन सुवर्ण आदि के गहने पहिने हुए तथा जिनसे मार्गों को रमते पहुँचते उन घोड़ा हाथी रथ आदि को उत्कर्षता से सहते हैं वह शत्रुओं को जीतने के योग्य होता है।[3] जिनके चार घोड़ा युक्त दशों दिशाओं में रथ, सहस्रों अश्ववार (असवार) लाखों पैदल जाने वाले अत्यन्त पूर्ण कोश धन और पूर्ण विद्या विनय नम्रता आदि गुण हैं वे ही चक्रवर्ती राज्य करने के योग्य हैं।

---

1. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे..................दुहितुर्गर्भमाधात्।। ऋ० 1.164.33
2. पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः........................वाचः परमं व्योम।। ऋ० 1.164.34
3 चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृक्षन्त प्रजाः।। ऋ० 1.126.4

आगे वेद में आया कि जो ऐसे हैं कि जिनके उत्तम बन्धुजन और बहुत लदा छकड़ा विद्यमान तथा जो गमन करने वाले और दूसरों को प्राप्त वे प्रजाजनों के उत्तम वणिक् जनों के समान अन्न को चाहे उन तुम्हारे तीन आज्ञा दिये और अधिकार पाये भृत्यों आठ सभासदों जिनसे शत्रुओं को धारण करते समझते उन वीरों और बैल आदि पशुओं को तथा इन सभी की पहली उत्तम यत्न की रीति को मैं अनुकूलता से ग्रहण करता हूँ।[1] जो जन सभा सेना और शाला के अधिकारी कुशल चतुर आठ सभासदों, शत्रुओं का विनाश करने वाले वीरों, गौ लै आदि पशुओं, मित्र धनी वणिक्जनो और खेती करने वालों की अच्छे प्रकार रक्षा करके अन्न आदि ऐश्वर्य की उन्नति करते हैं वे मनुष्यों में शिरोमणि अर्थात् अत्यन्त उत्तम होते हैं।

जो अच्छे प्रकार ग्रहण कियी हुई सब ओर से उत्तम उत्तम गुणों से युक्त अत्यन्त ग्रहण करने योग्य व्यवहार में पशुओं के ताड़ना देने के लिये जो औगी होती उसके समान अच्छा यत्न करने वालों की उत्तम यत्न वाली नीति भोगने योग्य सैकड़ों वस्तु मुझे देती है वह सबको स्वीकार करने योग्य है।[2] इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जिस नीति अर्थात् धर्म की चाल से अगणित सुख हो वह सबको सिद्ध करनी चाहिये।

आगे वेद में आया कि हे पति राजन्। जो मैं पृथिवी के राज्य धारण करने वालियों में जैसे रक्षा करने वाली होती है वैसे प्रशंसित रोमों वाली सब प्रकार की हूँ उस मेरे गुणों को विचारों मेरे कामों को छोटे अपने पास में मत मानो।[3] रानी राजा के प्रति कहे कि मैं स्त्रियों का न्याय करने वाली होती हूँ और जैसे पहले राजा महाराजाओं की स्त्री प्रजास्थ स्त्रियों की न्याय करने वाली हुई वैसी मैं भी होऊं।

अक्ष निन्दा– ऋग्वेदीय संस्कृति में द्यूत क्रीड़ा की निन्दा की गई है। संवाद के रूप में यह सूक्त प्रस्तुत किया गया है और इसमें बतलाया है कि जो जुआ खेलता है उसको जुआ खेलने से बड़ा सुख प्राप्त होता है जुआरी

---

1. पूर्वामनुप्रयतिमाददे वस्त्रीन् युक्ताँ अष्टावरिधायसो गाः।
   सुबन्धवो ये विश्या इव व्रा अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त पज्राः।। ऋ० 1.126.5
2. आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
   ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता।। ऋ० 1.126.6
3. उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
   सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका।। 1.126.7.

सदा जुए में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपने परिवार पत्नी सबको भूलकर समाज में हेय अवस्था को प्राप्त होके अत्यधिक निर्धन हो जाता है। इसके लिए वेद में वर्णन क्रमशः इस प्रकार किया गया है कि सूखे कूप में उत्पन्न अथवा निर्धन अवस्था को प्राप्त कराने वाले बड़े भारी बीच प्रदेश में उत्पन्न हुए कम्पनशील अक्ष =पासे मुझको हर्षित करते हैं, बहेड़े के वृक्ष का यह गोटा भूंज से युक्त पर्वत पर उत्पन्न हुए सोम रस के पेय वा खाद्य के समान जीता जागता मुझे हर्षित करता है।[1] प्रसंगतः द्यूत का प्रेमी कहता है निर्धनता की अवस्था में ले जाने वाले नीच प्रदेश में उत्पन्न कम्पनशील अक्ष = द्यूत के पासे मुझे प्रसन्नता देते हैं और विभिदक =वहेड़े की लकड़ी से बना यह गोटा उसी प्रकार हर्षित करता है जिस प्रकार मूंज के घिरे पर्वत में उत्पन्न सोम = गिलोय आदि का रस हर्षित करता है।

आगे वेद कहता है कि यह मेरी पत्नी मुझ कितव = द्यूतखोर को नहीं क्रोध करती और नहीं लज्जा करती है मित्रों के लिए कल्याण कारिणी है, और मेरे लिए भी कल्याणकारिणी है, इस प्रकार की अनुकूल पत्नी को एक ही की प्रधानता वाले द्यूत के पासे के कारण से रखता नहीं अथवा द्यूत पासे पर हार जाता हूँ।[2] वह कहता है कि मेरी पत्नी न मुझ पर कभी क्रोध करती और न मुझ से लज्जा करती है, मेरे लिए और मेरे मित्रों के लिए हितकारिणी है। ऐसी अनुव्रता और पतिव्रता पत्नी को भी मैं द्यूत के पासे के कारण छोड़ बैठता हूँ अथवा हार देता हूँ।

आगे कहा कि हारे जुआरी की सास भी द्वेष करती है, पत्नी भी विरक्त हो जाती है मांगता हुआ भी कोई धन देने वाला नहीं पाता है बूढ़े मूल्यार्ह घोड़े के समान जुआरी के सुख और रक्षा का मैं विचारक नहीं पाता हूँ।[3] जुआरी आदमी को सास द्वेष करती है, पत्नी भी विरक्त हो जाती है, मांगता हुआ भी वह कहीं पैसा देने वाला नहीं पाता। मूल्यवान् बूढ़े घोड़े के समान उसके सुख और रक्षा को मैं विचारक कही भी नहीं देखता हूँ।

---

1. प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
   सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।। ऋ० 10.34.1
2. न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
   अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।। ऋ० 10.34.2
3. अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्य क्षः।
   पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्।। ऋ० 10.34.4

आगे वेद में आया जिस जुआरी के धन पर बलवान जुए का पासा आकांक्षा रखता है उस इस जुआरी की पत्नी को दूसरे जुआरी हथियाते हैं, जुआरी के पिता, माता और भाई लोग भी इसे लक्ष्य करके कहते हैं कि नहीं जानते हैं कि यह कौन है बांधकर इसको ले जाओ।[1] जिसके धन पर जुए के पासे ने अपनी आकांक्षा जन्म ली है उस जुआरी की पत्नी को भी दूसरे जुआरी हथियाते हैं वा तंग करते हैं। उसके पिता, माता और भाई लोग कहते हैं कि वे उसको नहीं जानते हैं कि वह कौन है ? उसे बांधकर ले जाओ।

जुआरी कहता है मैं व्यसनी पुरुष जब ध्यान करता हूँ तब इनके द्वारा नहीं दुःखी होता हूँ दूसरे आने वाले मित्र तुल्य उनके लिए ध्यान देता हूँ, वे लाल पीले रंगों वाले फेंके जाकर आवाज करते हैं और मैं भी इनके स्थान पर जारिणी के समान चला जाता हूँ।[2] व्यसनी जुआरी कहता है कि जब इन पासों को मैं देखता हूँ तो दुःखी नहीं होता, दूर से आने वाले पासों को मित्र के समान समझकर ध्यानपूर्वक देखता हूँ। लाल पीले चमकीले रंग के ये पासे फेंके गए हुए आवाज करते हैं और मैं भी जारिणी स्त्री के समान इनके स्थान पर पहुँच जाता हूँ।

आगे कहा कि शरीर से चमकता हुआ पूछता हुआ द्यूत व्यसनी द्यूत सभा में आता है 'मैं जीतूँगा' ऐसा सोचता हुआ प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए चालबाजी को अपनाने वाले इस जुआरी के पासे धनाभिलाषा को बढ़ाते हैं।[3] व्यसनी जुआरी शरीर से चमकता हुआ और पूछता हुआ कि किसके पास पैसा है द्यूत सभा में आता है। 'मैं जीतूँगा' ऐसा सोचता हुआ प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए चालबाजी करता है और इसके पासे उसकी धनेच्छा को बढ़ाते हैं।

आगे वेद में आया है कि अक्ष ही अंकुश वाले हैं, प्रतिपक्षी को व्यथित करने वाले पराजय में काटने वाले तपाने वाले संताप पैदा करने वाले होते हैं। जीतने वाले जुआरी के लिए धन देने से कुमारों के दाता तथा प्रतिपक्षी जुआरी

---

1. यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
 न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।। ऋ० 10.34.5
2. सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।
 अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि।। ऋ०10.34.6

द्वारा मधु से सम्पृक्त और सर्वस्वहरण से इसके पुनर्हन्ता भी होते हैं।[1] ये पासे ही जुआरी की दृष्टि में अंकुश वाले, व्यथा देने वाले, निकर्त्ता और हार में ताप देने वाले हैं। जीतने वाले जुआरी के लिए जहां ये धन आदि के दाता हैं वहाँ जब प्रतिपक्षी जुआरी से वह हराया जाता है तो उसके हन्ता भी हैं। आगे वेद में आया है कि इन अक्षों का तिरपन गोटों का समूह सत्य नियम पर चलने वाला सूर्य देव के समान खेल में चालू रहता है, उग्र के भी क्रोध को भी ये नहीं झुकते हैं। राजा भी यदि जुआ खेलता है तो इनके लिए नमन ही करता है।[2] जैसे सत्यधर्मा सूर्य देव सर्वत्र विहरते हैं उसी प्रकार तरेपन अक्षों का यह समूह चौपड़ विहरता है। किसी उग्र के भी क्रोध के सामने ये नम्री भूत नहीं होते हैं। राजा भी अगर जुआरी है तो इनके सामने झुक जाता है।

आगे कहा कि ये अक्ष नीचे होते हैं तथापि ऊपर स्फुरित होते हैं, बिना हाथ वाले होते हुए भी हाथ वालों को दबा लेते हैं। दिव्य अंगारे के समान ये अक्ष ईन्धन रहित चौपड़ पर फेंके गए शीतल होते हुए भी जुआरियों के हृदय को पराजय से जलाते हैं।[3] ये अक्ष नीचे रहते हैं फिर भी ऊपर स्फुरित होते हैं। बिना हाथ के होते हुए भी ये हाथ वाले जुआरियों को दबा लेते हैं। चौपड़ पर फेंके गए शीतल होते हुए भी ये दिव्य अङ्गारों के समान जुआरियों के हृदय को हार से होने वाले सन्ताप से जलाते हैं।

आगे कहा कि जुआरी की त्यक्त पत्नी वियोग से दुःखी होती है कही भी विचरते हुए इन व्यसनी की माता भी दुःखी होती है। वह स्वयं ऋणग्रस्त होकर धन चाहता हुआ डरता हुआ, रात्रि में दूसरों के घर को चोरी करने जाता है।[4] जुआरी की छोड़ी हुई पत्नी सन्तप्त होती है। कहीं भी विचरने वाले इस व्यसनी की माता भी संताप करती है। वह ऋणी होकर धन की इच्छा करता हुआ रात्रि में दूसरों के घर चोरी करने जाता है।

---

1. अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
   कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा।। ऋ० 10.34.7
2. त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषा देवइव सविता सत्यधर्मा।
   उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति।। ऋ० 10.34.8
3. नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
   दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति।। ऋ० 10.34.9
4. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
   ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति।। ऋ० 10.34.10

आगे कहा जुआरी पत्नी को देखकर तथा दूसरों की पत्नी उत्तम कर्म और गृह को देखकर दुःखी होता है, निश्चय ही वह दिन के पूर्व भाग में शुभ्रवर्ण अश्वों के समान अक्षों को जोड़ता है और वह पातकी मूढ अग्नि के पास में रात्रि को जा गिरता है।[1] जुआरी अपनी स्त्री और दूसरों की स्त्री, उनके उत्तम कर्म और गृह को देखकर मन में संतप्त होता है। दिन के पूर्व भाग में पासे जोड़ता है और रात्रि में सर्दी से बचने के लिए अग्नि के पास पड़ जाता है।

वेद में आगे आया कि जुआरी कहता है –मैं उसे दश अंगुलियां करता हूँ अर्थात् अंजलि बांधकर नमस्कार करता हूँ जो तुम अक्षों के बड़े समूह संघ का मुख्य स्वामी नेता है, मैं दश अंगुलियों को सामने करता हूँ मैं धन को अक्षों के लिए नहीं लगाऊंगा वह यह मैं सत्य ही कहता हूँ।[2] जुआरी कहता है कि वह इन अक्षों के महान् समूह के नेता को नमस्कार करता है। वह अंजलि जोड़ता है कि इनके लिये धन का सम्पादन नहीं करेगा और वह उसका कथन सत्य है।

वेद में आया कि विद्वान् इस पर उपदेश देते हुए कहता है –हे जुआरी ! अक्षों के साथ मत खेल अर्थात् द्यूत मत खेल, खेती ही कर। इस प्रकार खेती से उत्पन्न धन में प्रसन्न हो, वा खेलों उसी में गाये हैं उसी में स्त्री भी प्राप्त होती है इसे बहुत स्वीकार करते हुए तुम खेती करो और द्यूत छोड़ो मेरे लिए यह स्वामी सबके प्रेरक विद्वान् ने कहा है।[3] विद्वान् इस पर उपदेश देते हुए कहता है –हे जुआरी जुआ खेलना छोड़, खेती कर। मेरी बात पर विश्वास करता हुआ खेती से उत्पन्न धन में खेल। उसी में गायें मिलती है और उसी में 'जाया' भी प्राप्त होती है। मेरे लिये यही सबके प्रेरक स्वामी विद्वान् ने कहा है।

सूक्त के अन्त में कहा कि द्यूत के दोष को समझकर जुआरी कहता है –मनुष्यों ! मित्र बनाओ, हमें अपना और अपने को हमारः, हमें सुखी को

---

1. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
   पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद।। ऋ० 10.34.11
2. यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
   तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि।ऋ० 10.34.9
3. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
   तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः।। ऋ० 10.34.13

निश्चय निश्चय ही हमें दुःख जनक संताप देने वाले क्रोध से मत व्यवहार करो। क्रोधी, अभिमानी आपमें क्रोध आदि का परित्याग करके, मिल जावे शत्रु प्रजा पालक राजाओं के वश में निश्चय रहे।[1] द्यूत के दोष को समझ कर जुआरी अब जुआरी न रहकर कहता है –हे मनुष्यों ! हमें बनाओ अपना मित्र और बनो हमारे आप मित्र। हमें सुखी करो। अभिमानी और क्रोधी अपने अभिमान और क्रोध को त्यागकर आपमें मिल जावें। शत्रु प्रजा पालक राजा के वश में रहे।

गृहस्थ ही स्वर्ग है– ऋग्वेद में किसी अन्य लोक में स्वर्ग की कल्पना नहीं की गई है। अपितु संसार में रहते हुए गृहस्थ के कर्तव्य एवं अधिकार को ही गृहस्थ के सुख को सुख माना गया। जैसे कि कहा है हे उषः वेला के समान सुन्दर वधु ! तू उत्तम पुष्पों से सजाये हुए स्वच्छ साफ अथवा सेमरवृक्ष की लकड़ी के बने हुए विविध रूपों वाले स्वर्ण आदि चमकीले धातुओं से मंडित उत्तमता से व्यवहार में आने योग्य सुन्दर पहियों वाले रथ पर चढ़ तथा पति के लिए अपने विवाह को सुखकर अमृत का स्थान कर।[2] सुन्दर पुष्पों से सजे साफ स्वच्छ, नानारूप, स्वर्ण आदि से मण्डित, उत्तम गति वाले और सुन्दर पहियों से सजे साफ स्वच्छ, नानारूप, स्वर्ण आदि से मण्डित, उत्तमगति वाले और सुन्दर पहियों वाले रथ पर हे वधु ! तू चढ़। अपने पति के लिए अपने विवाह को सुखकर अमृत का स्थान बना। अर्थात् पति के घर को स्वर्ग सम बना।

वेद में आगे आया समस्त धनों के स्वामी तथा सबको बसाने वाले परमेश्वर को मैं नमस्कार और वेद वाणियों से स्तुति करूँ, हे वर ! तू उठ जिससे यह कन्या पतिवाली होवे, तू अपने से भिन्न गोत्रवाली और दूसरे से न गृह में ले जाई गई इस पिता माता पर आश्रित सुस्पष्ट यौवनवाली इस कन्या को चाह तेरा वही भाग है उस कन्या रूप भाग को स्वयं उसमें पुत्र रूप से उत्पन्न होने के लिए जान।[3] लड़की का पिता कहता है कि समस्त धनों के स्वामी तथा सबको बसाने वाले परमेश्वर को मैं नमस्कार और वेदवाणी से स्तुति करूँ। हे वर ! तू उठ, स्वीकार कर जिससे यह कन्या पतिवाली होवे। तू

---

1. मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मानो घोरेण चरताभि धुष्णु
   नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु।। ऋ० 10.34.14
2. सुकिं शुकं ....कृणुष्व।। ऋ० 10.85.20
3. उदीर्ष्वातः ....तस्य विद्धि।। ऋ० 10.85.21

अपने से भिन्न गोत्रवाली, किसी के गृह न ले जाई गई पिता माता पर आश्रित, स्पष्ट यौवन वाली कन्या को चाह। तेरा यही भाग है इसमें स्वयं पुत्र रूप में उत्पन्न होने के लिए जान।

वेद में पुनः कहा कि हे गृहस्थाश्रम में बसने वाले वर ! तुझे आदर के साथ हम कन्या पक्ष के लोग सत्कृत करते हैं। इस स्थान से उठ और तैयार हो तू अपने से भिन्न गोत्र की खूब पुष्ट अङ्गो वाली कन्या को जाया रूप में चाह और पतिरूप से प्राप्त हो।[1] हे गृहस्थाश्रम में जाने वाले वर ! तुम्हारा इस कन्या के पक्ष के लोग आदर से सत्कार करते हैं। अतः इस स्थान से उठ और तैयार हो। तू अपने से भिन्न गोत्र की खूब पुष्ट अंगों वाली कन्या को जायारूप में चाह और पति रूप से उसे प्राप्त हो।

आगे कहा कि हमारे मार्ग कांटों से रहित सरल सीधे हों, जिनसे हमारे स्नेही जन उत्तम फल को प्राप्त होते हैं, हमें न्यायकारी, सुखदाता इन मार्गों से उत्तम प्रकार से ले चले, हे विद्वज्जनो ! हमारा पति-पत्नी भाव संयम सहित और दृढ़ बद्ध हो।[2] हमारे मार्ग काँटो से रहित और सरल सीधे हों जिनसे हमारे स्नेहीजन उत्तमफल को प्राप्त होते हैं। हमें न्यायकारी, सुखदाता, विद्वज्जन इन मार्गो से उत्तम प्रकार से ले चलें। हे विद्वज्जन ! हमारा पति-पत्नी भाव दृढ़ताबद्ध और संयत हो।

आगे वेद कहता है कि मैं तुझे उस ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमपाश से छुड़ाता हूँ जिससे सुख चाहने वाले पिता ने तुझे बाँध रखा है, सत्याचरण के स्थान तथा उत्तम कर्म के क्षेत्र में मुझ पति के साथ तुझे निरापदा धारण करता हूँ।[3] हे वधु मैं तुझे ब्रह्मचर्य नियम के उस बन्धन से मुक्त करता हूँ जिसे कल्याण चाहने वाले तुम्हारे पिता ने बांध रखा है सत्याचरण के स्थान और सत्कर्म के क्षेत्र इस गृहस्थाश्रम में मुझ पति के साथ तुझे निरापदा करता हूँ।

हे वधु ! इस पितृकुल से तुझे मुक्त करता हूँ नहीं भर्तृगृह से मैं तुझे सुबद्ध करता हूँ, हे वीर्यसेचक ऐश्वर्यवान् पुरुष ! जिससे सौभाग्य वाली, उत्तम पुत्रों वाली होती है।[4] हे वधु इस पितृकुल से तुझे मुक्त करता हूँ परन्तु पतिकुल से नहीं। पतिकुल में तुझे सुबद्ध करता हूँ। हे वीर्य सेचक, ऐश्वर्यवान्! पुरुष

---

1. उदीर्ष्वातो ....पत्या सृज।। ऋ० 10.85.22
2. अनृक्षरा ऋजवः ....सुयममस्तु देवाः।। ऋ० 10.85.23
3. प्र त्वा मुञ्चामि.......................पत्या दधामि।। ऋ० 10.85.24
4. प्रेतो मुञ्चामि ....सुभगासति।। ऋ० 10.85.25

जिससे वह वधु सौभाग्य वाली और उत्तम पुत्रों वाली हो।

वेद में आगे आया हे वधु ! पोषण करने वाला वर पुरुष तुझे इस पितृकुल से पाणिग्रहण करके ले जावे गृहों को जा जिससे गृहपत्नी हो सब भृत्य आदि को वश में करने वाली तू पतिगृह के भृत्य आदि जनों को उत्तम वचन बोलो।[1] हे पोषक पति तुझे हे वधु। पिता माता के घर से पाणिग्रहण पूर्वक ले जावें। पति के भाई और पिता तुझे रथ से ले जावें। गृहों को तू जा जिससे गृहपत्नी हो। गृह के भृत्य आदि को वश में करती हुई तू उत्तम वचन बोले।

हे वधु ! इस पति के गृह में तेरा कल्याण और सुख हो, सन्तान के साथ बढ़ और समृद्धि को प्राप्त हो, इस गृह में गार्हपत्य जीवन के कर्त्तव्य के लिए जागरूक रह, इस पति के साथ अपने शरीर को संश्लिष्ट कर अन्तर-निरन्तर वृद्धावस्था से जीर्ण हुए तुम पति और पत्नी गृह के लोगों से प्रेम से वार्तालाप करो।[2] हे वधू। इस पति के गृह में तेरा कल्याण हो ! तू सन्तान के साथ समृद्धि को प्राप्त कर इस घर में गृहस्थ आश्रम के कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए सदा जागृत रह। इस पति के साथ अपने शरीर को संश्लिष्ट कर और दोनों वृद्धावस्था को प्राप्त हुए बराबर उत्तम वचनों को घरवालों से बोला करो।

आगे कहा कि आर्तव मासिक धर्म होता है। गृहस्थ के कार्य में आसक्ति प्रकट होने लगती है। इस वधु के कुटुम्ब के लोग बढ़ते हैं और पति सांसारिक बन्धनों में बंधता है।[3] पत्नी को मासिक धर्म होता है। गृहस्थ के कार्य में आसक्ति प्रकट होने लगती है। इसके कुटुम्ब आदि के लोग बढ़ते हैं और पति सांसारिक बन्धनों में बंधता है।

आगे वेद कहता है कि शरीरस्थ मल उससे युक्त वस्त्र को दूरकर, ब्राह्मणों को धन दें, यह वधु गृहस्थ कार्य में अपने पैरों पर खड़ी होने वाली पत्नी होकर पति को प्राप्त होती है।[4] हे पुरुष ! शरीरस्थ मल वा उससे युक्त आर्तव वस्त्र को दूर कर दे। ब्राह्मणों को धन दे। यह वधु गृहस्थ कर्म में अपने पैरों पर खड़ी होने वाली जाया बनकर पति को प्राप्त हो रही है।

आगे आया यदि पति वधु के वस्त्र से स्वकीय अंग को ढ़कता है अथवा उसके साथ संभोग करता है और रूप युक्त इस पाप युक्त शरीर से सम्पर्क

---

1. पूषा त्वेतो नयतु ....वदासि।। ऋ० 10.85.26
2. इह प्रियं प्रजया ....वदाथः।। ऋ० 10.85.27
3. नीललोहितं भवति ....बध्यते।। ऋ० 10.85.28
4. परा देहि शामुल्यं ....पतिम्।। ऋ० 10.85.29

करता है तो उसका शरीर कान्तिहीन और रोगी हो जाता है।[1] आर्तव के समय में यदि पति पत्नी के वस्त्र से अपने शरीर को ढ़कता है अथवा उससे संभोग करता है और इस अपवित्र रूपवान् शरीर से सम्पर्क करता है तो उसका और पत्नी का शरीर कान्ति हीन एवं रोगी हो जाता है।

आगे वेद में आया कि जो यक्ष्मा आदि रोग वधु के आह्लादकारी शरीर को जनन समय अर्थात् माता पिता से पैतृक रूप में इसके शरीर में आ जाते हैं। यज्ञ विज्ञान द्वारा चिकित्सा करने वाले विद्वान् लोग उन रोगों को फिर वापस करें जहां से ये आये हैं।[2] जो यक्ष्मा आदि पैतृक रोग इस वधु के आह्लादकारी शरीर में आये हैं उन्हें यज्ञ विद्या से चिकित्सा करने वाले विद्वान् जन जहां से वे रोग आये हैं वहीं पर वापस कर दें।

वेद में आगे कहा है कि जो पति और पत्नी को प्राप्त होते हैं वे शत्रु रूप होकर न प्राप्त हों, वे दोनों सुख साधनों से दुःख से पार जावें कमीनापन दूर भाग जावे।[3] ये जो पति पत्नी को प्राप्त होते हैं वे रोग आदि अथवा शत्रुजन शत्रुरूप होकर न प्राप्त हों। ये पति-पत्नी सुख साधनों और सुख कर मार्गो से इस दुःख से पार जावें और कमीनापन की भावनायें इनसे सदा ही दूर रहें।

यह वधु शुभ सौभाग्य कारिणी है आप लोग आइये देखिये इसे सौभाग्य का आशीर्वाद देकर अनन्तर गृह जाइये।[4] हे विवाह में उपस्थित भद्र स्त्री पुरुषो! यह वधु शुभा और सौभाग्यशालिनी है। आप लोग आइये, देखिये और इसे सौभाग्य का आशीर्वाद देकर अनन्तर अपने-अपने घरों को जाइये।

आगे कहा यह आर्तव काल का वस्त्र अथवा सम्बन्ध दाह जनक है यह, कटु तथा दूर रखने योग्य विष के समान नहीं है यह ग्रहण करने योग्य जो बुद्धिमान सूर्य के दिनों की गति के अनुसार आर्तव से युक्त होने वाली इस स्त्री को जानता है वह ही वधु के सम्बन्ध को प्राप्त करने योग्य है।[5] यह आर्तव समय का वस्त्र अथवा सम्भोग दाहजनक, कटु परिणाम लाने वाला, दूर रखने की चीज और विष के समान है। जो बुद्धिमान् इस आर्तव के विषय का

---

1. अश्रीरा तनूर्भवति ....स्वमङ्गमभिधित्सते।। ऋ० 10.85.30
2. ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं ....आगताः।। ऋ० 10.85.31
3. मा विदन्परिपन्थिनो ....द्रान्त्वरातयः।। ऋ० 10.85.32
4. सुमङ्गलीरियं ....वि परेतन।। ऋ० 10.85.33
5. तृष्टमेतत्कटुकमे ....इद्वाधूयमर्हति।। ऋ० 10.85.34

जानकार है वह ही वधु के सम्बन्ध को प्राप्त करने योग्य है।

वेद में आगे आया कि आशसन = ढिठाई विशसन = विशेष ढिठाई और कटुवचन बोलना स्त्री के रूप हैं, उनको जानकार शुद्ध करता है।[1] ढिठाई, अति ढिठाई और कटु वचन कहना –ये स्त्री के रूप हैं। जो जानकार है वह इन्हें शुद्ध कर देता है।

वधू का कर्त्तव्य– आगे कहा हे वधु ! पक्षान्तर में हे वर ! सौभाग्य के लिए तुम्हारे हाथ को ग्रहण करता हूँ। मुझ पति के साथ पक्षान्तर में मुझ पत्नी के साथ जिस प्रकार वृद्धावस्था युक्त हो वैसी वा वैसा हो, ऐश्वर्ययुक्त पुरुष न्यायकारी उत्तम कर्मों का प्रेरक विद्वान् पोषक पुरुष विद्वज्जन तुझे मुझे गृहस्थाश्रम के धर्म कर्म के लिए देते हैं।[2] हे वधु ! अथवा हे वर ! हममें से एक दूसरा एक दूसरे के हाथ को सौभाग्य के लिए ग्रहण कर रहा है। मुझ पति वा मुझ पत्नी के साथ जिस प्रकार वृद्धावस्था युक्त हो वैसी और वैसा हो। ऐश्वर्यशाली उत्तम कर्मो के प्रेरक, पोषक, न्यायकारी, विद्वान् पुरुष मेरे लिए तुझे गृहस्थाश्रम धर्म के लिए देते हैं।

आगे वेद में आया हे पोषक ! उस कल्याणकारिणी वधु को प्रेरित कर जिस उरू में मनुष्य लोग वीर्यरूपा बीज को बोते हैं जो हमें चाहती हुई अपने ऊरू को फैलाती है जिसमें चाहता हुआ मैं पति रेतः सेचन इन्द्रिय का प्रहार करता हूँ।[3] हे पोषण करने हारे वर ! तू इस कल्याणकारिणी पत्नी को प्रेरित कर जिसके ऊरू के अन्दर पुरुष वीर्य का आधान करते हैं। जो हमें चाहती हुई अपने ऊरू को हम पर फैलाती है और हम पति लोग अपनी अपनी पत्नियों के ऊरू में प्रजनन इन्द्रिय का प्रहार करते हैं।

आगे वेद में कहा हे वधु। इस यज्ञाग्नि के चारों तरफ दहेज के साथ वधु को घुमाते वा प्रदक्षिणा करते हैं, यह अग्नि फिर पति के लिए प्रजा के साथ युक्त होने हारी जाया रूप में देता है।[4] विवाह में माता पिता और सम्बन्धी आदि वधु को देय वस्तु के साथ यज्ञाग्नि की परिक्रमा कराते हैं। पुनः यह यज्ञाग्नि प्रजा को उत्पन्न करने हारी इस वधु को पति के प्रति प्रदान करता है।

---

1. आशसनं ....तु शुन्धति।। ऋ० 10.85.35
2. गृभ्णामि ते ....देवाः।। ऋ० 10.85.36
3. तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व ....शेपम्।। ऋ० 10.85.37
4. तुभ्यमग्ने ....सह।। ऋ० 10.85.38

आगे वेद में आया कि कन्या में विद्यमान अग्नि की ऊष्मा तव आयु वर्चस् के साथ पत्नी को पति को प्रदान करती है, इसका जो पति है लम्बी आयु वाला होकर शरद् ऋतुओं का सौ जीवे।[1] कन्या में विद्यमान ऊष्मा पुनः इस वधु को उसके पति को आयु और बल के साथ प्रदान करती है। इसका जो पति है वह लम्बी आयु वाला होकर सौ शरद् ऋतुओं तक जीवित रहे।

सूक्त में आया कि विवाह के योग्य वधु को सोम शक्ति पहली प्राप्त करती है, गृहस्थाश्रम वाली शक्ति रजोदर्शन दूसरा प्राप्त करता है ऊष्मा इसका तृतीय पालक है इसका चतुर्थ पालक मनुष्य से उत्पन्न हुआ होता है।[2] विवाह के योग्य वधु को पहले सोम शक्ति किशोरावस्था का गुण ग्रहण करती है। पुनः रजोदर्शन की अवस्था में गृहस्थाश्रम सम्बन्धी शक्ति ग्रहण करती है। तीसरी शक्ति इसकी शरीरस्थ ऊष्मा होती है और चौथी शक्ति = मनुष्य रूपी पति इसे प्राप्त करता है।

आगे कहा कि सोम शक्ति इस कन्या को गृहस्थ धारण करने की शक्ति को देती है, यह गन्धर्व शक्ति उसे यौवन की ऊष्मा को देती है यह ऊष्मा अनन्तर इस वधु को मुझ पति को देता है धन और पुत्र भी देता है।[3] कन्या की प्रथमावस्था शान्त सोम है, दूसरी अवस्था गृहस्थ की भावना का जिसमें उन्मेष होता है वह गन्धर्व है, तीसरी अवस्था जिसमें यौवन की ऊष्मा बढ़ती है अग्नि है और चौथी अवस्था में वह पति के योग्य हो जाती है।

वेद में आगे कहा कि हे वर और वधु! यहां ही रहो नहीं वियुक्त हो, पूर्ण आयु को प्राप्त करो अपने घर में पुत्रों पोतों और नीतियों के साथ प्रसन्न होते हुए खेलते हुए रहो।[4] हे वर और वधु! तुम दोनों इस आश्रम में स्थिर रहो। वियुक्त मत हो और पूर्ण आयु प्राप्त करो। अपने घर में पुत्र, पौत्र, नाती आदि के साथ प्रसन्न हो खेलते हुए रहो।

प्रजा का पालक अग्नि हमें सन्तान उत्पन्न करें, सूर्य वृद्धावस्था पर्यन्त संगत रखे, वह तू वधु सुमंगली बनी हुई पति के पास प्राप्त हो, दो पैर वाले मनुष्य और चार पैर वाले पशुओं के लिए कल्याणकारिणी हो।[5] अग्नि हममें

---

1. पुनः ....शतम्।। ऋ० 10.85.39
2. सोमः प्रथमो ....मनुष्यजाः।। ऋ० 10.85.40
3. सोमो ददद् ....इमाम्।। ऋ० 10.85.41
4. इहैव स्तं ....स्वे गृहे।। ऋ० 10.85.42
5. आ नः प्रजा ....चतुष्पदे।। ऋ० 10.85.43

सन्तान उत्पन्न करे, सूर्य हमें वृद्धावस्था तक संगत रखे। हे वधु । तू सुमंगली हुई पति के पास आ और मनुष्य व पशु आदि के लिए कल्याण-कारिणी हो।

वेद कहता है कि हे वधु ! तू सौम्यदृष्टि और पति की रक्षा करने वाली हो पशुओं के लिए कल्याणकारिणी उत्तम मन वाली उत्तम बल और ज्ञान वाली, उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करने वाली और आपत्काल में आवश्यकता पड़ने पर देवर की कामना वाली, और सुखकारिणी हो, मनुष्यों के लिए कल्याणकारिणी हो और चौपायों के लिए सुखकारिणी हो।[1] हे वधु सौम्यदृष्टि और पति की रक्षा करने वाली हो पशुओं के लिए कल्याणकारिणी, उत्तम मनवाली, उत्तम बल और ज्ञान वाली, वीर सन्तान को उत्पन्न करने वाली, आपत्काल में आवश्यकता पड़ने पर देवर की कामनावाली और सुखकारिणी हो। मनुष्य के लिए कल्याणकारिणी और चौपायों के लिए कल्याणकारिणी हो।

आगे कहा हे वीर्य सेचन हारे शक्तिशाली वर सौभाग्य शालिनी इस वधु को तू उत्तम पुत्रों वाली कर, इसमें दश पुत्रों को पैदाकर ग्याहरवां तुझ पति को कर।[2] हे वीर्यसेचनहार शक्तिशाली वर। तू इस सौभाग्यशालिनी पत्नी को उत्तम पुत्रों वाली कर इसमें 10 पुत्रों को पैदाकर और ग्यारहवां पुत्र स्वयम् बन जा। अर्थात् दश से अधिक सन्तान न पैदा कर।

ऋग्वेद आगे कहता है कि हे वधु तू श्वसुर के अधीन साम्राज्ञी हो सासू के अधीन साम्राज्ञी हो नन्दों के बीच साम्राज्ञी हो और देवरों के बीच में साम्राज्ञी हो।[3] हे समस्त विद्वज्जन ! अच्छी प्रकार जानो हम पति और पत्नी दोनों पानी के समान एक हैं, हृदय वायु हम दोनों के हृदय को समान करे, सूर्य समान करे, सरस्वती समान करे हम दोनों को।[4] हे समस्त विद्वज्जन ! आप देखें, हम दोनों का हृदय मिले हुए जल के समान है। वायु, सूर्य, सरस्वती सभी हम दोनों के हृदय को समान करें।

यम-यमी– यम यमी सूक्त में पत्नी और पति का संवाद है। इस सूक्त में पति एक असमर्थ पुरुष है। जो अपनी पत्नी को कहता है कि तुम अपनी इच्छा पूर्ति के लिए अर्थात् गृहस्थ सुख को प्राप्त करने के लिए पुत्र रत्न को

---

1. अघोरचक्षुर ....चतुष्पदे।। ऋ० 10.85.44
2. इमां त्वमिन्द्र ....कृधि।। ऋ० 10.85.45
3. साम्राज्ञी ....देवृषु। ऋ० 10.85.46
4. समञ्जन्तु ....दधातु नौ।। ऋ० 10.85.47

प्राप्त करने के लिए गृहस्थ धर्म को प्राप्त करो।[1] अपनी पत्नी की पुत्र प्राप्त करने की इच्छा को पूर्ण करने के लिए कहता है कि हे पत्नी ! तेरा पति रूप सखा इस सख्य वा समागम को नहीं चाहता है, इसलिए कि अपने पति के समान शक्ति और लक्षण वाली पत्नी विविध सन्तानों वाली होती, (पत्नी ठीक हो परन्तु पति नपुंसक हो तो ऐसा नहीं होता है अतः यह तुम्हारा पति तुझसे समागम नहीं चाहता है) महान् प्राणवान् पुरुष के वीर पुत्र ही इस पृथिवी पर ज्ञान प्रकाश और दिव्य गुण के धारण करने वाले देखे जाते हैं।[2] पति उत्तर देता है कि नपुंसक होने से वह पत्नी के समान सन्तान उत्पादन में समर्थ नहीं है अतः इस समागम को नहीं चाहता है। पुंसत्व वाले महान् शक्तिशाली के ही वीर पुत्र होते देखे जाते हैं और वे ही उत्तम गुणों से युक्त और संसार में सफल होते हैं।

आगे पत्नी कहती है वे दीर्घायु पुरुष अवश्य यह चाहते हैं कि किसी भी एक मनुष्य के पुत्र हो। तेरा मन मुझ में बद्ध है तू पुत्रोत्पादन में समर्थ पत्नी का पति है अतः मेरे शरीर में गर्भरूपेण प्रविष्ट हो।[3] पत्नी कहती है कि वंश को दीर्घायु वाला रखने वाले मनुष्य चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के सन्तान हो। मेरा मन तुझ में बंधा है अतः तू ही मुझ जाया में गर्भरूप में प्रविष्ट हो।

पति कहता है –कौन-सा उपाय या समागम आदि कर्म है जिसे हमने पहले नहीं किया, निश्चय ही असत्य बोलते हैं हम सत्य बोलते हुए भी यदि हमने पूर्व कुछ नहीं किया ऐसा कहें। गृहस्थ पुरुष वीर्य आदि में पूर्ण हो और स्त्री वीर्यादि से सशक्त हो वह स्त्री ही हम गृहस्थों में आधार वा आश्रय है वह यह हम दोनों में अत्यन्त अन्योन्य विपरीत दोष है।[4] पति कहता है कि सन्तान उत्पत्ति के लिए क्या कुछ है। जो हमने पहले नहीं किया। यदि हम कहें कि नहीं किया है तो सत्य बोलने वाले हम वस्तुतः झूठ बोलेंगे। गृहस्थ पुरुष वीर्य आदि में पूर्ण होना चाहिए और स्त्री भी वीर्यवती होनी चाहिए। तभी सन्तान होती है। स्त्री वस्तुतः सन्तान का आधार है। परन्तु हम दोनों में यह परम दोष है कि एक सन्तानोत्पत्ति के योग्य है तो दूसरा नपुंसक है।

पत्नी कहती है समस्त रूपों को देने वाले सबके उत्पादक जनक देव

---

1. ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां ....क्षमि प्रतरं दीध्यानः।। ऋ० 10.10.1
2. न ते सखा सख्यं वष्टयेतत्सलक्ष्मा ....परि रव्यान्।। ऋ० 10.10.2
3. उशन्ति घा ते अमृतास ....विविश्याः।। ऋ० 10.10.3
4. न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता ....परमं जामि तन्नौ।। ऋ० 10.10.4

परमेश्वर ने गर्भधारण के विषय में अथवा अपने-अपने माता के गर्भ से रहने की अवस्था में ही हम दोनों को पति-पत्नी बनाया इसके नियमों का सभी लोग नहीं नाश करते हैं हमारे इस पति-पत्नी भाव को पृथिवी और सूर्य भी प्राप्त होते हैं अर्थात् अनुकरण करते हैं।[1] सबके रचयिता और सृष्टि कर्त्ता भगवान् ने गर्भ धारण के लिए ही हम दोनों को पति-पत्नी बनाया है। उसका यह नियम अटल है और इस भाव का अनुकरण पृथिवी और सूर्य भी करते हैं। वे भी पिता और माता के रूप में व्यवहृत होते हैं।

पति कहता है इस प्रथम वा पूर्व दिन की बात को कौन जानता है, गर्भ धारण होने वा न होने के इस मूल कारण का कौन निश्चय देखता है। इस विषय में कौन बतला सकता है, सबके मित्र वरणीय भगवान् का प्रताप बहुत बड़ा है, कटाक्ष करने वाली स्त्री मनुष्यों का विवेक करके भी कौन निश्चय से क्या कह सकता है।[2] हे पत्नी ! पूर्व के समय की जो बातें कहती हो उसे कौन जानता है, सन्तान होगी ही वा न होगी इसके मूल कारण को भी किसने देखा है और कौन इस विषय में निश्चय से कुछ कह सकता है। सबके मित्र पूज्य परमेश्वर का प्रताप महान् है अतः कटाक्ष करने वाली मत बनो! अरे मनुष्यों का ज्ञान से विवेचन करके भी कोई कुछ निश्चित रूप में उनके विषय में नहीं कह सकता है।

पत्नी कहती है मुझ यमी पत्नी को एक साथ स्थान में साथ सोने के लिए पति का काम प्राप्त हो, जैसे दूसरी स्त्री अपने पति के लिए करती है वैसे मैं भी तुझ पति के लिए अपने देह को प्रदान करूँ, हम रथसम्बन्धी चक्र के समान गृहस्थ धर्म के भार को रथ के चक्रों के समान वहन करें।[3] पत्नी कहती है कि एक स्थान में साथ सोने के लिए मुझे पति का समागम सम्बन्धी काम प्राप्त हो। जैसे स्त्रियां अपने पतियों को अपना शरीर प्रदान करती हैं वैसे ही अपने तुझ पति को अपना अङ्ग प्रदान करूं और हम दोनों इस गृहस्थाश्रम के भार को रथ के चक्रों के समान वहन करें।

---

1. गर्भे नु नौ जनिता दम्पती ....नावस्य पृथिवी उतद्यौः।। ऋ० 10.10.5
2. को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्।
   बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्।। ऋ० 10.10.6
3. यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्ससमाने योनौ सहशेय्याय।
   जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृ हेव रथ्येव चक्रा।। ऋ० 10.10.7

पति कहता है– इस लोक में जो गुप्तचर के समान देखने वाले देवों के द्रष्टा ये दिन और रात्रियाँ व्यतीत हो रहे हैं वे किसी के लिए खड़े रहते नहीं, न वे पल भर भी झपकते हैं, हे आक्षेप कारिणी पत्नी मुझ से दूसरे पुरुष के साथ शीघ्र सम्बन्ध कर और उसके साथ रथ सम्बन्धी चक्रों के समान गृहस्थ धर्म का भार वहन कर।[1] पति कहता है कि हे प्रिये ! इस संसार में देवों के चारदृश की तरह कार्य कर रहे रात्रि और दिन किसी के लिए न रुके रहते हैं और न क्षणभर भी झपकते हैं। निरन्तर चलते रहते हैं अतः उन्हें गंवाना ठीक नहीं। तू अन्य पुरुष को शीघ्र प्राप्त हो और रथ के पहिए के समान गृहस्थाश्रम के धर्म का वहन कर।

पत्नी कहती है कि प्रभु कुछ रात्रियों और कुछ दिनों के साथ मेरे मनोरथ को पूरा करें, सूर्य का तेज फिर से उदय को प्राप्त हो, द्युलोक और पृथिवी के समान सहगत हुए हम दोनों का जोड़ा रहे और पत्नी पति से स्थापित गर्भ को धारण करे यही अच्छा है।[2] रात्रि और दिन के साथ मेरा मनोरथ पूर्ण हो, सूर्य का प्रकाश पुनः उदय को प्राप्त हो, द्यु लोक और पृथिवी के समान जोड़ा हमारा रहे और मेरे पति द्वारा ही मुझे गर्भ रहे। यही ठीक है। ऐसा पत्नी कहती है।

पति कहता है निश्चय ही वे उत्तर अर्थात् (नियोग सम्बन्धी बाद के) काल भी प्राप्त होते हैं, जिनमें पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ स्त्रियां नियोग कर्म से सन्तान उत्पन्न करती हैं, हे सौभाग्यशलिनी ! तू वीर्यवान् पुरुष के बाहु का सहारा ले और इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ नपुंसक पति से अतिरिक्त पति की इच्छा कर।[3] नपुंसक पति कहता है कि हे देवी। विवाह के अनन्तर पति को सन्तान उत्पत्ति में असमर्थ पाने वाली सन्तान उत्पत्ति में समर्थ स्त्रियां उस नपुंसक पति को छोड़कर अन्य पति को नियुक्त पति स्वीकार कर सकती हैं। अतः मुझ से अन्य पति की इच्छा कर।

पत्नी कहती है – क्या तू भाई हो गया है कि पतिवत् नहीं हो रहा

---

1. न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
   अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा।। ऋ० 10.10.8
2. रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्
   दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विभृयादजामि।। ऋ० 10.10.9
3. आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्न जामि।
   उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।। ऋ० 10.10.10

है क्या मैं तुम्हारी बहन हूँ कि दुःखी हो चली जाऊं, मैं काम से मूर्च्छित हुई यह बहुत कुछ बक रही हूँ, तू मेरे शरीर से अपने शरीर को संगत कर।[1] पत्नी कहती है कि क्या तुम पति न होकर भाई हो जो पति के कार्य को नहीं करना चाहते, क्या मैं आपकी पत्नी न होकर बहन हूँ जो इस प्रकार दुःखी होकर अन्यत्र चली जाऊँ? यह सब कुछ मैं काम से मूर्छित होकर कह रही हूँ। अरे ! मेरे शरीर से अपने शरीर को संगत कर पति कहता है कि यही विकल्प ठीक है कि जब मैंने असमर्थ हो तुझे दूसरे पति से नियोग की आज्ञा दे दी –तो तू बहन समान हो गई और मैं भाई समान हो गया। अब तेरे शरीर से अपने शरीर को नहीं संगत करूँ, यही ठीक है क्योंकि पापी कहते हैं, विद्वान् लोग और समाज के लोग उसको जो इस प्रकार बहन स्वीकार किये के साथ संगम करे, हे सौभाग्यवति! तू मुझ से अन्य के साथ आमोद-प्रमोद का अनुभव कर। तेरा भरण पोषण मात्र करने वाला भाई बन गया यह व्यक्ति इस समागम को नहीं चाहता है।[2] पति कहता है –कि जब असमर्थ पति पत्नी को नियोग की आज्ञा दे देता है तब स्वयं भ्राता हो जाता है अतः उसके साथ पुनः समागम करने वाले को समाज और राष्ट्र के जन पापी कहते हैं। इसके लिए अन्य पति के साथ समागम कर। यह भाई हुआ पति अब तेरे साथ समागम कर्म नहीं करना चाहता।

पत्नी पति की परीक्षा लेने के लिए पुनः ताना देकर कहती है –हे पते ! तू खेद कर कि निर्बल और असमर्थ है, मैं तेरे हृदय और मन को नहीं ही जानने में समर्थ हो रही हूँ। क्या मुझे अन्य पति की इच्छा करने को कहकर यह चाहता है कि निश्चय समर्थ तुझ से कोई अन्य स्त्री वृक्ष को लता के समान आलिंगन करे।[3] पत्नी ताना देती हुई परीक्षा करने के लिए नियोग की आज्ञा देने वाले पति को कहती है कि हे पति देव। खेद है कि तुम निर्बल और असमर्थ हो। तुम्हारे मन और हृदय को समझने में मैं असमर्थ हूँ। क्या मुझे अन्य नियुक्त पति की आज्ञा देकर चाहते हो कि दूसरी कोई स्त्री वृक्ष को लता के समान तुम्हारा आलिंगन करे।

पति कहता है –हे पत्नी ! तू अन्य पति का बिना सन्देह वृक्ष को लता

---

1. किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
   काममूता बह्वे ३ तद्रपामि तन्वा मे तन्वं १ सं पिपृग्धि।। ऋ० 10.10.11
2. न वा उ ते तन्वा तन्वं १ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः ....सुभगे वष्ट्येतत्।। ऋ० 10.10.12
3. बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं ....लिबुजेव वृक्षम्।। ऋ० 10.10.13

के समान आलिंगन कर। अन्य नियुक्त पति निश्चय ही तुम्हारा आलिंगन करे। तू सर्वथा उसके मन को चाहे और वह निश्चय ही तेरे मन को चाहे और संशय आदि से दूर रहकर कल्याणकारिणी भावना और बुद्धि को अपना अथवा रख।[1] असमर्थ पति अन्तिम आज्ञा देता है। हे देवी। लता जैसे वृक्ष का आलिंगन करती है वैसे ही तू अन्य पुरुष अर्थात् नियुक्त पति का आलिंगन कर, उसका मन तेरा हो और तेरा मन उसका हो। तू संशय आदि से रहित होकर कल्याणकारिणी मति को धारण कर।

मध्यकाल में वेदों के भाष्य, देवता आदि प्रतिपाद्य विषय के अनुसार न होकर भ्रान्त धारणा के अनुसार किए गए हैं।

ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व– ऋग्वेद में अनेक सूक्त हैं जिनमें दार्शनिक तत्वों की विवेचना की गई है। वेद में कहा कि शिल्प के गुणों से प्रशंसित वृद्धावस्था को प्राप्त इस सज्जन का बिजुली रूप पहिला देने वा हवन करने वाले उसके बन्धु के समान पदार्थों का भक्षण करने वाला पृथिवी आदि लोकों में प्रसिद्ध हुआ दूसरा और घृत वा जल जिसके पीठ पर अर्थात् ऊपर रहता वह इसके भ्राता के समान तीसरा है। यहां सात प्रकार के तत्त्वों से उत्पन्न प्रजाजनों की पालना करने वाले सूर्य को मैं देखूं।[2] इस जगत् में तीन प्रकार का अग्नि है एक बिजुलीरूप, दूसरा काष्ठादि में जलता हुआ भूमिस्थ और तीसरा वह है जो कि सूर्यमण्डलस्थ होकर समस्त जगत् की पालना करता है।

आगे वेद में आया जहां एक सब कलाओं के घूमने के लिये जिसमें चक्कर है उस विमान आदि यान को सप्तनामों वाला एक शीघ्रगामी वायु वा अग्नि पहुँचाता है वा जहां सात कलों के घर युक्त होते हैं वा जहां ये समस्त लोक लोकान्तर अधिष्ठित होते हैं वहां प्राकृत प्रसिद्ध घोड़ों से रहित और जीर्णता से रहित तीन जिसमें बन्धन उस एक चक्कर को शिल्पी जन स्थापन करें।[3] जो लोग बिजली और जलादि रूप घोड़ों से युक्त विमानादि रथ को बनायें सब लोकों के अधिष्ठान अर्थात् जिसमें सब लोक ठहरते हैं उस आकाश में गमनागमन सुख से करे वे समग्र ऐश्वर्य को प्राप्त हों।

---

1. अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते ....संविदं सुभद्राम्।। ऋ० 10.10.14
2. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
   तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।। ऋ० 1.164.1
3. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो ....तस्थुः।। ऋ० 1.164.2

आगे कहा जिसमें किरणों के सात नाम निरन्तर धुरे स्थापित किये हुए हैं और वहां बहिनों के समान वर्तमान सात कला सामने मिलती हैं सात शीघ्रगामी अग्नि पदार्थ पहुँचाते हैं उस इस सात चक्कर वाले रथ को जो सात जन अधिष्ठित होते हैं वे इस जगत् में सुखी होते हैं।[1] जो स्वामी अध्यापक अध्येता रचने वाले नियम कर्त्ता और चलाने वाले अनेक चक्कर और तत्त्वादियुक्त विमानादि यानों को रचने को जानते हैं वे प्रशंसित होते हैं जिन में छेदन वा आकर्षण गुण वाले किरण वर्त्तमान हैं वहां प्राण भी है।

वेद कहता है कि जिस प्रख्यात प्रथम अर्थात् सृष्टि के पहिले उत्पन्न होते हुए हड्डियों से युक्त देह को भूमि के बीच हड्डियों से रहित प्राण रुधिर और जीव धारण करता उस को कहीं भी कौन देखता है और कौन इस उक्त विषय के पूछने को विद्वान् के समीप जावे।[2] जब सृष्टि के पहिले ईश्वर ने सबके शरीर बनाये तब कोई जीव इनका देखने वाला न हुआ। जब उनमें जीवात्मा प्रवेश किये तब प्राण आदि वायु रुधिर आदि धातु और जीव भी मिलकर देह को धारण करते हुए और चेष्टा करते हुए इत्यादि विषय की प्राप्ति के लिये विद्वान् को कोई ही पूछने को जाता है किन्तु सब नहीं।

पुनः वेद में आया जो बुद्धिमान् जन विस्तार के लिये देखने योग्य सन्तान के निमित्त सात विस्तृत धातुओं को अनेक प्रकार से अधिक-अधिक विस्तारते हैं उन्ही दिव्य विद्वानों के इन स्थापित किये हुए प्राप्त होने वा जानने योग्य पदों को अधिकारों को न जानता हुआ ब्रह्मचर्यादि तपस्या के पारिक होने योग्य मैं अन्तःकरण से पूछता हूँ।[3] मनुष्यों को योग्य है कि बाल्यावस्था को लेकर अविदित शास्त्रों को विद्वानों से पढ़कर दूसरों को पढ़ाने से सब विद्याओं को फैलावे।

वेद में कहा कि अविद्वान् मैं भी इस विद्या व्यवहार में अज्ञानरूपी रोग के दूर करने वाले पूरी विद्यायुक्त आप्त विद्वानों को विद्यावान् विशेष जानने के लिये जैसे पूछे वैसे पूछता हूँ जो छः इन पृथिवी आदि स्थूल तत्वों को इकट्ठा करता है प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण वा जीव के रूप में क्या ही एक हुआ

---

1. इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः ....सप्त नाम।। ऋ० 1.164.3
2. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं ....विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्।। ऋ० 1.164.4
3. पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
   वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ।। ऋ० 1.164.5

है। इसको तुम कहो[1] अविद्वान् विद्वानों को पूछकर विद्वान् होते हैं वैसे विद्वान् भी परम विद्वानों को पूछकर विद्या की वृद्धि करें।

आगे कहा हे प्यारे जो इस प्रशंसित पक्षी के धरे हुए पद को जानता है वह इस प्रश्न में सब ओर से उत्तम कह देवे जैसे झूल ओढ़े हुई गौएँ दूध को पूरा करती अर्थात् दुहाती हैं वा वृक्ष पग से जल को पीते हैं वैसे इसके शिर के स्वीकार करने योग्य सब व्यवहार को जानें।[2] जैसे पक्षी अन्तरिक्ष में भ्रमते हैं वैसे ही सब लोक अन्तरिक्ष में भ्रमते हैं, जैसे गौयें बछड़ों के लिये दूध देकर बढ़ाती हैं वैसे कारण कार्यों को बढ़ाते हैं वा जैसे वृक्ष जड़ से जल पीकर बढ़ते हैं वैसे कारण से कार्य बढ़ता है।

जो भयङ्कर जिसके गर्भ में रसरूप विद्यमान निरन्तर बन्धी हुई वह पृथिवी धारण से सृष्टि के पूर्व सूर्य के बिना सबको अच्छे प्रकार सेवन करती है जिसको निश्चय के साथ विज्ञान से सङ्गत होते प्राप्त होते उसको प्राप्त होकर प्रशंसित अन्नयुक्त होकर ही जिसमें वचन मिलता उस भाग को प्राप्त होते हैं।[3] यदि सूर्य के बिना पृथिवी हो तो शक्ति से सबको क्यों न धारण करे जो पृथिवी न हो तो सूर्य आप ही प्रकाशमान कैसे न हो इस कारण इस सृष्टि में अपने-अपने स्वभाव से सब पदार्थ स्वतन्त्र हैं और सापेक्ष व्यवहार में परतन्त्र भी हैं।

आगे वेद में आया कि जो ग्रहण करने के योग्य पदार्थ वर्जनीय कक्षाओं में भीतर स्थिर होता है जिसके दाहिनी धारण करने वाली धुरी में पृथिवी जड़ी हुई है और बछड़ा गौ को जैसे वैसे प्रक्षेप करता है तथा तीन बन्धनों में समस्त पदार्थों में हुए भाव को अनुकूलता से देखता है वह पदार्थ विद्या के जानने के योग्य है।[4] जैसे गर्भरूप मेघ चलते हुए बादलों में विराजमान है वैसे सबको मान्य देने वाली भूमि आकर्षणों से युक्त है, जैसे बछड़ा गौ के पीछे जाता है। वैसे यह भूमि सूर्य का अनुभ्रमण करती है जिसमें समस्त सफेद, हरे, पीले लाल आदि रूप हैं वही सबका पालन करने वाली है।

---

1. अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र................स्विदेकम्।। ऋ० 1.164.6
2. इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
   शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः।। ऋ० 1.164.7
3. माता पितरमृत आ बभाज.........इदुपवाकमीयुः।। ऋ० 1.164.8
4. युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
   अमीमेद्वत्सो अनुगामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु।। ऋ० 1.164.9

जो तीन उत्तम, मध्यम, अधम भूमियों तथा बिजली और सूर्यरूप तीन पालक अग्नियों को सब ओर से धारण करता हुआ ऊपर ऊँचा एक सूत्रात्मा वायु स्थिर होता है जो विद्वान् जन उसको कहते सुनते अर्थात् उसके विषय में वार्त्तालाप करते हैं तथा जो सबसे न सेवन की गई सब लोग उसको प्राप्त होते उस वाणी को सब ओर से विचारपूर्वक गुप्त कहते हैं वे उस दूरस्थ प्रकाशमान सूर्य के परभाग में विराजमान होते हैं वे नही दुःख को प्राप्त होते हैं।[1] जो सूत्रात्मा वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी को धारण करता है उसको अभ्यास से जान के सत्य वाणी औरों के लिये उपदेश करें।

आगे वेद कहता है कि हे विद्वान् ! तू इस संसार में जो जिसके बारह अङ्ग हैं, वह चक्र के समान वर्त्तमान संवत्सर प्रकाशमान सूर्य के सब ओर से निरन्तर वर्त्तमान है। वह हानि के लिये नहीं होता है जो इस संसार में सत्य कारण से सात सौ बीस भी संयोग से उत्पन्न हुए पुत्रों के समान वर्तमान तत्त्व विषय अपने-अपने विषयों में लगे हैं उनको जान।[2] काल अनन्त अपरिणामी और विभु वर्त्तमान है न उसकी कभी उत्पत्ति है और न नाश है इस जगत् के कारण में सात सौ बीज जो तत्त्व है वे मिल के स्थूल ईश्वर के निर्माण किए हुए योग से उत्पन्न हुए हैं इनका कारण अज और नित्य है जब तक अलग-अलग इन तत्त्वों को प्रत्यक्ष में न जाने तब तक विद्या की वृद्धि के लिए मनुष्य यत्न किया करे।

आगे वेद में आया कि हे मनुष्य तुम क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर, दिवस, पक्ष ये पांच पग जिसके पिता के तुल्य पालना कराने वाले बारह महीने जिसका आकार और मिले हुए पदार्थों की प्राप्ति वा हिंसा कराने वाले अर्थात् उनकी मिलावट को अलग-अलग कराने हारे संवत्सर को प्रकाश मान सूर्य के परले आधे भाग में विद्वान् कहते हैं बताते हैं इसके अनन्तर ये और विद्वान् जन जिसमें छः ऋतु आरारूप और सात चक्र घूमने की परिधि विद्यमान उस मेघमण्डल में वाणी के विषय को स्थापित कहते हैं उसको जानो।[3] हे मनुष्यों ! तुम इस मन्त्र में काल के अवयव कहने को अभीष्ट हैं जिस विभु एक रस सनातन काल में

---

1. तिस्रो मातृस्त्रीन्पितृन्विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
   मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्।। ऋ० 1.164.10
2. द्वा दशारं नहि तज्जराय..........विंशतिश्च तस्थुः।। ऋ० 1.164.11
3. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
   अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षळर आहुरर्पितम्।। ऋ० 1.164.12

समस्त जगत् उत्पत्ति स्थिति प्रलयान्त लब्ध होता है उसके सूक्ष्मत्व से उस काल का बोध कठिन है इससे इसको प्रयत्न से जानो।

आगे कहा हे विद्वानों ! जिसमें पांच तत्व अरारूप हैं और सब ओर से वर्तमान उस पहिये के समान ढुलकते हुए पञ्चतत्त्व के पञ्चीकरण में समस्त लोक अच्छे प्रकार स्थिर होते हैं उसका अगला भाग अर्थात् जो उससे प्रथम ईश्वर है वह नहीं कष्ट को प्राप्त होता अर्थात् संसार के सुख दुःख का अनुभव नहीं करता और जिसका समान बन्धन है अर्थात् क्रिया के साथ में लगा हुआ है और जिनमें बहुत भार है बहुत कार्य कारण आरोपित है वह काल सनातनपन से नहीं नष्ट होता।[1] जैसे यह चक्र रूप काल आकाश और दिशात्मक जगत् परमेश्वर में व्याप्त है वैसे ही काल आकाश और दिशाओं में कार्य कारणात्मक जगत् व्याप्त है।

हे मनुष्यों ! जो समान नेमि नाभि वाला जरा दोष से रहित चक्र के समान वर्तमान कालचक्र उत्तम विथरे हुए जगत् में विशेष कर बार-बार आता है और उस काल चक्र को दश प्राण युक्त बहाते हैं जो सूर्य का व्यक्ति प्रकटता करने वाला भाग लोकों के साथ सब ओर से आवरण को प्राप्त होता है अर्थात् ढक जाता है उसमें समस्त भूगोल स्थापित है ऐसा तुम जानो।[2] जो विभु नित्य और सब लोकों का आधार समय वर्त्तमान है उसी काल की गति से सूर्य आदि लोक प्रकाशित होते हैं ऐसा सब लोगों को जानना चाहिए।

आगे कह रहे हैं कि हे विद्वानों ! तुम एक साथ उत्पन्न हुए पदार्थों के बीच में जिस एक कारण से उत्पन्न महत्तत्व को सातवां कहते हैं। जहां छः देदीप्यमान बिजली से उत्पन्न हुए नियन्ता अर्थात् सबको यथायोग्य व्यवहारों में वर्तानि वाले आप सबमें मिलने वाले ऋतु वर्तमान है उनके बीच जिन प्रत्येक स्थान में मिले हुए पदार्थों को ईश्वर ने रचा है और जो रूपों के साथ अवस्थान्तर को प्राप्त हुए स्थित कारण बीच चलायमान होते उन सबको ही इस प्रकार से जानो। जो इस जगत् में पदार्थ हैं वे सब ब्रह्म के निश्चित किये हुए व्यत्रहार से एक साथ उत्पन्न होते हैं। यहां रचना में क्रम की आकाङ्क्षा नहीं है क्योंकि परमेश्वर के सर्वव्यापक और अनन्त सामर्थ्य वाला होने से इससे वह आप अचलित हुआ सब भुवनों को चलाता है और वह ईश्वर विकार रहित होता

1. पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने ....सनाभिः।। ऋ० 1.164.13
2. सनेमि चक्रमजरं वि वावृत ....भुवनानि विश्वा।। ऋ० 1.164.14
3. साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं............विकृतानि रूपशः।। ऋ० 1.164.15

हुआ सबको विकार युक्त करता है जैसे क्रम में ऋतु वर्तमान है और अपने-अपने चिह्नों को समय-समय में उत्पन्न करते हैं वैसे ही उत्पन्न होते हुए पदार्थ अपने अपने गुणों को प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद के इस सूक्त में यह भी समझाया गया है कि विश्व की मूल सत्ताएं कितनी हैं? जिनके द्वारा सृष्टि उत्पन्न हुई। इस पर वेद की मान्यता है कि जो सुन्दर पंखों वाले समान सम्बन्ध रखने वाले मित्रों के समान वर्तमान दो पखेरू एक जो काटा जाता उस वृक्ष का आश्रय करते हैं उनमें से एक उस वृक्ष के पके हुए फल को स्वादुपन से खाता है और दूसरा न खाता हुआ सब ओर से देखता है अर्थात् सुन्दर चलने फिरने वा क्रियाजन्य काम को जानने वाले व्याप्त व्यापकभाव से साथ ही सम्बन्ध रखते हुए मित्रों के समान वर्तमान जीव और ईश जीवात्मा समान कार्य कारण रूप ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करते हैं। उन दोनों अनादि जीव ब्रह्म में जो जीव है वह पाप पुण्य से उत्पन्न सुख दुःखात्मक भोग को स्वादुपन से भोगता है और दूसरा ब्रह्मात्मा कर्मफल को न भोगता हुआ उस भोगते हुए जीव को सब ओर से देखता अर्थात् साक्षी है यह तुम जानो।[1] जीव परमात्मा और जगत् का कारण ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं जीव और ईश परमात्मा यथाक्रम से अल्प अनन्त चेतन विज्ञानवान् सदा विलक्षण व्याप्यव्यापक भाव से संयुक्त और मित्र के समान वर्तमान हैं, वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणु रूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है वह भी अनादि और नित्य है समस्त जीव पाप पुण्यात्मक कार्यों को करके उनके फलों को भोगते हैं और ईश्वर एक सब ओर से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप पुण्य के फल को देने से न्यायाधीश के समान देखता है।

आगे वेद में कहा जिस विज्ञानमय परमेश्वर में शोभन कर्म वाले जीव मोक्ष के सेवने योग्य अंश को निरन्तर सन्मुख कहते अर्थात् प्रत्यक्ष कहते वा जिस परमेश्वर में समग्र लोकलोकान्तर का पालने वाला स्वामी सूर्यमण्डल प्रवेश करता अर्थात् सूर्य आदि लोकलोकान्तर सब लय को प्राप्त होते हैं जो इसको जानता है वह ध्यानवान् पुरुष इस परमेश्वर में परिपक्व व्यवहार वाले मुझ को उपदेश देवे।[2] जिस परमात्मा में सवितृमण्डल को आदि लेकर लोक लोकान्तर

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाक शीति।। ऋ० 1.164.20
2. यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
   इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश।। ऋ० 1.164.21

और द्वीपद्वीपान्तर सब लय हो जाते हैं, तद्विषयक उपदेश से ही साधक जन मोक्ष पाते हैं और किसी तरह से मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकते।

आगे वेद में आया जिस समस्त वृक्ष पर मधु को खाने वाले सुन्दर पंखों से युक्त भौंरा आदि पक्षी स्थिर होते हैं और आधार भूत होकर अपने बालकों को उत्पन्न करते उसी के जल के समान निर्मल फल को आगे स्वादिष्ट कहते है और वह न नष्ट होता है अर्थात् वृक्षरूप इस जगत् में मधुर कर्मफलों को खाने वाले उत्तम कर्मयुक्त जीव स्थिर होते और उसमें सन्तानों को उत्पन्न करते हैं उसका जल के समान निर्मल कर्मफल संसार में होना इसको आगे उत्तम कहते हैं और नष्ट नहीं होता अर्थात् पीछे अशुभ कर्मों के करने से संसार रूप वक्ष का जो फल चाहिये सो नहीं मिलता जो पुरुष पालने वाले परमात्मा को नहीं जानता वह इस संसार के उत्तमफल को नहीं पाता।[1]

अनादि अनन्त काल से यह विश्व उत्पन्न होता और नष्ट होता है जीव उत्पन्न होते और मरते भी जाते हैं, इस संसार में जीवों ने जैसा कर्म किया वैसा ही अवश्य ईश्वर के न्याय से भोग्य है, कर्म जीव का भी नित्यसम्बन्ध है जो परमात्मा और उसके गुण कर्म स्वभावों के अनुकूल आचरण को न जानकर मनमाने काम करते हैं वे निरन्तर पीड़ित होते हैं और जो उससे विपरीत है वे सदा आनन्द भोगते हैं।

आगे वेद में आया जो लोग जो गायत्री छन्दोवाच्य वृत्ति में गाने वालों की रक्षा करने वाला स्थित है अथवा त्रिष्टुप् छन्दोवाच्य वृत से त्रिष्टुप् में प्रसिद्ध हुए अर्थ को निरन्तर विस्तारते हैं वा जो संसार में प्राणि आदि जगत् जानने योग्य स्थित है उसको जानते हैं वे ही मोक्ष भाव को प्राप्त होते हैं।[2] जो सृष्टि के पदार्थ और तत्रस्थ ईश्वरकृत रचना को जानकर परमात्मा का सब ओर से ध्यान कर विद्या और धर्म की उन्नति करते हैं वे मोक्ष पाते हैं।

आगे वेद में आया कि जो जगदीश्वर गायत्री छन्द से ऋक् ऋचाओं के समूह से सामत्रिष्टुप् छन्द वा तीन वेदों की विद्याओं को स्तुतियों से यजुर्वेद दो पद जिसमें विद्यमान वा चार पद वाले नाश रहित यजुर्वेद से अथर्ववेद और गायत्री आदि साथ छन्द युक्त वेदवाणी को प्रतिमान करता है और जो उसके ज्ञान को मान करते हैं वे कृतकृत्य होते हैं।[3] जिस जगदीश्वर ने वेदस्थ अक्षर,

1. यस्मिनवृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते..........................पितरं न वेद।। ऋ० 1.164.22
2. यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा..........................अमृतत्वमानशुः।। ऋ० 1.164.23
3. गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
   वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः।। ऋ० 1.164.24

पद, वाक्य, छन्द, अध्याय आदि बनाये हैं उसको सब मनुष्य धन्यवाद देवें।

आगे वेद में आया जो जगदीश्वर संसार के साथ नदी आदि को प्रकाश और अन्तरिक्ष में सवितृलोक को रोकता वा सबको सब ओर से देखता है वा जिन गायत्री छन्द से अच्छे प्रकार से साधे हुए ऋग्वेद की उत्तेजना ले अच्छे प्रकार प्रज्वलित तीन पदार्थों को अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल के सुखों को कहते हैं उनसे बड़े प्रशंसनीय भाव से अलग होता है अर्थात् अलग गिना जाता है वह सब को पूजने योग्य है।[1] जब ईश्वर ने जगत् बनाया तभी नदी और समुद्र आदि शीघ्रगामी सूर्य के वीर्य के समान और यह चारों वेदों के प्रकाश करने वाला विद्वान् वा परमात्मा वाणी का उत्तम अवकाश है उनको यथावत् जानो।[2] पीछे कहें हुए प्रश्नों के यहाँ क्रम से उत्तर जानने चाहिये। पृथिवी के चारों और आकाशयुक्त वायु एक-एक ब्रह्माण्ड के बीच सूर्य और बल उत्पन्न करने वाली ओषधियां तथा पृथिवी के बीच विद्या की अवधि समस्त वेदों का पढ़ना और परमात्मा का उत्तम ज्ञान है यह निश्चय करना चाहिए।

वेद में आगे कहा जो सात आधे गर्भरूप अर्थात् पञ्चीकरण को प्राप्त महत्तवत्व अहङ्कार, पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश के सूक्ष्म अवयव रूप शरीरधारी संसार के बीज को उत्पन्न कर व्यापक परमात्मा की आज्ञा से अर्थात् उसकी आज्ञारूप वेदोक्त अवस्था से अपने से विरुद्ध धर्म वाले आकाश में स्थित होते है वे कर्म और वे विचार के साथ सब ओर से विद्या में कुशल विद्वान् जन सब ओर से तिरस्कृत करते अर्थात् उनके यथार्थ भाव के जानने को विद्वान् जन भी कष्ट पाते हैं।[3] जो महत्त्व अहङ्कार पञ्चसूक्ष्मभूत सात पदार्थ हैं वे पञ्चीकरण को प्राप्त हुए सब स्थूल जगत् के कारण है चेतन से विरुद्ध धर्म वाले जड़रूप अन्तरिक्ष में सब बसते हैं। जो यथावत् सृष्टिक्रम को जानते हैं वे विद्वान् जन सब ओर से सत्कार को प्राप्त होते हैं और जो इसको नहीं जानते वे सब ओर से तिरस्कार को प्राप्त होते हैं।

जब उपादान कारण प्रकृति से उत्पन्न हुए पूर्वोक्त महत्तवत्वादि मुझ जीव को प्राप्त हुए अर्थात् स्थूल शरीरावस्था हुई उसके अनन्तर ही सत्य और इस वाणी के भाग को विद्या विषय को मैं प्राप्त होता हूँ। जब तक इस शरीर

---

1. जगता सिन्धुं दिव्यस्त भायद्रथन्तरे..................................महित्वा।। ऋ० 1.164.25
2. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
   अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।। ऋ० 1.164.35
3. सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो...................................परि भवन्ति विश्वतः।। ऋ० 1.164.36

को प्राप्त नहीं होता हूँ तब तक उस विषय को जैसे के वैसा नहीं विशेषता से जानता हूँ। किन्तु विचार से अच्छा बन्धा हुआ अन्तः हित अर्थात् भीतर उस विचार को स्थित किये विचरता हूँ।[1]

अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता के कारण साधनरूप इन्द्रियों के बिना जीव सिद्ध करने योग्य वस्तु को नहीं ग्रहण कर सकता, जब श्रोत्रादि इन्द्रियों को प्राप्त होता है तब जानने को योग्य होता है जब तक विद्या से सत्य पदार्थ को नहीं जानता तब तक अभिमान करता हुआ पशु के समान विचरता है।

जो जल आदि पदार्थों के साथ वर्तमान उल्टा सीधा प्राप्त होता है और जो ग्रहण किया हुआ मरणधर्मरहित जीव मरण धर्म सहित शरीरादि के साथ एक स्थान वाला हो रहा है वे दोनों सनातन सर्वत्र जाने और नाना प्रकार से प्राप्त होने वाले वर्तमान हैं। उनमें से उस एक जीव और शरीर आदि को विद्वान् जन निरन्तर जानते और अविद्वान् उस एक को वैसा नहीं जानते।[2] इस जगत् में दो पदार्थ वर्तमान है एक जड़ दूसरा चेतन। उनमें जड़ को और अपने रूप को नहीं जानता और चेतन अपने को और दूसरे को जानता है, दोनों अनुत्पन्न अनादि और विनाशरहित वर्तमान है, जड़ अर्थात् शरीरादि परमाणुओं के संयोग से स्थूलावस्था को प्राप्त हुआ चेतन जीव संयोग वा वियोग से अपने रूप को नहीं छोड़ता किन्तु स्थूल वा सूक्ष्म पदार्थ के संयोग से स्थूल वा सूक्ष्म सा भान होता है परन्तु वह एकतार स्थित जैसा है वैसा ही ठहरता है।

वेद में पुनः कहा कि जिस ऋग्वेदादि वेदमात्र से प्रतिपादित नाश रहित उत्तम आकाश के बीच व्यापक परमेश्वर में समस्त पृथ्वी सूर्य लोकादि देव आधेयरूप से स्थित होते हैं, जो उस परब्रह्म परमेश्वर को नहीं जानता वह चार वेद से क्या कर सकता है और जो उस परब्रह्म को जानते हैं वे ही ये ब्रह्म में अच्छे प्रकार स्थिर होते हैं।[3] जो सब वेदों का परमप्रमेय पदार्थरूप और वेदों से प्रतिपाद्य ब्रह्म अमर और जीव तथा कार्यकारण रूप जगत् है, इन सभी में से सबका आधार अर्थात् ठहरने का स्थान आकाशवत् परमात्मा व्यापक और जीव तथा कार्य कारण रूप जगत् व्याप्त है इसी से सब जीव आदि पदार्थ परमेश्वर में निवास करते हैं और जो वेदों को पढ़ के इस प्रमेय को नहीं जानते वे वेदों

---

1. न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः......................अश्नुवे भागमस्याः।। ऋ० 1.164.37
2. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
   ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यऽन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।। ऋ० 1.164.38
3. ऋचो अक्षरे परमे......................इमे समासते।। ऋ० 1.164.39

से कुछ भी फल नहीं पाते और जो वेदों को पढ़ के जीव कार्य कारण और ब्रह्म को गुण कर्म स्वभाव से जानते हैं वे सब्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सिद्ध होते आनन्द को प्राप्त होते हैं।

आगे कहा कि हे न हनने योग्य गौ के समान वर्तमान विदुषी तू सुन्दर सुखों की भोगने वाली बहुत ऐश्वर्यवती हो कि जिस कारण हम लोग बहुत ऐश्वर्ययुक्त हों। जैसे गौ तृण को खा शुद्ध जल को पी और दूध देकर बछड़े आदि को सुखी करती है वैसे समस्त जिसमें दान उस क्रिया का सत्य आचरण करती हुई इसके अनन्तर सुख को भोग और विद्यारस को पी।[1] जब तक माता जन वेद वित् न हो तब तक उनके सन्तान भी विद्यावान् नहीं होते हैं जो विदुषी हो स्वयंवर विवाह कर सन्तानों को उत्पन्न कर और उनको अच्छी शिक्षा देकर उन्हें विद्वान् करती है। वे गोओं के समान समस्त जगत् को आनन्दित करती हैं।

स्वधा नाम प्रकृति का है :

स्वधा पद प्रकृति का निर्देशक है, इसके लिए ऋग्वेद का एक और मन्त्र उपस्थित कर देना उपयुक्त होगा–

"वह अमर्त्य जीव चेतन, प्रकृति से गृहीत विनाशी तत्त्वों– बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्र एकादश इन्द्रिय घटित सूक्ष्म शरीर के साथ ऊँच-नीच लोकों में जाता है। वे दोनों –जीव-चेतन तथा स्वधा-निरन्तर चलने वाले हैं, एक दूसरे से सम्बद्ध, अनन्तकाल तक इसी प्रकार चले आने वाले। इनमें एक को (दृश्यमान कार्य जगत् रूप स्वधा को) अच्छी तरह देखा जाता है, अन्य को नहीं देखा जाता।"[2]

स्वधा और अमर्त्य दोनों अनादि हैं, अनन्त हैं इसलिए दोनों का सम्बद्ध अनादि अनन्त है। ऐसे सम्बन्ध का यह अभिप्राय नहीं कि ये सदा ऐसी स्थिति में रहते हैं। इस अनिश आवर्तमान चक्र में कभी ये परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। परन्तु कालान्तर में फिर उसी स्थिति में आ जाते हैं। इनको सदा सम्बद्ध इसीलिए कहा गया है कि इनके इस क्रम का कभी अन्त नहीं होता। ये निरन्तर इसी क्रम में चलते चले जाते हैं। कोई स्थिति इनके इस सम्बन्ध को तोड़ नहीं

---

1. सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
   अद्धि तृणमध्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्ध मुदकमाचरन्ती।। ऋ० 1.164.40
2. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
   ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।। ऋ० 1.164.38

सकती।

इन दोनों तत्वों में से हम प्रकृति की इस दृश्यमान विभूति को अच्छी तरह देखते हैं, भोगते हैं, जानते हैं, परन्तु कोई विरला ही प्रत्यगात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

इस वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ऋचा में "स्वधा" पद का प्रयोग मूलतत्व के लिए हुआ है जिसका यह सब जगत् विकार है तथा जिससे बद्ध होकर पुरुष विविध योनियों में संचरण करता है। उसी मूल उपादान को सांख्य में प्रकृति कहा है। इस प्रकार वेद के अदिति और स्वधा पद वाच्य अर्थ को सांख्य की "प्रकृति" कहना सर्वथा सामंजस्य पूर्ण है। इससे सांख्य सिद्धान्तों की वेदमूलकता स्पष्ट होती है।

अदिति का दार्शनिक विवेचन— अदिति शब्द ऋग्वेद में लगभग अस्सी बार प्रयुक्त हुआ है। अदिति शब्द का अर्थ है कि जो बन्धन रहित हो जो सीमारहित हो तथा तो अखण्डनीय हो जो खण्डित न हो सक़ती हो उसको अदिति कहते हैं। दो अवबन्धने या दो खण्डने धातु से यह शब्द निकला है। अदिति के बारे में सर्व प्रसिद्ध ऋचा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के नवासीवें सूक्त की अन्तिम ऋचा है। जिनसे पता चलता है कि अदिति वैदिक दर्शन सम्पूर्ण तत्वों का नाम है। इस मन्त्र में अदिति को कई नामों से वर्णित किया गया है जैसे अदिति ही द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता, पिता और पुत्र है, सभी देव, पञ्चजन भी अदिति हैं।[1] यही अदिति रुद्रों की माँ है, वसुओं की दुहिता है, आदित्यों की स्वसा है और अमृत की नाभि है। यही आदि गौ है जो अवध्या अर्थात् वध न करने योग्य है।[2] अदिति की वेदों में कई विशिष्ट व्याख्यायें हैं इसको उरूव्यचा या अतिविस्तीर्णा कहा है। इसको ज्योतष्मती भी कहा है।[3] कहीं पर इसको उषा का मुख भी कहा गया है।[4] अदिति को राजपुत्रा या वह माता जिसके पुत्र राजा ही राजा हैं वाली कहा है।[5] ऋग्वेद में मोक्ष के

1 अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।। ऋ० 1.89.10

2. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं बधिष्ट।। ऋ० वे० 8.101.15

3. अवध्रं ज्योतिरदितेर्मनामहे। ऋ० 7.82.10

4. माता देवानामदितेरनीकम्।। ऋ० 1.13.19

5. पिपर्तु नो अदिती राजपुत्राति। ऋ० 2.27.7

अनन्तर पुनरागमन की कामना करते हुए कहा गया है कि ऐसा कौन है जो मुझे पुनः अदिति को सौंप दे, कौन मुझे अपने माता और पिता को प्रदान कराये।[1] आगे चलकर इस अदिति के विषय में लिखा है कि द्यौ पिता और पृथ्वी माता, भ्राता वसु जो हमें प्रसन्न करते हैं, सभी आदित्य अदिति में मग्न रहते हुए हमारे लिए निरन्तर कल्याण को बनाते रहते हैं।[2] अर्थात् निरन्तर हमारे लिए कल्याण ही करते हैं। अकल्याण का कभी भी आश्रय नहीं लेते।

आगे ऋग्वेद में लिखा है कि जितने भी देवता यज्ञभागभुक्, अदिति से उत्पन्न होकर देवता यज्ञ भुक् बने हैं, चाहे वे अपस् देवता या पृथ्वी देवता हों उन सबको नमन या वे हमारे नमस्य हैं और हम उनका आह्वान करते हैं।[3] अदिति माता मधुमत् पयः रूप पीयूष द्यौ रूप में दुहती रहती है। जहाँ-जहाँ उसे अद्रि, वर्हा या कूटस्थ का कारण कहते हैं, वहाँ इन सब देवताओं के उक्थबीज स्वप्रभव सम रहते हैं। ये सब कल्याणकारी बने।[4] वह तत्त्व केवल अदिति ही है जिससे व्यापक सम्राज तत्त्व (वरुण) और यज्ञ सत्ता में आये जिन्होंने दिवि या त्रिपादामृत का क्षय या विकास किया, जिनमें आदित्य निवास करने लगे वह अदिति कल्याण करें।[5] यह अदिति सुकल्याण कारिणी, सुप्रणीतिनी और दुःखों से बचाने वाली दैवी नौका जिसकी पतवारें नौका में ही है जो अनिष्ट हीन है और कभी भी छिद्रित होकर पानी से भरने वाली नहीं है, हम अपने कल्याण के लिए अदिति की उस नौका में आरूढ़ होवें।[6] वेद में यहाँ पर अदिति के विविध तकनीकी रूपों को दर्शाया है। यहाँ पर प्रकृति, गौ और ईश्वर आदि अनेक रूपों में अदिति का वर्णन उपलब्ध है।

---

1. कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
   को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयंमातरं च।। ऋ० वे० 1.24.1
2. द्योष्पितः पृथिवी मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
   विश्वं आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त।। ऋ० वे० 6.51.5
3. विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा यज्ञियानि वः।
   ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्।। ऋ० 10.63.2
4. येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्योरदितिरद्रिबर्हाः।
   उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ता ॐ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये।। ऋ० वे० 10.63.5
5. सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिहवृता दधिरेदिविक्षयम्।
   ताँ आ विवा स नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदिति स्वस्तये ।। ऋ० 10.63.6
6. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
   दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमास्वस्तये।। ऋ० 10.63.10

अदिति तो सर्वदेवता और विश्व देवता है। अतः इसकी प्रार्थना सर्वत्र विश्व देवता सूक्तों में ही मिलती है। अदिति को दक्ष की माता भी कहा जाता है और यह अदिति उस दक्ष से परे है अर्थात् अपने अखण्ड रूप से विद्यमान है[1] और यह अदिति का पुत्र है, अर्थात् दक्ष की उत्पत्ति अदिति से ही हुई है इसके विषय में अन्यत्र भी ऐसा ही वर्णन उपलब्ध होता है।[2] इसका अप्रत्यक्ष समर्थन निम्न ऋचा करती है जिसमें लिखा है कि हे –अदिते ! दक्ष के जन्म कर्म में सप्त-होता, अङ्गिरस, विरूप सप्त ऋषियों से उत्पन्न होने के लिए पुरूरथ, धैर्यगामी अर्थ या मित्र वरुणों दो राजाओं की परिचर्चा करने लग जाता है।[3] एक स्थान पर अग्नि से कहा गया है कि जब तुम किसी को भौतिकात्मा सोमात्मा प्रदान करते हो तब तुम अदिति की कर्मभूमि को निरपराध और अनिष्ट हीन बनाने में समर्थ होते हो, तब तुम किसी को कल्याणकारी शक्ति देते हो। तब वह अदिति की प्रजा वाला बन जाता है।

अतः हम सेवा में तुम्हारे बने रहें।[4] कहीं-कहीं अदिति के दो प्रकारों का वर्णन है। एक दिन पूर्वार्द्ध की, दूसरी रात्रि उत्तरार्द्ध की। वहाँ इन दो प्रकारों अदिति का वर्णन है। वहाँ पर यह भी प्रार्थना है कि ये दोनों सदा हमारी रक्षा करें।[5]

दिति–

अदिति पूर्ण वैदिक दर्शन है, पर वैदिक दर्शन के दो मुख्य भाग हैं। उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध। यद्यपि पूर्वार्द्ध– उत्तरार्ध दोनों ही अदिति या अदीना, अखण्डा, व्यापिका है तथापि उत्तरार्द्ध का विशिष्ट नाम असुर शत्रु, भ्रातृव्य, दैत्य आदि भी हैं क्योंकि यह भौतिक है, सीमित है, आसुरी सम्पदा विभिन्नता स्वार्थता अहंकार आदि से भरी है। अतः इसे दिति या खण्डित (सीमित) आदि नामों से पुकारा जाता है। असुर और दैत्य भी भौतिक भावना भरे तत्व कहलाते हैं येही

---

1. अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदिति परि।। ऋ० 10.70.4
2. असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।। ऋ० 10.5.7
3. दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
   अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु।। ऋ० वे० 10.64.5
4. यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
   यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम।। ऋ० वे० 1.94.15
5. अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः
   अदितिः पात्वंहसः सदावृधा।। ऋ० 8.18.6

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के ब्रह्म प्राप्ति में बाधक होते हैं और ये ही देह बन्धन करने वाले तत्त्व हैं। अतः इन्हें शत्रु और भ्रातृव्य भी कहा जाता है और दिति का नाम ऋग्वेद में केवल तीन बार आता है। उन्हीं उद्धरणों से दिति के स्थान का निर्धारण बड़ी सुगमता और संशय हीनता के साथ किया भी जा सकता है। उन उद्धरणों में प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि वह गर्त उषा के उद्भव काल में, अयः स्थूण (लोहे के स्तम्भ-यूप) (भौतिक) होने पर भी हिरण्य रूप प्रतीत होता है। वह सूर्य का उदय कारक होता है। सूर्य इसी गर्तरूप तत्त्व या रेखा में उषा के बाद विदित या विकसित होता है। उसी गर्त रूप तत्त्व या रेखा में वरुण और मित्र से आरूढ़ होने की प्रार्थना की गई।[1]

द्वितीय मन्त्र में कहा गया है कि स्व सन्तानों की समृद्धि और ब्रह्म प्राप्ति के लिए हे देव ! दिति को भगा दो और अदिति को स्वीकार करो।[2] तृतीय मन्त्र दिति के दान कर्म की महिमा गाता है, कहता है कि हे अग्ने ! तुम सविता देवता और भगः सर्वशक्तिमान् यशोरूप बीज को देते हो, पर दिति उस बीज को पनपाने के लिए जन्म सिञ्चन (वार्यम्) का कार्य कर देती है जिससे वह अखिल ब्रह्माण्ड और आवृत्त या व्याप्त कर लेती है।[3]

बहुदेवतावाद तथा एकेश्वरवाद–

वेदों में भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों से देवों का स्मरण किया गया है। यह उपासना उन्हें एक सम्पूर्ण देव मानकर चलती है। कहीं अग्नि को पूर्णदेव मानकर स्तुति की जा रही है तो कहीं इन्द्र को ही सर्वोत्तम मानकर उससे अपनी रक्षा आदि की कामना की जा रही है। कहीं रुद्र का ईश्वरत्व प्रकट हो रहा है तो कहीं वरुण और मित्र का। कहीं सूर्य के गीत गाये जा रहे हैं तो कहीं पूषन् के। कहीं सविता को अखिल विश्व का स्वामी बताया जा रहा है तो कहीं भग को और कहीं विष्णु को ही इन समस्त तीनों लोकों का आराध्य मानकर उपासना की गई है। इस प्रकार वेदों में बहुत से देवों की स्पष्ट सत्ता प्रस्थापित की हुई मिलती है। ये देवता द्युलोक के आवासी भी हैं

---

1. हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य।
   आरोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च।। ऋ० वे० 5.62.8
2. चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान्पृष्ठेववीता वृजिना च मर्तान्।
   राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य।। ऋ० 4.2.11
3. त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भगः।
   दितिश्च दाति वार्यम्।। ऋ० 7.15.12

और अन्तरिक्ष के भी। ये प्राकृतिक शक्तियां भी कही जाती हैं और भाव सम्बन्धित आकारधारी भी। इन सबको अपने-अपने सन्दर्भों में विशिष्ट-विशिष्ट शक्तियों से युक्त माना गया है। अमरत्व और अपरिवर्तनशीलता इनके गुण हैं। यद्यपि वे असीम, अनन्त या सर्वव्यापक नहीं हैं तथापि उन्हें विपुल शक्तिसम्पन्न माना गया है। संसार का कल्याण-अकल्याण इन्हीं की कृपा पर आधारित माना गया है। इसलिए मानवमात्र से उनको प्रसन्न करके जगत् कल्याण हेतु कामना करने का उपदेश दिया गया है। प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों का अधिनायक इन्हीं देवताओं को माना गया है। उनका पृथक्-पृथक् अपना निर्धारित क्षेत्र बतलाया गया है।

यही बहुदेवतावाद का विचार शनैः शनैः प्रगति की ओर अग्रसर होता है और सभी शक्तियों, सभी देवताओं के ऊपर एक अमोघ शक्ति का उद्घोषण वेदों में (ही) होता है। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" कहकर उसको ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वृहस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषन्, सविता और भग देवता बताया है।[1] पूर्वोक्त समग्र बहुदेवतावाद की प्रतिच्छाया एकेश्वरवाद के पूर्णलोक में सिमट जाती है। सभी शक्तियाँ, सभी व्यक्तित्व या तो उसी के द्वारा आयोजित बताये जाते हैं अथवा उसी को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जाता है। कहीं उसे विराट् की संज्ञा दी जाती है, कहीं उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सब नामधारी देवताओं का उसी को नामधा कहा गया है।[2] इतना ही नहीं उसे समस्त जगत् रूप भी कहा गया है। महर्षि यास्क भी कहते हैं कि– "माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूतये।"[3]

ऋग्वेद में स्पष्ट वर्णन आया है कि जिस परमात्मा ने पृथ्वी आदि लोक

---

1. (क) त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णु रुरुगायो नमस्यः।
   त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या।। ऋ० 2.1.3
   (ख) त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
   त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः।। ऋ० 2.1.4
   (ग) त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
   त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्तेऽविधत्।। ऋ० 2.1.7
   (घ) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। ऋ० 1.164.46
2. यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
   यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।। ऋ० 10.82.3
3. निरुक्त, दैवतकाण्ड।। 1.4.

लोकान्तरों को परिणामपूर्वक बनाया है, इस पृथ्वी आदि से ऊपर नक्षत्र चन्द्र ताराकादि के सहस्थान द्युलोक का भी स्तम्भन वही कर रहा है। वह परमात्मा अपने सामर्थ्य से नियम में रहता हुआ स्तवन के योग्य है। महान् सामर्थ्यों को प्राप्त होकर मैं भी सर्वत्र स्तवन करूँ।[1] इस उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल प्रकृति में उस परमेश्वर ने पृथ्वी आदि लोक-लोकान्तरों का निर्माण किया और तीसरी वस्तु जीवात्मा है जो उस परमात्मा की प्रार्थना उपासना इत्यादि करता है।

महान् सुख का भण्डार परमेश्वर चराचर जगत् का उत्पादक और व्यवस्था में रखने वाला है। वही परमात्मा धारक तथा लय करने वाला है। वह सबको उत्पन्न करके सबको शुभ कर्मों की प्रेरणा प्रदान करता है।[2] इस मन्त्र से स्पष्ट रूप से त्रैतवाद सिद्ध होता है। जिस परमेश्वर ने सभी पदार्थों का निर्माण किया है, उस परमेश्वर को जो जानता है और जो योगाभ्यास आदि द्वारा उसको जानने का प्रयास करता है उसका ही ज्ञान यथार्थ है। जो उस ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता उसका वेद भी क्या करेगा। जो मनुष्य उस वेद ज्ञान द्वारा अपने अन्तिम उद्देश्य प्रभु को प्राप्त कर लेंगे वही उस परमात्मा में मग्न हो सकते हैं। परमानन्द को प्राप्त करने के लिए परमात्मा का ज्ञान आवश्यक है।[3]

इस मन्त्र में उपादेय परमेश्वर है तथा हेय सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि रूप जगत् है जो कि अपने मूलभूत अनादि प्रकृति का विकार रूप है। तीसरा जीव है जो परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वेद ज्ञान के आधार पर इस हेय जगत् का साधन रूप में त्यागपूर्वक सेवन कर उपादेय प्रभु को पाने का प्रयास करता है। इस प्रकार त्रैत की सिद्धि हो जाती है।

दो सहवासी सखा जीवात्मा और परमात्मा अपने समान अनादि प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादु फलों का उपभोग करता है, दूसरा जो कि सच्चिदानन्द स्वरूप है उस वृक्ष के फलों का उपभोग नहीं करता, अपितु अपने दूसरे सखा को उपभोग करते हुए देखता है और उसका

---

1. वृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरूभयस्य योवशी।
   स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमहसः।। ऋ० 4.53.6
2. विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
   यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।। ऋ० 1.154.1
3. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
   यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति च इत्तद्विदुस्त इमे समासते।। ऋ० 1.164.39

साक्षी मात्र है अर्थात् फलों का उपभोग नहीं करता वह कभी भी किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं आता।[1]

इस मन्त्र में दो सखा और एक वृक्ष बतलाकर स्पष्ट रूप से त्रैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। अलंकार रूप से यह समझाया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा दो मित्र हैं। प्रकृति एक वृक्ष के समान है। जीवात्मा संसार में आकर नानाविध कर्मों को करता है और नाना प्रकार के सुख दुःख रूपी फलों का उपभोग करता है। परमात्मा इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर निवास करता हुआ भी किसी प्रकार का कर्म नहीं करता। वह केवल द्रष्टामात्र है।

प्रकृति के विकारभूत सृष्टि रूपी वृक्ष पर अनेक जीव बैठे हैं। वहीं पर अपनी सन्तानोत्पत्ति करते हुए उसी वृक्ष के फलों का उपभोग करते हुए उन्हीं की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं अर्थात् विविध प्रकार के भोगों को भोगते हुए यही कहते हैं कि अमुक पदार्थ बड़ा स्वादिष्ट है। अमुक उससे भी अधिक स्वादिष्ट है, आदि-आदि।[2]

इस प्रकार जो भोगों की प्रशंसा करके धीरे-धीरे उनमें मग्न हो जाते हैं वे काम-क्रोध-लोभ आदि की दुष्प्रवृत्तियों में फंस जाया करते हैं। जब तक उस परमानन्द स्वरूप परमपिता परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते तब तक सांसारिक दुःखों में फंसे रहते हैं। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए निश्चल बुद्धि से उसकी आराधना करनी होगी।

यहां भी स्पष्ट रूप से त्रैत की सिद्धि हो जाती है। जिस परमेश्वर ने इस चित्र-विचित्र नानाविध सृष्टि का सृजन किया है उस करुणानिधि स्रष्टा को तुम नहीं जानते वह तुम्हारे अन्दर व्याप्त हो रहा है। तब भी उस परमात्मा को क्यों नहीं जानते?[3] यहां भी त्रैतवाद को सिद्धि स्पष्ट है। एक संसार दूसरा परमेश्वर तीसरा जीवात्मा जो कि संसार के भोगों में फंसकर उस परमात्मा को नहीं जानता। अनन्त धनों के भण्डार प्रभु तुम जैसा अन्य कोई द्यौलोक में और न ही कोई पृथ्वी लोक में उत्पन्न हुआ और न होगा।[4] हे परमैश्वर्यों के

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।। ऋ० 1.164.20
2. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
   तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद।। ऋ० 1.164.22
3. न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।। ऋ० 10.82.7
4. न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
   अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे।। ऋ० 7.32.23

केन्द्र, इन्द्र हम अश्वादि यातायात के साधनों को भली प्रकार प्राप्त करें।

जिस महान् सामर्थ्य वाले परमात्मा ने तीनों लोकों तथा प्रकाशमान सर्वहित सम्पादक सूर्यादि पदार्थों को रचा है, जिसने इस विशाल भूमण्डल को दृढ़ किया है और इसके द्वारा होने वाले सुख को भी धारण किया है उसी की अनुकम्पा से हमें विविध सुखों का अनुभव होता है। वही सकल दुख रहित मोक्ष के आनन्द को भी धारण किए हुए है। यदि हमें सर्वोत्कृष्ट आनन्द की कहीं प्राप्ति हो सकती है तो उसी विधाता परमेश्वर से।

ऋग्वेद में आत्म तत्व–

कुछ आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वेद में आत्मा चेतन तत्व के विषय में वर्णन नहीं आया है। परन्तु जो विद्वान् ऐसा मानते हैं उनकी इस मान्यता के पीछे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ऋग्वेद पढ़ा ही नहीं है। सर्वप्रथम यहां पर ऋग्वेद में उन मूल मन्त्रों के अंशों को प्रस्तुत किया जा रहा है जिनमें जीव, जीवात्मा एवं आत्मशब्द आया है–

1. स यो वृषा नरांन रोदस्योः श्रवोभिरस्ति जीवपीत सर्गः। प्रयः सस्राणः शिश्रीत योनौ।। ऋ०1.149.2
2. भूम्या असुरसृगात्माक्वस्वित्को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्। ऋ०1.164.4
3. अनच्छये तुर गातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य या पस्त्यानाम्। ऋ०1.164.30
4. जीवोमृतस्य चरति। ऋ०1.164.30
5. आत्मादेवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरतिदेवएषः। ऋ०10.168.4
6. पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसायपद्वतेरुद्रमृळ। ऋ०10.169.1
7. स नो जीवातवे कृधि। ऋ०10.186.2
8. ततो नो देहि जीवसे। ऋ०10.196.3
9. दिदृक्षेण्यः परिकाष्ठासु जेन्य ईळेन्यो महा अर्भाय जीवसे। ऋ०1.146.4
10. अविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। ऋ०10.107.1
11. जीवंरुदन्ति विमयन्तेऽध्वरे। ऋ०10.40.10

ऋग्वेद में पुनर्जन्म–

आधुनिक कुछ आचार्य ऋग्वेद के विषय में यह मानते हैं कि पुनर्जन्म का प्रत्यय वेदों के पश्चात् उपनिषद्, दर्शन साहित्य और अन्य स्मृति आदि साहित्य में विकसित हुआ है जबकि यह मान्यता सही नहीं है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर जीवात्मा यह प्रार्थना करता है कि हे परमात्मा मुझे माता-पिता की अगले जन्म में प्राप्ति कराना। जैसा कि ऋग्वेद के 10 वें मण्डल के 57

(सत्तावनवें) सूक्त में जीवात्मा यह प्रार्थना करता है कि मुझे पुनः माता-पिता एवं आचार्यों आदि के दर्शन प्राप्त हों। नरों के द्वारा प्रशस्य जगत् के ज्ञान से तथा माता-पिता आदि के माननीय विचारों से मन को युक्त करें।[1] हम मनुष्यों द्वारा प्रशस्य जगत्सम्बन्धी ज्ञान और माता-पिता आदि के मननीय विचारों से मन को युक्त करें।

आगे वेद में कहा हे मनुष्य ! दक्ष एवं निपुणतापूर्ण कर्म करने के लिए, जीवन के लिए और लम्बे समय तक सूर्य को देखने के लिए तेरा मन फिर आता है।[2] हे मनुष्यों ! मरणानन्तर में निपुणतापूर्ण कर्म के करने के लिए, जीवन के लिए और लम्बे समय तक सूर्य को देखने के लिए तेरा मन फिर से शरीरों में आवे।

हे हमारे पालक माता-पिता आदि लोग ! दैवी शक्ति परमेश्वर हमें फिर मन देवे जिससे हम जीवन वाले समूह अर्थात् इन्द्रिय आदि को प्राप्त करें।[3] हे माता-पिता आदि पालक जन ! दिव्य शक्ति परमेश्वर हमें पुनः मन प्रदान करे जिससे हम जीवित इन्द्रिय समूह आदि को प्राप्त करें।

हे सबके उत्पादक परमेश्वर ! हम तुम्हारे नियम में रहते हुए अपने शरीरों में अथवा आपकी नीतियों में मन को धारण करते हुए पुत्र पौत्र आदि से युक्त हुए जीवन में चलते रहें।[4] हे सर्वोत्पादक परमेश्वर हम आपके नियम में रहें। आपकी नीतियों में अपने मन को लगावें और सन्तान आदि से युक्त होकर जीवन यापन करें।

इसी प्रकार ऋग्वेद में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि हे प्राण सम्बन्धी नीति वाले हम रोगियों में मन को फिर स्थिर और स्वस्थकर जीवन के लिये हमें आयु दें, सूर्य के दर्शन में हमें स्थापित कर, तू घृत, जल प्रकाश अथवा ओषधियों के घृत से हमारे शरीर को बढ़ा।[5] हे प्राणविद्याविद् ! हम रोगियों के मन को फिर से स्वस्थ और स्थिर कीजिए। हमें जीवन के लिए आयु दीजिए।

---

1. मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन। पितृणां च मन्मभिः। ऋ० 10.57.3
2. आ तं एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे
   ज्योक् च सूर्यं दृशे।। ऋ० 10.57.4
3. पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि।। ऋ० 10.57.5
4. वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि। ऋ० 10.57.6
5. असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
   रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व।। ऋ० 10.59.5

हम सदा सूर्य को देखें– ऐसी अवस्था में हमें लाइये। हमारे शरीर को घृत आदि से बढ़ाइये।

हे प्राण विद्या विद् ! हमारे शरीर में फिर दृष्टि को धारण करा, हमें भोगों को भोगने की शक्ति दो, लम्बे समय तक उदय को प्राप्त होते हुए सूर्य को देखें, हे अनुमति देने वाले ! हमें सुख से सुखी कर।[1] हे प्राण विद्याविद् हमारे इस शरीर में आप पुनः दृष्टि और प्राणशक्ति को धारण कराइये। हमें भोगों के भोगने की शक्ति दे। हम चिरकाल तक उदय को प्राप्त होते हुए सूर्य को देखें। हे उत्तम मति वाले हमें सुख से सुखीकर। मरने के पश्चात् जन्मान्तर में देवी भूमि हमें फिर प्राण शक्ति देती है, द्युलोक फिर प्राणशक्ति देता है अन्तरिक्ष भी परमेश्वर हमें शरीर फिर देता है, सबका पोषक वायु हमें पुष्टि दे, जो वाग् हमें वाणी प्रदान करती है।[2] मरणानन्तर में पुनः जन्म धारण करते समय भूमि, द्युलोक और अन्तरिक्ष प्राण शक्ति देते हैं, वायु पोषण देता है और वाक्शक्ति वाक् देती है और भगवान् इन सबसे युक्त शरीर को देता है।

ऋग्वेद के अनुसार ही निरुक्त में जीवात्मा के द्वारा एक प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर मैंने अनेक जन्मों में अनेक जन्म धारण करके उन जन्मों के आहारों का भोग किया है। उस-उस जन्म की माताओं के स्तनों का पान किया है प्रत्येक जन्म में मैं अज्ञानवश एक ही भूल करता रहा हूँ कि मुझे तेरा साक्षात् करना चाहिए था। वह मैंने नहीं किया। इस समय मैं अपनी माता के गर्भ में आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि आप मुझे माता के गर्भ से ठीक प्रकार मेरा स्वस्थ रूप में संसार में मेरा जन्म हो जाए तो मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सांख्य और योग में जो तेरी भक्ति का मार्ग बतलाया गया है, वह तेरी भक्ति में अवश्य करूँगा।

ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त–

पुरुष सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का नब्बेवाँ (90) सूक्त है। इस सूक्त के ऋषि "नारायण" देवता पुरुष और छन्द अनुष्टुप् तथा त्रिष्टुप् है। इस सूक्त की मन्त्र संख्या कुल सोलह है। यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय में भी ये

---

1. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
   ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति।। ऋ० 10.59.6
2. पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्योर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
   पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां ३ या स्वस्तिः।। ऋ० 10.58.7

मन्त्र उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद के छठे सूक्त में भी ये सोलह मन्त्र प्राप्त होते हैं। पुरुष सूक्त एक सुप्रसिद्ध सूक्त है। इसकी महत्ता का वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है।[1] यह सूक्त स्तवनात्मक न होकर वर्णनात्मक है तथा इसमें तथ्यों का भी स्पष्ट निरूपण किया गया है। विद्वज्जन इस सूक्त को कुञ्जी नाम से सम्बोधित करते हैं। क्योंकि वेद को समझने के लिए इस सूक्त का समझना अत्यावश्यक है। इस सूक्त में जहाँ मानव व्यवहार की व्याख्या की गई है वहीं दार्शनिक तत्त्वों का भी आख्यान है। अतः इसको 'दार्शनिक' सूक्त भी कह दिया जाता है। इस सूक्त में जगत् के मूल कारण पुरुष और उससे सृष्टि जैसे गम्भीर विषयों पर भी हमें चिन्तन प्राप्त होता है।[2]

देवता किसी भी सूक्त का प्रतिपाद्य विषय होता है। इस सूक्त का देवता "पुरुष" है अतः यही इसका प्रतिपाद्य विषय है। यह पुरुष अनन्त और महिमाशाली है। आचार्य सायण ने इसको विकारी प्रकृति से भिन्न चेतन तत्त्व कहा है।[3] सूक्त में स्वयं पुरुष की बहुविध कल्पना का संकेत है।[4] कठोपनिषद् में भी पुरुष की अवधारगा सूक्ष्म की पराकाष्ठा के रूप में है जो परागति है।[5] निःसन्देह पुरुष अद्वितीय ब्रह्म का द्योतक तो है ही परन्तु मनुष्य के लिए भी प्रयोग होता है।[6] निरुक्तकार यास्क ने 'पुरुष' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार से की है– (क) पुरिषादः = पूः + ✓सद् से सिद्ध किया है जिसका अर्थ विशरण, गति और अवसाद है स्कन्द स्वामी ने गति अर्थ ग्रहण कर उसको भोक्ता और शरीरधारी कहा है अर्थात् जो भोक्त बनकर शरीर को धारण करता है[7] और वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने 'पुः' का अर्थ शरीर अथवा बुद्धि किया है उससे जो विषयोपलब्धि के लिए रहता है वह पुरुष है।[8]

---

1. इदं पुरुष सूक्तं हि सर्व वेदेषु पार्थिव।
   ऋतं च सत्यं च विख्यातम् ऋषि सिंहेन चिन्तिम्।। –म०भा०शा०प० 338-5. (पू०सं)
   (ख) वेदेषु पौरुष सूक्त..............धर्म शास्त्रेषु मानवन्। पद्म पुराण
2. पुरुषेवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
   उतामृतत्त्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति।। ऋ० 10.90.2
3. अव्यक्तमहदादि विलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः...........श्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता।। ऋ० 10.90.1
4. यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। ऋ० 10.90.11
5. सा काष्ठा सा परागतिः।। क०उ० 1.3.11
6. आरे ते गोध्नमुत पूरुषध्वनम्...............। ऋ० 1.114.10
7. पुरं शरीर भोक्तृत्वेन गच्छतीति। निरुक्त स्क० भा० 2.3
8. पूः शरीरं बुद्धिर्वा तयोरसौ विषयोपलब्ध्यर्थ सीदतीति पुरिषादः इति पुरुषः। निरु०दु०टी०

स्वामी दयानन्द ने पुरुष का निर्वचन जो संसार रूपी पुर में व्याप्त होकर ठहरा हुआ है वह पुरुष है।[1] यहाँ स्वामीजी पुरुष का अर्थ ईश्वर ग्रहण करते हैं।

यास्क ने पुरुष का दूसरा निर्वचन पुरि शयनात् पुरुषः किया है। अर्थात् पुर में शयन करने के कारण पुरुष "पुरुष" कहलाता है।

तृतीय निर्वचन यास्क ने 'पूरयतेर्वा'[2] किया है। जिसका अर्थ है कि वह अन्दर से सारे जगत् को पूर्ण कर रहा है– अन्तर्यामी होकर सर्वत्र व्याप्त है वह पुरुष है। जैसा कि इस सूक्त की प्रथम ऋचा कहती है कि वह पुरुष सहस्राक्ष, सहस्रपादों वाला है और इस भूमि को सर्वतः स्पर्श करके इसे सकल ब्रह्माण्ड में ठहरा हुआ है।[3] स्वामी दयानन्द ने इसी को सर्वत्र पूर्ण जगदीश्वर कहा है। सहस्र शब्द यहाँ "अनन्त" अर्थ को प्रकट करता है। भूमि शब्द प्रकृति अर्थ को प्रकट करता है।[4] आगे की ऋचा भी इस अर्थ को प्रकट करती है –पुरुष ही यह सब है वही भूत, वर्तमान और भविष्य रूप जगत् है, वही अमृतत्त्व है।[5]

विश्वरूप पुरुष विश्व की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा है। ये सम्पूर्ण भूत उसके एक पाद में हैं और उसके तीन पाद अमृतरूप द्युलोक में स्थित हैं।[6] जिस ब्रह्म को सर्वत्र पूर्ण कहा गया हो फिर उसके पैर की कल्पना क्यों ? उस विशाल ब्रह्म के विभाग कैसे ? उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह विश्व उसके किसी एक हिस्से में ही स्थित है। अतः यहाँ पाद शब्द ब्रह्म के किसी देश विशेष के लिए आया है न कि ब्रह्म का परिमाण बताने के अर्थ में। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इसका यही अर्थ किया है कि जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, सो इस पुरुष के एक देश में बसता है।[7] तीन अंशों

---

1. पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति पुरुषः।। ऋ०भा०भ्० सृष्टि उत्पत्तिविषय
2. पुरुषः पुरिषाद्, पुरिशयः, पूरयतेर्वा।। नि० 2.3.1.
3. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
   स भूमि ँ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ् गुलम्।। ऋ० 10.90.1
4. भूतानामुपलक्षम्। भूमिमारभ्य प्रकृति प्रर्यन्तं सर्व जगत्। स्वा०द०ऋ०भा०भ्० (सृष्टि विद्याविषय)
5. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। ऋ० 10.90.2
6. एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः।
   पादोस्य विश्व भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। ऋ० 10.90.3
7. विश्वानि प्रकृत्यादि पृथिवी पर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः।
   पादोऽस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते।। स्वा०द०ऋ०भा०भू० (सृष्टि विद्याविषय)

से युक्त पुरुष जो संसार से परे है उर्ध्ववती है, भिन्न है और बाहर है, उसका एक अंश ही यहाँ सृष्टि के जन्मस्थिति भङ्ग के लिए स्थित है तथा जिस पुरुष के सामर्थ्य से यह चेतन और अचेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है।[1] इन मन्त्रों में विश्वव्यापकत्व, विश्वरूपत्व और अमृतत्व पुरुष का व्याख्यान है।

यह पुरुष सर्वात्मा है, अखिल ब्रह्माण्ड में विराजित हो रहा है। इसी पुरुष से जो विराट् स्वरूप है एक और विराट् उत्पन्न हुआ। विराट् शब्द उस ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि उसी में विविध पदार्थ प्रकाशित होते हैं या विविध पदार्थों में वही प्रकाशित हो रहा है। ऋचा में 'तस्मात् विराडजायत'[2] कहा है, जिसका अर्थ है उससे विराट् उत्पन्न हुआ। अब प्रश्न है कि एक विराट् से दूसरे विराट् की उत्पत्ति कैसे ? यहाँ विराट् शब्द यौगिक अर्थ के साथ प्रयुक्त हुआ है जिसके अन्य भी कई अर्थ प्रकट होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने "सृष्टि विद्या विषयः" में इस प्रकार वर्णन किया है– विराट् जिसका ब्रह्माण्ड अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूल प्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी है, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है, सो विराट् कहलाता है।[3] यहाँ स्वामी जी विराट् का अर्थ आकाश करते हैं अर्थात् उस पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। उपनिषदों में भी इसी भाव को साक्षात् कृतधर्मा ऋषियों ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि वह एक है और सर्वभूतों के अन्दर स्थित है।[4] वह इन सभी से बाहर भी व्यापक है[5] यह उत्पन्न होकर भूमि से आगे और पीछे से उससे भी अधिक बढ़ जाता है।[6] इस उत्पन्न पुरुष को सामान्य हवि मानकर सृष्टि उत्पन्न देव विद्वानों ने इसके पदार्थों का ग्रहण करके इस यज्ञ का विस्तार अनुष्ठान

---

1. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
   ततो विष्वङ् व्यक्रामत साशानानशने अभि।। ऋ० 10.90.4
2. तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
   स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।। ऋ० 10.90.5
3. (ततो विराडजायत) ततस्तमाद् ब्रह्माण्ड शरीरः..........विविधैः पदार्थैः राजमानः सन् विराडजायतोत्पन्नोऽस्ति।। स्वा०द०ऋ०भा०भू० 10.9.5
4. एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च। कठो० 2.2.10
5. तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। ईश० 5
6. स जातो अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिमथोपुरः।। ऋ० 10.90.5

करते हैं और इस जगत् सृष्टि रूप कर्तृत्व अर्थात् रचना, पालन और प्रलय करना यज्ञ है और इस ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ में बसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैसाख घृत के समान हैं, ज्येष्ठ और आषाढ़ ईन्धन हैं, श्रावण और भाद्रपद इस यज्ञ की आहुति हैं।[1] विराट् से उत्पन्न उस साधन भूत पुरुष को हृदयान्तरिक्ष में प्रकृष्टता से अभिसिक्त कर भक्ति उसकी पूजा की या उन देवताओं ने जल छिड़कर उसको पवित्र किया और उस विराट् के पूजन से देव, साध्य और ऋषि प्रादुर्भूत हुए।[2] चूंकि यह यज्ञ सर्वहुत् था अतः उस विराट् से ज्ञान की किरणों का प्रस्फुटित होना स्वाभाविक था जिससे साध्या और ऋषि हुए थे तो उसी सर्वहुत् यज्ञ से ऋग्वेद, सामवेद उत्पन्न हुए हैं उसी से अथर्व और यजुः उत्पन्न हुये हैं।[3] और फिर यही सर्वहुत् अनन्तर सृष्टि के रूप में परिवर्तित होने लगा इस यज्ञ के परिणाम स्वरूप विविध वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु उत्पन्न हुए।[4] और उसी के सामर्थ्य से अश्व और जो भी उभय दांतों वाले पशु हैं वे और गौ अर्थात् गाय पृथ्वी, किरण और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। उससे अज और वय उत्पन्न हुए।[5] वह पुरुष जो इस यज्ञ का कारण है उसमें चित्र-विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। इसी आधार पर इस सूक्त में उसके मुख आदि जो प्रथम मन्त्र में 'सहस्र शीर्षा' कहकर कथन किया है, के विषय में जिज्ञासा की है इसका मुख अर्थात् इसके मुख्य गुणों से क्या उत्पन्न हुआ है? इसकी बाहु क्या है अर्थात् इसके बल वीर्य भुजा आदि गुणों से क्या उत्पन्न हुआ? ऊरू क्या है? अर्थात् व्यापार आदि मध्य गुणों से किसकी उत्पत्ति हुई ? और पैर क्या है अर्थात् इसके निम्न भाग से क्या उत्पन्न हुआ।[6] इस प्रकार की जिज्ञासा

---

1. यत्पुरूषे हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
   वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।। ऋ० 10.90.6
2. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
   तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।। ऋ० 10.90.7
3. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
   पशुँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।। ऋ० 10.90.8
4. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचःसामानि जज्ञिरे।
   छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्य जुस्तस्मादजायत।। ऋ० 10.90.9
5. तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
   गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।। ऋ० 10.90.10
6. यत्पुरुषं व्यादधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
   मुखं किमस्य कौ बाहू का उरू पादा उच्येते।। ऋ० 10.90.11

के विषय में स्वयं ऋचा कहती है कि उस पुरुष के सत्यभाषणादि उत्तम गुणों से अर्थात् मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। इसके बाहु से अर्थात् बलवीर्यादि से क्षत्रिय उत्पन्न हुआ। इसकी ऊरू से अर्थात् मध्य व्यापारादि गुणों से वैश्य उत्पन्न हुआ और उसके निम्न भाग अर्थात् पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[1] उसी के विविध अवयवों से मनन अर्थात् ज्ञान स्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ है। इसी से श्रोत, वायु, प्राण और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है।[2] और अन्तरिक्ष आदि लोक भी उसी सृष्टि यज्ञ से प्रादुर्भूत हुए।[3] उसी विराट् पुरुष से जितने ब्रह्माण्ड हैं उनके सात-सात परिधियाँ, इक्कीस प्रकार की समिधा (सामग्री) उत्पन्न हुई हैं और देव लोग इस यज्ञ का विस्तार करते हुए इस यज्ञीय पुरुष को ग्रहण करते हैं।[4] इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र भी इसी प्रकार का उपदेश देता है कि जो धर्म प्रथम वर्तमान थे उनसे देवों ने इस यज्ञ से उस विराट् यज्ञ को करते हुए अर्थात् शुभगुणों से विशाल गुणों से युक्त यज्ञस्वरूप ईश्वर को ग्रहण कर स्वर्ग का आनन्द प्राप्त करते हैं जहाँ पर पूर्व से इस यज्ञ के सिद्ध किये हुए देव विराजमान हैं।[5]

इस प्रकार यह सूक्त उस एक ईश्वर का निरूपण कर उससे उत्पन्न सृष्टि का विवेचन करता है और अन्तिम मन्त्र में मनुष्यों का परमप्रयोजन मोक्ष (स्वर्ग) का भी निर्देश देते हुए उस ईश्वर के दर्शन करने की अभिप्रेरणा देता है।

इस सूक्त में सृष्टि रचना का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है। वेद में सृष्टि रचना के मूल सूत्रों का वर्णन हमें प्राप्त है। आधुनिक विज्ञान सर्वप्रथम तत्त्व का नाम नेबुला नाम देता है। वेदों में उसका नाम विराड् आता है आगे चलकर विज्ञान अपनी मान्यता बदलता रहा है।

---

1. ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
   ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत।। ऋ० 10.90.12
2. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
   मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।। ऋ० 10.90.13
3. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
   पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्।। ऋ० 10.90.14
4. सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
   देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।। ऋ० 10.90.15
5. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
   ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्रा पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।। ऋ० 10.90.16

इस सूक्त में अद्वैतवादी आचार्य कुछ स्थलों का प्रत्ययवादी अर्थ करते हैं। जैसे कि इस सूक्त में इस सूक्ति का अर्थ (पुरुष एवेदं सर्वम्) "पुरुष ही सब कुछ है।" वस्तुतः किसी भी कार्य का निमित्त कारण, ज्ञान चेतनता तथा उस कार्य का वह विज्ञान जानता है। इस तरह उस निमित्त की मुख्यता को सिद्ध करने के लिये 'सर्व' शब्द का प्रयोग किया गया है कार्य कारणवाद के सिद्धान्त के अनुसार विश्व संरचना की व्याख्या दो ही रूपों में बतलायी जाती है। प्रथमतः विकारवाद तथा द्वितीय रूप में विवर्तवाद। एक प्रकार दोनों का आधार सत् है। एक में वस्तुतः यथार्थ रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। दूसरी अवस्था में उससे जो उत्पत्ति होती है, वह यथार्थ रूप में नहीं होती है। इस सूक्त में उत्पत्ति का क्रम दिखलाते हुए सर्वत्र पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। जहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होता है वहां पर वस्तुयें यथार्थ रूप में निर्मित होती हैं। विवर्त रूप में नहीं। यदि विश्व संरचना की उत्पत्ति विकार से हुई है, तो इसका उपादान कारण प्रकृति को स्वीकार करना होगा।

नासदीय सूक्त–

अनादि काल से यह प्रश्न मन में उठता है कि यह संसार यथार्थ है, अयथार्थ है अथवा स्वप्न है क्या यह केवल माया है। यदि यह यथार्थ है तो इसकी उत्पत्ति एवं संरचना कैसे हुई, इन सब प्रश्नों पर ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। "नासदासीन्नो" से आरम्भ होने के कारण इसे नासदीय कहा जाता है। ऋग्वेद दशम मण्डल के इस एक सौ उन्नतीसवें सूक्त की प्रथम तीन ऋचाओं में प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन है –सर्ग काल से पूर्व, प्रलयावस्था में सब कुछ असत् था, यह बात नहीं है। उस समय सत् भी नहीं था। ये दृश्यमान् लोक-लोकान्तर और जो उनसे परे व्यवहार्य आकाश है वह भी न था। कहीं कोई आवरण करने वाला नहीं था। यह सब कहाँ जिसके भोग के लिए किया जाय? जब उस समय कोई भोक्ता नहीं था। जब लोक-लोकान्तर भोक्ता-भोक्तृ के आवरक तत्व और पृथिव्यादि भूत न थे, तब गहरा गम्भीर समुद्र कैसे हो सकता था?[1]

द्वितीय ऋचा में कहा है कि उस समय कैसी सत्ता थी, उस समय मृत्यु नहीं थी, अमृत नहीं था, रात्रि और दिन का चिह्न कोई न था, केवल स्वधा के

---

1. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
   किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।। ऋ० 10.129.1

साथ एक निर्दोष चेतन सत्ता अवस्थित थी, उससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता है।[1]

तृतीय ऋचा में और अधिक स्फुट करके प्रलयकाल की अवस्था को स्पष्ट किया है, तथा अन्त में प्रलयकाल के अनन्तर होने वाले सर्ग की ओर निर्देश किया है "यह सब दृश्यमान् जगत्, सृष्टि के पूर्वकाल में प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के साथ अविभागापन्न था। वह मूल कारण भी अन्धकार से आवृत्त था। दूसरे शब्दों में जो कारण कार्य को अपने अन्दर छिपाये था। कारण के साथ एकीभूत वह जगत् सर्गकाल में तेजोमय चेतना की महिमा से उत्पन्न हो जाता है।[2]

चतुर्थ ऋचा में प्रथम संकेतित आदि सर्ग का अधिक स्पष्ट वर्णन है –आदि सर्ग काल में जो संकल्प होता है वही जगत् का पहला कारण है। क्रान्तदर्शी ऋषि अपने अन्तःकरण में विचार कर अथवा विचार पूर्वक बुद्धि के द्वारा अव्यक्त में व्यक्त के सम्बन्ध को जान जाते हैं।[3]

पंचम ऋचा में उपर्युक्त बात की ओर भी अधिक प्रकाश डाला गया है– वन का जाल सहसा विस्तृत मध्य में हो जाता है अथवा नीचे अथवा ऊपर प्रेरणा के आधारभूत मूल तत्व होते हैं, और ये महान् लोक-लोकान्तर हो जाते हैं। मूल तत्व रूप प्रकृति अपकृष्ट और नियन्ता उत्कृष्ट है।[4]

इस प्रकार प्रस्तुत सूक्त की पांच ऋचाओं के द्वारा प्रलय और आदि सर्ग के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश किये हैं जिनसे इस रहस्यमय विश्व पहेली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी इसकी रहस्यमयी स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए छठी ऋचा के सभी अर्थ को प्रथम प्रश्न रूप में उपस्थित किया है।

यह विविध सृष्टि कहाँ-कहाँ से उत्पन्न होती है? कौन इसको वास्तविक

---

1. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
   आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।। ऋ० 10.129.2
2. तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
   तुच्छेयनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिम्नाजायतैकम्।। ऋ० 10.129.3
3. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
   सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा।। ऋ० 10.129.4
4. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्।
   रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।। ऋ० 10.129.5

रूप में जानता है और कौन इस विषय में कथन करता है? इस विषय में गम्भीर विचार करने वाले विद्वान् इस सर्ग काल के अनन्तर होते हैं इसलिए यह जहाँ से उत्पन्न होती है इसको कौन जानता है?[1]

प्रस्तुत ऋचा का यह शब्दार्थ है। चतुर्थ ऋचा में कहा गया है कि क्रान्तदर्शी ऋषियों ने इस व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध को समझा। फिर उस अवस्था (प्रलय) में तो उनका ऐसा अस्तित्व ही न था जिससे वे तात्कालिक स्थितियों को साक्षात् जान पाते। इस प्रकार यह विश्व पहेली का रहस्य, रहस्य ही बना रह गया और इसकी आश्चर्य पूर्ण स्थितियों को सम्मुख पाकर सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या कोई इसके वास्तविक रहस्य को समझने वाला है? इस प्रश्न का उत्तर अन्तिम (सप्तम्) ऋचा द्वारा दिया गया है :

यह विविधतापूर्ण सृष्टि जहाँ से उत्पन्न होती है, और जिसके द्वारा धारण की जाती है, और अन्त में जब वह नहीं रहती, अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाती है इस सबका जो अध्यक्ष-नियन्ता सर्वव्यापक परमात्मा है, वह इसकी वास्तविकता को जानता है, और जब यह जगत् नहीं रहता अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है, उसको भी जानता है।[2]

सर्वव्यापक परमात्मा– चेतन इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि अवस्थाओं का अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता है। प्रकृति-अचेतन, इस जगत् का मूल उपादान कारण उस चेतन के द्वारा नियंत्रित होती है। अचेतन तत्व की दो मुख्य अवस्थाएँ हैं –सर्ग और प्रलय। इन दोनों के आरम्भ को यथा क्रम दृश्यमान व्यक्त जगत् का उत्पाद या विनाश भी कहा जा सकता है। प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्द्ध में अचेतन की इन सब अवस्थाओं का उल्लेख है। ऋचा के तृतीय चरण में इन सबका अध्यक्ष, सर्वव्यापक परमात्मा को बताया है, जो सचेतन उक्त सब अवस्थाओं का नियामक है, वह अवश्य उन परिस्थितियों को जान सकता है। वास्तविकता यह है कि जान ही वह सकता है जो उनका नियन्ता है। अन्य किसी में उन अवस्थाओं के जानने की सम्भावना नहीं हो सकती। इसी बात को ऋचा के अन्तिम पदों में स्पष्ट किया है, कि केवल यह नियन्ता जगत् के सर्ग और प्रलय दोनों को जानता है।

---

1. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
   अर्वाग्देवा अस्य बिसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।। ऋ० 10.129.6
2. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
   यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।। ऋ० 10.129.7

नासदीय सूक्त के व्याख्यान से यह स्पष्ट होता है, कि वेद के इस प्रसंग में मूल रूप से दो तत्वों को स्वीकार किया गया है, चेतन और अचेतन। अचेतन का यहाँ 'स्वधा' अथवा 'तमस्' पद से निर्देश किया है, तथा उसको अव्यक्त बताया है, इसी को जगत् का मूल उपादान कहा है। चेतन सत्ता को इसका अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता निर्देश किया है। जहाँ तक जगत् के सर्ग और प्रलय का सम्बन्ध है, इन्हीं दो सत्ताओं की मुख्य स्थिति है। सर्गकाल में जीव चेतन इस जगत् का भोक्ता होता है। यही जगत् का अनादि क्रम है। प्रतीत होता है, महर्षि कपिल ने ऐसे वैदिक वर्णनों के आधार पर ही अपने दर्शन की आधार शिला रखी है।

वेद के व्याख्याकारों ने इस सूक्त के व्याख्यान में प्रायः मूलतत्वों की अज्ञेयता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। उनके विचार से वह मूलतत्व अज्ञेय समझना चाहिए, जिससे इस जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। कुछ व्याख्यानों में उसके स्वरूप को संशयात्मक प्रकट किया है, उनका विचार है कि मूल तत्व के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस जगत् का जो नियन्ता व अध्यक्ष है वह इसके रहस्य को जानता है।

ऋग्वेद में दो प्रकार का धर्म–

प्रथम धर्म की व्याख्या में वेद ने कहा है कि ये धर्म शाश्वत हैं। मन्त्र में कहा है कि धारण करने वाले भागों में जाने के लिए अत्यन्त गतिशील वैश्वानर देवों की सेवा करता है। इसी लिए सनातन धर्म दूषित नहीं हो पाते। वे ज्यों के त्यों निर्मल बने रहते हैं।[1]

प्रथम धर्म ही शाश्वत धर्म का रूप धारण कर लेते हैं। पूर्वकाल में जिन धारक नियमों का प्रचार था, वे आगे चलकर परम्परा का निर्माण करते हैं। उनकी एक श्रृंखला चलकर परम्परा का निर्माण करती है। उनकी एक श्रृंखला चल पड़ती है। प्रथम धर्म के पालक देव थे। परम्परा में श्रृंखला की एक-एक कड़ी बने हुए जो याजक इन धर्मों को आगे बढ़ाते हैं वे मानो उन्हें जीवन्त रूप प्रदान करते हैं। सर्वज्ञ एवं सर्वव्याप्त प्रभु अपनी रचना में इस श्रृंखला को समाप्त नहीं होने देते इसीलिए ये धर्म शाश्वत कहलाते हैं। प्रलय में समग्र रचना ही प्रभु में लीन हो जाती है, यज्ञ का कार्य प्रत्यक्ष से परोक्ष हो जाता है और किसी अन्य सृष्टि में वह प्रत्यक्ष एवं आविर्भूत हो उठता है।

---

1. वैश्वानराय पृथुपाजसे विपोरत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे।
अग्निर्हि देवा अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत्।। ऋ० 3.3.1

प्रलय के पश्चात् यज्ञ का वही रूप पुनः चल पड़ता है। वेद ने अग्नि को सृष्टि रूपी यज्ञ का होता कहा है। वेद के आधार पर महर्षि यास्क ने अग्नि के तीन रूप माने हैं –मित्र, वरुण और अग्नि। मित्र अर्थात् सूर्य द्यौ स्थानीय है। वरुण और विद्युत् अन्तरिक्ष स्थानीय हैं। अग्नि पृथ्वी स्थानीय है। रचना में सूर्य और विद्युत् पार्थिव अग्नि के पूर्वज हैं। प्रत्येक सन्तति अपने पूर्वजों के धर्म का अनुकरण करती है। परम्परा का निर्माण इसी पद्धति पर होता है।

वेद में इस वरणीय अग्नि को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विश्व भर के लिए वरणीय यह अग्नि प्रथम धर्मों के अनुसार प्रज्वलित की गई है और समिधा आदि के द्वारा भलीभांति बह रही है। इसके केश (ज्वालाएं) प्रदीप्त हैं, घी के द्वारा चमकी हुई यह पवित्र करने वाली सुन्दर यज्ञाग्नि देवताओं के यजन के लिए है।[1] मन्त्रगत प्रथम धर्म क्या है? इसे समझाते हुए मन्त्र में कहा है कि देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया। वे प्रथम धर्म थे। ऐसा यज्ञ करके यह देव महिमा से सम्पन्न हुए और उस लोक के निवासी बने जहाँ पूर्व साध्य और देव विद्यमान थे।[2]

इस मन्त्र में प्रथम धर्म को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तुम बलवान् हो, तुम अपने बल से सुन्दर हो, तुम्हारा स्तोम सुन्दर है। तुम सुन्दर देव-लोक को जाओ। तुमने सुन्दर प्रथम धर्म का अनुपालन किया है। तुम सुन्दर देवों को और सत्यों को प्राप्त करो।[3]

इन मन्त्रों में प्रथम धर्म का अर्थ वे सूक्ष्म नियम है जो स्थूल (भौतिक) द्रव्यमय यज्ञ से पहले क्रियाशील थे। सृष्टि की रचना में सूक्ष्म से स्थूल की और आने का नियम है। यज्ञ दोनों ही स्थानों पर है, परन्तु प्रथम धर्म में यज्ञ से यज्ञ होता है, द्वितीय में हवि आदि स्थूल सामग्री द्वारा।[4] दोनों के मूल में सर्वहुत यज्ञ पुरुष है और जो देव सृष्टि रचना में भाग लेते हैं वे उसी का अनुसरण करते हैं। प्रथम धर्म में इस आधार पर भावयज्ञ, रचनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ

---

1. समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा ....अग्निर्यजथायदेवान्।। ऋ० 3.17.1
2. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि....................................साध्याः सन्ति देवा।। ऋ० 10.90.16
3. वाज्यसि वाजिनेवा सुबेनीः, सुवितः स्तोम सुवितो दिवं गाः।
   सुवितो धर्म प्रथमानु सव्या सुबितो देवानत्सुवितोऽनुपत्म।। ऋ० 10.16.3
4. यस्त्वद् होता पूर्वो अग्ने यजीयान् द्विता च सता स्वधया च शंभु।
   तस्यानु धर्म प्रयज्ञा चिकित्वोऽअथानोधा अध्वरं देववीतौ।।। ऋ० 3.17.5

की गणना करेंगे। कालयज्ञ की ओर भी पुरुष सूक्त ने संकेत दिया है और उसमें वसंत को घी, ग्रीष्म को ईन्धन तथा शरद् को हवि का रूप दिया है। जब सृष्टि बन जाती है, तो कार्य में संलग्न हो जाते हैं और प्राणियों के शरीर में अपने अंशों द्वारा अवतरित होकर यज्ञ के उसी स्वरूप को संचालित करने लगते हैं।

धर्म के रूप को प्रतिपादन करते हुए कहा है कि हे अग्नि! तुम से पूर्व का जो होता है और जो दो प्रकार की संज्ञाओं में अपनी शक्ति के साथ कल्याणकारी रूप में वर्तमान है, उसी के धर्म का अनुसरण करते हुए तुम यज्ञ करो। तुम विद्वान् हो, दिव्यता के विशिष्ट पथ में हमारे अध्वर को धारण करो।

अग्नि का पूर्वज यज्ञ कर रहा है, यही उसका धर्म है। इस धर्म से वह कभी विचलित नहीं होता पुरुष सूक्त में उसे देवताओं का अग्रज, पुरोहित और इस हेतु अपनो के लिए तपने वाला कहा गया है, उसे ब्राह्मी कान्ति, अर्ध्य अथवा प्रकाश इसी आधार पर प्राप्त होता है। अग्रज यदि इस धर्म का पालन नहीं करेगा, तो अपनी प्रतिष्ठा तथा सत्ता से हाथ धो बैठेगा। सूर्य के धर्म का वर्णन करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि पवित्र और दिव्य गुण सम्पन्न सूर्य के द्वारा द्यावा और पृथ्वी के बीच विश्व को शान्ति देने वाले लोगों को धारण करता हुआ चल रहा है। नीचे लिखे मन्त्र को भी सूर्य पर घटाया जा सकता है। मन्त्र में इन्द्र शब्द आया है, जिसके कई अर्थ हैं– इन्द्र मन है, इन्द्र आत्मा है, इन्द्र सूर्य भी है।[1] गणित में जैसे कई संख्याओं का वाचक है, वैसे ही वेद के इन्द्र आदि कई अर्थों के वाचक हैं।

इन्द्र और सूर्य के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है कि हे इन्द्र ! हे सूर्य ! तुम गतिशील हो, बलवान् हो। हमारे इस यज्ञ में तुम अपनी शक्ति से प्रभु के साथ आकर आनन्द प्राप्त करो। मानव जिन यज्ञों की रचना करता है, वे सूर्य तक पहुँचते हैं। हमारे इन यज्ञों द्वारा सूर्य प्रसन्न होता है और हमको भी प्रसन्न करता है। भगवद्गीता के अनुसार यज्ञ द्वारा हम देवों को भावित करते हैं और बदले में देव हमें भावित करते हैं। सूर्य के व्रत अर्थात् धर्म के अनुसार ही वायु पृथ्वी आदि देवों के व्रत भी चलते हैं। जो मानव इन व्रतों और धर्मों का पालन करते हैं, वे मानव सूर्य की ओर जा रहे हैं। देवताओं के व्रत अपने आप चलते

1. इन्द्र ऋभुमान् वाजवान्मत्स्वेह....................इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे ब्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः।। ऋ० 3.60.6

है। उन्हें कोई निर्देश या प्रेरणा नहीं देता। मनुष्यों के निर्देश की आवश्यकता पड़ती है। पर जो इन निर्देशों के पालन में निष्ठापूर्वक लग जाते हैं, उनके अन्दर दिव्यता का संचार असंदिग्ध रूप से होने लगता है। इस मन्त्र में धर्म शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। वैसे वेद में धर्म शब्द का प्रयोग एकवचन में भी हुआ है।[1]

धर्म शब्द का प्रयोग करते हुए इस मन्त्र में बताया है कि हे अग्नि ! तुम सहस्रजित् हो प्रज्वलित होकर तुम धर्म को पुष्ट करते हो और देवताओं के प्रशंसनीय दूत हो। अग्नि धर्म से समवेत व्यक्ति ही विजयी बनते हैं और अकेले होते हुए भी सहस्रों को पराजित कर देते हैं। जिसके अन्दर आग्नेयता प्रज्वलित है, जो भस्मवत् दीन, पददलित तथा निष्प्रभ नहीं है, वही धर्मों, कर्तव्यों, नियमों, व्रतों आदि का पालन कर सकता है और वही दिव्यता का सन्देश अन्यों तक पहुंचा सकता है।

वर्तमान युग में धर्म की निरपेक्षता को प्रमुखता दी जा रही है। धर्म शब्द इतना व्यापक है कि धर्म के बिना मनुष्य तो क्या, कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता है। एक बार प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन से पूछा गया कि क्या मनुष्य का कोई धर्म हो सकता है? आइन्स्टीन ने उत्तर दिया कि संसार में प्रत्येक वस्तु एवं पदार्थ का धर्म होता है। मनुष्य का धर्म क्यों नहीं होगा? धर्म के बिना कोई भी जाति सभ्य एवं सुसंस्कृत नहीं बन सकती है। मनीषियों ने गुण के अर्थ में भी धर्म का अर्थ किया है। वेदों में इस विषय में धर्म की व्याख्या साम्प्रदायी रूप में नहीं की गई है। धर्म के इस सार्वभौमिक अर्थ की व्याख्या वेदों में विस्तार पूर्वक उपलब्ध है। वेदों में धर्म के अनेक अर्थ उपलब्ध है।

यहां प्रस्तुत प्रसंग में धर्म के अनेक अर्थो को प्रस्तुत किया जा रहा है कि ऋत और धर्म दोनों इस मन्त्र में विद्यमान हैं। वेद में कई स्थानों पर ऋत के बृहत् तन्तु या पथ का वर्णन आया है। तन्तु वितत् होता है फैलता है। समुद्र भी फैलता हुआ है। पथ तो लम्बा होता ही है। ऋत का फैलाव ब्रह्माण्ड है, जिसमें अनेक लोक-लोकान्तरों तथा प्राणियों की गणना की जा सकती है। धर्म क्या है? धर्म वह तत्व है जो इन सबको धारण करता है। धारण करने में

---

1. तरत्समुद्रं पवमान उर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत्।
अर्षन् मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्रहिन्वान ऋतं बृहत्।। ऋ० 9.107.15

प्राण तथा अपान, धन तथा ऋण, विधि तथा निषेध, दो एक के द्वारा धारण शक्ति को सहायक बल मिलता है और दूसरों के द्वारा मार्ग में पड़ने वाले विघ्नों को हटाया जाता है। मित्र शक्ति सहायिका है, धन का प्राण है। वरुण शक्ति विघ्नों का निवारण करने वाली है। एक अन्दर कुछ डालती है, दूसरी अन्दर से कुछ अनावश्यक दूषित अंश को बाहर निकालती है। आधान तथा निष्कासन, दान तथा अपनयन, दोनों विधानों द्वारा धारण शक्ति का सम्पादन किया जाता है। जैसा की मन्त्र में कहा है कि हम मित्र और वरुण के धर्म को बढ़ाते हैं। मित्र शक्ति हमें कुछ देती है और वरुण शक्ति हमारे वारक द्रव्य को बाहर फेंकती है। इन दो क्रियाओं द्वारा हम वर्द्धमान होते हैं, और बृहत् या व्यापक ऋत को, सत्य नियम को प्राप्त कर लेते हैं। पर नियम स्वयं अपने में लक्ष्य नहीं है। वह लक्ष्य तक पहुँचाने का साधन है। मन्त्र कहता है कि– ऋत के बृहत् समुद्र को पार कर जाओ तो नियामक मिल जाएगा। यजुर्वेद में इसलिए लिखा है ऋत के फैले हुए इस तन्तु को चीर कर इसे पार होकर नियामक के सर्वव्याप्त प्रभु के दर्शन करते हैं।

इस मंत्र में कहा गया है कि सोम अर्थात् भक्तिभावना के धनी साधक प्रभु के आयोजन की, ब्रह्माण्ड आदि के निर्माण तथा धारण की प्रक्रिया को जानते हैं। वे शोभन श्री से सम्पन्न होते हैं। प्रभु की आश्रयिणी, सबकी आधारभूता शक्ति उनके ललाट पर प्रदीप्त होती जा पड़ती है। ऐसा क्यों होता है? कारण है उनका ऋत के पथ पर चलना और धर्म भावना में डूबे रहना। दृष्कृति तो ऋत के पथ पर चल ही नहीं सकते। उसके पार हो जाना तो उनके लिए असंभव ही है। पर, भक्त सुकृति होते हैं और चलकर उसे पार कर जाते हैं, धर्म उनका सहायक बनता है।[1]

इस मन्त्र में कहा है कि जैसे सूर्य के चारों ओर विद्यमान होकर मानों उसे अपने गर्भ में धारण किए हुए हैं, उसका रक्षक बना हुआ है, वैसे ही जो अन्न आदि वसु हैं, वह धर्मात्मा को अपने गर्भ में धारण कर लेते हैं, उसके चारों ओर छा जाते हैं और उसकी सुरक्षा का साधन बनते हैं।[2]

वेद कहता है कि यह विशाल जाज्वल्यमान द्यावा और यह विस्तृत

---

1. असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः।
   विदाना अस्य योजनम्।। ऋ० 9.7.1
2. या इन्द्र प्रस्वस्त्वासा गर्भमचक्रिरन्।
   परिधर्मेव सूर्यम्।। ऋ० 8.6.20

पृथ्वी किस पर ठहरे हैं? इसकी स्थिति का क्या कारण है? ये अजर दिखाई देते हैं– वृद्ध होते हुए भी, अति प्राचीन होते हुए भी ज़रा-मरण से शून्य और अत्यन्त वीर्यवान् युवा के समान इनकी सतत तरुण वीर्यवत्ता का क्या कारण है। वेद का कथन है कि वरुण देव का धर्म इन्हें धारण कर रहा है, इन्हें अजर और अति सामर्थ्यवान् बना रहा है। यदि हम भी वरुण देव के शासन में चलें, धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करें तो द्यावा और पृथ्वी के समान ही हम भी सतत तरुण बने रह सकते हैं।[1]

इस मन्त्र में कहा है कि हे द्यावा पृथ्वी ! जो मानव सरल आचरण व्यवहार के लिए अपने आपको तुम्हारे सुपुर्द कर देता है –अपने को दे देता है, वह इस यज्ञकर्म के धारण में सफल होता है, वह धर्म परायण होकर सन्तानों, प्रजाओं के द्वारा प्रख्यात होता है और तुमसे सींचित आप्यायित होकर विविध धर्मरूपों के समान व्रतों वाला बनता है।[2]

वेद की मान्यता है कि जो धर्मपूर्वक चलने वाले जन स्थिर क्षेम वाले होते हैं व्रत के द्वारा वे सम व स्थित बनते हैं। हम सबका जीवन अस्थिर है। स्थिरता से शून्य है। कभी इधर दौड़ते हैं, कभी उधर, पर शान्ति हाथ नहीं लगती। सोमपान किया नहीं, भक्ति भावना कभी जगाई नहीं, स्थिर चित्त होकर वेदी पर यज्ञ करने, ब्रह्म करने, ब्रह्म में ध्यान लगाने कभी बैठे नहीं। फिर सुस्थिरता आए तो कैसे? समवस्थित होना है तो प्रपंच के चक्रवात को छोड़कर हम वेदी पर, वर्हि अर्थात् कुशासन पर बैठें और सोमदेव का ध्यान करें। उत्तर की उच्चतर अवस्था की दिशा के अधिपति वही हैं।[3]

इस मन्त्र में बताया गया है कि विद्वान् मित्र और वरुण अध्यापक और उपदेशक अथवा मन्त्री और राजा प्राण प्रदाता (असुर) देव की शक्ति अथवा प्रज्ञा द्वारा धर्म की साधना करते हुए व्रतों अर्थात् नियम व्यवस्थाओं की रक्षा करते हैं। ऋत व्यापक नीति नियम के पालन द्वारा वे समस्त भुवनों के ऊपर विराजमान होते हैं, निखिल भुवनों को प्रकाशित करते हैं और सूर्य जैसे विचित्र रथ को द्यौलोक में धारण करते हैं।[4]

---

1. द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरि रेतसा।। ऋ० 6.70.1
2. यो वामृजवे क्रमणाय रोदसी मर्तो ददाशधिषणे स साधति। प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि युवोः सिक्ता विषुरूपाणि सव्रता।। ऋ० 6.70.3
3. व्रतेन स्थो ध्रुव क्षेमा धर्मणा यातयज्जना। निबर्हिषि सदतं सोमपीतये।। ऋ० 5.72.2
4. धर्मणा मित्रवरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। ऋतेन विश्व भुवनं विराजथः सूर्यमाधत्थो दिवि चित्र्यं रथम्।। ऋ० 5.63.7

ऋत या सदाचार के सत्य नियमों का पालन करते हुए स्पष्ट किया है कि जो सबके धारणकर्ता ऋत को अपने जीवन का अंग बना लेते हैं, वे यज्ञ के अद्‌भुत सामर्थ्य परम व्योम से प्रकाश को धारण करने वाले वरुण (यज्ञस्तम्भ सूर्य) पर आसीन हम जैसों की अपेक्षा, प्रेरक देवताओं, दिव्य शक्तियों को सामने ही प्राप्त कर लेते हैं।[1]

वेद ने माना है कि महान् माताओं ने द्यावा और पृथ्वी, ऋत और सत्य, प्राण और रयि, पुरुष और प्रकृति के तत्त्वों ने शोभनकर्मा एवं दर्शनीय पुत्रों को जन्म दिया है। ये पुत्र अपने पूर्वजों का स्मरण करते हैं, उनके यज्ञ स्वरूप का ध्यान करते हैं। इस यज्ञ धर्म में ही स्थावर तथा जंगम चर एवं अचर, लोक तथा भूत (जीवप्राणी) सभी की सत्य सत्ता सुरक्षित है। यही धर्म पुत्रों के मार्ग की गति को बिना विघ्न-बाधा के आगे बढ़ाता है।[2]

धर्म के सन्दर्भ में कहा है कि हे देव ! तुम धर्म द्वारा समस्त भुवन, उत्पन्न वस्तुजात से बचाते हो। धर्म द्वारा ही तुम असुरों के घातक आक्रमणों से हमारी रक्षा करते हो। यहां धर्म का अर्थ पुण्यकर्म है, सदाचार है। जो पुण्यवान् है, प्रभु उसके साथ ही है, संसार की कोई सत्ता ऐसी नहीं जो प्रभु के प्यारे को चोट पहुँचा सके। धर्म जीव को प्रभु का प्यारा बना देता है। असुरों की हानि, उनके घातक इरादे धर्मात्मा के सामने वैसे ही भग्न हो जाते हैं, जैसे पत्थर पर गिरा हुआ मिट्टी का ढेला।[3]

इसी से स्पष्ट किया है कि द्यावा के प्रकाशधारक धर्म में विशेष रूप से चमकने वाला सबसे बड़ा, सबका पोषण करने वाला और बल को प्राप्त कराने वाला सत्य निहित है। वही शत्रुहन्ता, वृत्रहन्ता, दस्युहन्ता, असुरसंहारक तथा प्रतिपक्षियों का विनाशक प्रकाश प्रकट हो रहा है। यहां पर धर्म शब्द का प्रयोग एकवचन में हुआ है। द्यावा का एक ही धर्म है प्रकाश कराना। इस प्रकाश का स्रोत सर्वोत्तम प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही है।[4]

---

1. ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्। दिवो धर्मन् धरुणे सेदुषो नॄन्, जातैर जातां अभि ये ननक्षुः॥ ऋ० 5.15.2
2. इनोत पृच्छ जनिमा कवीनां मनोधृतः सुकृतस्तक्षत द्याम्।
   इमा उतेप्रण्यो वर्धमाना मनोवाता अध नु धर्मणि ग्मन् ॥ ऋ० 3.38.2
3. ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
   स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः॥ ऋ० 1.159.3
4. त्वं विश्वस्माद् भुवनात् पासिधर्मणाऽसुर्यात्पासि धर्मणा॥ ऋ० 1.134.5

वेद में वर्णन आया है कि हे सोम ! तुम धर्मों द्वारा पार्थिव तथा दिव्य लोक के चारों और क्षरित हो जाओ। हे विलक्षण ! तुम शुभ्र हो, तुम्हें विप्रजन अपनी बुद्धियों और कर्मों द्वारा बढ़ाते हैं। विप्र व्यापक बुद्धि वाले होते हैं।[1] उनकी बुद्धियाँ संकुचित स्वार्थ प्रेरित नहीं होतीं। वे व्यापक दृष्टिकोण से विचार करते हैं। उनकी धीतियाँ धारक की शक्तियाँ वैसी ही सर्वजनहित साधिका होती हैं।[2]

वेदों में धर्म के विषय में विविध रूपों में तथ्यात्मक तत्त्वबोध प्राप्त होता है। इसलिए इस प्रस्तुत प्रसंग में यह विचार करना प्रतीत होता है कि वेद ने समाज की इकाई के रूप में परिवार को ही नहीं अपितु एक व्यक्ति को इकाई माना है, इसलिए व्यक्ति, परिवार और समाज इनका धर्म सन्तुलन का विवेचन सर्वत्र उपलब्ध होता है।

ऋग्वेदीय परिवार–

परिवार हमारे सामाजिक जीवन की प्रथम आधारशिला हैं। परिवार दो प्रकार का होता है : एकाकी परिवार दूसरे को संयुक्त परिवार कहते हैं। ऋग्वेद में किस प्रकार का परिवार है इसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। यह सच है कि मनुष्य मरणशील है, परन्तु मानव जाति अमर है। इसको अमर बनाने में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका है। मानव जाति में आत्मसंरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन के सातत्य को बनाए रखने की इच्छा होती है। विवाह द्वारा परिवार बनाकर मनुष्य सन्तानों के माध्यम से अपने (मानव जाति) को फैलाता है और वंश को जीवित रखने का प्रयास करता है ऋग्वैदिक समाज में भी ऐसी ही विचारधाराएँ कार्य कर रही थी। वसुश्रुत ऋषि ने अग्नि से प्रार्थना के समय कहा है कि प्रजा द्वारा अमृतत्व को उपभोग करूँ[3] अर्थात् प्रजा के माध्यम से अमर हो जाऊँ।

ऋग्वेद में ऋषि परमेष्टि प्रजापति के विचार मिलते हैं[4] जिसमें उन्होंने कहा है कि प्रलय की अवस्था में जब सत् और असत् नहीं था, तब मृत्यु और

---

1. विभ्राड् बृहत् सुभृतं वाजसातमं धर्मन् दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।। ऋ० 10.170.2
2. स तू पवस्व परि पार्थिवं रजो दिव्या च सोम धर्मभि।
   त्वां विप्रासो मतिभिर्विचक्षण शुभ्रं हिन्वन्ति धीतिभिः।। ऋ० 9.107.24
3. यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि।
   जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्।। ऋ० 5.4.10
4. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं..................................किमासीद्गहनं गभीरम्।। ऋ० 10.129.1

अमरता नहीं थी। केवल दक्षिणपथ एवं पूर्व में दूर-दूर जाकर बस रहे थे। निरन्तर होने वाले विस्तार तथा युद्धों के कारण समूहों में आर्यों का रहना एक सामयिक एवं प्रासंगिक आवश्यकता थी। इसी समूह से विवाह के माध्यम से स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और फिर परिवार का विकास हुआ यह परिवार ऋग्वैदिककाल की आवश्यकताओं के कारण संयुक्त परिवार के रूप में था, जिसके माध्यम से विचारकों ने अधिक सुरक्षा का भाव व्यक्त किया।

मातृस्नेह, पितृस्नेह, दाम्पत्य आसक्ति, अप्रत्यप्रति, सहृदयिता ये परिवार के पाँच आधार हैं।[1] इनमें अधिकांश ऋग्वैदिक समाज में प्रचलित थे।

ऋग्वैदिक समाज में यह धारणा थी कि पितर लोक सारे शुभाशुभ कार्यों के प्रेरक एवं नियामक हैं। यज्ञों में पितरों को बुलाकर रक्षा, धन व अन्न की याचना की गई है।[2] ये पितर परिवार के ही होते थे। प्रारंभिक युग के लोगों ने परिवार तथा भूमि में एक रहस्यमयी सम्बन्ध की कल्पना की। परिवार के सदस्यों के पितरों के प्रति धर्मपालन के कुछ कर्त्तव्य होते थे। वे उन कर्त्तव्यों से पारिवारिक भूमि और यज्ञवेदी से जुड़ते थे, यह धारणा थी कि जैसे यज्ञवेदी भूमि से संयुक्त रहती है, उसी प्रकार परिवार भूमि के साथ बन्धा रहता है।[3] संयुक्त परिवार का यह भी एक कारण रहा है।

ऋग्वैदिक समाज में अग्नि को महत्व दिया गया था उसे सदैव घर में रहने तथा घर की रक्षा करने वाला कहा गया है।[4] प्रातः तथा सायंकाल इसकी पूजाकर कामना की जाती थी कि हम पुत्रों से शून्य घर में न रहे, अर्थात् हम पुत्रवान् होकर अपने परिवार को बड़ा करें, इसलिए हे अग्नि! हमें पुत्रों से फूलता-फलता घर दो।[5] इससे अपना पारिवारिक एक ब्रह्म था, जो तपस्या के प्रभापति उत्पन्न हुआ। सृष्टि की इच्छा से परमात्मा ने सर्वप्रथम बीज निकाला। बीजधारक पुरुष (भोक्ता) तथा महिमायें (भोग्य) उत्पन्न हुए। उन भोक्ताओं का कार्यकलाप दोनों पार्श्वों (नीचे और ऊपर) में विस्तृत हुआ, नीचे स्वधा (अन्न) रहा और ऊपर प्रयति भोक्ता अवस्थित हुआ। किन्तु ऋषि प्रजापति परमेष्टि के ये भी विचार है कि यह सृष्टि किस उपादान, कारण तथा कहाँ से

---

1. अवन्तु मा पितरो देवहूतौ।। ऋ० 6.52.4. 10.15.9 (9)
3. अग्नि नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्।
   दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्।। ऋ० 7.1.1-2
4. मा शूने अग्ने निषदाम नृणां..............स्वजन्मना शेषसावावृधानम्।। ऋ० 7.1.11.12
5. उपहूताः पितरः सोम्यासो..............................ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।। ऋ० 10.15.5

हुई है, इसे कोई नहीं जानता। संभव है कि परमधाम में रहने वाले स्वामी उसे जानते हों।[1] इससे स्पष्ट है कि सृष्टि की रचना का श्रेय परमधाम के स्वामी को दिया गया है।

ऋग्वैदिक समाज के लोगों ने परिवार का प्रयोजन समझाया, इसलिए परिवार जैसी संस्था को अनिवार्यता प्रदान की गई। परिवार का प्रथम प्रयोजन पुत्र प्राप्त करना था। अनेक स्थानों पर पुत्रेच्छा का वर्णन भी मिलता है। रहूगण के पुत्र गौतम ऋषि के विचार से पुत्र को लौकिक कार्य दक्ष, गृहकार्य परायण, यज्ञानुष्ठान तत्पर, माता द्वारा आदृत और पिता का नाम उज्ज्वल करने वाला होना चाहिए।[2] ऋषि विश्वामित्र ने वंश का विस्तार करने वाला, सन्तति जनयिता पुत्र की कामना करने का विचार व्यक्त किया है।[3] विवाह सूक्त में पुरुष स्त्री का हाथ पकड़कर कहता है कि मैं सन्तान के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। ऋषि, पुरोहित लोग भी वर-वधु को सन्तति उत्पन्न करने वाला होने के साथ-साथ पुत्र वाला होने का आशीर्वाद देते थे।[4]

परिवार का दूसरा प्रयोजन था, धर्म का पालन करना। ऋग्वेद में धर्म पालन के उद्देश्य से ही नवदम्पति को जीवन पर्यन्त गृहस्थाश्रम का सुख भोगने का उपदेश दिया गया है[5] –वैदिक आर्यों के सामने फैलने के लिए विशाल भूखण्ड था। आर्य सम्बन्ध भी जोड़ा गया है। ऋषियों के विचार से यह सम्बंध बहुत पुराना है। प्रत्येक परिवार को गार्हपत्य अग्नि रचना पड़ता था। संयुक्त परिवार रहता था। इस प्रकार पितृपूजा तथा अग्नि पूजा के प्रचलन से भी ऋग्वैदिक काल में संयुक्त परिवार को बढ़ावा मिला।

परिवार का चरम विकास कृषि जीवी समाज में पूर्णरूप से होता है, जिसमें भूमि के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ जाता है इस प्रकार परिवार और

---

1. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
   अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।। ऋ० 10.129.6
2. सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
   सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै।। ऋ० 1.91.20
3. इळामग्ने पुरुऽदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
   स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावागे सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे।। ऋ० 3.1.23
4. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभागां कृणु।
   दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।। ऋ० 10.85.45.10.75.36
5. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्रमायुर्व्यश्नुतम्।
   क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।। ऋ० 10.85.42

पारिवारिक सम्पत्ति का विकास होता है, जिसमें भूमि स्थायी सम्पत्ति रहती है। कृषि का लाभ श्रम पर ही निर्भर होता है और श्रम अधिक से अधिक श्रमकर्त्ताओं से ही हो सकता है। ऋग्वेद में खेती करने तथा मेधावी लोगों द्वारा हल चलाने के लिए आदेश दिया गया है।[1]

ऋग्वैदिक समाज में परपोता (प्रणपात) परिवार की चरमसीमा था। ऋषि, पुरोहितों ने आशीर्वाद में कहा है कि अपने घर में समस्त आयु का उपभोग पुत्रों और पोतों के साथ आनन्दपूर्वक करो।[2] सास, श्वसुर, ननद तथा देवर पर शासन करने वाली बनो।[3] उपर्युक्त सन्दर्भ स्पष्टतः संयुक्त परिवार के अस्तित्व तथा गृहिणियों द्वारा परिवार के संचालन का विचार व्यक्त करता है। ऋग्वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था। अतः स्वाभाविक रूप से पिता की परिवार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी।

ऋग्वैदिक परिवार में संयुक्त परिवार के साथ ही एकाकी परिवार का भी वर्णन मिलता है, जिसमें पति-पत्नी पुत्र तथा कहीं-कहीं पोत्रों का वर्णन है। एक ही युगल अपनी बाल्यावस्था में जब अलग-अलग रहते हैं तो वे पुत्र एवं पुत्री की भूमिका का निर्वाह करते हैं। विवाह होने पर दो परिवार के ये दोनों सदस्य मिलकर पति-पत्नी के रूप में होते हैं। सन्तान उत्पन्न होने के बाद इनकी भूमिका सन्तान के सन्दर्भ में माता-पिता की हो जाती है और बच्चों पर दोनों परिवार की छाप पड़ती है।

आगे परिवार के प्रमुख सदस्यों पिता, माता, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई बहन तथा परिवार में उनकी भूमिका के विषय में व्यक्त चिन्तन का वर्णन है।

पिता–

ऋग्वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था, इसलिए पिता को असाधारण महत्त्व दिया गया। प्रणपात (परपोता) परिवार की चरमसीमा थी। ऋग्वैदिक समाज में परिवार के प्रमुख सदस्यों के कर्त्तव्य और अधिकार सुनिश्चित हो गए थे। पिता विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन दृढ़तापूर्वक करता था। पिता की महत्ता इतनी अधिक थी कि देवताओं की तुलना पिता से की जाती थी।[4] पारिवारिक

---

1. 10.34.13
2. 10.85.42
3. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव
   ननान्दरी सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।। ऋ० 10.85.46
4. त्वामग्ने पतिरिमिष्टिभिनर्रस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।। ऋ० 2.1.9 (9)

सम्बन्धों के साथ संलग्न कर्तव्यों की भावना इतनी प्रबल थी कि यहाँ तक विश्वास किया जाने लगा कि देवताओं को परिवार का सम्बन्धी मानकर उनसे मनोवांछित फल की प्राप्ति की जा सकती है। यद्यपि परिवार के अन्य सदस्यों से भी देवताओं का सम्बन्ध जोड़ा गया है, किन्तु सबसे अधिक सम्बन्ध पिता-पुत्र का ही मिलता है जिनमें प्रार्थी स्वयं पुत्र बनकर पितारूपी देवता से प्रार्थना करता है देवकृपा पर अवलम्बित समाज के लोग कार्य के अनुसार ही देवता से पारिवारिक सम्बन्ध जोड़ते थे। पालन कर्त्ता होने के कारण पिता तथा जन्मदाता मानकर उसे जनिता भी कहा गया है। यम-यमी के संवाद सूक्त में त्वष्टा को जनिता कहा गया है।[1] पिता के लिए प्रयुक्त होने वाले नामों में तत् एवम् ओणि नाम भी आता है। तत् शब्द मात्र तीन स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।[2] ओणि शब्द का प्रयोग भी रक्षा करने के सन्दर्भ में ही है।

देवताओं की प्रार्थनाओं में पिता के सम्बोधन के लिए प्रयुक्त शब्द रक्षा तथा पालन करने से ही सम्बन्धित है। पिता तथा जनितर शब्द विवादस्पद है।[3] इसलिए प्रश्न उठता है कि पितर और जनितर शब्द का प्रयोग क्यों होने लगा था? स्वजात सन्तान के अभाव में ऋग्वैदिक आर्यों ने कानूनी दत्तक पुत्र लेने का भी उपाय सोचा होगा, जिसका पालन भी पिता ही करता था, इसलिए जन्मदाता तथा पालनकर्त्ता दोनों में अन्तर करने के उद्देश्य से इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया होगा। जन्मदाता तथा असली पिता का अलग-अलग उल्लेख कई स्थानों पर आया है।[4] पितरः शब्द जहाँ भी उपयोग हुआ है, वह मूल पितरों के सन्दर्भ में है, मात्र एक स्थान पर तीन माता तीन पिता का उल्लेख है।[5] रामगोविन्द त्रिवेदी ने तीन माता के अन्तर्गत पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश तथा तीन पिता में अग्नि, वायु और सूर्य को माना है।[6] पितृपक्षीय समाज होने के कारण ऋग्वैदिक काल में पिता के पुरुष सम्बन्धियों को ही मान्यता दी गई और पितृपक्ष के सभी सदस्यों को आत्मीय में गिना गया।

---

1. गर्भेनुनौ जनिता दम्पति कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।। ऋ० 10.10.5
2. इमानि त्रीणि विगृपा तानीन्द्र वि रोहय।
   शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे।।। ऋ० 8.91.5
3. कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान।। ऋ० 4.17.12
4. योः न पिता जनिता..........................भुवना यन्त्यन्या।। ऋ० 10.82.3
5. त्रिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् विभ्रदेकः।। ऋ० 1.164.10
6. त्रिवेदी, रामगोविन्द, हिन्दी ।। ऋ०, पृ० 246

परिवार का प्रमुख होने के कारण पिता को गृहपति[1] तथा माता को गृहपत्नी[2] कहा जाता था। कहीं-कहीं गृहस्वामी के लिए दम्पति[3] शब्द का भी प्रयोग किया गया है परिवार की सारी सम्पति संभवतः कृषि भूमि पर भी पिता का अधिकार होता था।[4] शारीरिक दृष्टि से भी पिता सबसे शक्तिशाली, स्नेहपूर्ण एवं व्यवहार से उदार होता था, तभी कवषेलुष ऋषि ने इन्द्र की स्तुति में कहा है कि तेरी स्तुति करने वालों को व्याधियाँ हिसित कर रही हैं। तुम हमारे लिए पिता के समान बनो और आनन्दित करो।[5] पिता की महत्ता का एक कारण पिता द्वारा वंशानुक्रम का निर्धारण था। व्यक्तिगत नामों के साथ पैतृक नामों को भी जोड़ा जाता था।[6] देवताओं से पूर्व पिता की पूजा की जाती थी।[7] पिता को इतना महत्त्व क्यों दिया गया? उसके कौन से कार्य थे ? तथा उसे कितना अधिकार था? इसके अध्ययन से ही पिता की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो सकता है।

ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में देवों से पिता के समान ही रक्षण की कामना की गई है।[8] पालनकर्ता तथा जन्मदाता होने के कारण जंगली पशुओं तथा शत्रुओं से रक्षा के लिए पिता को ही योग्य मानकर उससे सहयता लेने का विचार उठा होगा, क्योंकि पिता ही सबसे श्रेष्ठ और बलशाली होता था। रक्षण के अतिरिक्त भरण-पोषण का कार्य भी पिता का ही था, क्योंकि सारी सम्पति उसके ही अधीन होती थी। इन्द्र ने कहा है कि मैं धन का प्रथम स्वामी हूँ, मैं शाश्वत धन को जोतता हूँ। मुझे ही प्राणी पिता के समान पुकारते हैं और मैं ही पूजक को धन बांटता हूँ।[9] देवताओं ने भी पिता के महत्त्व के

---

1. अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्। वाम गृहपतिं नय।। ऋ० 6.53.2
2. गृभ्णामि ते........................त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।। ऋ० 10.85.36
3. विश्वासां त्वा विशां पतिं हवामहे, सर्वासां समानं दम्पतिं भुजे सत्यगिर्वाहसं भुजे। अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया। अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्या देवेष्वा वयः।। ऋ० 1.127.8
4. ऋग्वेद 8.91.5
5. सुकृत्सु नो मघवनिन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव। ऋ० 10.33.3
6. युध्मो अनर्वा खजकृत्समद्वा ....विश्वं शत्रूयन्तं जघान।। ऋ० 7.20.3
7. जोहूत्रो अग्निः प्रथमः ....श्रवस्यः स वाजी।। ऋ० 2.10.1
8. वयं तद्वः सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्।। ऋ० 8.27.22
9. जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्। विद्मा हित्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।। ऋ० 10.47.1

विषय में कहा है कि हवि देवों के लिए उसी प्रकार तैयार की गई है, जिस प्रकार से पिता के घर में पुत्र का पालन होता है।[1] पिता स्वयं पालन करने के साथ-साथ देवताओं से भी पुत्रों एवं परिवार की रक्षा की याचना करता था। अश्विनों की प्रार्थना में कहा गया है कि मेरे पुत्र को प्रसाद, स्वास्थ्य और धन तीनों प्रकार का कल्याण प्राप्त कराओ।[2] धूप, शीत, वर्षा से परिवार की रक्षा के लिए गृहनिर्माण करना पिता का ही कर्त्तव्य था। अपने उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए पिता सदैव सचेष्ट रहता था। पुत्र उसके आदेशों का पालन करने के लिए तत्पर रहते थे।[3]

ऋग्वैदिक पिता शिक्षण का भी कार्य करता था। उसे बुद्धिमत्ता, ज्ञान व शक्ति का आधार समझा जाता था, इसीलिए गूढ़ पहेलियों को समझने वाले को पितृष्पिता कहा गया है।[4] पिता अपने सन्तान को योग्य बनाना चाहता था। पुत्र-पुत्री के घरेलू, लौकिक, सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में निपुण होने के लिए शिक्षण का उत्तरदायित्व माता-पिता पर ही था। ऋग्वेद में कहा गया है कि हे इन्द्र ! तुम अपने लिए ज्ञान लाओ, जैसे पिता अपने पुत्र के लिए लाता है।[5] पिता अपने पुत्र को कुमार्गी होने से बचाता था। उसे उपदेश भी देता था[6] वह ज्ञान और बलवृद्धि की कामना करता था।[7] शिक्षा प्राप्त करने के लिए ही पुत्र पिता के वक्ष में रहता था।[8] विशेष शिक्षा के लिए पिता अपने पुत्रों को गुरु के पास भेजता था।[9]

ऋग्वैदिक पिता का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण था कि वह सन्तान के शरीर तथा प्राण पर पूर्ण अधिकार रखता था। ऋजाश्व का उल्लेख इसका प्रमाण है।[10]

---

1. पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवां एतु प्र णो हविः। ऋ० 8.19.27
2. ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पति। ऋ० 1.34.6
3. पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्ये अस्य शासं तुरासः
   वि राय और्णोद्दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः।। ऋ० 1.68.5
4. इन्द्र कतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।। ऋ० 7.32.26
5. उभयं ते न क्षीयते वसव्यं........................पतिं स्वपत्यस्य रायः।। ऋ० 2.9.5
6. सहस्रणेन सचते युवीयुधा..................................दाश्नोति नभ उक्तिभिः।। ऋ० 8.4.6
7. दास, अविनाशचन्द्र, ऋग्वैदिक कल्चर, वाराणसी, 1979. द्वितीय संस्करण पृ० 114
8. यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं.....................यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु।। ऋ० 7.103.5
9. शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।
   तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन।। ऋ० 1.116.16
10. कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं......................पितरं पादगृह्य।। ऋ० 4.18.12

पितृ सत्तात्मक समाज में पिता के अधिकारों में क्रमशः ह्रास होता है। इस काल में भी वृद्धावस्था में पिता के अधिकारों में ह्रास दिखाई देता है। इन्द्र ने अपने पिता का वध किया था।[1] पुत्र द्वारा पिता से धन माँगने तथा स्वयं विभाजन कर लेने का भी उल्लेख है।[2] ऋषि च्यवन के साथ भी ऐसी ही घटना हुई थी।[3] यदि इसे मान्यता प्राप्त नहीं होती तो ऐसी घटनाएँ नहीं होतीं।

ऋग्वेद में उल्लेख है कि प्रजापति का वीर्य पुत्रोत्पादन में समर्थ है। प्रजापति ने मनुष्यों के हित के लिए रेत का त्याग किया। अपनी सुन्दरी कन्या (उषा) के शरीर में ब्रह्मा या प्रजापति ने उस शुक्र या वीर्य का सेंक किया।[4] जिस समय पिता ने अपनी कन्या के साथ सम्भोग किया, उस समय पृथ्वी के साथ मिलकर शुक्र सेक किया, सुकृति देवों ने इससे व्रत रक्षक ब्रह्म का निर्माण किया।

इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा, संरक्षण की भावना, पारिवारिक अग्नि को जीवित रखना तथा अन्य धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं को जीवित रखने की अभिलाषा ने ही वैदिक ऋषियों को भी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया था। परिवार में वय, अनुभव और शक्ति में सबसे अधिक होने के कारण ही चिन्तकों ने पिता को परिवार में सर्वोच्च स्थिति प्रदान करने का विचार व्यक्त किया वृद्धावस्था में पिता के शक्तिहीन होने के कारण पुत्रों के कुछ विरोध से सम्बन्धित उदाहरण प्राप्त होते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में पिता के अधिकारों में ह्रास भी होता है। सम्पूर्ण जीवन काल में परिवार के प्रमुख होने के कारण वयस्क पुत्रों में निश्चित ही कभी-कभी स्वतंत्रता बाधित होने के कारण असन्तोष और विरोध की स्थिति आयी होगी। संभव है पिता पुत्र के बीच इस प्रकार की विवादास्पद स्थिति आयी होगी। संभव है पिता पुत्र के बीच इस प्रकार के विवादास्पद स्थिति को बचाने के उद्देश्य से ही विचारकों ने आश्रम व्यवस्था की धारणा दी। जिसमें एक निश्चित समय के अनुसार पिता स्वयं भी वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रवेश कर अपने को सांसारिक दायित्वों से मुक्त कर पुत्रों का मार्ग प्रशंस्त करता था, जिससे उसकी

---

1. गोषु प्रशस्तिं वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्णः।
   वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त।। ऋ० 1.70.5
2. जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं.........................कनीनाम्।। ऋ० 1.116.10
3. प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं......................दुहितुरा अनुभृतमनर्वा।। ऋ० 10.61.5
4. पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया.................................व्रतपां निरतक्षन्।। ऋ० 10.61.7

सामाजिक प्रतिष्ठा बनी रहे।

माता–

पति-पत्नी का युग्म ही सन्तान के सन्दर्भ में पिता तथा माता कहलाता है। ऋग्वैदिक समाज में माता के नाम से ही पुत्रों को जाना जाता था। अनेक देवताओं को 'इठाया पुत्रः' कहा गया है। ऋग्वैदिक समाज के लोग वीर पुत्रों के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते थे, जिस कारण इन पुत्रों को जन्म देने वाली माता का अपना महत्व होता था। माता के लिए मातरा[1] तथा मातरो शब्द का प्रयोग हुआ है। परिवार में पिता के बाद माता का ही स्थान था।[2] अनेक ऋषियों ने माता का सम्बोधन देवताओं के लिए किया है और उनसे सुखशान्ति तथा रक्षा की कामना की है।[3]

पत्नी को पुत्र की माता बनने को कहा गया है।[4] वीर पुत्र को जन्म देने वाली माता के विषय में कहा गया है कि 'मधु स्थिरं सेवृघं सूत माता[5] और प्रशंसा भी की गई है। इन्द्र की माता की प्रशंसा मात्र इसलिए की गई है, क्योंकि वह बलवान् पुत्र की जन्मदायिनी थी।[6] अनेक स्थानों पर प्रार्थनाओं में पुत्राभाव से ग्रसित न होने की माँग की गई है।[7] संभव है कि सन्तान के अभाव में ही पुरुष दूसरी पत्नी लाता रहा हो, अर्थात् जब प्रथम पत्नी माता बनने योग्य नहीं रहती होगी तो दूसरी पत्नी आती रही होगी। एक स्थान पर कहा गया है कि जब अग्नि उत्पन्न होती है पलिक्नी युवतियाँ हो जाती हैं, अर्थात् वृद्धावस्था में भी पुत्र जनने के कारण उन वृद्धाओं की सेवा युवतियों समान होने लगती है जिनके कोई सन्तान नहीं होती।[8] यहाँ स्पष्ट विचार मिलते हैं कि वृद्धा का सम्मान माता होने के कारण ही हुआ। अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली माता को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, क्योंकि दस पुत्रों वाली होने का

---

1. ते सूनवः स्वपसः सुंदससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
   स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्म्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः।। ऋ० 1.159.3
2. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
   अधा ते सुम्नमीमहे।। ऋ० 8.98.11
3. वैदिकसाहित्य और संस्कृति– डॉ० किरणकुमारी।। ऋ० 10.85.30
4. द्यौ३ष्पितः पृथिवि......................शर्म बहलं वि यन्त।। ऋ० 6.51.5
5. अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावाव..................स्थिरं शेवृधं सूत माता।। ऋ० 10.61.20
6. "वृषा जजान वृष्णं रणाय तमु चिन्नारी नर्य समूव।।" ऋ० 3.16.5
7. "मानो अग्नेऽमतये मावीरतायैरीरधः।। ऋ० 3.16.5
8. क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं............ ....पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति।। ऋ० 5.2.4

आशीर्वाद विवाह के समय स्त्री को दिया जाता था।[1] पशुमानवी को बीस बच्चों की माता होने के कारण ही सौभाग्यशाली बताया गया है।[2] इसी प्रकार पृथ्वी को एक ही बार उत्पन्न होकर अनेक पुत्रों की माता होना बताया गया है।[3]

माता के सुख और सुरक्षित प्रसव करने के लिए देवताओं से याचना की गयी है।[4] इन्द्र की माता प्रसव के समय मरणासन्न हो गई थी।[5] इसी कारण कुशल प्रसव करने वाली स्त्री को सौभाग्यशाली कहा गया है।[6]

माता को स्नेह से परिपूर्ण होना आवश्यक बताया गया है।[7] वह भरण, पोषण और रक्षण के लिए उत्तरदायी थी।[8] विश्वामित्र ने कहा है कि इन्द्र माता के पास ही भोजन प्राप्त करता है।[9] एक अन्य ऋषि ने कहा है कि जो तुम्हारा सबसे हितकारी रस है, उसे स्नेहमयी माता के समान हमको दो। माता पुत्र के साथ युद्ध में भी जा सकती थी। पुत्री के विवाह योग्य होने पर **समन** में जाने तथा पति ढूँढने के लिए माता उसे तैयार करती थी।[10] माताओं से भी बालक वीरता की प्रेरणा प्राप्त करता था क्योंकि जब इन्द्र ने सोमपान किया तो उसकी माता ने ही उसका गुणगान किया।[11] माता को भिषक् के समान कहा गया है।[12] माता का आंचल सुखकारी होता था क्योंकि दफनाते समय पृथ्वी माता के आंचल में जाकर सुख प्राप्त करने को कहा गया है।[13] माता का प्रेम इतना मृदु होता था कि वह चिन्ता का कारण भी हो जाता था।[14]

---

1. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
   दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।। ऋ० 10.85.45
2. पशुर्हि नाम मानवी साकं ससूव विशंतिम्।
   भद्र भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामेयद्.............।। ऋ० 10.86.23
3. सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारा वृहतीं दुदुक्षन्। ऋ० 10.74.4
4. दश मासाञ्छशयानः कुमारो ....जीवन्त्या अधि।। ऋ० 5.78.9
5. सुषूरसूत माता क्राणा यदानशे भगम्।। ऋ० 5.7.8
6. परायतीं मातरमन्वचष्ट......................शतधन्यं चम्वोः सुतस्य।। ऋ० 4.19.3
7. शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना।। ऋ० 10.4.3
8. मातेव यद् भपरसे प्रथानो जनंजनम् घायसे चक्षसे च। ऋ० 5.15.4
9. उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट......................चक्रे पुरुष प्रतीकः।। ऋ० 3.48.3
10. "सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषा"।। ऋ० 1.123.11
11. "अज्ञान सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच"।। ऋ० 10.73.1
12. ओमानमापो मानुषीरमृक्तं.............स्थातुर्जगतो जनित्रीः।। ऋ० 6.50.7
13. उञ्छ्वञ्चस्व पृथिवि...................सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि।। ऋ० 10.18.11
14. जया तप्यते कितवस्य......................नक्तमेति। ऋ० 10.34.10

परिवार के प्रमुख आधार स्तम्भ पिता और माता ही रहे हैं। परिवार के माध्यम से वंश और उसी क्रम से समाज का विकास और वृद्धि इन्हीं दोनों के सहयोग और सहवास से उत्पन्न पुत्र द्वारा ही सम्भव थी। माता ही पुत्र को धारण करके जन्म देती है और उसके विकास में पिता की अपेक्षा माता के व्यक्तित्व को अधिक प्रभाव होता है। इस विचार के कारण ही वैदिक समाज में माता को भी प्रमुखता मिली। माता की तुलना अभिषेक से करके विचारकों ने माता के महत्त्व को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया।

पति–

परिवार के दो मुख्य सदस्य, जो सन्तान की दृष्टि से माता पिता हैं, वे ही आपसी सम्बन्ध में पति-पत्नी कहे जाते हैं। पति-पत्नी का युग्म जिस परिवार का मूल स्तम्भ होता है, उस परिवार में पति प्रायः जन्म से ही सम्बंध रखता है। जबकि पत्नी दूसरे परिवार से आती है। यह व्यवस्था ऋग्वैदिक समाज में भी प्रचलित थी।

ऋग्वैदिक समाज में पति-पत्नी सखा के समान थे। पत्नी पति की अर्द्धांगिनी थी। हर कार्य में उसका स्थान था। ऋग्वैदिक काल में पति के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिसमें जार, मर्य, जनिधा, जनितव वर, वधुयुः दिधिषु, हस्तग्राभ, प्रिय, भर्तर, पति आदि मुख्य हैं, किन्तु अधिकतर दो ही शब्द भर्ता और पति मिलते हैं। पत्नी और पति का एक-दूसरे पर समान अधिकार तथा एक-दूसरे में सखा भाव का सूचक शब्द दम्पति[1] भी ऋग्वैदिक काल में प्रचलित था। दम का अर्थ घर और पति का अर्थ स्वामी तथा दोनों का अर्थ गृहस्वामी था। दम्पति एक साथ एक मन वाला होकर सोमरस निकाल एवं शुद्ध कर देवताओं के हवि में देते थे। ऋग्वेद में ऋषि वैवस्वत मनु ने स्पष्ट विचार व्यक्त किया है कि दम्पति की स्तुति देवों की कामना करती है। ये देवों को अन्न प्रदान करते हैं दम्पति अमरत्व या सन्तति लाभ के लिए ही रोमश और उष का संयोग करते हैं।[2] ऋषि आंगिरस अयास ने विचार व्यक्त किया है कि मित्र दम्पति को एक मनवाला बना देता है तो उसे वे गव्य द्वारा सिक्त करते हैं।[3] एक अन्य स्थान पर श्याश्व ऋषि ने भार्या को पति का आधा अंग माना है।[4] पति-पत्नी के बीच सखाभाव द्वारा विचारकों ने स्पष्टतः परिवार संचालन

---

1. तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्।
   पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्।। ऋ० 5.3.3
2. वीतिहोत्रा कृत्तद्वसू दशस्यन्तामृताय कम्।
   समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः।। ऋ० 8.31.9
3. त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं विभर्षि.....अञ्जन्ति मित्रं सुधितं।। ऋ० 5.3.2
4. उत धा नेमो अस्तुतः पुमाँ इति ब्रुवे पणिः...............स वैरदेय इत्सभः।। ऋ० 5.61.8

के लिए दोनों के मध्य पूरे समझ तथा खुले मन से मित्रवत् विचार-विमर्श की आवश्यकता को मान्यता दी थी, जो अत्यन्त व्यावहारिक और आवश्यक रहा है। यज्ञपूजक यजमानों को पत्नी युक्त अर्थात् पति होने की कामना की गई है।[1]

पति के जीवित रहने पर पत्नी सुभगा कहलाती थी।[2] पत्नी के सुहाग के लिए ही पति उसका हाथ पकड़ता था।[3] पति की मृत्यु के बाद पत्नी विधवा हो जाती थी। विधवा शब्द स्वतः पति के महत्त्व को व्यक्त करता है। इन्द्र के अमरता के कारण ही उसकी पत्नी को सुभग कहा गया है।[4] ऋषि वामदेव ने कहा है कि कामिनी जाया सुवस्त्राच्छादित होकर पति के लिए स्थान प्रस्तुत करती है।[5] और पुरुष को सुख प्रदान करती है।[6] अत्रि ऋषि ने कहा है कि इन्द्र पति के रूप में उसी स्त्री का आगमन करते हैं जो पति की इच्छा करती हुई यज्ञ में उसका अनुगमन करती है।

[7]पति के लिए पत्नी की मृत्यु बहुत अधिक भयावह नहीं थी, क्योंकि उस पर कोई विशेष दोष नहीं आता था किन्तु पति का वियोग पत्नी के लिए असह्य था। पत्नी पुत्रों को जन्म देने वाली थी, इसीलिए पति द्वारा उसके कल्याण की कामना करने का विचार व्यक्त किया गया। [8]प्राण रक्षा के लिए तथा पत्नी के वियोग में पति रोदन भी करते थे, क्योंकि वही पुत्रों को जन्म देने वाली

---

1. ताद्न्यजत्रां ऋतावृधोऽग्ने पत्नी वतस्कृधि।................मध्वः सुजिह्व पायय।। ऋ० 1.14.7
2. प्रेतो मुञ्चामि नामुत सुवद्धाममुतस्करम्।............यथेयमिन्द्र मीढवः सुपुत्रा सुभगासति।। ऋ० 10.85.25
   इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां-सुभगां कृणु..........दशस्यां पुत्राना धेहिपतिमेकादाशं कृधि।। ऋ० 10.85.45
3. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया मत्या जरदष्टिर्यथासः।
   भगो अर्यमा सविता पुरंन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।। ऋ० 10.85.36
4. इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
   नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। ऋ० 10.86.11
5. नराशंसः प्रतिधामान्यञ्जन्तिस्रो दिवः प्रति मह्ना स्वर्चिः।
   घृतप्रुषा मनसा हव्यमुन्दन्मूर्द्धन्यज्ञस्यसमनक्तु देवान्।। ऋ० 2.3.2
6. युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्यः शतक्रतो।
   तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी।। ऋ० 1.82.5
7. वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।
   आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परिं वर्त्तयाते।। ऋ० 5.37.3
8. सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
   तां आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्यौँ अदितिं स्वस्तये।। ऋ० 10.63.5

तथा अर्द्धांगिनी होती है।[1]

पत्नी की आर्थिक स्थिति का आधार उसका पति होता था। ऋग्वैदिक समाज में धनी पुरुष की पत्नी अपने को सशक्त समझती थी और समाज में उसकी प्रतिष्ठा होती थी। पति के प्रिय होने पर ही उसका आदर एवं सत्कार होता था।[2]

इसके विपरीत ऋषियों का कथन था कि द्यूत क्रीडा में पराजित होने वाले की पत्नी व्यभिचारिणी हो जाती है तथा अन्य लोग उसका स्पर्श करते हैं[3] यहाँ पत्नी के व्यभिचारिणी होने के कारण पति की आर्थिक स्थिति ही थी जिसका उत्तरदायी पति था।

ऋग्वैदिक समाज में पति पत्नियों को त्याग भी देते थे। त्यागी गयी पत्नी को फिर स्वीकार कर लेने के भी उदाहरण हैं। ऋषि ब्रह्मवादिनी जुहू ने कहा है कि बृहस्पति ने शुद्धचरित्रा स्त्री को स्वीकार कर लिया और स्वीकार करने के कारण देवों ने उन्हें निष्पाप कर दिया।[4] ज्ञातव्य है कि सोम तथा अन्य देवों एवं मनुष्यों की प्रार्थना पर ही बृहस्पति ने ऐसा किया था[5]। अनेक पत्नियों की स्थिति बड़ी भयावह होती थी क्योंकि उपासकों ने विपत्ति के समय का अपना कष्ट उसी प्रकार बतलाया है जिस प्रकार का कष्ट सपत्नियों से होता था।[6] ये विचार स्पष्टतः बहुपत्नीक धारणा को हतोत्साहित करने के उद्देश्य से व्यक्त किया होगा जिससे परिवार के संचालन में कई प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुयी होंगी। एक स्थान पर ऋषि सोमपुत्र बुध ने कहा है कि दो पत्नियों का स्वामी रति क्रीडा उसी प्रकार करता है जैसे कि रथ की दोनों धुराओं को शब्दायमान करके रथ वाहक पशु विचरण करता है।[7] पति के लिए

1. जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
   वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे।। ऋ० 10.40.10
2. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते...............उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। ऋ० 10.86.9
3. अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदनेवाज्यक्षः............पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता ।। ऋ० 10.34.4
4. पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम्.............उर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते।। ऋ० 10.109.7
5. सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
   अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्यानिमाय।। ऋ० 10.109.2
6. सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। ऋ० 1.105.8
7. उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।। ऋ० 10.101.11

यह आवश्यक बताया गया है कि वह जीवन निर्वाह के लिए सभी आवश्यक सामग्री जुटाए तथा पत्नी की सभी कामनाओं की पूर्ति करें। तभी वह पति कहला सकता था। पति का पत्नी पर इतना अधिकार था कि वह उसका त्याग भी कर सकता था।[1] पति अनेक पत्नियाँ भी रखते थे, किन्तु पति ऐसा करते रहे होंगे जब पत्नी पुरुष सन्तान उत्पन्न करने योग्य ही नहीं रहती होगी। किन्तु इस विषय में कही उल्लेख नहीं है कि पति यों दूसरी पत्नी रखते थे।[2]

पत्नी–

ऋग्वैदिक समाज में पत्नी की स्थिति अत्यन्त उन्नत थी। पत्नी को रानी के समान रहने का आशीर्वाद दिया जाता था। यद्यपि पत्नी दूसरे परिवार से आती थी किन्तु समाज में उसकी स्थिति इतनी उन्नत थी कि तत्कालीन विचारकों ने उसको पति के परिवार का अभिन्न अंग ही नहीं, अपितु श्वसुर, ननद तथा देवर पर शासन करने को भी कहा है।[3] तृतीय मण्डल के ऋषि विश्वामित्र ने इन्द्र की स्तुति में स्त्री को गृह तथा पुरुषों का मिश्रण स्थान कहा है[4] पुनश्च सकुशल घर पहुँचने को कहा गया है क्योंकि रमणीय और मंगलकारी स्त्री अपने पति की प्रतीक्षा करती रहती है।[5] इस महत्व के कारण ही ऋषि वामदेव ने द्यावा और पृथ्वी से अपने गृह की पत्नी युक्त होने की इच्छा की है।[6]

ऋग्वेद में पत्नी के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। वधु व शब्द वह् धातु से निष्पन्न है और इसका अर्थ है ले जाना। विवाह के बाद स्त्री के लिए वधू शब्द का प्रयोग मिलता है।[7]

जनि, जातिन, जनी और जाया शब्दों का भी प्रयोग पत्नी के अर्थ में

---

1. परिवृक्तेव पति विद्यमानत पीप्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन्।
   एषैष्या चिद्रथ्या जयेन सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम्।। ऋ० 10.102.11
2. ऋग्वेद में जार, मर्य आदि शब्द मिलते हैं।
3. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
   ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।। ऋ० 10.85.46
4. जायेदस्तं मघवन्तसेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु।
   यदा कदा च सुनवाम सोममग्निष्ट्वा दूतो धन्वात्यच्छ।। ऋ० 3.53.4
5. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहेते।। ऋ० 3.53.6
6. नू रोदसी वृहद्भिर्नो पत्नीवद्भिरिषयन्ति सजोषाः।। ऋ० 4.56.4
7. अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
   पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते।। ऋ० 10.85.30

हुआ है। जनी का प्रयोग कनी के विरोध में हुआ है। अग्नि को जनी का पति तथा कनी का जार कहा गया है[1] योषा को कहीं पत्नी[2] के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। तो कहीं अविवाहित युवती कन्या के लिए, जबकि ग्ना मात्रदेव पत्नियों के लिए आया है।[3] कहीं-कहीं मेना शब्द भी प्रयुक्त है। ऋषियों ने पत्नी को ही गृह का केन्द्र बिन्दु माना है। प्रश्न उठता है कि वे कौन से कारण थे? जिसके कारण पत्नी को महत्त्व मिला था। उसे पति के सखा के रूप में कहा गया। इस पर विचार करने पर हम पाते हैं कि पति को पत्नी आनन्दित करती थी,[4] अपना प्रसाधन करती थी[5]। पति को सुख देती थी[6]। पति के लिए ही उसका सर्वस्व होता था। कामना करने वाली की पत्नी अपने पति के लिए अपना शरीर भी खोल देती थी[7]। इसलिए पति की सेवा करने वाली स्त्री को अनवद्य कहा गया है।[8] पतियुक्त नारियाँ ही अंगलेप तथा आभूषण धारण कर सकती थीं।[9] क्योंकि ऋग्वैदिक विचारकों ने विधवा के लिए इनका निषेध माना है निषेध का कारण पर पुरुष के आकर्षित होने के लिए था। ऋग्वैदिक समाज में ऐसा विचार था कि पत्नी सुलक्षिणी तथा कुलक्षिणी होती है क्योंकि इन्हीं धारणाओं के कारण ही वधू को अदुर्मङ्गली, अघोरचक्षु तथा अपति ही होने की कामना की गई है।[10]

---

1. सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका –यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्।। ऋ० 1.66.4
2. कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।। ऋ० 10.40.2
3. उत स्य देवो भुवनस्य सक्षणिस्त्वष्टा ग्नाभिः सजोषा जूजुवद्रथम्।
   इळा भगो वृहद्दिवोत रोदसी पूषा पुरन्धिरश्विनावधा पती।। ऋ० 2.31.4
4. उप प्र जिन्वन्नुशतीशान्तं पति न नित्यं जनयः सनीष्टा।। ऋ० 1.61.1
5. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्त्तारुगिव सनये धनानाम्।
   जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।। ऋ० 1.124.7
6. जायेव पत्यावधि शेव मंहसे पज्राया गर्भ श्रृणुहि ब्रवीमि ते।
   अन्तर्वाणीषु प्र चरा सु जीवसेऽनिन्द्यो वृजने सोम जागृहि।। ऋ० 9.82.4
7. उतो त्वस्मे तन्वं वि सहस्त्रे जायेव पत्थ उवाती सुदासाः।। ऋ० 10.61.4
8. अनवध पतिजुष्टेव नारी। ऋ० 1.63.3
9. इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
   अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे।। ऋ० 10.18.7
10. आनः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा...........अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव।। ऋ० 10.85.43

पति-पत्नी साथ-साथ ही धार्मिक कार्य करते थे। ऐसी धारणा थी कि इन्द्र उन दोनों श्लाघनीय वचन का विषय बना देता है जो युगल स्रुवा को ऊपर उठाकर पूजा करते हैं[1] इसी कारण नव वधु को देव पूजा में पति के साथ-साथ भाग लेने तथा वृद्धावस्था तक यज्ञ करने का उल्लेख है[2]। पति पत्नी अर्थात् मिथुन जो शाप देते हैं अर्थात् क्रोधित होकर जो भी वचन कहते हैं वह बाण सदृश होता है तभी तो अग्नि से प्रार्थना कर कहा गया है कि इसी प्रकार के वचन से शत्रुओं को बींधो। पति के युद्ध में जाने पर उसके मंगल तथा विजयी बनने के लिए पत्नी अकेले ही गृह में यज्ञ करती थी[3]। ऐसी भी धारणा थी कि पत्नी की प्रार्थना पर इन्द्र, वरुण देवता प्रसन्न होकर उसके पति की सहायता करते हैं।

पत्नी के महत्त्व का दूसरा कारण था पुत्रों को जनना। ऋग्वैदिक समाज में पुत्रों को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त था, इसलिए पत्नी को महत्व देना स्वाभाविक ही है। देवता उसे पुत्रों वाली होने का आशीर्वाद देते थे[4] पत्नी स्वयं अकेले यज्ञ करती थी और ऐसी धारणा थी की प्रसन्न होकर देवता लोग उसे पुत्र प्रदान करते थे[5]। पत्नी को गार्हपत्य चलाने वाली तथा पति को सन्तान से समृद्ध करने वाली कहा गया है।[6]

ऋग्वैदिक पत्नी पति के नाम पर भी अपना नाम रखती थी। यद्यपि गोद (दत्तक) लेने के अधिकार का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु पुरुकुत्सानी ने पुरुकुत्स के जेल पर होने पर पुत्र प्राप्त किया था।[7] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक विचारकों ने पत्नी को भी दत्तक पुत्र लेने की मान्यता प्रदान की थी।

---

1. अधि द्वयोरधा उक्थ्यं वचो यतस्रुचा मिथुना सा सपर्यतः। ऋ० 1.83.3
2. पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र बहतां रथेन।
   गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथामा वंदासि।। ऋ० 10.85.26
3. ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि....................।। ऋ० 2.24.8
4. इहैव स्तं वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्........क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।। ऋ० 10.85.42
5. वि जयुषा रथ्या यातमद्रिं श्रुतं हवं वृषणा वध्रिमत्याः.......दशस्यन्ता..........सुमति भुरण्यू।। ऋ० 6.62.7
6. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामास्मिन् गृहे गार्हपत्याप जागृहि।। ऋ० 10.85.27
7. अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने।
   त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्द्धदेवम्।। ऋ० 4.42.8

ऋग्वैदिक समाज में पति द्वारा दूसरा विवाह करने का भी उल्लेख मिलता है। पति पत्नी की उपस्थिति में भी दूसरी पत्नी रखते थे। नारी अपनी सौत के विनाश के लिए मंत्र तथा औषधि का प्रयोग करती थी जिससे पति का प्रेम बढ़े[1] ऋग्वैदिक समाज में जुआरी पति को पत्नी छोड़ सकती थी।[2] क्योंकि जुआरियों की पत्नी व्यभिचारिणी हो जाती थी, तथा उसे अनेक लोग स्पर्श करते थे। यद्यपि दुराचारिणियों की तथा पति से द्वेष करने वाली की निन्दा की गयी है।[3] किन्तु परिवृक्ता पत्नियों को दूसरा पति कर लेने का भी अधिकार था।[4] पत्नियाँ स्वयं पति का त्याग कर सकती थी।[5] त्यागी गयी पत्नी को पुनः स्वीकार भी किया जा सकता था।[6] त्यागने के कारणों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। पत्नियों के दुराचार की पति उपेक्षा कर देते थे।[7] स्त्री के संकेत स्थान में जाने और गुप्त संतान को फेंक देने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[8] ऋग्वैदिक चिन्तकों ने परिवार के प्रमुख पति पत्नी के सम्बन्धों को समान स्तर तथा अन्तरावलम्बन की दृष्टि से रचा था जिससे पति और पत्नी दोनों को सखाभाव के कारण न्यूनाधिक समान सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं।[9]

ऋग्वैदिक काल में पत्नी ही सबको प्रातः जगाती थी।[10] परिवार से सम्बन्धित सभी व्यक्ति तथा पशुओं की भी देखभाल करना उसका कर्तव्य

---

1. अजोहवीत् नासत्या करा वां महे यामन्पुरु भुजा पुरन्धिः।
   श्रुतं तच्छासुखि वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्।। ऋ० 1.116.13
2. उत्तानपर्णेसुभगे देवजूते सहस्वति।...सपत्नीं मे परा धमपतिं केवलं कुरू।। ऋ० 10.145.2
3. द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि।। ऋ० 10.34.3
4. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दूरेवाः।.......पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्। ऋ० 4.5.5
5. परिवृक्तेव पति विद्यमानट्।। ऋ० 10.102.11
6. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
   यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश।। ऋ० 10.17.1
7. परिवृक्तेव पतिविद्यमानट् पीप्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन्।
   एषैष्या चिद्रथ्या जयेम सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम्। ऋ० 10.102.11
8. वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुंरुणा वायू रथे अजिरा धुरि वोढवे वहिष्ठा धुरि वोळहवे।। ऋ० 1.134.3
9. यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
   न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतं एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।। ऋ० 10.34.5
10. उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नो धाइवाविरकृत प्रियाणि।
    अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्।। ऋ० 1.124.4

था[1] समन में जाने दस स्त्री सेना के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि पत्नी को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी गयी। किन्तु प्रथम मण्डल की उक्ति विचारणीय है। 'गुहाचरन्ति मनुषो न योषा[2] अर्थात् मेघों के बीच विद्युत् उसी प्रकार विचरण करती है जैसे घर के अन्दर मनुष्य की स्त्री विचरण करती है। स्त्री को वस्त्र के सम्बन्ध में भी कुछ सतर्क रहना पड़ता था। वह कन्या की तरह स्वतंत्र नहीं होती थी। उसे लज्जा संकोच के कारण वस्त्रों से अपने अंगों को ढकना पड़ता था।[3] नव विवाहित युवती विशेष सतर्क रहती थी।[4] एक ओर जहाँ ऋग्वैदिक विचारकों ने स्त्री को ही घर का उसकी महत्ता का गुणगान किया, वही यह भी कहा कि स्त्री का मन वश में नहीं किया जा सकता उसकी वुद्धि लघु होती है।[5] कृष्णगोत्रीय ऋषि प्रियमेघ ने यह विचार इन्द्र के गह से कहलवाया है। इसी प्रकार ऋषि उर्वशी ने अपना मत व्यक्त करते हुए पुरुरवा से कहा कि स्त्रियों का प्रेम और मैत्री स्थायी नहीं होती। स्त्रियों और वृकों का हृदय एक समान होता है।[6] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि वधु का वस्त्र अपने शरीर पर धारण करने से वर का कान्तिमय रूप कान्तिहीन हो जाता है।[7] यदि कोई स्त्री बहुत दयालु एवम् उदार हृदय वाली है तो वह केवल उसी पुरुष से श्रेष्ठ है जो देव पूजा एवं ज्ञान नहीं करता है।[8] यहाँ स्त्री की श्रेष्ठता पुरुषों की अपेक्षा कम बताकर पति के अधीन रहने के लिए बाध्य किया गया है।

पुत्र–

ऋग्वेद के प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही भागों में पुत्र का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रायः सभी देवताओं अग्नि, सोम, इन्द्र, अश्विन, बृहस्पति, सूर्य, द्यौ, मित्रावरुण, त्वष्टा, प्रजापति, ऋभु, देवपत्नियों, पितरों के अतिरिक्त उषस्, गौ

---

1. शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋ० 10.285.43-44.1.66.3
2. वही 1.167.3
3. अयमु त्वा विचर्षणे जनरीरिवाभिः संवृतः।...........सोम इन्द्र सर्पतु।। ऋ० 8.17.7
4. यो वां यज्ञभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव। ऋ० 8.26.13
5. इन्द्रश्चिद् घ्या तदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मनः।
   उतो अह क्रतुं रघुम्।। ऋ० 8.33.17
6. न वै स्त्रैणनि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।। ऋ० 10.95.15
7. अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुपा।
   पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वभङ्गमभिधित्सते।। ऋ० 10.85.30
8. उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी।
   अदेवत्रादराघसः।। ऋ० 5.61.6

से अश्व तथा अन्न के साथ-साथ सन्तान, विशेषतया वीर पुत्रों की कामना की गयी है। जिन कारणों से ऋग्वैदिक आर्यों के जन की क्षति हुई होगी। वही पुत्र के महत्त्व को बढ़ाने में सहायक हुए होंगे। पुत्र का महत्त्व इतना अधिक था कि स्वयं का पुत्र न होने पर लोग पुत्रिका पुत्र को ही अपने पुत्र का स्थान देने लगे थे। प्रश्न उठता है कि वे कौन से कारण थे? जिसके कारण ऋग्वैदिक आर्यों को पुत्रों की कामना करनी पड़ी।

पशु पालन एवं कृषि प्रधान ऋग्वैदिक आर्यों को सदैव अपने शत्रुओं से भय बना रहता था, जंगलों को काटने तथा भूमि तोड़ने कि लिए वीर पुत्रों की आवश्यकता थी, तभी ऋषि वसुभु ने अग्नि से हवि देने वाले यजमान को शत्रुओं से अहिंसित होने तथा अपने कर्म से कुल को प्रख्यात करने वाले अन्न से युक्त पुत्र देने को कहा है।[1] ऋषि लोग स्वयं अपने लिए, राजा के लिए तथा यजमान के लिए पुत्र की कामना करते थे। जब कोई व्यक्ति दान देता था तो दान प्राप्त कर्त्ता उसे पुत्रवान् होने का आशीर्वाद देता था। भृगु के अपत्य सोमाहुति ऋषि ने ऐसे अन्न की कामना की है जिससे वे स्वयं तथा उनके यजमान वीर पुत्रों से युक्त होवें तथा शत्रुओं को जीत सकें।[2] शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए नव वधु को वीरसू होने का आशीर्वाद दिया जाता था।[3] ऋग्वेद में इन्द्र के माता-पिता की मात्र इसलिए प्रशंसा की गयी है कि वे बलवान् इन्द्र के जन्मदाता थे।[4] ऋग्वैदिक समाज में वही व्यक्ति जन-धन सहित सुरक्षित रह सकता था जिसकी अपनी सन्तानें वीर हों। आन्तरिक बाह्य शत्रुओं का प्रतिरोध करने के लिए समान रक्त सम्बन्धियों का एक संघ बना कर शत्रुओं का प्रतिवाद करना ही उपाय था। समान रक्त सम्बन्ध की आवश्यकता का बोध अग्नि से की गयी प्रार्थना से होता है। जिसमें कहा गया है कि हमें बलवान्, शत्रु संहारक तथा नवीन पुत्र दो क्योंकि दत्तक पुत्र अन्त में अपने स्थान पहुँच जाता है[5] साथ ही यह भी धारणा थी कि पुत्र से प्राप्त होने वाला

---

1. अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्। अतूर्तं श्रावयत्पति पुत्रं ददाति दाशुषे।। ऋ० 5.25.5
2. सुवीरासो अभिमातषाहः स्मत्सूरिभ्योः गृणते तद्वयोधाः।। ऋ० 2.4.9
3. वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। ऋ० 10.85.44
4. वृषा जजान वृषणं रणायतमु चिन्नारी नर्यं ससूव।। ऋ० 7.20.5
5. त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमु नः सहसावन्नवद्यात्।
   सन्त्वाध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्त्री।। ऋ० 7.4.9

बल कभी असफल नहीं होता।[1] पिता की आर्थिक स्थिति को भी पुत्र सुधार देता था। वीर पुत्र ही कृषि को पार कर नये प्रदेश जीतने तथा मरुतों के सम्मुख अपने घरों में सुरक्षित रहने के लिए वीर पुत्र ही सक्षम था।[2]

ऋग्वैदिक आर्य स्वयं वीर थे इसी कारण वीर पुत्रों की कामना करते थे। वे दूसरे के द्वारा विजित धन का उपयोग नहीं करते थे। बल्कि स्वविजित सामग्री पर ही निर्वाह करते थे।[3]

उनके विचार हैं कि हमारे कुल में कोई भी दूसरे के धन का उपयोग नहीं करता अर्थात् पुत्र एवं पौत्र भी पराए धन का प्रयोग नहीं करते।[4]

ऋग्वैदिक आर्यों का विचार था कि हम अपने शरीर से अथवा पुत्रों के साथ अपने शत्रुओं को हिंसित करें।[5]

प्रजनन और वंश संरक्षण के लिए ऋग्वैदिक आर्यों का विचार था कि सन्तान द्वारा मनुष्य फिर से नया जन्म धारण कर अनेक रूप हो जाता है। एक ऋचा में रुद्र से कामना की गयी है कि धर्मानुसार उत्पादित सन्तान से मनुष्य अनेक रूप हो जाता है।[6] अथवा नूतन जन्म धारण करता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि रक्षण, भोजन के अतिरिक्त पुत्र पिता की वृद्धि भी करता है।[7] इसीलिए विवाह सूक्त में नव वधु को दस पुत्र वाली होने का एवं यजमान को सन्तान द्वारा वृद्धि करने की कामना की गयी है।[8]

ऋग्वैदिक समाज– इसमें सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता था और उसी से कुल का नाम चलता था वही वंश की वृद्धि, करने वाला था। इसीलिए पुत्र की प्रबल कामना की गयी है। मनुष्य अपने अथक परिश्रम से सम्पत्ति प्राप्त करता था और उसका वह स्वयं उपयोग करना चाहता था।

---

1. यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा।
   महीमस्मुरुषामुरु ज्रयो वृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः।। ऋ० 5 44.6
2. तं नः सहस्रभरमुर्वरासां दद्धि सूनो सहसो वृत्रतुरम्। ऋ० 6.20.1
3. अस्मे वीरो मरुतः शुष्म्यस्तु जनानां यो असुरो विधर्ता।
   अपो येनसुक्षितये तरेगाघ स्वमोको अभि वः स्याम।। ऋ० 7.56.24
4. मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा।। ऋ० 5.70.4
5. पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा। तुर्य्याम दस्यून्तनूभिः।। 5.70.3
6. प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः।। ऋ० 2.33.1
7. प्र प्रजाभिजार्यते धर्मणस्परि।। ऋ० 6.70.3
8. आ साच्यं कुपयं वर्धनं पितुः।। ऋ० 1.140.3

ऋग्वैदिक काल का यह विचार है कि पुत्र ही माता पिता का गुप्त नाम धारण करता है।[1] ब्रह्मचर्य तथा यज्ञ के बाद तृतीय कर्म सन्तानोत्पादन कहा गया है।[2] ऐसी विचारधारा थी कि पुत्र के द्वारा पिता अमर हो जाता है।[3] पुत्र पिता के वंश में वृद्धि करता था। सोम तथा अग्नि की स्तुति में कहा गया है कि पूजक, कर्मनिष्ठ, गृहकार्य परायण, यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले तथा पिता के यश में वृद्धि करने वाला पुत्र दें।[4] देवियों से भी धनी एवं वीर्ययुक्त पुत्र की ही कामना की गयी है।[5] ऋग्वैदिक पुत्रों को सुख का स्रोत समझकर ही घर में आनन्दित करने वाले पुत्र की कामना की गयी है।[6] अपने पुत्र को अंक में धारण करना परम सुख था।[7] ऋग्वेद की एक ऋचा में अग्नि को औरस पुत्र के समान कहा गया है।[8] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि अग्नि विरचित स्तोत्र का उसी प्रकार आनन्द ले जिस प्रकार मनुष्य अपने औरस पुत्र में लेता है।[9] वृषशाली पुत्र उत्पन्न करना पिता के लिए गर्व की बात कही जाती थी। (वैदिक साहित्य और संस्कृति–डॉ. किरण कुमारी) दीर्घतमा ने सूर्य के गुणों एवं कार्यों का वर्णन करते हुए कहा है कि वह प्रशंसनीय पावन, बुद्धिमान् पुत्र अपनी माया से भुवनों को पवित्र करता है।[10]

ऋग्वैदिक समाज में पुत्रों को प्राप्त करने के लिए की गई प्रार्थनाओं का कारण वृद्धावस्था में उचित सहयोगी, शत्रुओं से रक्षा तथा भोजन सामग्री एकत्र करने के कारण ही था।

इन सब कारणों के अतिरिक्त ऋग्वैदिक आर्यों का विचार था कि पुत्र ही पितृ ऋण मुक्ति दिला सकता है। पुत्र को ऋणच्युत कहा गया है।[11]

---

1. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।। ऋ० 10.85.45
2. इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम।। ऋ० 10.183.1
3. दधाति पुत्रोऽवरं परं पितु नामतृतीयमधि रोचनेदिवः। ऋ० 1.155.3
4. द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।। ऋ० 10.56.6
5. ऋ० 1.68.4, 5.4.10
6. ऋ० 1.91.20. 5.25.5, 10,80.1
7. ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्।। ऋ० 2.32.4
8. पुत्रो न जातो रण्वो दूरोणे वाजी न प्रीतो विशोवि तारीत्।। ऋ० 1.69.5
9. नित्यं न सुनुं मधु विभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीडा विदथेषु घृष्वयः।। ऋ० 1.166.2
10. स वह्निः पुत्रः पुत्रो पवित्र वान्पुनाति धीरो भुवनानिमायया।। ऋ० 1.160.3
11. इयमददाद्रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे। ऋ० 6.61.1

अपनी निजी सन्तान की पितृ यज्ञ में नियुक्ति होती थी।[1] इसीलिए पत्नियों के समीप आने का फल सन्तान प्राप्ति माना जाता था। त्वष्टा से प्रार्थना की गयी है कि पत्नियाँ जब भी हमारे पास आवें तो शोभन करों से युक्त, त्वद्यवीर पुत्र धारण करे।[2] पुत्र ही पिता के लिए स्वर्ग में स्थान सुरक्षित कर सकता था।[3] इन्हीं सब कारणों से ऋग्वैदिक समाज में पुत्रों का अत्यधिक महत्त्व था। पुत्र हीन होना बहुत बड़ा दुख था। अनेक प्रार्थनाओं में पुत्रहीनता से बचने[4] तथा औरस पुत्र की प्राप्ति की कामना की गयी है। पुत्रों के निम्न प्रकार थे। (1) औरस (2) पुत्रिका पुत्र (3) क्षेत्रस (4) गुढ़ज (5) कार्ननेन (6) दत्तक (7) अपविद्ध। किन्तु औरस पुत्र का अपना अलंग महत्त्व था।[5] पौनर्भव पुत्र की संज्ञा उस समय प्रचलित हुई होगी जब विधवा विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। ऋग्वेद में उल्लेख है कि यदि पति लुप्त हो जाए तो स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है।[6] यह विचार निश्चित रूप से पुत्र उत्पन्न करने के लिए ही रहा होगा।

पुत्री–

ऋग्वैदिक समाज पुरुष प्रधान समाज था। जिसके कारण पुरुष का सन्तान की कामना करना स्वाभाविक था। इसीलिए पुत्री का सन्दर्भ बहुत कम स्थानों पर आया है। पुत्र जन्म से मरण तक अपने ही कुल में रहता था किन्तु पुत्री को युवा होने पर पति के घर जाना पड़ता, जहाँ वह घर की साम्राज्ञी होती थी। इसके अतिरिक्त अनार्यों तथा शत्रुओं से युद्ध करना तथा कृषि कार्य के लिए जमीन तोड़ना आदि कार्य पुत्रियों से संभव नहीं थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर स्त्री सेना एवं कृषि में सहायता करने वाली कन्याओं का भी उल्लेख है। फिर भी ये पुत्र की अपेक्षा उपेक्षित ही रही हैं। यद्यपि कहीं भी इनके प्रति घृणा की

---

1. वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनमः परिष्वजे। ऋ० 10.40.10
2. आ यन्नः पत्नीगर्भन्त्यच्छा त्वष्टा सुमार्ण्दिधातु वीरान्।। ऋ० 6.34.30
3. ता ईं वर्द्धन्ति मह्यस्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसे भुजे। दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम्..... .....।। ऋ० 155.3
4. मानोऽग्ने ऽमतये मावीरता यै रीरधः। ऋ० 3.16.5
5. तन्नु वोचाम रभसाय जन्मने पूर्वं महित्वं वषभस्य केतवे।
   ऐधेव यामन्मरुतस्तुविष्वणो युधेव शक्रास्तविषाणि कर्त्तन।। ऋ० 1.166.1
6. पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम्।
   स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा।। ऋ० 6.49.8

भावना दिखाई नहीं देती क्योंकि पुत्र की तुलना में यह शब्द कम प्रयुक्त हुआ है तथा पुत्री की कामना भी नहीं की गई है।

ऋग्वेद में पुत्री के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जिसमें दुहितर, कना, कनी, कनीनका, कन्या, कन्यना प्रमुख हैं। दुहिह दुह धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है दोहना या दूध निकालना[1] अन्य शब्द कन धातु से निष्पन्न है। कन शब्द का अर्थ नव उत्पन्न होना बताया गया है।[2] इसके अतिरिक्त यू धातु के योषा, योषना, योषित आदि शब्दों का प्रयोग युवा कन्या के लिए हुआ है। ऋग्वैदिक समाज यद्यपि पुत्रियों की याचना, कामना नहीं करता था, फिर भी उसके महत्त्व को स्वीकार करता था। यदि पुत्र को शत्रुओं का हनन करने वाला कहा गया है। तो पुत्री को भी विराट् कहा गया है।[3] पुत्रियाँ भी धार्मिक शिक्षा ग्रहण करती थीं। अनेक सूक्तों के निर्माता के रूप में भी स्त्रियों का उल्लेख है।[4]

ऋग्वैदिक कन्यायें अपने महत्त्व के कारण ही अनेक अवसरों पर प्राथमिकता पाती थीं। वे विवाह तथा भोज में सुन्दर वस्त्र धारण करके उपस्थित होती थीं।[5] कन्या को शुभ का प्रतीत तथा धन और प्रजा प्रदान करने वाली कहा गया है। उषस् को दिव्य पुत्री कहकर उससे धन तथा प्रजा की कामना की गई है।[6] स्त्री से सन्तान तथा सन्तान से धन होता था अतः कन्या को ही धन तथा सन्तान अर्थात् प्रजा का आधार मानकर उसे महत्त्व दिया जाता है। स्त्री का महत्त्व मातृत्त्व प्राप्त करने में ही था। इसीलिए विवाहित होना आवश्यक था।

ऋग्वैदिक समाज ने कन्या को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी थी। वह अलंकृत होकर समाज में जाती थी,[7] जहाँ अपने पति का चुनाव भी करती थी। उसके

---

1. मैक्समूलर बायोग्राफिज ऑफ दि बर्ड्स, पृ० 150
2. वर्मा, सिद्धेश्वर, एथिमोलाजीज ऑफ यास्क, पृ०55 तथा कार्वे इरावती।
3. ए०बी०ओ० आर०, पृ० 90
4. मम पुत्राः शत्रुणोऽथो मे दुहिता विराट्।। ऋ० 10.159.3
5. आते सुपर्णा अमिनन्तँ एवैः कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्।
   शिवाभिर्न समयमानाभिरागात्पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्रा। ऋ० 1.79.2
6. रयिं दिवो दुहितरो विभातीः प्रजावन्तं यच्छतास्मासु देवीः।
   स्योनादा वः प्रतिबुध्यमानाः सुवीर्य्यस्य पतयः स्याम।। ऋ० 4.51.10
7. अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
   घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः।। ऋ० 4.58.8

अलंकरण में माता सहायता करती थी जिससे वह पुरुषों को सम्मोहित करे।[1] कन्या अपने प्रेमी से गुप्त या संकेत स्थानों से मिल सकती थी।[2] किन्तु इस सम्बन्ध से होने वाले सन्तान को समाज में मान्यता नहीं थी।[3] अपनी सुन्दरता के कारण जो कन्या स्वयं अपने पति का वरण कर लेती थी उसकी प्रशंसा की गयी है।[4] ('वैदिक साहित्य और संस्कृति, डॉ किरण कुमारी)

विचारकों ने कन्या को अविवाहित रहना दुर्भाग्यपूर्ण माना था। घोषा ने वृद्धावस्था में विवाह किया था। फिर भी कुछ कन्यायें अविवाहित रह जाती थीं। वे पितृ कुल में ही वास करती थीं और पिता के कार्यों में सहायता करती थीं।[5]

ऋग्वेद में उल्लेख आया है कि वृद्ध पुरुषों को युवती कन्यायें अश्विनी की कृपा से ही प्राप्त हो सकती हैं।[6] एक पुत्र न होने पर पिता अपनी पुत्री को अपने यहाँ रखता था और पुत्री का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होता था। इसलिए भातृविहीन कन्याओं का विवाह एक समस्या हो जाती थी क्योंकि भातृविहीन कन्या से विवाह करने पर प्रथम पुत्र कन्या के पिता का हो जाएगा। इस प्रकार विचारकों ने सर्वप्रथम अपना वंश चलाने पर अधिक बल दिया था।

ऋग्वैदिक समाज में पिता-पुत्री का यौन सम्बन्ध हो सकता था अथवा नहीं इस पर विद्वानों में विवाद है।[7] किन्तु कुछ ऋचाओं के देखने से इनके सम्बन्ध को स्वीकार किया जा सकता है।[8]

---

1. सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे हरो कम्।
   भद्रा त्वमुषो वितरं व्युच्छ न तत्ते अन्या उषसो नशन्त।। ऋ० 1.123.11
2. अभि गावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम। अगन्नाजिं यथा हितम्।। ऋ० 9.32.5
3. वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानन्निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ। व्यन्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व।। ऋ० 4.19.9
4. भद्रा बधूर्भवति मत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं बनुते जनेचित।। ऋ० 10.26.13
5. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
   शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे। ऋ० 8.91.5
6. जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्। प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रा...।। ऋ० 1.116.10
7. एस० सी सरकार तथा कवि ने सम्बन्ध माना है। जबकि शिवराज शास्त्री ने सम्बन्ध नहीं माना है। 3.3.1 का अन्य ऋचाओं से कोई सम्बन्ध शास्त्री स्वीकार नहीं करते इसीलिए इसे परवर्ती काल की रचना मानते है।
8. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।। ऋ० 1.164.33

दशम मण्डल में कहा गया है कि पुत्रोत्पादन में समर्थ प्रजापति का वीर्य बढ़कर निकला। प्रजापति ने मनुष्यों के हित के लिए शुक्र का त्याग किया और अपनी सुन्दरी कन्या के शरीर में शुक्र का सेंक किया।[1] रात्रि कामी होते ही पिता और युवती कन्या का समागम हुआ और कुकर्म के आधार पर पिता ने उन्नत स्थान में उस अल्प शुक्र का सेंक किया।[2] पुत्री और पिता के सम्भोग और शुक्र सेंक से सुकृति देवों ने व्रतरक्षक यद्र का निर्माण किया।[3] इस प्रकार से ऋग्वैदिक विचारधारा ने प्रजा के लिए तथा सुरक्षा के लिए पिता-सुश्री के सम्बन्ध को भी मान्यता प्रदान कर दिया था।

भ्रातृहीन होना पाप था। ऐसी कन्याओं को समाज घृणा की दृष्टि से देखता था। इन्हें अनृत लोगों की तरह इधर-उधर वाली पति के द्वेष करने वाली तथा दुराचारिणी कहा गया है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि भाई बहिन पर नियंत्रण रखता था और भाई बहिन अपने पिता की अनुपस्थिति में भाई के संरक्षण में रहती थी। किन्तु यदि भाई बहिन से बहुत छोटा हो तो इस सम्बन्ध की संभावना नहीं होती। कुछ विचारकों ने यह भी कहा है कि कन्या अपने छोटे भाई बहिनों की सेवा सुश्रूषा भी करती थी[5] और माता पिता के कार्यों में सहायता भी करती थी।[6]

ऋग्वैदिक समाज में पिता के बाद माता उसके बाद भाई और तब बहिन का उल्लेख मिलता है।[7] जो उनके महत्त्व क्रम में है। भाई को भ्रातर (पालन

---

1. प्रथिष्ट यस्य वीरकर्मनिषादनुष्ठितं नु नर्यो अप्रौहत्। पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा।। 10.61.5
2. मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याय।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ। ऋ० 10.61.6
3. पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो नि षिञ्चत्।। ऋ० 10.61.7
4. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरियो न जनयो दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदभजनता गभीरम्। ऋ० 4.5.5
5. माता च यत्र दुहिता च धेनू सवर्दुधे धापयेतेसमीची। ऋ० 3.55.12
6. द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा। ऋ० 1.191.6
यस्यावधीत् पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नाम इषते। ऋ० 5.34.4
7. द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
यस्यावधीत् पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरम् नाम इषते।। ऋ० 5.34.4

करना अथवा ले जाना)[1] जामि (रक्त से सम्बन्धित अथवा विवाह करने से सम्बन्धित)[2] तथा सजात के नामों से जाना गया है। सजात को एक साथ उत्पन्न के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

ऋग्वैदिक समाज में भाई शब्द का प्रयोग बहिन के लिए हुआ है। कोई भी भाई बहिन की रक्षा करने वाला होने के कारण ही भाई कहलाता था। डी०एन० शास्त्री ने उल्लेख किया है कि ऋग्वैदिक पिता की अपेक्षा भाई पर अधिक रक्षण का उत्तरदायित्त्व था।[3] ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में भाई के महत्त्व का वर्णन किया गया है और कहा गया है कि भ्रातृविहीन कन्यायें पथभ्रष्ट हो जाती हैं। देवी उषस् का वर्णन करते हुए एक ऋषि ने कहा है कि भ्रातृहीन के समान देवी उषस् रथ पर सवार होकर पुरुषों के पास जाती है, यह पति की कामना करने वाली सुन्दर वस्त्र से आच्छादित पत्नी के समान अपने रूप का प्रदर्शन मुस्कुराती हुई करती है।[4] ऋषि वामदेव ने विचार व्यक्त किया है कि पति से द्वेष करने वाली पत्नियों में भ्रातृहीन कन्यायें ही अधिक होती हैं[5] जहाँ भी द्यौतक देने का उल्लेख है वहाँ देने वाला भाई कहा गया है जबकि दामाद से धन लेने वाला पिता कहा गया है।[6] भाई ही बहिन का नाथ और रक्षक होता है।[7]

यम-यमी संवाद सूक्त में ऋषि ने यम के मुँह से कहलाया है कि भविष्य में ऐसा युग आएगा जब भाई-बहिन एक दूसरे के साथ गमन करेंगे[8] जो पाप है।[9] भाई के लिए बहिन व्याकुल रहती थी। इसलिए संभावना की गयी है कि

---

1. मैक्समूलर, बायोग्राफीज ऑफ दि बर्डस।
2. प्रोसेंशिंग एण्ड ए ट्रांसेक्शन्स ऑफ आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस 15 वाँ सेशन बम्बई, नबम्बर 19.49
3. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गातारूगिव सनये धनानाम्।
   जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरीणीते अप्सः।। ऋ० 1.124.7
4. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
   पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्। ऋ० 4.5.5
5. अश्रंवं हि भूरिदावत्तरा वा विजमातुरुत वा धा स्यालाल।। ऋ० 1.109.2
6. वही 10.10 ऋ० का० पा०स० से साभार।
7. आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
   उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।। ऋ० 10.10.10
8. न वा उते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।। ऋ० 10.10.12
9. यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारोभूत्वा निपद्यते।
   प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि।। ऋ० 10.162.5

भाई का रूप शरण करके कोई भी प्रेत बहिन के पास जा सकता है। इसलिए उससे बचना चाहिए। संभव है उस समय यौन सम्बन्ध होता रहा हो, किन्तु यम-यमी संवाद से ऐसी शंका निर्मूल हो जाती है। अतः भाई बहिन का सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

भाई छोटे भाईयों का भी रक्षक होता था। क्योंकि इन्द्र को अपने भाई का पालन करने तथा हवि में भी भागीदार बनाने का उल्लेख है।[1]

यहीं यह भी कहा गया है कि भाईयों की सहायता से इन्द्र ने अपने शत्रु वृत्रासुर की मायाओं को पराभूत किया था।[2] बड़े भाई जिस कार्य को नहीं कर पाते थे अथवा करते हुए यदि विनष्ट हो गए रहते थे तो छोटा भाई उसे करने में घबराता था।[3] किन्तु भाई के प्रतिशोध का बदला लेना भी भाई का परम कर्त्तव्य था, जिसे करना आवश्यक था।[4] भाई के पाप का प्रायश्चित भी भाई करता था।[5] अत्रि ऋषि के अनुसार भाई, दाता, मित्र अथवा पड़ोसी से यदि अपराध हो जाता था तो वरुण से उसके विनाश की याचना की जाती थी क्योंकि वही उसके विनाशक हो सकते थे।[6] भाईयों में ज्येष्ठ ही मुख्य होता था। एक स्थल पर कहा गया है कि सारे यजमानों में हमारे ज्येष्ठ भ्राता स्तुति करते हैं।[7] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि अग्नि जब देवों का सन्देश लेकर ऋभुओं के पास पहुँचा तो उसने ऋभुओं जैसा ही रूप बना लिया। ऋभुओं को सन्देह हुआ कि हमारे ज्येष्ठ आया है अथवा कनिष्ठ।[8] इस प्रकार से ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ के अन्तर को महत्त्व दिया जाता था। इन्द्र को ज्येष्ठ कहा गया है।[9]

---

1. बृहस्पतिं यः सुभृतं विभर्ति बल्गूयति बन्दते पूर्व भाजम्।। ऋ० 4.50.7
2. स सनीऽेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुनं ऋते स्पतथस्य मायाः। ऋ० 10.91.2
3. अग्नेः पूर्वे भ्रतरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्दावरीवुः।। ऋ० 10.51.6
4. यस्यावधीत्पितरं यस्यमातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते। वेतीद्वस्य प्रयता यतङ्करो न....... .....।। ऋ० 5.34.4
5. यस्यावधीत्पिरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते। वेतीद्वस्थ प्रयता यतङ्करो न किल्विषादीषते।। ऋ० 5.34.4
6. अर्यभ्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं व सदमिद् भ्रातरं वा। वेशं वा नित्य वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्।। ऋ० 5.85.7
7. इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति।। ऋ० 10.11.2
8. किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन्किमीयते दूत्यंश्कद्यदूचिम। ऋ० 1.161.1
9. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुधा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः।। ऋ० 5.60.5

और यह भी कहा गया है कि ज्येष्ठ होने के कारण इन्द्र पहले सोम का सवन करे।[1] कपाड़िया ने उल्लेख किया है कि ऋग्वैदिक समाज में ज्येष्ठाधिकार की विचार धारा कायम थी।[2] ऋग्वेद की एक ऋचा (1.60.5) से स्पष्ट होता है कि सम्पत्ति का बंटवारा सभी पुत्रों में होता था किन्तु यह भी उल्लेख मिलता है कि ज्येष्ठ होने के कारण इन्द्र को यज्ञ में हवि का अधिकार था। हवि प्राप्त न होने पर इन्द्र रुष्ट हुआ, तब अगस्त्य ऋषि ने कहा हे इन्द्र। मरुत तुम्हारे भाई हैं उनके साथ हवि का उपभोग करो।[3] यहाँ यह स्पष्ट है कि बहिन भाई के सम्बन्ध मधुर होते थे। भाईयों में प्रेम होता था किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के कारण ज्येष्ठ भाई की जिम्मेदारियाँ अधिक थी।

बहिन–

ऋग्वैदिक समाज में बहिन का उल्लेख भाई के बाद ही आता है।[4] ऋग्वेद में बहिन के लिए स्वसर और जमि शब्द का उल्लेख मिलता है। मैक्समूलर ने परिवार की कुशलता को ध्यान में रखने वाले को स्वसर कहा है।[5] पुरुष देवों को भाई तथा स्त्री देवियों को बहिन कहा गया है। उषस् और रात्रि स्त्री देव है जो बहिन या भगिनी रूप हैं।[6] ('वैदिक साहित्य और संस्कृति, डॉ० किरण कुमारी)

अनेक स्थानों पर देवियों को पुरुष देवों को बहिन कहा गया है।[7] बहिन की ही अपेक्षा से भाई उद्भूत हुआ है। बहिन का रक्षक भाई को कहा जाता था।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर उल्लेख है कि बहिनें अपने भाई तथा बहिनों की सेवा-सुश्रूषा करती थीं।[8] एक स्थान पर उल्लेख आया है कि पुरोहितों

---

1. ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय। ऋ० 8.2.23
2. कपाडिया के० एम०, हिन्दू किनशिव, पृ० 206
3. किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव। तेभिः कल्पस्व साधुया मानः समरणे वधीः।। ऋ० 1.170.2
4. द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।। ऋ० 1.191.6
5. मैक्समूलर बायोग्राफीज ऑफ दि बर्डस्, पृ० 11
6. स्वसां स्वस्रे ज्यायस्यै योनिभारैगपैत्यस्याः प्रतिचक्ष्येव।
व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्य्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगाइव ब्राः।। ऋ० 1.124.8
7. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व।
पश्चा स दध्या यो अधस्य धाता जयेम तं दक्षिणया रथेन।। ऋ० 1.123.5
8. माता च यत्र दुहिता च धेनू सवर्दुधे धापयेते समीची।
ऋतस्य ते सदसीळे अन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्।। ऋ० 3.55.12

की बहिन दूध में मधु मिलाती हुई मार्ग में चलती है।[1] भाई-बहिन का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ होता था क्योंकि कन्याओं को सतर्क करते हुए कहा गया है कि तुम्हारे पुत्र (सन्तान) को नष्ट करने भूतप्रेत भाई का रूप भी ग्रहण कर आ सकता है।[2] एक उल्लेख से तत्कालीन स्थिति को स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है, जहाँ कहा गया है कि भविष्य में ऐसा युग आएगा जब भगिनियाँ अपने विहीन भ्राता को पति बनायेगी।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि तत्समय भाई-बहिन के सम्बन्ध पवित्र थे।

इस प्रकार सामाजिक चिन्तकों ने समाज के महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में परिवार के महत्त्व को पूरी तरह समझते हुए परिवार में विभिन्न सदस्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण किया था। पति-पत्नी के रूप में स्त्री-पुरुष के अधिकारों में अधिकांश समानता का भाव व्यावहारिक और प्रगतिशील विचारों का संकेत देता है। परिवार में पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण सदस्यों के कार्यों को भी स्पष्टतः सुविचारित ढंग से प्रस्तुत किया गया। सबसे महत्त्व की बात विभिन्न सदस्यों के कर्त्तव्यों के बीच किसी प्रकार का विरोध न होना है जो परिवार के ठीक ढंग से कार्य करने और साथ ही स्वयं अपना और पुत्री के माध्यम से दूसरे परिवार से सम्बन्धित होकर उसका विकास करने में भी सहायक रहा है।

परिवार के संयुक्त होने के उदाहरण हमें अधिकाधिक प्राप्त होते हैं किन्तु समय एवं परिस्थितियों के थपेड़ों से परिवार जैसी सुदृढ़ संस्था में भी इस काल में विभाजन के बीज पड़ गये थे। साथ ही त्याग देने एवं पाप लगने का विवरण उसके टूटने के बीजारोपण की सूचना देता है। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि मैं तुम्हें समान हृदय वाला बनाता हूँ, तुम लोग एक जुट होकर कार्य करो, माता-पिता एक मनवाले हों, पुत्र उनके अनुगामी हों, पति की अनुगामिनी पत्नी हो तथा वे दोनों एक दूसरे से मधुरभाषी हों, भाई-भाई परस्पर स्नेह युक्त हों और बहिन-बहिन से स्नेह करे तथा वृद्धों का सम्मान हों।

---

1. अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः।। ऋ० 1.23.16
2. यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
   प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि।। ऋ० 10.162.5
3. आ धा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
   उप बर्बृहि बृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।। ऋ० 10.10.10

ऋग्वेद में वर्ण व्यवस्था–

भारतीय साहित्य में वर्ण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है। जो कि वैदिक युग की समाज रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। उसमें 'वर्ण का प्रयोग' 'रंग' अथवा 'आलोक' के अर्थ में है तथा यत्र-तत्र ऐसे वर्गों के लिए भी 'वर्ण' का व्यवहार हुआ है। जिनके शरीर की त्वचा श्याम थी अथवा श्वेत। तत्कालीन समाज में दो ही वर्ण थे, एक 'आर्य' और दूसरा 'अनार्य' या दास 'अथवा दस्युः'।[1] यह ऋग्वेद की रचना के पूर्व, अत्यन्त प्रारम्भ की सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें त्वचा को ही भेदक आधार माना गया था। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर 'आर्य' और 'दास' (अनार्य) की अनेकता और भिन्नता वर्ण के रूप में दर्शित की गई है।[2] उनके पारस्परिक संघर्षों की भी चर्चा की गई है, जिसमें दासों के हारने और आर्यों के जीतने का उल्लेख है।[3] 'दास' वर्ग को 'अव्रत' (देवताओं के नियम और व्यवहार को अस्वीकार करने वाले) 'मृध्रवाच (अमधुरभाषी) 'अपनासः' (चिपटी नासिका वाले) तथा 'अक्रतु' (यज्ञ न करने वाले) कहा गया है इस प्रकार 'आर्य' और 'दास' वर्ण के रूप में दो प्रतिपक्षी जन-जाति समूह थे जो एक दूसरे से कार्य व्यवहार, आचरण, संभाषण, रंग आदि में भिन्न थे। तत्कालीन समाज का यह विभाजन वर्गीय और सांस्कृतिक था, जिससे दो विपरीत जन-जातियों का स्वरूप विकसित हुआ। वेदों के अनुसार 'आर्य' सदाचरण और सद्वृत्तियों का अनुसरण करने वाले थे तथा 'दास' दुर्वृत्तियों, अनियमितताओं और अव्यवस्थाओं को उत्पन्न करने वाले। आर्य बाहर से आये थे। उन्होंने हड़प्पा संस्कृति के निवासियों को पराजित किया और 'दास' बनाया। आर्यों तथा यहाँ के मूल निवासियों के रक्त और रंग में अन्तर था, भाषा और बोल चाल में अन्तर था, आचार-विचार और रहन-सहन में अन्तर था। दोनों वर्गों में जन्मगत, रक्तगत, शरीरगत और संस्कारगत प्रजातीय भेद था। दोनों के कर्म भी अलग-अलग थे। अतः स्पष्ट रूप से 'आर्य' और 'दास' नामक दो वर्ण समाज में हो गए, जिनका वैदिक युग के प्रारंम्भिक काल तक पृथक् अस्तित्व

---

1. त्वे अग्ने सुमतिं भिक्षमाणा दिवि श्रवो दधिरे यज्ञियासः।
   नक्ताच चक्रुरुषसा विरूपे कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः।। ऋ० 1.73.7
2. तमुक्षमाणं रजसि स्व आ दमे चन्द्रमिव सुरुचं ह्वार आ दधुः।
   पृश्न्या पतरं चितयन्तमक्षभिः पाथो न पायुं जनसी उभे अनु।। ऋ० 2.2.4
3. अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
   उभौ वर्णावृधिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम।। ऋ० 1.179.6

बराबर बना रहा।

वर्णव्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप–

वैदिक काल के पूर्व युग में ही वर्णों का समाज संगठित होने लगा था और 'आर्य' और 'दास' के रूप में दो प्रधान प्रतिस्पर्धी वर्ग सामने आ चुके थे। यह वर्गीकृत विभाग उनके प्रजातीय और सांस्कृतिक पार्थक्य का प्रतीक था। दोनों वर्ग परस्पर विरोधी रूप में आगे बढ़े।

उत्तर वैदिक काल तक आते-आते 'आर्य' और 'अनार्य' (दास) का विरोध और द्विवर्ण का स्वरूप समाप्त-सा हो गया। इनके स्थान पर चातुर्वर्ण का उल्लेख अवश्य हुआ, किन्तु उस अंश की प्राचीनता उतनी नहीं है जितनी ऋग्वेद के अन्य प्रारंभिक ऋचाओं की। वैसे इन चारों वर्णों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित थे। निश्चय ही ये संबंध अन्तर्जातीय विवाह के कारण थे, जिनके परिणाम स्वरूप अनेक आर्यों ने अपने मूल अस्तित्व को ही खो दिया तथा अपनी मौलिकता और निजत्व को बनाये रखने में समर्थ हो गए। धीरे-धीरे वर्गगत और रक्तगत संकरता का विस्तार होता गया तथा विजातीयता का भी लोप होता गया। परिणामस्वरूप इस युग में दासीपुत्र औशिज, वत्स और दीर्घतमा जैसे लोग भी ऋषि कहलाए। श्यामवर्णीय शूद्र के अतिरिक्त धूसरवर्णीय क्षत्रिय भी समाज में अवस्थित हो गए। 'आर्य' वर्ण और 'दास' वर्ण का अन्तर प्रायः समाप्त हो गया। इससे व्यक्तिगत और समाजिक जीवन में बृहत् परिवर्तन आए। उनकी अनावश्यक प्रतिस्पर्धा निर्बल पड़ गई तथा सामूहिक सहयोग की भावना को बल मिला। सामंजस्य और समन्वय के कारण चार पृथक्-पृथक् वर्गो का विकास हुआ। 'अनार्य' अथवा 'दास' वर्ग चतुर्थ वर्ण के अन्तर्गत 'शूद्र' नामक एक पृथक् समुदाय के रूप में आर्यों की सामाजिक संरचना में सम्मिलित किया गया। किन्तु चतुर्थ वर्ण के बन जाने के बावजूद प्रारंभिक तीनों वर्णों ने जो आर्यों के रक्त से सीधे सम्बन्धित भी थे, अपनी रक्त, शुद्धता, श्रेष्ठता और उच्चता को बनाए रखा। यद्यपि इन तीनों वर्णों का भी पारस्परिक भेद-भाव था, परन्तु अनार्यों के संघर्ष में वे एक समूह के रूप में आये थे। इन चारों वर्णों का विकास एक समुचित व्यवसाय और श्रम के आधार पर हुआ था, जिसमें आर्य और आर्येतर दोनों का सम्मिलन था। प्रारम्भिक युग में इनके संमिश्रण पर कोई विशेष बंधन नहीं था। आर्यो और अनार्यों का जो कुछ भी सम्पर्क होता रहा उसमें कठोरता और पार्थक्य नहीं था। वे उसी सामाजिक स्वरूप में ग्रहीत किए

जाते रहे। आर्यों के परिवारों में अनार्य अथवा दास सेवक के रूप में स्थान पाते थे तथा सामाजिक व्यवस्था में सेवा-भाव से योग प्रदान करते थे। पूर्ववैदिक युग अर्थात् ऋग्वैदिक काल में आर्यों का अनार्य स्त्री के साथ सम्बन्ध निश्चित होता रहा है। यह सम्बन्ध वर्जित था, ऐसा कोई उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता। प्रत्येक युग और काल में ऐसे लोग रहे हैं जो सामाजिक नियम निर्देश के विरुद्ध यौन भावना के वशीभूत होकर रक्त, वंश आदि का बिना ध्यान किए स्त्रियों से संपर्क करते रहे हैं। ऋग्वैदिक काल में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो, मनोवेग से परिचालित होकर इंद्रिय सुख का उपभोग करते थे। आर्य विजेता थे और समाज के प्रशासक थे। अतः अनार्यों का उनका दास होना और अपने परिवारों के साथ उनकी सेवा करना स्वाभाविक था। इससे हड़प्पा और आर्य संस्कृतियां सम्मिश्रित होने लगीं। आर्यों ने अपनी संस्कृति और रक्त शुद्धता को बनाए रखने के लिए सम्पूर्ण समाज का पुनर्गठन किया और चार वर्णों की व्यवस्था की ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र। शूद्र के अन्तर्गत उन्होंने समस्त दास अथवा अनार्य वर्ग को सम्मिलित किया तथा प्रारम्भिक तीन वर्णों में आर्यों को संयोजित किया। समाज संगठन के इस नए स्वरूप से आर्य संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही तथा हड़प्पा की अनार्य संस्कृति विजेता की संस्कृति से प्रभावित होने लगी। इसके बावजूद अनार्यों की मूल प्रवृत्ति और संस्कृति अपनी कुछ निम्नस्तरीय संस्कृति को नहीं परिवर्तित कर सकी। उनकी कुछ निम्न और घृणास्पद परम्पराएँ बनी रहीं, जिसमें उन्हें पृथक् और निम्न बनाए रखने में आर्यों को सहायता मिली। फलतः आर्यों की सामाजिक व्यवस्था कठोर नियमबद्ध और रूढ़िबद्ध होने लगी। अनेक ऐसे नियम और निर्देश समाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत गृहीत किए गए जो एक दूसरे वर्ण को आपस में संयुक्त होने से अवरुद्ध करते थे। आर्य संस्कृति अपने मूलभूत स्वरूप को इसी सामाजिक व्यवस्था के कारण सुरक्षित रख सकने में समर्थ हुई।

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था और संगठन को सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करने के लिए वर्गगत समाजिक कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया। व्यवसाय और कर्म को प्रधानता देते हुए गुणों का आदर किया गया। आर्यो ने समाज के जिन विभिन्न समूहों अथवा वर्गों का निर्माण किया, उनमें उनके गुण के साथ-साथ उनके प्रधान कर्म को भी महत्त्व दिया। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों अथवा समूहों को उनके प्रधान गुण और कर्म के आधार पर विभाजित किया गया तथा उनके कर्मों को प्रबल

रूप से व्यवस्थित करके सही दिशा प्रदान की गई।[1]

ऋग्वेद में प्रथम सामाजिक संरचना के रूप में तीन वर्णों—ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्य का ही उल्लेख हुआ है। पहले दो वर्ग कवि-पुरोहित और वीर नायक के व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करते थे और तीसरा वर्ग सामान्य लोगों का समूह था, जिसमें समाज के शेष लोग सम्मिलित थे। ऋग्वेद के उत्तरवर्तीकाल में ये तीन वर्ग चार वर्गों में विकसित होकर सुदृढ़ हो गए। यद्यपि यह कहा जाता है कि पुरुष सूक्त फलतः परवर्ती रचना है। वर्ण व्यवस्था ऋग्वैदिक न होकर परवर्ती काल की सामाजिक व्यवस्था है।[2] ऋग्वेद के मूल अंश के लेखन तक संभवतः वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था विकसित नहीं हुई थी। कालान्तर में प्रक्षेपित अंशों के जुट जाने के कारण वर्ण व्यवस्था का सूत्र पूर्ववैदिक काल से ही मान लिया गया तथा इन वर्णों के कार्य और प्रस्थिति को देव-समर्पित रूप में ग्रहण किया गया, यद्यपि इनके कार्यों का सही पृथक्करण, इनके अन्य सम्बन्धों का मार्गदर्शन कराने वाले उपनियम तथा उनके लचीलेपन की सीमा चाहे ऋग्वैदिक साहित्य के मुख्य भाग में न वर्णित की गई हो, जो निश्चित रूप से कर्मकाण्ड अथवा पूजा-विधि के स्वरूप से सम्बन्धित थी।[3]

इस काल के अन्त तक वर्णों के सामान्य कर्म का प्रतिपादन हो चुका था। ब्राह्मण वर्ण ने तो निश्चय ही जाति के सभी लक्षणों को प्राप्त कर लिया था। यह सही है कि मात्र ऋग्वेद का ही साक्ष्य इसका प्रमाण नहीं किन्तु इस रचना में यत्र-तत्र ब्राह्मण को मिथ्या दावा उपस्थित करते हुए जाना जा सकता है।[4] इस युग में ब्राह्मण स्पष्टतः क्षत्रिय वर्ग से उच्च दर्शित किया गया है जो अपने ज्ञान, कर्मकाण्ड, मंत्रों आदि से दूसरे वर्ग को चौंका सकता था तथा उन्हें उलझन में डाल सकता था। निश्चय ही यह ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की ओर संकेत था। यह उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण अपने यज्ञों और तपों से राजा को सुरक्षित होने का आश्वासन प्रदान करता था और राजा अपनी उच्च राजनीतिक स्थिति के रहते हुए ब्राह्मणों के वचन को स्वीकार करने के लिए

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति (डॉ० किरण कुमारी)
2. दत्त, कोरीजन ऐंड ग्रोथ आफ कास्त इन इंडिया 1, पृ० 3
3. धूर्ये, कास्त, क्लास ऐंड आकुपेशन, पृ० 40 और वैदिक इंडिया के कतिपय, पृ० 1979:
4. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।

   त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।। ऋ० 10.71.9

तत्पर रहता था। ब्राह्मण की ही तरह राजा का स्वतंत्र वर्ग निर्मित हो चुका था। तात्कालीन समाज में सामान्य लोगों की संख्या समुचित थी, या यों कहा जाय कि क्षत्रिय वर्ण का समूह ब्राह्मण की तुलना में निर्बल नहीं था। सामाजिक कर्त्तव्य निर्वाह में यह वर्ग भी ब्राह्मण की तरह महत्त्वशाली था।

दैवी सिद्धान्त के रूप में वर्ण व्यवस्था के उद्‌भव का वर्णन महाभारत में भी किया गया है, अन्तर केवल इतना है कि विराट् पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु (जंघा) से वैश्य और तीनों वर्णों के सेवार्थ पद (पैर) शूद्र का निर्माण हुआ।[1] गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण का कथन है कि चारों वर्णों की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है। तथा मैं ही उनका कर्त्ता और विनाशक हूँ[2] परवर्ती साहित्य में भी वर्णों की उत्पत्ति दैवी मानी गयी है। वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त कतिपय स्मृतियों से भी वर्ण के उत्पत्ति विषयक उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। मनु ने यह उल्लेख किया है कि ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र को क्रमशः मुख, बाहु, जंघा और चरणों से निरवर्त किया।

पुराणों में भी वर्णों का उद्‌भव ईश्वरीय माना गया है तथा वर्ण व्यवस्था के महत्त्व को तद्वत् स्वीकार किया गया है। विष्णुपुराण में उल्लेखित है कि भगवान् विष्णु के मुख, बाहु जंघा और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, उद्‌गत हुए। मत्स्यपुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन है। वायु पुराण में क्षत्रिय वर्ण को ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न न मानकर वक्ष से उत्पन्न माना गया है यद्यपि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों से भी यही परिलक्षित होता है कि चातुर्वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय धर्म शास्त्रकारों ने वर्णो की उत्पत्ति पर ब्रह्मा से स्वीकार की और इस वर्ण व्यवस्था को आदिकालीन माना।

ग्यारहवीं सदी के लेखक अरब यात्री अलबेरूनी ने भी वर्णों की उत्पत्ति के विषय में पूर्व में उद्धृत कथनों से मिलता जुलता ही विवरण दिया है। उसके अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, हाथ से क्षत्रिय, जांघ से वैश्य और पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[3] निश्चय ही दैवी शक्ति से उत्पन्न यह वर्ण व्यवस्था

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति (डॉ० किरण कुमारी)
2. वही
3. छा० उप०, 5.10.7

प्राचीन काल से हिन्दू समाज में प्रचलित रही है। उत्पत्ति विषयक इस ईश्वरीय सिद्धान्त को प्रचारित भी किया जाता रहा है। धीरे-धीरे यह दैवी वर्ण व्यवस्था परम्परागत सिद्धान्त के रूप में भारतीय शास्त्रकारों द्वारा स्वीकार की गई।

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वर्णों का एक दूसरे वर्ण से सम्बन्ध, उनका एक दूसरे से उच्च स्थान तथा उनके विभिन्न निश्चित कर्मों का नियोजन है। जिससे भारतीय समाज में उनकी ऐतिहासिकता तथा कार्यप्रणाली का पता चलता है। तत्कालीन हिन्दू समाज का वर्णों में बंटा हुआ वर्गीकरण तथा व्यावहारिकता के आधार पर सुनिश्चित कार्य बिभाजन इसकी अपनी मौलिकता है।

कर्म तथा धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त–

हिन्दू सामाजिक विभाजन में कर्म का सिद्धान्त अपना विशेष महत्त्व रखता है। शास्त्रकारों द्वारा विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कर्म निर्धारित किये गए थे अथवा कर्म के ही आधार पर वर्णों का वर्गीकरण किया गया था। वैदिक युग के अत्यन्त प्रारम्भिक युग में जो लोग विद्या, शिक्षा, तप, यज्ञ, धार्मिकता आदि में अधिक रुचि रखते थे, वे ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत ग्रहीत किए गए। ऐसे लोगों का मुख्य कर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन और तप था। जो वर्ग शासन संचालन और राज्य व्यवस्था में योग देता था तथा जिसका प्रधान कर्म देश की रक्षा एवं प्रशासन आदि था वह राजन्य (क्षत्रिय) वर्ण से सम्बन्धित किया गया। पशुपालन, कृषि और व्यापार जिसका प्रधान कर्म था, वह वैश्य वर्ण का माना गया। समाज के तीनों वर्णों की सेवा और परिचारक वृत्ति करने वाला वर्ग शूद्र वर्ण का कहा गया। इस प्रकार वर्णों के ये प्रधान कर्म थे, जिनके आधार पर इनका उद्भव हुआ था। कालान्तर में समाज व्यवस्थापकों ने उपर्युक्त कर्मो के आधार पर समाज में चार वर्णों का निर्माण किया और उनके नियम और कर्म को निर्धारित कर समाज को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। इन्हीं वर्गगत कर्मों को वर्ण-धर्म कहा भी गया है, जो प्रधान रूप से उनके कर्त्तव्य से सम्बद्ध था।

कर्म का यह सिद्धान्त धार्मिक परिप्रेक्ष्य में और भी सबल होकर वर्णों के जीवन में सशक्त और जीवन्त हुआ। फलतः कर्मफल का दर्शन भी विकसित हुआ तथा पुनर्जन्म की भी व्याख्या की गई। किए गए कर्म के आधार पर ही मनुष्य का जन्म माना गया। यह व्याख्या की गई की मनुष्य जो वर्तमान जीवन जीता है वह पिछले जन्म में किए गए कर्म का ही प्रतिफल है। अतः अच्छा कर्म करने वाले का जन्म मनुष्य योनि के उच्च वर्ण में होता है और बुरा कर्म

करने वाले का कुत्ता, शूकर और चाण्डाल जैसी अशुभ योनियों में। स्पष्ट है कि अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को उच्च और निम्न पद मिलता है तथा वह भिन्न-भिन्न वर्णगत परिवारों में जन्म लेता है। यह विदित है कि ऋग्वैदिक काल के प्रथम चरण में (आर्य) और 'दास' नामक दो वर्ग अथवा वर्ण थे। इन दोनों वर्गों का विभाजन आचारमूलक, व्यवहारमूलक और कर्ममूलक था। दोनों के भिन्न-भिन्न कर्म थे। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि 'समस्त विश्व को आर्य बनाओ।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि संसार के लोगों को 'आर्य' तभी बनाया जा सकता था जब इन दोनों का अन्तर जन्म अथवा रक्त पर आधारित न होकर कर्म पर आधृत रहा हो। सत्कर्म करने वाले 'आर्य' थे और दुष्कर्म करने वाले 'दास' अथवा 'अनार्य'। आर्य और 'दास' का भेद आचारपरक भी था और विचारपरक भी। बौद्ध ग्रन्थ 'मज्झिम निकाय' में कहा गया है —'हे आश्वलायन, क्या तुम जानते हो कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमावर्ती देशों में 'आर्य' और 'दास' दो वर्ण होते हैं? 'दास आर्य हो सकता है और आर्य 'दास'[2] हो सकता था और कर्म से ही आर्य। कालान्तर में जब समाज का चार वर्णों में विभाजन हुआ तो वह भी कर्म पर ही आधृत था तथा चारो वर्णों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ अथवा क्रियाएँ निर्दिष्ट थीं। इस दृष्टि से वर्ण व्यवस्था वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें चार प्रधान प्रवृत्तियों के आधार पर समूहों का विभाजन किया गया। प्रत्येक समूहगत व्यक्ति की प्रधान वृत्ति उसके गुणयुक्त कर्म को उत्पन्न करती है अतः वृत्ति गुण युक्त कर्म से समन्वित है। गुण वह मानसिक प्रवृत्ति है। जो मनुष्य के जैविक और मानसिक चयन में निहित क्षमताओं से उत्पन्न होती है। अतः वर्ण विभाजन में व्यक्ति के कार्यों को आधार माना गया है, जिसमें सिद्धान्त की व्यावहारिकता तथा उसकी व्यापकता की झलक मिलती है।

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कर्म को महत्त्व प्रदान किया गया है। कर्त्तव्य के लिए कर्मों का सम्पादन अमृतत्व का साधन माना गया है[3] उपनिषदों के अनुसार ऐसा व्यक्ति ब्रह्मज्ञानियों में वरिष्ठ और श्रेष्ठ होता था।[4] ज्ञान युक्त

---

1. इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वंतो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः।। ऋ० 9.63.5
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति (डॉ० किरण कुमारी)
3. मनु० 39.1.1.8
4. मनु० 3.1.4

कर्म अपूर्णता को दूर कर अमृत्त्व को प्राप्त करने वाला माना गया था।[1]

याज्ञवल्क्य ऋषि ने जीवन मीमांसा करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि पाप कर्म का फल पाप होता है और पुण्य कर्म का फल पुण्य।[2]

पुराणों में भी कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है तथा यह माना गया है कि पूर्वजन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए।[3] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कर्म के आधार पर वर्णों का उत्कर्ष हुआ।

ऊपर के दृष्टान्त यह प्रमाणित करते हैं कि वर्णव्यवस्था के मूल में कर्म का सिद्धान्त अत्यधिक प्रभावशाली था। वस्तुतः वर्णव्यवस्था के प्रारम्भिक स्वरूप का निर्माण कर्म के ही आधार पर हुआ। इसका उदय और विकास कर्म के सिद्धान्त पर अपेक्षा कृत अधिक अवलम्बित था। विभिन्न वर्णों के कर्म और कर्तव्य मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं, बल्कि पारिवारिक और सामाजिक जीवन को भी उन्नत करते रहे हैं समाज का सुव्यवस्थित और सुगठित रूप वर्णों के निर्धारित कर्मों से ही पुष्ट और चुस्त होता है। विभिन्न वर्णों के प्रतिपाद्य कर्म वर्ण धर्म के नाम से समाज में अवस्थित हुए जो बाद में सामाजिक जीवन के प्रधान अंग बन गए।

गुण का सिद्धान्त–

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल में गुणों की भी अभिव्यक्ति मानी गई है और मनुष्य अपने गुणों से महान् होता है न कि अपने वंश अथवा परिवार से। उसके अन्तः और ब्राह्य गुण ही उसको श्रेष्ठ पद की प्राप्ति कराते हैं। उसकी आंतरिक प्रकृति, विभिन्न, प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ गुण को व्यक्त करती हैं। ये गुण कई प्रकार के होते हैं। प्रकृति के तीन गुण निर्दिष्ट किए गए हैं– सत्त्व, रज, तम।[4] सत्त्व गुण अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, दोषरहित, ज्ञानप्रदाता और सांसारिकता से विमुख कराने वाला होता है। इससे व्यक्ति को वास्तविक सुख और ज्ञान का आभास मिलता है। अपनी सात्त्विकता के कारण यह गुण श्रेष्ठतम माना गया है। इस गुण के कारण मनुष्य अपनी उच्च स्थिति बना लेता है तथा अन्य लोगों से पूर्णतः अलग दर्शित होता है। रजोगुण से प्रेरित होकर

---

1. ई० उ० 9.11
2. बृहदा० उ० 3.2.13
3. ब्रह्माण्ड पु० 27.133 वायु० पु० 8.140.41
4. गीता, 14.5

मनुष्य अनुरक्त होता हुआ अपने कर्मों को सम्पन्न करता है। तथा संसार सागर का संतरण करता है। सत्त्व गुण की तुलना में रजोगुण निम्न है, क्योंकि यह मनुष्य को भौतिक और सांसारिक सुख की ओर आकृष्ट करता है तथा उसे बंधन से आबद्ध करता है। तमोगुण से अज्ञान की सृष्टि होती है। जब अज्ञान का प्रभाव होता है। तब भ्रम, आलस्य, प्रमाद, निद्रा, मोह आदि का उदय होता है और तमस् गुण अज्ञान का द्योतक माना गया है।[1] इन्हीं गुणों से मनुष्य अपना विकास करता है। इन तीनों गुणों में सत्त्व गुण ही सर्वश्रेष्ठ और आदरणीय कहा गया है। सभी वर्णों के अलग-अलग गुण निर्देशित किए गए हैं, जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ग्रहीत करते थे। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वभाव के आधार पर ही मनुष्य का गुण विकसित होता है। ब्राह्मण के लिए सत्त्वगुण की, क्षत्रिय के लिए रजोगुण की, वैश्य के लिए तमस् और रजस् दोनों गुणों के मिश्रित स्वरूप की तथा शूद्र के लिए तमोगुण की अपेक्षा की गई। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि जिसमें सत्त्वगुण था वह ब्राह्मण माना गया, जिसमें रजोगुण था वह क्षत्रिय, जिसमें रजस् और तमस् दोनों गुणों का सम्मिश्रण था वह वैश्य तथा जिसमें तमोगुण था वह शूद्र माना गया। अतः वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का यह गुणात्मक सिद्धान्त कहा जा सकता है। मनु[2] ने भी तीन प्रकार के गुणों की चर्चा की है। –सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। सत्त्वगुण ज्ञान समन्वित, रजोगुण राग-द्वेष-युक्त तथा तमोगुण प्रतिकूल ज्ञान से युक्त था।[3] प्रीति से संयुक्त, क्लेशरहित और प्रकाश युक्त लक्षणों से युक्त आत्मा सत्त्वगुण सम्पन्न मानी गई।[4] इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण वर्ग का सदस्य माना गया। सात्विक गुण का लक्षण था –वेदों का अभ्यास, तप, ज्ञान, शोच (शुद्धि) इन्द्रिय संयम, धर्म कार्य और आत्मा का चिन्तन।[5] ये समस्त लक्षण ब्राह्मण वर्ग के थे। दुःखयुक्त, अप्रीतिकारक तथा शरीर को विषयों की ओर आकृष्ट करना रजोगुण समन्वित था।[6] रजोगुण युक्त शक्ति के लक्षण थे।

---

1. गीता, 14.6.9
2. मनु, 12.-24
3. वही, 12.36
4. मनु, 12.-27
5. वही, 12.31
6. वही, 12.36

आरम्भ किए गए कार्य में रुचि न रखना, धैर्य का अभाव, शास्त्रवर्जित कर्म का आचरण, सर्वदा विषयों में आसक्ति। राजसिक गुण के ये लक्षण क्षत्रियों में रहे हैं। वही इन रजोगुणों से सम्पन्न माने गए हैं। शौर्य, साहसिक कार्य, शासन प्रजा रक्षा आदि क्षत्रियों का प्रधान कर्त्तव्य रहा है जो मोह युक्त हो, जिसके विषय का आकार अस्पष्ट हो, तर्क-शून्य हो तथा दुर्ज्ञेय हो वह तमोगुण माना गया।[1] लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्य कर्म का त्याग, माँगने का स्वभाव और प्रमाद, ये तामस गुण के लक्षण कहे गए हैं।[2] वैश्यों में राजस और तामस दोनों गुणों का समन्वित रूप निहित था तथा शूद्रों में पूर्णरूपेण तामस गुण।

उपर्युक्त मीमांसा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण व्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ इन गुणों के आधार पर निरवर्त हुआ। विभिन्न गुणों ने विभिन्न वर्णों को जन्म दिया। ऐसे विविध गुण सम्पन्न लोग अपने-अपने वर्ण के सदस्य होते रहे तथा अपने समुदाय अथवा वर्ग के निर्माण से सहयोग करते रहे। सत्व, रज और तम गुण क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य फलदायक माने गए है। इस प्रकार ब्राह्मण उत्तम गुण सम्पन्न, क्षत्रिय मध्यम, वैश्य मध्यम और अधम गुणों से समन्वित तथा शूद्र जघन्य गुण युक्त था। सात्विक गुणों से युक्त व्यक्ति ब्राह्मण, राजसी गुणों से युक्त क्षत्रिय, राजसी और तामसी दोनों गुणों से संयुक्त व्यक्ति वैश्य तथा तामसी गुणों से समन्वित व्यक्ति शूद्र माना गया। विष्णु पुराण में विस्तृत भी है कि सत्त्व गुण से युक्त ब्राह्मण, रजगुण से समन्वित क्षत्रिय, रज और तम गुण से वैश्य तथा केवल तम गुण से शूद्र ब्रह्मा की सन्तान हैं।[3]

ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का विकास–

ऋग्वैदिक काल के प्रारंभिक युग में वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था नहीं थी उस समय समाज में केवल दो जाति समूह थे एक 'आर्य' और दूसरा दास 'अनार्य' अथवा 'दास'। ऋग्वेद में 65 स्थलों पर 'दस्यु' 'दास' और 'आर्य' का उल्लेख हुआ है। सम्प्रति आर्य बाहर से आए थे और अनार्य भारत के मूल निवासी थे। आर्य आक्रामक थे और अनार्य आक्रान्त। दोनों वर्गों में युद्ध चला। आर्यों के देवता इन्द्र थे, जिनके सहयोग से आर्यों ने 'दस्यु' और 'दास' पर विजय प्राप्त की। इन दोनों जाति समूहों में शरीर रचना, रंग और आचार-विचार

---

1. वही, 12.29
2. वही, 12.30
3. विष्णु पु० 1.6.4-5

में भेद था। आर्य गौरवर्ण, ऊँचे कद, उन्नत नासिका और आकर्षक व्यक्तित्व के थे तथा अनार्य छोटे कद, कृष्ण वर्ण, अनुन्नत नासिका और अनाकर्षक व्यक्तित्व के। इन दोनों वर्गों के धार्मिक और सांस्कृतिक आचरणों में भी अन्तर थे। इसीलिए अनार्यों को 'अनास' (बिना नाक वाले,) 'अव्रत', (व्रत का पालन न करने वाले), 'अक्रतु,' (यज्ञ न करने वाले), 'मृदु वाच' (अस्पष्ट बोलने वाले), 'अब्रह्मन्' (पूजा न करने वाले), 'अदेवयु' (देवताओं के प्रति अनासक्त), 'अकर्मण' (कर्महीन), 'अयज्ञ' (यज्ञ न करने वाले), 'अन्यव्रत' (व्रत न रखने वाले) 'देवपियु (देवताओं को अपशब्द कहने वाले), 'कृष्णयोनि' आदि भी कहा गया है। इस तरह ये दोनों वर्ग एक दूसरे के विपरीत थे और दोनों के बीच महान् अन्तर था। प्रत्येक दृष्टि से ये दोनों एक दूसरे से अलग थे। इस अन्तर को व्यक्त करने के लिए ऋग्वेद में एक वर्ग को 'आर्य' और दूसरे को 'दास' वर्ण या 'असुर' वर्ण कहा गया है दास को 'दस्यु' भी माना गया है।[1] 'असुर' वर्ण और 'कृष्ण' वर्ण भी उसके लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] डॉ० धुर्ये ने 'दास' और 'दस्यु' को एक मानते हुए स्थानीय निवासी माना है साथ ही यह विचार व्यक्त किया है कि ऋग्वैदिक 'इंडो आर्यन' ने देश में अपना पैर जमाने के लिए 'दासों' को पराजित किया,[3] दूसरे वर्ग के लिए आर्य वर्ण का अनेकानेक बार उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर यह वर्णन किया है कि इन्द्र ने दस्युओं को मारकर आर्य वर्ण की रक्षा की। आर्य-अनार्य जनजातियों के मध्य होने वाले संघर्ष का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर हुआ है। एक आर्य उपासक कहता है–"वे मानव नहीं है। हे रिपुदमन, उनका वध कर डालो। दास समुदाय को नष्ट कर दो।"[4] आर्य और दास (अनार्य) यह युद्ध कई पीढ़ियों तक चला। ऋग्वेद में दाशराज्य युद्ध के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। आर्यों की सेना सुदास के नेतृत्व में भी और अनार्यों की सेना त्रसदस्यु के, जिसके पिता का नाम पुरुकुत्स था। सुदास के पिता दिवोदास ने सौ दुर्गों के स्वामी सम्बर (दस्यु या दास) से युद्ध किया तथा अग्नि की सहायता से दस्युओं पर विजय प्राप्त

1. स भिक्षमाणो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना वि शश्रथे। तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः।। ऋ० 9.70.2
2. त्वं पिप्रुं मृगयं शुशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः। पञ्चाशत्कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं..... ...।। ऋ० 4.16.13
3. धूर्ये वैदिक इंडिया, पृ० 206
4. प्र कृष्टिहेव शूष एति रोरु वदसुर्यं, वर्णं नि रिणीते अस्य तम्। ऋ० 9.71.2

की। समय-समय पर होने वाले इन युद्धों में हजारों हजार दस्यु इन्द्र और अग्नि द्वारा दिवोदास की सहायता करते हुए मारे गए तथा पाषाण या लोहे के अनेक दुर्ग तोड़े गए। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में केवल दो जाति समूह थे। एक आर्य तथा दूसरे दास या दस्यु। इन दोनों वर्गों के लिए 'वर्ण' का भी प्रयोग होने लगा था। ऋग्वेद में कहा गया है कि उग्र प्रकृति के ऋषि (अगस्त्य) ने दोनों वर्णों का पोषण किया।[1] अतः दो भिन्न वर्णों का समाज में प्रतिष्ठापन हो चुका था। इन दोनों वर्गों का अन्तर उनके रंग और आचार से जाना जाता था। रंग का अन्तर तो बहुत बड़ा था। आर्य गौर वर्ण के थे और दस्यु कृष्ण वर्ण (कृष्ण त्वच या काली त्वचा) के अतः दोनों का विभेद स्वभावतः हो गया था। डॉ० धुर्ये ने ऋग्वेदकालीन तैंतीस आदिवासी जातियों का उल्लेख किया है तथा यह इंगित किया है कि अनार्य आदि वासी वर्ग-समूहों के नाम के अंत में प्रायः 'उ' संलग्न रहता है।[2] समाज की गति आर्य और अनार्य –इन्हीं दोनों वर्णों के आधार पर चल रही थी। इस बीच आर्यों का समाज अपने व्यवसाय और पद्धति के कारण अपने में वर्गीकृत हुआ। फलस्वरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नामक तीन वर्गों का उदय हुआ आर्यों के तत्कालीन समाज में प्रारंभिक दो वर्ग –ब्राह्मण और क्षत्रिय क्रमशः कवि-पुरोहित और वीर-नायक की भूमिका का निर्वाह करते थे।[3] तथा अन्तिम वर्ग वैश्य साधारण जन-समूह का। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आर्यों के शेष सभी लोग समाविष्ट हो गए थे। पहला वर्ग मंत्र रचना, मंत्र पाठ, याज्ञिक कार्य और पौरोहित्य से सम्बद्ध था तथा दूसरा शौर्य, युद्ध, समाज रक्षा तथा शूरता से। वैश्य वर्ण का उल्लेख इन दोनों वर्णों के उल्लेख के बहुत बाद हुआ 'विश' शब्द का अवश्य उल्लेख मिलता है। जिसका अर्थ साधारण जन समुदाय है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के अतिरिक्त जो शेष आर्य समुदाय था, उसे वैश्य वर्ग के अन्तर्गत गृहीत किया गया था। यह तीसरा विभाजन स्पष्टतः सामान्य लोगों का समूह था।

ऋग्वेद की पुरुषसूक्त जैसी उत्तरकालीन ऋचाओं में ब्राह्मण राजन्य, वैश्य और शुद्र नामक चार वर्णो का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है, जो क्रमशः विराट् पुरुष के मुख, बाहु, जांघ और पैर से उत्पन्न हुए थे।[4] इन वर्गों का शरीर

---

1. अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।। ऋ० 1.180.6
2. धूर्ये, वैदिक इंडिया, पृ० 206
3. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्रह्मणासो न सुतेकरासः। त एते ....।। ऋ० 10.61.9
4. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। ऋ० 10.90.2

विभिन्न अंगों से तुलनात्मक सम्बन्ध तथा जिस क्रम से इनका निवेश किया गया है। वह तात्कालीन समाज में उनकी क्रमानुसार स्थिति का परिचारक है।

ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है।[1] जो एक वर्ग अथवा समूह की ओर भी इंगित करता है। अनेक स्थलों पर 'ब्रह्मपुत्र' शब्द का भी व्यवहार मिलता है जिससे आनुवांशिकता का पता लगता है।[2] साथ ही इससे ऋत्विज का भी अर्थ स्पष्ट होता है[3] वैसे 'ब्राह्म' शब्द का साधारण अर्थ 'प्रार्थना' अथवा 'मंत्र' है जो आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है[4] एक स्थल पर उल्लेख है कि विश्वामित्र का यह 'ब्रह्म' भारत के जन-समुदाय की रक्षा करता है।[5] अग्नि देवता की प्रार्थना करते हुए यह कहा गया है कि तुम अपनी ज्वाला से हमारे 'ब्रह्म' और यज्ञ का वर्धन करो।[6]

स्पष्ट है कि यज्ञ, मंत्र, प्रार्थना आदि कार्यों में संलग्न वर्ग ब्राह्मण के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। उसे सोमपान करने वाला तथा वार्षिक यज्ञ में मंत्र पाठ करने वाला माना गया है।[7] वह विद्वान्, मनीषी, वाक्परिमिता आदि भी स्वीकार किया गया है।[8]

'ब्रह्मसूत्र' के आधार पर उसका जाति-विकास आनुवांशिक रहा हो, शंकास्पद है। तत्कालीन समाज में कर्म का आधार अधिक व्यावहारिक और समीचीन लगता है। ब्राह्मण व्यक्ति किसी भी पेशे को अपना सकता था वह अपनी इच्छानुसार कर्म का अनुसरण कर सकता था। ऋग्वेद में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक स्थल पर ब्राह्मण ऋषि का कथन है, मैं कारू (मंत्र निर्माता) हूँ, मेरे पिता भिषक् (वैद्य) और मेरी माता उपल-प्रक्षिणी (पत्थर की चक्की से अनाज पीसने वाली)।' अपने भिन्न मत के होते हुए हम सब यह

---

1. इमे ये नार्वाङ न परश्चरन्ति न ब्रह्मणासो न सुतेकरासः। त एते ......।। ऋ० 10.71.9
2. धूर्ये, कास्ट एंड रेस इन इंडिया, पृ० 44
3. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, 2 पृ० 27
4. अव नो वृजिना शिशीह्यृचा वनेमानृचः। नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग्जोषति त्वे।। ऋ० 10.105.8
5. ऋ० 3.52.12
6. अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय। वातं विष्णुं सरस्वती सवितारं च वाजिनम्।। ऋ० 10.141.5
7. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वंतः परिवत्सरीणम्।
   अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवंति गुह्या न केचित्।। ऋ० 7.103.8
8. ऋ० 1.64.45

यह अनुसरण करते हैं।[1] यह उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन समाज में कर्म का महत्त्व था, जन्म का नहीं। कर्म के अनुसार ही कोई ब्राह्मण हो सकता था। वशिष्ठ ब्राह्मण थे[2] किन्तु उनके माता-पिता अब्राह्मण, माँ उर्वशी अप्सरा थी और पिता मित्रा-वरुण।[3] ब्राह्मण ऋषि भृगु रथ निर्माण कला में भी निपुण थे।[4] किन्तु समाज़ में उनकी प्रतिष्ठा याज्ञिक कर्म, तपश्चर्या और विद्वत्ता से ही थी।

'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर हुआ है।[5] इसके लिए कहीं-कहीं 'क्षत्र' भी प्रयुक्त किया गया है 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग देवताओं की उपाधि के रूप में भी हुआ है और राजा के रूप में भी।[6] उस युग में 'क्षत्र' का अर्थ प्रायः शूरता और वीरता से लिया जाता था।[7] आर्यों के तत्कालीन समाज में क्षत्रिय समूह के रूप में ऐसे शूर वीरों का एक वर्ग बन गया था जो यहां के मूल निवासियों से युद्ध करके उनके भू-क्षेत्रों पर आधिपत्य स्थापित करता था। ऐसे ही शौर्यवान् लोग देवताओं और राजाओं की श्रेणी में सम्मिलित किए गए थे।[8] 'राजन्य' शब्द भी 'क्षत्रिय' वर्ग के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में 'राजन्य' शब्द का व्यवहार किया गया है।[10] (वैदिक साहित्य और संस्कृति "डॉ॰ किरण कुमारी")

अतः क्षत्रिय अथवा 'राजन्य' वर्ग मुख्यतः युद्ध, प्रशासन और शौर्य से सम्बन्ध था। शासन सम्बन्धी क्रिया-कलाप इस वर्ग का क्रियात्मक उद्यम था। उस काल का यह सुसम्बद्ध, सुव्यवस्थित और शक्तिशाली वर्ग था।

---

1. पूर्वामनु प्रदिशं याति चेकितत्सं रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः।। ऋ० 9.111.3
2. उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः।
   द्रप्सं स्कन्न ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त।। ऋ० 7.33.11
3. ऋ० 7.64.2
4. स सूर्य प्रति पुरो न उद्गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः। प्र नो मित्राय...........।। ऋ० 7.62.2
5. स सूर्य प्रति पुरा न उदगा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः। प्र नो मित्राय...........।। ऋ० 7.62.2
6. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः
   क्रतुं मचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः।। ऋ० 4.42.1
7. ब्रह्मजिन्वतमुत जिन्वतं धियोहतं रक्षासि सेघतममीवाः।। ऋ० 8.35.16
8. त्यान्नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान्याचिषामहे।
   सुमृण्णीकाँ अभिष्टये। ऋ० 8.67.1
9. पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्च भाव्यम्।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातरोहति ।। ऋ० 10.90.2

'वैश्य' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त जैसी परवर्ती रचनाओं में हुआ। इसके पहले के अंशों में 'वैश्य' शब्द का व्यवहार कहीं नहीं मिलता, लेकिन 'विश' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। साधारणतः 'विश' का अर्थ था 'समूह'।[1] इस प्रकार के अनेक समूहों की चर्चा की गई है, जैसे 'दैवीनां विशम्' (दैवी शक्तियों का समूह), 'मानुषीणां विशम्' (मनुष्यों का समूह), 'दासीर्विशः' (दासों का समूह) आदि।[2] इस वर्ग के अन्तर्गत आर्यों का शेष जन-समुदाय सम्मिलित था जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह वर्ग सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करता था तथा समाज के विभिन्न कार्यों में लगा रहता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों की तुलना में इस वर्ग का कोई विशेष महत्त्व नहीं था और न ही इस वर्ग के विषय में कोई और जानकारी ऋग्वेद से मिलती है। इससे ऐसा लगता है कि तत्कालीन समाज रचना में वैश्य अपना स्थान धीरे-धीरे बना रहा था तथा अपने अस्पष्ट और धुंधले व्यक्तित्व को भी संवार रहा था।

'शूद्र' का स्थान चौथा था। ऋग्वेद में केवल एक बार ही इसका उल्लेख हुआ है और वह भी 'पुरुष सूक्त' में। इसे विराट् पुरुष के पैरों से उत्पन्न मानकर इसके समाज में प्राप्त स्थान का भी स्पष्टीकरण किया है। निश्चय ही इसका स्तर निम्न था।[3] तत्कालीन समाज में ये पराजित किए अनार्य के रूप में आर्यों के आश्रम में निवास करते थे। समाज में इनकी संख्या बढ़ने पर आर्यों ने इन्हें अपने समाज में चौथे वर्ण के अन्तर्गत स्वीकार कर इन्हें "शूद्र" की संज्ञा प्रदान की। संभवत यह वर्ण पारिवारिक भृत्यों और परिचारकों का प्रतिनिधित्व करता था। दासव्य की स्थिति में होते हुए भी यह वर्ग तत्कालीन जीवन में अपना महत्त्व रखता था यद्यपि परवर्तीकाल में शूद्रों द्वारा ब्राह्मण को दिया जाने वाला आग्राह्य था, तथापि, ऋग्वैदिक युग में यह दान ग्राह्य था। बल्वूथ नामक दास ने एक ब्राह्मण को 100 गौ (मुद्राओं के साथ) दान में दी थी।[4] लगता है उस युग के परवर्ती काल में आर्यों और दासों के बीच सौमनस्य

---

1. ता अस्य ज्येष्ठमिद्रियं सचन्ते ता ईमा क्षेति स्वधया मदन्तीः।
   ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन्।। ऋ० 10.124.8
2. विश्वस्मात्सीमधमाँ इन्द्र दस्यून्विशो दासीरकृणोरप्रशस्ताः।
   अबाधेथाममृणतं नि शत्रूनविन्देथामपचितिं वधत्रैः।। ऋ० 4.28.4
3. आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन एंशिएंट इंडिया, पृ० 14-15
4. शतं दासे बल्बूथे विप्रस्तरुक्ष आ ददे
   ते ते वायविमे जना मन्दन्तीन्द्रगोपा मदन्ति देवगोपाः।। ऋ० 8.46.32

था। पारिवारिक भृत्य होने के कारण इन दासों के प्रति आर्यों की सदाशयता-सुलभ भावना थी। इसका प्रमाण यह है कि उस काल में ऋषि-पुत्रों के साथ-साथ दासों के लिए भी प्रार्थना की गई थी।[1] पूर्ववैदिक युग में शूद्र अनार्य होते हुए भी समाज के सहयोगी वर्ग के रूप में था। उसके साथ सौजन्य और मानवता का व्यवहार किया जाता था।

ऋग्वैदिक युग के चारों वर्णों के मध्य मित्रता और बंधुता थी जो उनके निर्माण काल के संगठन के स्वरूप को व्यक्त करता है। कर्म और कर्त्तव्य के आधार पर सामाजिक व्यवस्था का संयोजन हो रहा था। जन्म का महत्त्व समाज में नहीं था। वर्गीकरण में ऊँच नीच की भावना का भी कोई प्रभाव नहीं था। व्यवसायों को अपनाने की स्वतंन्त्रता थी। किसी प्रकार का कोई बन्धन किसी पर नहीं था। ऊपर दिये गए तथ्यों से यह स्पष्ट है कि समाज में स्वतंत्र कर्म को अपनाने की छूट थी।

संस्कृति के मौलिक सम्प्रत्यय—

ऋग्वेद में संस्कृति की अवधारणाएं क्या थीं ? संस्कृति के अन्दर क्या-क्या समाहित है ? यह विचार करना आवश्यक है संस्कृति का अभिप्राय है परिष्करण, संस्करण, परिमार्जन, शोधन अर्थात् ऐसी क्रिया जो व्यक्ति में निर्मलता का संचार करे। अनेक व्यक्ति मिलकर समाज तथा जाति का निर्माण करते हैं। अतः निर्मल एवं संस्कृत व्यक्तियों के समाज तथा राष्ट्र भी संस्कृत होते हैं और उनके निर्मलता विधायक तत्त्व संस्कृति के मूल सूत्र बन जाते हैं। आजकल हिन्दी में संस्कृति शब्द अंग्रेजी के कल्चर शब्द का पर्यायवाची बन गया है। 'कल्चर' का विशुद्ध पर्यायवाची वैदिक शब्द कृष्टि है जैसे कृषि कर्म में भूमि का संशोधन तदुपरान्त बीजवपन किया जाता है और सिंचन, निरचन आदि द्वारा आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श देकर भूमि को शस्य सम्पन्न बनाया जाता है वैसे ही मानव-मानस में सत्संस्कारों द्वारा विकास की भूमिका तैयार की जाती है। जिस मानस का मन जितना ही अधिक विकार रहित तथा विशुद्ध है, उतना ही अधिक व संस्कृत कहा जाता है।

विशुद्ध, निर्मलता, परिष्कृति एक मानव से चलकर जैसे समाज तथा

---

1. उषस्तमश्यां यशसं सुवीरं दासप्रवर्गं रयिमश्वबुध्यम्।
   सुदंससा श्रवसा या विभासि वाजप्रसूता सुभगे बृहन्तम्।। ऋ० 1.92.8

जाति की सम्पत्ति बनती है। उसी प्रकार विश्व भर की थाती भी बन सकती है। संस्कृत के इस व्यापक रूप को वेद 'विश्ववारा संस्कृति' का नाम देता है। यजुर्वेद के सप्तम अध्याय के दसवें मंत्र में **'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा'** जो पद आता है, वह विश्वभर के लिए वरणीय संस्कृति को प्रथम या सर्वप्रमुख कहता है। सभ्यता देश विशेष के अनुसार अनेक रूप में दूसरी सभ्यताओं से पृथक् हो सकती है, परन्तु संस्कृति तो विश्वभर की एक ही होगी। सभी मानवों का आन्तरिक विकास एक ही पद्धति से होता है। इस विकास के मूल में अच्छिन्न सुवीर्य्य की प्रतिष्ठा है। विकास क्रम में आगे आने वाले रायस्पोष आदि वीर्य की अच्छिन्न बलवती शक्ति पर ही अवलम्बित है। उपनिषद् की रयि का पोषण आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में इसी मूल बिन्दु पर आश्रित है। वीर्य की रक्षा जहाँ व्यक्ति को तेजस्वी तथा सदाचार-परायण बनाती है, वहीं जाति तथा विश्व को सदाचार की ओर ले जाती है। कामुक व्यक्ति बाहर से सभ्य होने का ढ़ोंग भले ही कर ले, पर वह अन्दर से संस्कृत नहीं हो सकता।

ओक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'कल्चर' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

"The training and refinement of mind, tastes and manners the condition, the accounting ourselves with the best."

मन का शिक्षण तथा परिष्करण जिनसे रुचि एवं व्यावहारिक आचरण का निर्माण होता है, संस्कृति के उपादान हैं। संस्कृति सभ्यता का बौद्धिक पार्श्व है, जिससे हम सर्वोत्तम के साथ अपना संसर्ग स्थापित करते हैं।

संस्कृति इस रूप में अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने वाली है। जो व्यक्ति पूर्णता की खोज में संलग्न है जो चतुर्दिक प्रसूत अन्धकार अज्ञान, अविवेक से निकल कर ज्ञान और प्रकाश के अनुशीलन में मग्न है, जो माधुर्य सौन्दर्य तथा ज्योति का उपासक है वही संस्कृत कहलाने का अधिकारी है व्यक्ति एवं विश्व अपनी आन्तरिक प्रतिभा का इसी रूप में प्रकाशन करते हैं।

संस्कृति के विषय में आधुनिक एवं पाश्चात्य मत–

भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध आचार्य रामधारी सिंह दिनकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "संस्कृति के चार अध्याय" में आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों का मिलन के विषय में आधुनिक विद्वानों का मत निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है।

हिन्दू-संस्कृति का अविर्भाव आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के मिश्रण से हुआ तथा जिसे हम वैदिक संस्कृति कहते हैं, वह वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों के मिलन से उत्पन्न हुई थी यह अनुमान कई प्रकार की युक्तियों पर आधारित है। भारतीय संस्कृति के विवेचन से हमारे सामने कुछ ऐसी शंकाएं खड़ी होती हैं, जिनका समाधान न तो इस स्थापना से हो सकता है कि हिन्दू-संस्कृति सोलह आने आर्यों का निर्माण है न इस स्थापना से कि वैदिक संस्कृति केवल प्राग्वैदिक संस्कृति का विकास मात्र है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने ऐसी कई शंकाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक[1] में किया है।

पाणिनि का समय हम लोग ई० पू० 7 वीं सदी मानते हैं। पाश्चात्यों के मतानुसार उनका काल ई० पू० 5 वीं सदी से इधर नहीं माना जा सकता पाणिनि ने श्रमण-ब्राह्मण-संघर्ष का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप में किया है। अवश्य ही शाश्वत शब्द सौ-दो सौ वर्षों का अर्थ नहीं देता, वह इससे बहुत अधिक काल का संकेत करता है। अतएव यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमण-संस्था भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे। श्रमणों और ब्राह्मणों के बीच सर्प-नकुल-सम्बन्ध का उल्लेख बुद्धोत्तर साहित्य में बहुत अधिक हुआ है, किन्तु पाणिनि के उल्लेख से यह स्पष्ट भासित होता है कि श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष बौद्ध मत से कहीं प्राचीन है।

पौराणिक हिन्दू धर्म निगम और आगम, दोनों पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक विधान है। आगम प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। पुराण और पौराणिक धर्म उतने नवीन नहीं हैं जितना नवीन उन्हें पश्चिम के विद्वानों ने सिद्ध किया है। "यह कहना सम्भव है कि इतिहास-पुराणों का आरम्भ अथर्व-वेद के काल में हुआ। अथर्व-वेद में कहा गया है कि ऋग्वेद, सामवेद, पुराणों के साथ यजुर्वेद तथा छन्द ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए (11.6.3.24) शतपथ-ब्राह्मण के (11.5.6.9) बह्मयज्ञ में इतिहास तथा पुराणों के पठन का फल बतलाया गया है और कहा गया है कि अश्वमेध में (13.4.3.13) पुराण तथा वेद का पठन किया जाय।[1]

पुराणों का उल्लेख धर्मसूत्रों में भी है तथा मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यक-स्मृति एवं ऋग्विधान में भी। रामायण और महाभारत तो पुराणों के नाम कई बार लेते हैं। इन सारे प्रमाणों से यह अनुमान अत्यधिक सुदृढ़ हो जाता है कि पुराणों की परम्परा वेदों की परम्परा से कम प्राचीन नहीं है।[2]

निगम वेदों के सुनिश्चित विधान है और आगम परम्परा से आते हुए ज्ञान के समवाय, इस प्रकार का कोई अस्पष्ट भाव प्राचीनों का भी रहा होगा। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब वेदों का पठन-श्रवण केवल पुरुषों और द्विज वर्ग तक सीमित किया जाने लगा, तब भी पुराणों पर ऐसी कोई रोक नहीं लगायी गई। ब्राह्मणों ने पूरी कट्टरता से पहरा केवल वेदों पर दिया। पुराण आर्येतर जनता के भावों और विचारों से ओत-प्रोत थे, अतएव, ब्राह्मणों ने पुराणों को केवल अपना आविष्कार नहीं माना, न उन्हें जनता की पहुँच में जाने से रोके रखने की कोशिश की।

पुराणों में यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग, किरात आदि लोगों का जो उल्लेख है, वह स्पष्ट ही आर्येत्तर जातियों के अस्तित्व की सूचना देता है। पुराणों के अनुसार देवों की अपेक्षा असुरों का प्राचीन होना अधिक सम्भव दिखता है। इससे भी सूचित होता है कि भारत में आर्यों से भिन्न और भी बहुत से लोग थे, जिनके मौखिक साहित्य का समावेश पुराणों में हुआ है।

जनता में एक अनुश्रुति चलती है कि आगम भी निगम से ही निकले है। निगम में जो बातें प्राचीन मुहावरों में कही गयी हैं आगम उन्हीं का आख्यान आधुनिक भाषा में करते हैं। किन्तु दोनों की भिन्नता भी स्पष्ट है। निगम अपौरुषेय है उन्हें किसी ईश्वर ने नहीं बनाया है, क्योंकि ईश्वर भी आखिर को पुरुष ही है। किन्तु, आगम शिव, शक्ति अथवा विष्णु के मुख से उद्‌गीर्ण माने जाते हैं। आगमों की पूर्ण परिणति भक्ति में हुई। भक्ति और वेदान्त में भेद है। वेदान्त केवल ब्रह्म को मानते हैं। भक्ति तत्त्वत्रय (ईश्वर, जीव और प्रकृति) में विश्वास करती है। वैदिक धर्म चार वर्णों में विश्वास करता है और शूद्र को वह वेद-वेदान्त पढ़ने का अधिकार नहीं देता। वैदिक धर्म के अनुसार संन्यास का भी अधिकार केवल ब्राह्मण को है। किन्तु, भक्ति ऐसे बन्धनों में विश्वास नहीं करती। भक्ति मार्ग में चाण्डाल को भी यह अधिकार है कि वह चाहे तो शिव, शक्ति या विष्णु की प्रतिमा की पूजा कर सकता है। वैसे वेदान्त-दर्शन के अनुसार वर्णभेद की सत्ता नहीं ठहरती। फिर भी, पारिभाषिक दृष्टि से वेदान्त भी वेद ही है। इसलिए शूद्रों के लिए वे वर्जित कर दिये गए।

देवता भी पुराणों में कम-से-कम, तीन प्रकार के हैं। कुछ देवता वे हैं जिनकी कल्पना वेदों ने की और कुछ वे हैं जो प्राग्वैदिक भारत में पूजे जाते थे और बाद के धर्म में प्रवेश पा गये। तीसरे प्रकार के देवता वे हैं जो आर्य-द्रविड़-मिश्रण के बहुत बाद, बाहर से आने वाली नयी जातियों के साथ

आये होंगे और जिनकी प्रधानता इधर हाल के पुराणों में दिखायी देती है। वैदिक देवताओं में प्रधान इन्द्र, अग्नि, उषा, वरुण, अश्विनीकुमार, पूषन्, ब्रह्मा इत्यादि थे जिनकी पूजा का प्रचलन अब, प्रायेण, अवरुद्ध हो गया है। प्राग्वैदिक और वैदिक धाराओं को सम्पृक्त करने वाले देवताओं में से मुख्य देवता शिव और उमा हैं और जो वैदिक आर्यों के आगमन के बहुत पश्चात् आने वाली जातियों के साथ आये, उनमें गणना!, कदाचित राधा की, की जा सकती है।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने यह भी अनुमान लगाया है कि भारतीय संस्कृति जो कई परस्पर-विरोध 'युग्म' है, उनका भी कारण यही है कि संस्कृति, आरम्भ से ही समाजिक रही है। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में एक द्वन्द्व तो कर्म और संन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच तथा तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को लेकर। यह विषय, सचमुच विचारणीय है; अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम बाधाओं पर विजय प्राप्त करके जीवन में जय लाभ करें एवं मानव-बंधुओं का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओं को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस और उस दोनों लोकों में सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें। किन्तु दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान् है हम जो भी करें, किन्तु हमें रोग और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म लिया था। जन्म के कारण ही हम वासनाओं की जंजीर में पड़े हैं। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि उन सुखों को पीठ दे दें, जो हमें लालच कर संसार में बाँधते हैं। इस संसार के अनुसार मनुष्य को घर बार छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये और देह-दंडनपूर्वक वह मार्ग पकड़ना चाहिए- जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और संन्यास में से कर्म, तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में से प्रवृत्ति के सिद्धान्त, प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा संन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त, अधिकांश में प्राग्वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु आश्चर्य की बात है कि भारतीय अध्यात्म-शास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव संन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है अथवा आश्चर्य की इसमें कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य संन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देता है, दुःखों से भाग खड़ा होने के बदले वह

डटकर उनका समना करता है। आर्यो का यह स्वभाव कई देशों में बिल्कुल अक्षुण्ण रह गया। विशेषतः यूरोप में उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आँच नहीं आयी किन्तु, कई देशों की स्थानीय संस्कृति और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर भी पस्ती डाल दी एवं उनके मन को निवृत्ति-प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति ने आर्यों की वैदिक संस्कृति के चारों और अपना जो विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि "भारतीय संस्कृति के बीच वैदिक संस्कृति समुद्र में टापू समान है।"

वैदिक और आगमिक तत्वों के बीच संघर्ष, कदाचित् वेदों के समय भी चलते होंगे क्योंकि आगम हिंसा के विरुद्ध थे और याग में हिंसा होती थी। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्मों का मूल आगमों में अधिक, वेदान्त में कम मानना चाहिये। हाँ जब गीता रची गयी, तब उसका रूप भागवत आगम का रूप हो गया सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास में भगवान् कृष्ण का चरम महत्त्व यह है कि गीता के द्वारा उन्होंने भागवतों की भक्ति, वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह-सूक्ष्म दर्शन को एकाकार कर दिया।

आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण, कदाचित् महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा था। महाभारत की हिंसा ने भारत के मन को चूर कर दिया। वहीं से शायद, यह शंका उत्पन्न हुई कि यज्ञ सद्धर्म नहीं है, और जीवन का ध्येय सांसारिक विजय नहीं, प्रत्युत मोक्ष होना चाहिये। महाभारत की लड़ाई पहले हुई, उपनिषद्, कदाचित् बाद में बने हैं।

संसार को सत्य मानकर जीवन के सुखों में वृद्धि करने की प्रेरणा कर्मठता से आती है, प्रवृत्तिमार्गी विचारों से आती है। इसके विपरीत, मनुष्य जब मोक्ष को अधिक महत्त्व देने लगता है तब कर्म के प्रति उसकी श्रद्धा शिथिल होने लगती है। मोक्ष साधना के साथ, भीतर-भीतर यह भाव भी चलता है कि इन्द्रिय तर्पण का दंड परलोक में नरकवास होगा। यह विलक्षण बात है। कि वेदों में नरक और मोक्ष की कल्पना, प्रायः नहीं के बराबर है। विश्रुत वैदिक विद्वान् डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है "बहुत-से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुःख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला।" अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि "नरक शब्द ऋग्वेद-संहिता, शुक्ल यजुर्वेद-वाजसनेयि-माध्यन्दिन-संहिता तथा साम-संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्व-वेद-संहिता में 'नरक' शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।"

अब यह विश्वास दिलाना कठिन है कि जिस निवृत्ति का भारत के अध्यात्म शास्त्र पर इतना अधिक प्रभाव है, वह आर्येतर तत्त्व थी। किन्तु आर्यों के प्राचीन साहित्यों में निवृत्ति-विरोधी विचार इतने प्रबल हैं कि निवृत्तिवादी दृष्टिकोण को आर्येतर माने बिना काम चल नहीं सकता।

इसी प्रकार ऋषि और मुनि शब्दों का युग्म भी विचारणीय है। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्रद्रष्टा है, किन्तु, मन्त्रों के द्रष्टा होने पर भी वैदिक ऋषि गृहस्थ होते थे और सामिष आहार से उन्हें परहेज नहीं था। पुराणों में ऋषि और मुनि शब्द, प्रायः पर्यायवाची समझे गये हैं, फिर भी विश्लेषण करने पर यह पता चल जाता है कि मुनि गृहस्थ नहीं होते थे। उनके साथ ज्ञान, तप योग और वैराग्य की परम्पराओं का गहरा सम्बन्ध था। ऋषि और मुनि दो भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति समझे जाते थे। "मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका ऋषि शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराणों में ऋषि और मुनि के प्रायः पर्यायवाची होने का कारण तो यही मानना होगा कि पुराणों का आधार वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वित रूप है। अतएव, पुराणकार प्रत्येक धर्मप्राण साधु और पंडित को, प्रसंगानुसार, ऋषि या मुनि कहने में कोई अनौचित्य नहीं मानते थे जब बौद्ध और जैन आन्दोलन खड़े हुए, बौद्धों और जैनों ने प्रधानता ऋषि शब्द को नहीं, मुनि शब्द को दी। इससे भी यही अनुमान दृढ़ होता है कि मुनि परम्परा प्राग्वैदिक रही होगी। "ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में संक्षेप में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि दोनों की दृष्टियों में हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसा-मूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है वहीं दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। इनमें से एक, मूल में वैदिक और दूसरी मूल में प्राग्वैदिक प्रतीत होती है। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मोहनजोदड़ों की खुदाई में योग के प्रमाण मिलते हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे कालान्तर में, वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति-युक्त नहीं दीखता की ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी वेद-पूर्व हैं।

पंडितों ने एक और युग्म पर विचार करके यह बताने की चेष्टा की है

कि हिन्दू संस्कृति के कुछ उपकरण वैदिक और कुछ अवैदिक हैं। वह युग्म ग्राम और नगर का युग्म है। वैदिक संहिताओं में 'ग्राम' शब्द अनेक बार आया है किन्तु 'नगर' शब्द का प्रयोग उनमें कहीं भी नहीं मिलता। सम्भव है, वेदों के समय ग्राम और नगर का भेद बहुत प्रत्यक्ष नहीं रहा हो और दोनों के लिए आर्य एक ही शब्द का प्रयोग करते रहें हैं। किन्तु यह सम्भावना अधिक टिकाऊ नहीं है। वैदिक संहिताओं और धर्मसूत्रों में वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है और पुराणों में नगरों के निर्माता मय-वंशीय लोग माने गये हैं, जो दानव जाति के होते थे। अतएव इन्द्र का पुरन्दर (नगर-भंजक) नाम इस अनुमान को और भी सबल बनाता है। आर्यों का सामना इस देश में उन लोगों से हुआ था, जो लौह-निर्मित पुरी (आयसीः पुरः) में निवास करते थे। ऐसे नगरों का ध्वंस करने के कारण ही इन्द्र ने पुरन्दर उपाधि प्राप्त की थी। आश्चर्य यह है कि मोहनजोदड़ों की खुदाई में लोहे के निशान नहीं मिले हैं।

कहते हैं कि आर्यों के समाज में ग्राम संस्कृति की प्रधानता होने के कारण ही जाति-प्रथा रूढ़ हो गयी। अपने पूर्वजों के धन्धों को छोड़कर कोई नया धन्धा सीखना या ग्रहण कर लेना नगरों में जितना आसान होता है, ग्रामों में वह उतना आसान नहीं होता। नगरों पर परिवर्तन का प्रभाव अधिक पड़ता है, ग्राम ऐसे प्रभावों का अवरोध करते हैं। आर्यों की अर्थ व्यवस्था ग्रामों पर आधारित थी। इसीलिए, उनकी जाति-व्यवस्था उतनी टिकाऊ हो सकी। सिन्धु संस्कृति के विध्वंस के उपरान्त भारतवर्ष में नगर-संस्कृति को प्रधानता किसी भी समय नहीं मिली। ग्राम या देहात से सम्बद्ध अर्थशास्त्र का निरन्तर बने रहना-भेद की उत्पत्ति में सहायक हुआ है।

इस प्रसंग में ध्यान इस बात पर भी जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इनमें से किसी का भी सम्बन्ध शिल्प या कला-कौशल से नहीं है। शिल्पी और कारीगर आर्यों के यहाँ शूद्र माने जाते थे। शिल्प और कला कौशल तथा उद्योग नागरिक सभ्यता के लक्षण हैं। आर्य ग्रामों के भक्त थे। इसीलिए कला-कौशल को उन्होंने ईषत् हेय माना। इसीलिए, त्रिवर्ण में से किसी के लिए भी उन्होंने शिल्प या कारीगरी को विहित नहीं बताया। आरम्भ में शिल्पी और कारीगर, कदाचित् आर्य-रक्त के नहीं थे। इसलिए, परम्परा चल पड़ी कि शिल्प करने वाले लोग त्रिवर्ण में नहीं गिने जायेंगे।

पौराणिक हिन्दुत्व के मुख्य निर्माता और भारत के सबसे बड़े पुराणकार महर्षि व्यास का जन्म एक धीवर कन्या की कुक्षि से हुआ था। वर्त्तमान प्रसंग

में कुछ प्रकाश इस कथा से भी छिटकता है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आर्य और आर्येतर, दोनों ही प्रकार के रक्त से सम्बद्ध होने के कारण एवं वैदिक-प्राग्वैदिक, दोनों ही संस्कृतियों के उत्तराधिकारी होने के कारण व्यास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में विश्वास करते थे।' पुराण शब्द का अर्थ ही प्राग्वैदिक संस्कृतियों की ओर निर्देश करता है। उनका सहयोग उस समय के अनेकानेक ऋषि-मुनियों ने किया होगा, जिनमें से अनेकों की धमनियों में, व्यास के सदृश ही, दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था और प्रायः इसीलिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में था।

आर्य-द्रविड़-सम्बन्ध–

ऋग्वेद में कहीं कण भर भी ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया अथवा इसे जीता था किन्तु संस्कृत और तमिल के प्राचीन साहित्य से यह बात अवश्य लक्षित होती है कि संस्कृत भाषी आर्य, आरम्भ में, विन्ध्य के उत्तर तक ही सीमित थे, विन्ध्य के दक्षिण में वे लोग बसते थे जिनकी भाषा संस्कृत नहीं थी। प्राचीन तमिल साहित्य में भी संस्कृत-भाषियों को 'वडबंर' (उत्तरवाला) कहा गया है और प्राचीन तो नहीं, अपेक्षया नवीन संस्कृत-साहित्य में दाक्षिणात्य शब्द द्रविड़ों के लिए प्रयुक्त हुआ है। आर्य दक्षिण भारत तक बहुत धीरे-धीरे पहुँचे थे। वैदिक साहित्य में दक्षिण भारत का उल्लेख नहीं है। भास की कल्पना का देश हिम और विन्ध्य पर्वतों के बीच पड़ता था। बौद्ध धर्म तमिलनाडु में कब पहुँचा, इसका भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। केवल सुत्तनिपात की बावरीवाली कथा से यह अनुमान होता है कि बुद्ध का सुयश उनके जीवन काल में ही दक्षिण पहुँच चुका था। कृष्णस्वामी आयंगर का तो यह ख्याल है कि तमिलनाडु में बौद्ध धर्म को कभी प्रश्रय मिला ही नहीं था। अशोक की राज्य-सीमा मैसूर पहुँच कर समाप्त हो गयी थी। किन्तु दक्षिण भारत का ज्ञान उत्तरवालों को बहुत प्राचीन काल में भी रहा होगा, यह अनुमान हम रामायण से लगा सकते हैं। मेगस्थनीज ने पाण्ड्य-राज्य का उल्लेख किया है और अर्थशास्त्र में भी ताम्रपर्णिक मोतियों का उल्लेख है जो मन्नार की खाड़ी से निकाला जाता था। बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में दक्षिण के पाँच रिवाजों का उल्लेख किया है, जिनमें से एक मामा का बेटी से ब्याह का भी रिवाज है और श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र के रचयिता आपस्तम्ब ई० पू० 300 के आस-पास गोदावरी-तट पर रहते थे।

स्पष्ट रूप से उल्लिखित प्रमाण तो ऐसे ही मिलते हैं, किन्तु हमारा

ख्याल है कि उत्तर दक्षिण का सम्बन्ध इससे कहीं प्राचीन है और उसके सबसे बड़े प्रमाण दक्षिण में प्रचलित जनश्रुतियाँ और परम्पराएँ हैं। परम्पराओं का तिथि-निर्धारण निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता, किन्तु उनके भीतर जो सत्य गूँजता है, वही जातियों का वास्तविक इतिहास होता है।

तमिल-परम्परा बताती है कि अगस्त्य के दक्षिण गमन के पूर्व तमिल देश जंगलों से भरा था और आबादी वहां बहुत कम थी। रामायण के अनुसार भी रामचन्द्र का अगस्त्य से साक्षात्कार दण्डकारण्य में हुआ था और राम अगस्त्य-सम्वाद से इस अनुमान को यत्किंचित् बल प्राप्त होता है कि दक्षिण भारत को बसाने का काम अगस्त्य ने किया था। चेर देश में आर्य संस्कृति परशुराम के समय पहुँच चुकी थी। केरल में यह जनश्रुति भी चलती है कि केरल और कोंकण की भूमि को समुद्र से निकालने का काम परशुराम ने किया था।

तमिल-परम्परा की कथा यह है कि शिव और उमा के विवाह के समय दक्षिण के सभी ऋषि मुनि उत्तरस्थ हिमपर्वत पर पहुँच गये, जिससे पृथ्वी का सन्तुलन बिगड़ गया। इससे घबरा कर देवताओं ने शिव से प्रार्थना की कि आप किसी ऐसे तेजस्वी ऋषि को दक्षिण भेज दें, जिसके आकर्षण से मनुष्य वहाँ लौट सकें। इस काम के लिए शिवजी ने जिस व्यक्ति को चुना वे ऋषि अगस्त्य थे। इससे आगे की कथा ऐसी है; जिससे प्राचीनों की दूरदर्शिता का पता चलता है और यह विदित होता है कि उत्तर-दक्षिण के बीच गहनतम भावात्मक एकता बनाये रखने का उन्हें कितना ध्यान था।

कथा यह है कि जब अगस्त्यजी को दक्षिण जाने की आज्ञा हुई, उन्होंने शिवजी से कहा कि दक्षिण की भाषा तो मैं जानता नहीं फिर वहाँ जाकर मैं करूँगा क्या ? इस पर शिवजी ने अपनी बायीं ओर अगस्त्य को खड़ा किया और दक्षिण की ओर व्याकरणाचार्य पाणिनि को और वे दोनों हाथों से अपने डमरू पर थाप मारने लगे। इससे बायीं थाप से जो शब्द निकले, उनसे तमिल भाषा बनी और दायीं थाप से जो शब्द छिटके उनसे संस्कृत का निर्माण हुआ। इसी शिक्षा का उपयोग करके अगस्त्य ने 'अगस्त्यम्' नामक व्याकरण लिखा, जो तमिल का आदि व्याकरण माना जाता है। इस प्रकार, तमिल-परम्परा के अनुसार, तमिल और संस्कृत भाषाएँ कभी एक ही उद्गम से निकली थीं, जिसका अब भाषा-तत्त्वज्ञों को पता नहीं है।

अगस्त्य उत्तर और दक्षिण भारत के बीच प्रथम सेतु थे, इसका आख्यान

उत्तर भारतीय परम्परा में भी है। उत्तर और दक्षिण को विभक्त रखने वाला पर्वत विन्ध्य पर्वत था। अगस्त्य जब दक्षिण को जाने लगे, विन्ध्य ने भूमिष्ठ होकर उन्हें प्रणाम किया अगस्त्य ने आशीर्वाद देते हुए उसे यह उपदेश दिया कि मैं जब तक दक्षिण से न लौटूँ, तुम इसी तरह सिर झुकाए पड़े रहो। लेकिन, अगस्त्यजी दक्षिण जाकर फिर वापस नहीं हुए। सो, विन्ध्य अब तक सिर झुकाये ज्यों-का-त्यों पड़ा है। तमिल-परम्परा में उत्तर और दक्षिण की एकता का इससे कहीं अधिक प्रमाण है। उसमें कहा गया है कि जब अगस्त्य दक्षिण जाने लगे, पहले वे गंगा के पास गये और गंगा की धारा में से निकल कर उन्होंने कावेरी को साथ कर लिया फिर जमदग्नि ऋषि के पुत्र तृणधूमाग्नि को, पुलस्त्य की कुमारी बहिन लोपामुद्रा को और द्वारका जाकर वृष्णिवंश के अठारह राजाओं को भी उन्होंने अपने साथ लगा लिया। अगस्त्य विन्ध्य के पार जंगलों को काटते और लोगों को बसाते हुए पश्चिमी घाट की ओर चले। पश्चिमी तट पर पहुँच कर 'पोदिइल' नामक स्थान पर उन्होंने अपना आश्रम बनाया। कथा में यह भी कहा गया है कि रावण आदि राक्षसों को वे अपने आश्रम के पास नहीं आने देते थे।

रावण शैव तो था, किन्तु, उसे द्रविड़ मानने का कोई आधार हमें नहीं मिलता। वह लंका में रहता था और लंका के साथ तमिलनाडु का तात्कालीन सम्बन्ध अच्छा नहीं था। जब लंका ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया, तमिलनाडु से उसका सम्बन्ध और भी खराब हो गया। तमिलनाडु उस समय भी वैदिक मत का गढ़ था और जब वैदिक धर्म उत्तर में त्रस्त होने लगा तब उसे सर्वाधिक संरक्षण तमिलनाडु में ही प्राप्त हुआ।

अगस्त्य और लोपामुद्रा का उल्लेख ऋग्वेद में है, अतएव, वे अत्यन्त प्राचीन पुरुष हैं। वेदों में तमिलनाडु का उल्लेख नहीं है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं किन्तु यह बात अत्यन्त अर्थपूर्ण है कि दक्षिण और उत्तर के बीच समागम का कार्य अगस्त्य के समय में ही आरम्भ हो गया था। उत्तर और दक्षिण को एक बनाने के उद्देश्य से अगस्त्य ने इतने प्रभावशाली कार्य किये थे कि आज भी परम्परा उनके नाम को दक्षिण से सम्बन्ध मानती है। अगस्त्य दक्षिण दिशा के स्वामी माने जाते हैं। अगस्त्य नामक तारा भी आकाश के दक्षिण भाग में अवस्थित है अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया था, वह कथा भी पुराणों में अनेक बार आयी है। सबका निष्कर्ष यही है कि आर्यों और द्रविड़ों के बीच समन्वय की प्रक्रिया वैदिक काल में ही आरम्भ हो गयी थी।

द्रविड़ों का वैदिक संस्कृति में उतना ही बड़ा स्थान था जितना आर्यों का. इस विचार का समर्थन उस कथा से भी होता है जो श्रीमद्भागवत में कही गयी है। जिस महाप्लावन का नायक ईसाई और मुसलमान हजरत नूर (Noah) को मानते हैं, भागवत के अनुसार, उस महाप्लावन के नायक द्रविड़ राजा सत्यव्रत थे। भगवान् ने जब मीनावतार ग्रहण किया, तब वे इसी सत्यव्रत के कमंडलु में रहे थे और सत्यव्रत ने ही उन्हें, बारी-बारी से, पहले कमंडलु में, फिर सरोवर में, फिर नदी, और समुद्र में छोड़ा था। "वही सत्यव्रत वर्त्तमान महाकाव्य में विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र श्राद्धदेव के नाम से विख्यात हुए और भगवान् ने उन्हें वैवस्वत मनु बना दिया।

वर्तमान कल्प के मनु द्रविड़-देशोत्पन्न राजा सत्यव्रत हुए, इससे यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि प्राचीन आर्यों की दृष्टि में द्रविड़ देश कितना पूजनीय समझा जाता था। इससे इस बात पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है कि द्रविड़ों को आर्यों से भिन्न मानना कितना भ्रामक और मूर्खतापूर्ण है।

आर्य और द्रविड़ भाषाएँ—

तमिल-परम्परा के अनुसार संस्कृत और द्रविड़ भाषाएँ एक ही उद्गम से निकली हैं, यह बात हम ऊपर कह आये हैं। इधर भाषा-तत्त्वज्ञों ने यह भी प्रमाणित किया है कि आर्यों की मूल भाषा यूरोप और एशिया के प्रत्येक भूखंड की स्थानीय विशिष्टताओं के प्रभाव में आकर परिवर्तित हो गयी, उसकी ध्वनियाँ बदल गयीं, उच्चारण बदल गये और उसके भण्डार में आर्येतर शब्दों का समावेश हो गया।

भारत में संस्कृत का उच्चारण तमिल प्रभाव से बदलता है, यह बात अब कितने ही विद्वान् मानने लगे हैं। तमिल में र को ल और ल को र कर देने का रिवाज है यह रीति संस्कृत में भी 'रलयोरभेदः' के नियम से चलती है। काडवेल (Caldwell) का कहना है कि संस्कृत ने यह पद्धति तमिल से ग्रहण की है।

बहुत प्राचीन काल में भी तमिल और संस्कृत के बीच शब्दों का आदान-प्रदान काफी अधिक मात्रा में हुआ था, इसके प्रमाण यथेष्ट संख्या में उपलब्ध हैं। किटेल ने अपनी कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी में ऐसे कितने शब्द गिनाये हैं, जो तमिल-भण्डार से निकल कर संस्कृत में पहुँचे थे। बदले में संस्कृत ने भी तमिल को प्रभावित किया। संस्कृत के कितने ही शब्द तो तमिल में तत्सम रूप में ही मौजूद हैं, किन्तु कितने ही शब्द ऐसे भी हैं जिनके तत्सम

रूप तक पहुँच सकना, बीहड़ भाषा-तत्त्वज्ञों का ही काम है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने बताया है कि तमिल का 'आइरम' शब्द संस्कृत के 'सहस्रम्' का रूपान्तरण है। इसी प्रकार, संस्कृत के स्नेह शब्द को तमिल भाषा ने केवल 'ने' (घी) बनाकर तथा संस्कृत के कृष्ण को 'किरुत्तिनन' बनाकर अपना लिया है। तमिल भाषा में उच्चारण के अपने नियम है। इन नियमों के कारण बाहर से आये हुए शब्दों को शुद्ध तमिल प्रकृति धारण कर लेनी पड़ती है।

द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकलती हैं। ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत में भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा अशोक ने अपने अभिलेख, दक्षिण में भी ब्राह्मी में ही नहीं खुदवाये होते। दक्षिण में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थी। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया, जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई।

वेदों की रचना आर्यों ने की यह सत्य है किन्तु वैदिक धर्म केवल आर्यों का निर्माण नहीं है। उत्तर की तरह दक्षिण भारत का भी इतिहास आर्यों के आगमन के बाद आरम्भ होता है। अगस्त्य के समय से दक्षिण और उत्तर, दोनों ही भागों के लोग एक ही धर्म को मानते आये हैं और उनकी संस्कृति भी एक ही रही है। वैदिक धर्म के ग्रन्थ भी केवल उत्तर में नहीं लिखें गये, उनमें से अनेक कि रचना दक्षिण में हुई थी। चिन्तकों विचारकों और विशिष्ट समाज की भाषा दक्षिण में भी संस्कृत ही थी तथा दक्षिण की भाषाएँ भी संस्कृत के स्पर्श से ही जाग्रत और विकसित होकर साहित्य-भाषा के धरातल पर पहुँच सकी हैं।

यजुर्वेद संहिता की दो शाखाएँ हैं जो क्रमशः शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के नाम से विख्यात हैं। उत्तर भारत में अधिक प्रचार शुक्ल का और दक्षिण भारत में विशेष प्रचलन कृष्ण-यजुर्वेद का है। कृष्ण यजुर्वेद में कार्त्तिकेय, स्कन्द और गौरी, इन पौराणिक देवताओं का उल्लेख होने के कारण डॉ० मंगलदेव शास्त्री उसे वैदिकेतर धारा से प्रभावित मानते हैं। शास्त्री जी का यह भी अनुमान है कि कृष्ण यजुर्वेद शुक्ल की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, प्रत्युत, वे यह भी समझते हैं कि कृष्ण-यजुर्वेद की पौराणिक प्रवृत्ति के विरोध में ही 'शुद्ध' वैदिक धारा के पक्षपातियों ने शुक्ल यजुर्वेद का आरम्भ किया होगा और, कदाचित् (शुद्ध) धारा के कारण ही 'शुक्ल' और 'कृष्ण' नामों का प्रचलन हुआ इस पर से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि कृष्ण यजुर्वेद की रचना या

तो दक्षिण भारत में हुई होगी अथवा उन ऋषियों के द्वारा जो द्रविड़ देश के रहे होंगे।

श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रों के रचयिता आपस्तम्ब दक्षिण में रहते थे। आपस्तम्ब के अनुकरण पर एक धर्मसूत्र के रचयिता सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी भी, कदाचित् मालाबार के थे। वैखानस-सम्प्रदाय का गृह्य सूत्र (जिनमें द्रविड़ भाषा के मुहावरों के भी निशान हैं) दक्षिण में ही रचा गया था। वेदों को पुनरुज्जीवित करने वाले महान् पंडित सायणाचार्य दक्षिण में हुए थे। सद्गुरुशिष्य भी दक्षिण के ही थे। जिन्होंने आश्वलायन-श्रौत-सूत्र एवं आपस्तम्ब-श्रौत सूत्र पर टीकाएँ लिखी। पुराणों में से सर्वाधिक लोकप्रिय भागवत पुराण की रचना दक्षिण में हुई थी। विष्णु-पुराण की विशिष्टताद्वैतवादी व्याख्या लिखने वाले विष्णुचित्त स्वामी भी दक्षिण के ही विद्वान् थे। रामायण पर विवेक-तिलक लिखने वाले विद्वान् उदालि भी दाक्षिणात्य थे। उनका असली नाम आत्रेय वरदराज बताया जाता है। कहाँ तक गिनाया जाय। वेदों के बाद से हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर जो असंख्य ग्रन्थ लिखे गये, उनके लेखकों में से दाक्षिणात्य पण्डितों के नाम भी असंख्य ही माने जा सकते हैं। उत्तर का चिन्तन, आज के ही समान, पहले भी तुरन्त दक्षिण पहुँच जाता था और इसी प्रकार, दक्षिण में उत्पन्न विचारों और चिन्तनाओं से उत्तर के विद्वान् प्रेरित हो उठते थे। केरल (यानि कन्याकुमारी) के शंकाराचार्य ने जब शारीरिक भाष्य लिखा, तब उस पर भामती टीका मिथिला में लिखी गयी जो हिमालय की तराई में है। विचित्र बात यह है कि वाचस्पति मिश्र की भामती टीका ने ही शंकर के शारीरिक भाष्य का सर्वाधिक प्रचार किया।

दक्षिण में हिन्दू धर्म के केवल दर्शन और शास्त्र नहीं लिखे गये संस्कृत और प्राकृत काव्य-साहित्य की रचना में भी दाक्षिणात्य कवियों और कलाकारों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। गाथा-सप्तशती के विभ्राट रचयिता हाल शातवाहन महीप थे। जानकी हरण काव्य के कर्त्ता महाकवि कुमार दास (600 ई०) लंका में रहते थे। एक प्रसिद्ध गर्वोक्ति की रचयित्री विज्जिका दक्षिण देश वासिनीं थी। भारवि (6 वीं सदी) दक्षिण के थे उन्होंने किरातार्जुनीयम् लिखा। भवभूति बरार में जन्मे थे और कहते हैं कि विद्याभ्यास उन्होंने कुमारिल भट्ट के चरणों में किया था। मुकुन्दमाला नामक काव्य के कर्त्ता कुलशेखर कवि (6 वीं सदी) केरल देश के राजा थे। नलोदय, त्रिपुरा दहन, युधिष्ठिर-विजय आदि चार यमक-काव्यों के रचयिता कवि वासुदेव दक्षिण के थे और राजा कुलशेखर

के संरक्षण में केरल में रहते थे। इसी प्रकार, सुप्रसिद्ध नलचम्पू काव्य के रचयिता त्रिविक्रम भट्ट (10 वीं सदी) राष्ट्रकूट- नरेश राजा इन्द्र द्वितीय के समकालीन थे और उन्हीं के दरबार में रहते थे। बृहत्कथा अब विलुप्त ग्रन्थ है, किन्तु, उसके रचयिता गुणाढ्य दक्षिण के थे। इसके सिवा, अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित, मल्लिनाथ, मल्लिनाथसुत और पंडितराज जगन्नाथ, ये सबके सब महातेजस्वी चिन्तक दक्षिण में ही जन्मे थे। इस सूची को भी ज्यादा लम्बा बनाना व्यर्थ है। संस्कृत साहित्य पर जितना ऋण उत्तरवालों का है, उतना ही ऋण दाक्षिणात्यों का भी है। उत्तर दक्षिण का प्रश्न अभी हाल में उठा है। प्राचीन काल में सारा भारत संस्कृत को ही अपनी साहित्य-भाषा मानता था।

प्रत्येक प्राचीन जाति का संस्कार, उसकी आत्मा और उसके प्राण उसकी अपनी भाषा में बसते हैं। भारत की आत्मा और भारत के सूक्ष्म संस्कारों का निवास संस्कृत में है। संस्कृत इस देश में बसने वाले लोगों की सेवा और नहीं तो तीन-चार हजार वर्षों से करती आयी है। भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत के घाट पर पानी पीकर जीती आयी हैं और आज भी उनका उपजीव्य यही भाषा है। भारत की आधुनिक भाषाओं में नये शब्द बनाने की शक्ति समाप्त है। अब भारत की जो भी भाषा नया शब्द खोजती है, उसके सामने संस्कृत की ओर जाने के सिवा और कोई राह नहीं है इसी संस्कृत पर आधारित होने के कारण भारत की सभी भाषाएँ एक हैं, क्योंकि उनके शब्द एक हैं, उनकी तर्ज, भंगिमा और अदाएँ एक हैं तथा वे एक ही सपने का आख्यान अलग-अलग लिपियों में करती हैं।

उत्तर भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत से निकलकर विकसित हुई हैं। ये भी परस्पर भिन्न हैं, किन्तु संस्कृत में हिन्दी को, खास ढंग से विकसित करके उत्तर भारत को एक ऐसी भाषा दे दी, जो थोड़े बहुत सभी भाषा क्षेत्रों में समझ ली जाती है। तेलगु, कन्नड़ और मलयालम भी प्राचीन तमिल से ही निकली हैं। लेकिन द्रविड़ क्षेत्र में उस परिवार की कोई ऐसी भाषा उत्पन्न नहीं हुई, जो चारों भाषा-क्षेत्रों में समझी जा सके।

उत्तर की एक विलक्षणता यह भी है कि वहाँ सभी भाषाएँ (संसार की अन्य भाषाओं के समान) किसी न किसी क्षेत्र के लोगों की मातृभाषाएँ हैं। केवल हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो, सही माने में, किसी भी क्षेत्र की मातृभाषा नहीं है। कदाचित्, यही कारण है कि सारा देश उसे अपनी भाषा के रूप में अपना रहा है। इसी प्रकार संस्कृत भी भारत के किसी एक क्षेत्र की मातृभाषा नहीं थी।

आर्य और द्राविड़ स्वभाव–

आर्य और द्राविड़ साहित्य की प्रकृति एक है। उम्र की दृष्टि से संस्कृत बड़ी, भारत की अन्य सभी भाषाएँ उससे छोटी, बहुत छोटी हैं। यहाँ तक कि तमिल जो भारत की अर्वाचीन भाषाओं से सबसे प्राचीन है, संस्कृत उससे भी, कम-से कम दो हजार वर्ष अधिक पुरानी भाषा है। अतएव, भारत को जो कुछ भी कहना था, उसने पहले संस्कृत में कहा, बहुत बाद को जब अर्वाचीन भाषाओं का उदय हुआ, उनमें भी भाषानुभूति और चिन्तन की वही प्रक्रिया उद्धृत हो गयी, जो संस्कृत में विकसित हुई थी। अतएव, हिन्दू-संस्कृति की मूल-भाषा संस्कृत रही। बाकी भाषाओं का एक लम्बा-सा इतिहास केवल संस्कृत की उद्धरणी का इतिहास है।

इस दृष्टि से देखने पर आर्य और द्राविड़ स्वभाव को परस्पर भिन्न बताना निराधार लगता है। परन्तु, एकाध विद्वान् ने यह कल्पना करने का साहस किया है कि आर्यों और द्राविड़ों के स्वभाव में, किसी-न-किसी समय थोड़ी भिन्नता अवश्य रही होगी अन्यथा यह कैसे सम्भव हुआ कि कर्मकाण्ड और आशावाद के प्रेमी आर्य निवृत्ति के चक्कर में आ गये और जो लोग प्रकृति के सौन्दर्य पर न्यौछावर होना ही अपना परम धर्म मानते थे, उनकी सन्ततियों ने देहदण्डन और कृच्छ्र साधना को अपना कर्त्तव्य मान लिया? मिलते-मिलते आर्य और द्रविड़ परस्पर इस प्रकार मिल गये कि उनमें से एक का विश्वास दूसरे का भी विश्वास बन गया और एक की आदतें दूसरे की आदतों में समा गयीं। नदियों के समान ही प्राचीन संस्कृतियों का उद्गम निश्चयपूर्वक नहीं जाना जा सकता। विशेषतः हिन्दू-संस्कृति तो महानद के समान है। उसके भीतर अनेक नदियों का जल समाहित हुआ है। तभी वह इतना विस्तृत और अथाह दीखता है। फिर भी, इस महानद को विशेष रूप से पुष्ट बनाने वाली दो महाधाराएँ अवश्य है, जिन्हें हम आर्य और द्राविड़ विशेषणों के साथ जानते हैं।

औसत मुसलमान कवि और औसत हिन्दू विचारक होता है। इसी न्याय से हम कह सकते हैं कि आरम्भिक आर्य द्रविड़ की अपेक्षा भावुक अधिक थे। सभ्यता ज्यों-ज्यों प्रगति करती है। आदमी की चिन्तन शीलता उसके कवित्व को दबाती जाती है। द्रविड़, सभ्यता में आर्यों से आगे थे यानि आर्यों की अपेक्षा वे अधिक प्राचीन थे। अतएव उनकी कल्पना में चिन्तन की रीढ़ पैदा हो चुकी थी। आर्य भारत पहुँचने से पूर्व अधिकतर घुमक्कड़ और मौजी जीव रहे थे, अतएव उनके भीतर यह उत्साह वर्तमान था कि प्रकृति के सौन्दर्य पर वे चकित

हो सकें। किन्तु द्रविड़ों का चिन्तन कवित्व से आगे निकल चुका था। सूर्योदय के साथ-साथ, कदाचित्, वे सूर्यास्त भी कई बार देख चुके थे, जिसके कारण जीवन की निस्सारता का बोध उन्हें होने लगा था।

सभ्यता यदि संस्कृति का आधिभौतिक पक्ष है तो भारत में इस पक्ष का अधिक विकास आर्यों ने किया है। इसी प्रकार, भारतीय साहित्य के भीतर भावुकता की तरंग, अधिकतर आर्य-स्वभाव के भावुक होने के कारण बढ़ी। किन्तु, भारतीय संस्कृति की कई कोमल विशिष्टताएँ, जैसे अहिंसा, सहिष्णुता और वैराग्य-भावना, द्राविड़ स्वभाव के प्रभाव से विकसित हुई हैं। यह देश आर्यों के आगमन से पूर्व से ही अहिंसक, अल्पसंतोषी और सहिष्णु रहता आया था। आर्यों ने आकर यहाँ भी जीवन की धूम मचा दी, प्रवृत्ति और आशावाद के स्वर से सारे समाज को पूर्ण कर दिया। किन्तु जब उनका यज्ञवाद भोगवाद का पर्याय बनने लगा और आमिषप्रियता से प्रेरित ब्राह्मण जीव-हिंसा को धर्म मानने लगा, इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीवघात दोनों से विद्रोह कर उठी। महावीर और बुद्ध भारत की इसी सनातन संस्कृति के उद्घोष थे। अति का उत्तर बराबर अति तक पहुँच कर रुकता है। यदि आर्यों का यज्ञवाद खुल्लमखुल्ला जीव-हिंसा को औचित्य प्रदान नहीं करता अथवा ब्राह्मण यदि धर्म को अपनी भोग-लोलुपता का साधन नहीं बनाते अथवा यदि उन्होंने यह भाव कायम रखा होता कि जन्मना श्रेष्ठ होने के लिए भी ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व पर आरूढ़ रहना चाहिये, तो वैदिक धर्म के प्रति उठने वाले विद्रोह कटुता तक नहीं पहुँचते, न निवृत्तिवादी विचार-धारा को उतनी शक्ति प्राप्त होती, जितनी शक्ति उसे जैन और बौद्ध मतों से प्राप्त हुई।

ऋग्वेद में आश्रम व्यवस्था–

ऋग्वेद में आश्रम शब्द प्राप्त नहीं होता है। परन्तु अनेक ऐसे शब्द हैं जिनसे जीवन की अनेक ऐसी विशिष्ठ अवस्थाओं का उल्लेख एवं वर्णन अवश्य प्राप्त होता है जो बाद के युग की आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट संकेत करते हैं, ऋग्वेद में ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। जैसा कि कहा है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करता हुआ सर्वत्र विचरता है। वह समस्त यज्ञ कर्मों और ज्ञानों को अपनी बुद्धि में धारण करता है। उससे वह योग्य होकर, हे विद्वानों ! उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में पत्नी को प्राप्त करता है। जिस प्रकार देव पुरोहित बृहस्पति सोम से लाई गई जूहू = वाणी को प्राप्त

करता है।[1]

यह ध्यातव्य है कि उपनयन संस्कार के उपरान्त ही व्यक्ति ब्रह्मचारी कहलाता है। ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य आश्रम के प्रमुख कर्तव्य अध्ययन का अस्तित्व भी निश्चय पूर्वक प्राप्त होता है। जैसा कि ऋग्वेद में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वृष्टिकाल में वेदपाठ का व्रत करने वाले ब्राह्मण वेदपाठ का व्रत करते हैं और उस समय में प्रायः उन सूक्तों को पढ़ते हैं जो तृप्तिजनक हैं। दूसरे पक्ष में इस मन्त्र का यह भी अर्थ है कि वर्षा ऋतु के मण्डन करने वाले जीव वर्षा ऋतु में ऐसी ध्वनि करते हैं मानो एक वर्ष के अनन्तर उन्होंने अपने मौनव्रत को उपार्जन करके इसी ऋतु में बोलना प्रारम्भ किया है। तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र में परमात्मा ने यह उपदेश किया है कि जिस प्रकार क्षुद्र जन्तु भी वर्षा काल में आह्लादजनक ध्वनि करते हैं अथवा यों कहें कि परमात्मा के यश को गायन करते हैं, एवं, हे वेदज्ञ लोगों तुम भी वेद का गायन करो। मालूम होता है कि श्रावणी का उत्सव जो भारत वर्ष में प्रायः सर्वत्र मनाते हैं वह वेदपाठ से ईश्वर के महत्त्वगायन का उत्सव था।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि वर्षाकाल के साथ मेंढकादि जीवों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा इन्द्रियों का इन्द्रियों की वृत्तियों के साथ। जैसे इन्द्रियों की यथार्थ ज्ञानरूप प्रमादि वृत्तियें इन्द्रियों को मण्डन करती हैं इसी प्रकार ये वर्षाऋतु को मण्डन करते हैं। दूसरी बात इस मन्त्र में यह स्पष्ट किया है कि मण्डूकादिकों का जन्म मैथुनी सृष्टि के समान मैथुन से नहीं होता, किन्तु प्रकृतिरूप बीज से ही वे फिर उत्पन्न हो जाते हैं। इससे अमैथुनी सृष्टि होने का नियम भी परमात्मा ने इस मन्त्र में दर्शा दिया है।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि वर्षा ऋतु में जीव ऐसे आनन्द से विचरते हैं और अपने भावों को अपनी चेष्टा तथा वाणियों से बोधन करते हुए पुत्रों के समान अपने वृद्ध पितरों के पास जाते हैं। इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार से वर्षा के जीवों की चेष्टा का वर्णन किया है और इसमें यह भी शिक्षा दी है कि जैसे क्षुद्र जन्तु भी अपने वृद्धों के पास

---

1. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
   तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः।। ऋ० 10.106.5
2. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः। 7.103.1
3. दिव्या आपोअभि यदेनमायन्दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।
   गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति।। ऋ० 7.103.2

जाकर अपने-अपने भाव को प्रकट करते हैं इस प्रकार तुम भी अपने वृद्धों के पास जाकर अपने भावों को प्रकट करो।[1] इसी प्रकार आगे परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो ! तुम प्रकृति सिद्ध वर्षा आदि ऋतुओं में 'नूतन-नूतन भावों को ग्रहण करने वाले जल जन्तुओं से शिक्षा लाभ करो कि वे जिस प्रकार हर्षित होकर उद्योगी बनते हैं इसी प्रकार तुम भी उद्योगी बनो।[2] इसी प्रकार आगे परमात्मा उपदेश करते हुए यह ज्ञान देते हैं, कि जिस प्रकार जलजन्तु भी एक-दूसरे की चेष्टा से शिक्षा लाभ करते हैं और एक ही प्रकार की भाषा सीखते हैं इस प्रकार तुम भी परस्पर शिक्षा लाभ करते हुए एक प्रकार की भाषा से भाषण करो।[3]

---

1. यदीमनां उशतो अभ्यवर्षीतृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम्।
   अक्खनीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति।। ऋ० 6.103.3
2. अन्योअन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमंदिषाताम्।
   मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्पृश्निः संपृंक्ते हरितेन वाचम्।। ऋ० 7.103.4
3. यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
   सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु।। ऋ० 7.103.5

तृतीय अध्याय

सामवेदीय संस्कृति

यह सर्वविदित है कि ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड यजुर्वेद में कर्मकाण्ड, अथर्ववेद में विज्ञानकाण्ड और सामवेद में उपासनाकाण्ड माना जाता है। यह भी प्रायः समस्त आचार्य स्वीकार करते हैं, कि चारों वेदों के मंत्रों की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्याएँ की जा सकती हैं। सामवेद उपासना काण्ड इसलिए स्वीकार किया जाता है कि इस वेद में संक्षिप्त रूप में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का विवेचन मिलता है। इसलिए ही सम्भवतः गीता में कहा गया है कि "वेदानाम् सामवेदोऽस्मि" गीता 10.22 अर्थात् वेदों में मैं सामवेद हूँ, इसीप्रकार छान्दोग्यउपनिषद् तथा तैत्तिरीय उपनिषद् आदि अध्यात्म ग्रन्थों में सामवेद को ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् वेद माना जाता है।

सामवेद के लगभग 76 मन्त्रों को छोड़कर ऋग्वेद में भी अन्य सभी मन्त्र आते हैं। ऋग्वेद के अनुसार अग्नि, इन्द्र आदि दिव्य शक्तियों का वर्णन तथा इसके साथ ही संस्कृति के अन्य समस्त घटकों का वर्णन किया जा चुका है।

सोमपान संस्कृति–

पाश्चात्य विद्वान् तथा आधुनिक भारतीय कुछ विद्वान् सोम का अर्थ ऐसे पेय पदार्थ जैसा करते हैं। यह सही है, कि सोम शब्द का अर्थ अनेक रूपों में किया जाता है। सोम का अर्थ औषधि विशेष, आधुनिक वनस्पति विज्ञानवेत्ता लगभग यह ज्ञात नहीं कर पाये हैं, कि सोम औषधि की आकृति किस प्रकार रही होगी। सोम का अर्थ चन्द्र भी माना जाता है, सोम का अर्थ वीर्य भी है, सोम का एक अर्थ भक्ति रस भी माना जाता है, सोम का एक अर्थ कोमल, अर्थात् सद्गुण को भी स्वीकार किया जाता है। सोमशब्द का एक अर्थ यह भी माना जाता है कि सोमपायी व्यक्ति में अत्यधिक बल का संचार होता है, वह सदा आनन्दित रहता है, तथा वह कदापि विचलित नहीं

होता, अर्थों के साथ-साथ कुछ विद्वान् सोम का अर्थ मद्य भी करते हैं।

सामवेद में सोम का अर्थ किस-किस रूप में किया गया है इसका विवेचन सामवेद के मूल मन्त्रों से ही लेना अधिक समीचीन होगा। सोम के विविध रूपों का अर्थ "पावमान काण्ड" में विस्तार पूर्वक मिलता है।

सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा सामाजिक व्यवहार बड़ा मधुर होता है। हमारे व्यवहार में खीझ नहीं होती; किसी प्रकार की कटुता नहीं होती तथा हमारे निजी जीवन में उल्लास होता है। शक्ति बनी रहने से शरीर में क्षीणता नहीं आती और क्षीणता के परिणाम स्वरूप होने वाली निरुत्साहिता नहीं होती।

हे सोम ! तू इन्द्राय = जीव के परमैश्वर्य के लिए सुतः = उत्पन्न हुआ है। मनुष्य शक्तिशाली व स्वस्थ बनकर धन कमाने में भी सक्षम होता है, परन्तु इससे भी बढ़कर बात यह है कि यह सोम हमारे ज्ञानैश्वर्य को बढ़ाने वाला होता है।

पातवे = तू रक्षा के लिए होता है। सोम के शरीर में संचय होने पर शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं होता। यह सोमशक्ति सब रोगों को दूर करती है। मन में भी सोम के परिणाम स्वरूप आसुरीवृत्तियाँ नहीं पनपतीं। यह सोम मनुष्य को ईर्ष्या-द्वेष से बचाये रखता है। यह किसी प्रकार की मलिन इच्छा को मन में उत्पन्न नहीं होने देता। सोम का पान करने वाला मनुष्य मधुच्छन्दाः = मधुर इच्छाओंवाला बना रहता है, यह किसी का अहित न चाहने वाला सभी का मित्र वैश्वामित्रः होता है।

हे सोम ! तू वृषा = शक्तिशाली होता हुआ धारया = अपनी धारणशक्ति से पवस्व = हममें प्रवाहित हो। सोम का शरीर में प्रवेश हमारे शरीर को शक्तिशाली बनाता है। च = यह सोम मरुत्वते = मरुत्वान् के लिए प्राणों की साधना करने वाले के लिए मत्सराः = आनन्द प्रवाहित करने वाला होता है। प्राण साधना के बिना सोम का पूर्णरूप से पान नहीं होता, प्राणायाम ही मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाता है, ऊर्ध्वरेतस् बनने पर उसका शरीर नीरोग व सशक्त और मन निर्मल व आह्लादमय बनता है।

यह सोम ही विश्वा = सबको, ओजसा दधानः -ओज से धारण करने वाला होता है। सोम से केवल दीर्घायुष्य प्राप्त हो यही नहीं यह जीवन को

---

1. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः।। सा०पा०ग० 2

अन्त तक शक्तिशाली भी बनाता है। प्राणायाम रूप से अपना परिपाक करके ही यह सोम का पान कर पाता है। अतः यह 'भृगु' (तपस्वी) है। इसका जीवन इस सोमपान से सुन्दर व श्रेष्ठ बनता है अतः 'वारुणि' है। इसकी पाचन-शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहती है, अतः यह जमदग्नि है।[1]

इस 'पावमान' के मन्त्रों में सोम के विविध रूपों का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि ऋषि अमहीयुः है – "न महीं यौति युनक्ति वा" = जो अपने साथ पृथिवी का सम्पर्क नहीं करता भौतिक भोगों में नहीं फँसता, अतएव शक्तिशाली बना रहता है। इससे प्रभु कहते हैं, कि ते -तेरा, अन्धसः = इस आप्यायनीय सोम के द्वारा उच्चा जातम् = अत्यन्त उच्च विकास हुआ है। जो व्यक्ति सोम की रक्षा का ध्यान नहीं करता वह 'निषाद' बनता निषीदति अस्मिन् पापमिति' = उसमें आसुरी वृत्तियाँ आश्रय करती हैं, परन्तु जब यह सोम-रक्षा का निश्चय कर लेता है तब यह शु + उत् + र = शक्ति की शीघ्र ऊर्ध्वगति करने वाला 'शूद्र' हो जाता है। सोम के अङ्ग - प्रत्यङ्ग में प्रवेश करने पर (विश् to enter) वैश्य = विश् होता है। उस-उस स्थान में क्षतों से त्राण करने के कारण यह 'क्षत्रिय' बनता है और ज्ञानशक्ति के दीप्त होने से ब्रह्म को जानने के कारण यह ब्राह्मण बन जाता है। इस प्रकार सोम की महिमा से मनुष्य ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है। इसका अत्यन्त उच्च विकास होता है, परन्तु सौन्दर्य की बात तो यह है, कि दिवि सत् = द्युलोक में होता हुआ यह भूमि आददे = भूमि का ग्रहण करता है। अधिक-से अधिक ऊँचा होता हुआ यह अत्यन्त विनीत होता है। दैवी सम्पत्ति का सर्वोच्च शिखर = Climax नातिमानिता ही तो है।

उग्रं शर्म = इसका आनन्द भी उदात्त होता है। यह राजस् व तामस् सुखों में नहीं फँसता, इसका सात्त्विक सुख उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है। उस ज्ञान के क्षेत्र में विचरता हुआ यह सांसारिक सुखों की तुच्छता को अनुभव करता है।

महि श्रवः = चारों और इसकी महनीय कीर्ति फैल जाती है। इसका जीवन इतना सुन्दर बन गया है, कि उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती है। लोग उसकी तेजस्विता, उसके ज्ञान व उसकी प्रशस्त मनोवृत्ति की गाथा गाते नहीं अघाते।[2]

---

1. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः। विश्वा दधान ओजसा।। सा०पा०काण्ड 1-3
2. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्याददे उग्रं शर्म महि श्रवः।। सामवेद पावमान काण्ड 1

सुतः = उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम हमारे जीवन को कैसा बनाए इस विषय का वर्णन मन्त्र में है। सोम = सोम ! तू स्वादिंष्ठता = अत्यन्त स्वादवाली-माधुर्यवाली धारया = धारा से तथा मदिष्ठया = अत्यन्त मदवाली- उल्लासवाली धारा से पवस्व = हमारे जीवन को पवित्र कर दे, हमारे जीवन में प्रवाहित हो। इस संसार में कितने 'मद' है। धन का मद है जो धतूरे के मद से भी कहीं बढ़कर है। बल का भी मद होता है एक पहलवान कुछ इतराता हुआ-सा चलता है। कई बार योग साधना करते हुए तपस्वी को अपने तप की शक्ति का भी मद हो जाता है। कइयों को विद्या का मद देखा जाता है, ये सब हेय हैं–इनका परिगणन काम क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, इन छह शत्रुओं में है। शत्रु होने से ये मद त्याज्य है, परन्तु प्रभु ने अन्धसा = अधिक से अधिक ध्यान देने योग्य (आप्यायनीय) सोम के द्वारा भी एक मद हममें उत्पन्न किया है। इस सोम के सुरक्षित होने पर इसका अनुभव होता है। मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु' = प्राकृतिक भोगों की कामना न करने वाला आङ्गिरस = शक्तिशाली व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि यः जो ते -तेरा अन्धसा सोम के द्वारा उत्पन्न वरेण्यः मदः = वरणीय श्रेष्ठ मद है। तेज=उससे आपवस्व = हमारे जीवनों को पवित्र कीजिए। यह सोमजनित उल्लास देवावीः = (देव आवी) हमें सब प्रकार से दिव्यता की ओर ले चलने वाला है। इससे हममें उत्तरोत्तर दिव्यता का विकास होता है और यह सोम अघशंसहा = पाप के नाम को भी नष्ट करने वाला है। इससे हमारे अन्दर पाप का नामशेष भी नहीं रहता। हमारा जीवन सचमुच पवित्र व दिव्य बन जाता है।

यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा। देवावीरघशंसहा।।

सामवेद पावमान काण्ड 4।।

सोम की रक्षा करने वाले व्यक्ति के जीवन में तिस्रः वाचः = तीन वाणियाँ उदीरते = उच्चरित होती हैं इसके जीवन में धेनवः गावः = (धेट् पाने) ज्ञानदुग्ध का पान कराने वाली वेदवाणीरूप गौवें मिमन्ति = शब्द करती है, अर्थात् यह सदा उन वेदवाणियों का उच्चारण करता है और ये वेदवाणियाँ उसे तीन बातें कहती हैं– तू ज्ञानी बन, ज्ञानपूर्वक कर्म कर, इन पवित्र कर्मों का प्रभु के अर्पण करता हुआ प्रभु का उपासक बन। एवं, यह सोमपान करने वाला व्यक्ति ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों को ही अपने जीवन का ध्येय बनाता है। तीनों का विस्तार करने से इनका नाम (त्रिन्-तनोति) है। यह प्रभु को प्राप्त करने वालों में भी श्रेष्ठ होने के कारण आप्तय है।

ऐसा बनने पर इसके जीवन में सबके दुःखों का हरण करने वाला हरिः = दुख हर्ता – अन्धकार के हरण कर्ता प्रभु एति आते हैं। कैसे ? कनिक्रदत् = गर्जना करते हुए। इसे सदा प्रभु की आवाज स्पष्ट सुनाई पड़ती है। हम उस हृदयस्थ प्रभु की ध्वनि को सुनते हैं, क्योंकि धन-प्रधान जीवन में इस हिरण्यमय संसार की 'धनम्-धनम्-धनम्' ध्वनि बड़ी ऊँची होती रहती है, परन्तु सोमपान करने वाला व्यक्ति तो इसमें उलझता ही नहीं। उसके जीवन में प्रभु का साक्षात्कार वा प्रभु से आलाप ही महत्त्वपूर्ण होता है।

भावार्थ–सोमपान करने वाले व्यक्ति को प्रभु का साक्षात्कार होता है।

"तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः।
हरिरेति कनिक्रदत्॥"

सामवेद पावमान काण्ड प० 5

प्रस्तुत मन्त्र में सोम को इन्दु नाम से स्मरण किया गया है इन्द = To be powerfull धातु से बना यह शब्द बतला रहा है कि यह सोम मनुष्य को अत्यन्त शक्तिशाली बनाने वाला है इस इन्दु को सम्बोधित करते हुए मन्त्र का ऋषि कश्यप – मारीच कहता है कि हे इन्दो = शक्तिशाली बनाने वाले सोम। तू इन्द्राय जितेन्द्रिय के लिए– इन्द्रियों की अधीनता में न चलकर उन्हें अपना उपकरण बनाने वाले और मरुत्वते = प्राणशक्ति -सम्पन्न मेरे लिए मधुमत्तमः = अत्यन्त माधुर्य वाला होकर पवस्व = बह या मेरे जीवन को पवित्र कर। वस्तुतः सोम का रक्षण इन्दु व महान् बनने से ही सम्भव है जिन्तेन्द्रियता व प्राण साधना मनुष्य को उध्वरितस् बनाती है सोम रक्षा के लिए जीभ मेरे वश में होनी चाहिए। साथ ही ब्रह्मचर्य के लिए प्राणायाम अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों साधनों से मैं सोम रक्षा करूँगा तो यह सोम मेरे जीवन को अत्यन्त माधुर्य वाला बना देगा। (भूयासं-मधुसंदृशः) यह वेद वाक्य मेरे जीवन में घटित होता दिखेगा। यह माधुर्य आवश्यक है, इसके बिना मैं उस रस-स्वरूप परमात्मा को कैसे पा सकता हूँ ? अतः अर्कस्य = उस अर्चनीय परमात्मा के योनिम्-स्थान वा पद को आसदम्-पाने के लिए मैं मधुर बनूँगा। सोम रक्षा से और सोम रक्षा होगी इन्द्र और मरुत्वान् बनने से इन्द्र बनकर मैं सब असुरों को मारने वाला मारीच बनूँ और मरुत्वान् बनकर ज्ञानदीप्ति को बढ़ाकर कश्यप बनूं। संसार के स्वाद को मारना प्रभु-प्राप्ति का स्वाद पाने के लिए आवश्यक है यह स्वाद ज्ञान से ही आएगा।

भावार्थ–प्रभु कृपा से मैं इन्द्र और मरुत्वान् बनूं-दूसरे शब्दों में मारीच

-कश्यप बनूं।

इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। अर्कस्य योनिमासदम्।।

पावमान काण्ड - म० 6

सोम को यहाँ अंशु कहा है क्योंकि यह मनुष्य को प्रभु का अंश = छोटा रूप ही बना डालता है। यह अंशु = मुझे परमेश्वर का ही छोटा रूप बना देने वाला सोम असावि = उत्पन्न हुआ है। वह यह उत्पन्न होकर 1. मदाय = मेरे जीवन में एक विशेष मद को जन्म देने वाला है –मेरा जीवन इससे सदा उत्साहमय बना रहता है। इस सोम से 2. मनुष्य अप्सु = कर्मों में दक्षः = चतुर बनता है। योगः कर्मसु कौशलम् = कर्मों में कुशलता ही योग है। यह सोमी पुरुष कभी आकुल नहीं होता। यह गिरिष्ठाः = उन्नत्ति के पर्वत शिखर पर स्थित होता है अथवा वाणी पर इसका पूर्ण प्रभुत्व होता है। यह वाणी उपलक्षण है अन्य सब इन्द्रियों का इस प्रकार आत्मवश विधेय मन वाला स्येनु न = प्रशंसनीय गति वाले पक्षी की भांति योनि = उस प्रभु के स्थान को आसदत् = पा लेता है। प्रभु को पाने के लिए गत मन्त्र में "मधुमत्तमा" शब्द से 1. माधुर्य का संकेत हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में 2. उल्लास मनः प्रसाद (मदाय), 3. कार्य-कुशलता-सिद्धि वा असिद्धि में सम होकर निर्लेपता से कर्म करना तथा 4. इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना (गिरिष्ठाः) इन नये उपायों का उल्लेख हो गया है। उस सोम की रक्षा तो साधन है ही जो माधुर्य आदि को हमारे जीवन में उत्पन्न करता है। इस सोम की रक्षा का यह भी परिणाम होता है कि यह शरीर-यन्त्र अन्त तक ठीक रहता है–मनुष्य अन्तः दस प्राणों के रूप में कहे जाते हैं जिनमें प्राण -अपान-व्यान, उदान-समान ये पांच विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं और उनमें प्राण-अपान-व्यान का भूर्भुवः स्वः के रूप में उल्लेख किया जाता है। इन तीन का भी संक्षेप प्राणापान में हो जाता है और एक शब्द में प्राण के रूप में हम इन्हें स्मरण करते हैं। यह प्राण इस सोम के रक्षण से पुष्ट होता है यह हमें गिरिष्ठाः = उन्नत्ति के शिखर पर पहुँचाता है और पवित्रे पवित्रता के निमित्त अक्षरतः = सब मलों को रक्षित करता है। मलों को दूर करके पवित्रता का उत्पादन यह सोम का कार्य है। इसी से हमारे शरीर नीरोग रहते हैं, मन ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठे रहते हैं और मस्तिष्क उज्ज्वल बना रहता है। एवं यह सोम मदेषु = मद उत्साहजनक वस्तुओं में सर्वधाअसि = सर्वाधिक धारण करने वाला है। यह हमें रोगादि के जाल से और ईर्ष्या = द्वेष आदि के बन्धनों से मुक्त करके असित बनाता है। हमारे ज्ञान को उज्ज्वल करके हमें

काश्यप बनाता है तथा हमारे अन्दर दीव्यता का संचार करता हुआ हमें देवल बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा में मैं जीवन में सोत्साह, पवित्र व स्थिर बनूं।

परिस्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत्। मदेषु सर्वधा असि।।

पावमान काण्ड म० 9

यह सोम दिवः कविः = प्रकाश के द्वारा क्रान्तदर्शी है। इसके संयम से मनुष्य की बुद्धि में जो तीव्रता आती है, उसमे वह प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखने वाला होता है। सूक्ष्मता से देखने के कारण वह उनके तत्वों को समझता है और उनमें उलझता नहीं। यह सोम कविक्रतुः = क्रान्तदर्शी बनकर कर्म करने वाला है। क्रान्तदर्शी बनकर कर्म करते हुए उसके कर्म अनाशक्ति से चलते हैं और उसके बन्धन का कारण नहीं बनते। नप्त्योः हितः = (न) पतत्योः (पतन की ओर न जाने वाले द्यावापृथिवी का —मस्तिष्क व शरीर का हित करने वाला है। सोम की रक्षा से जहाँ शरीर का आरोग्य बना रहता है वहाँ मस्तिष्क की तीव्रता भी बनी रहती है। ऐसा यह सोम स्वानैः = (सु-आनैः) उत्तम उत्साह के संचारों द्वारा परि = चारों ओर प्रियावयांसि = प्रिय व मधुर (वि-गतौ) गतियों की याति = करता है। अर्थात् यह संयमी पुरुष सदा उत्साह युक्त होकर अत्यन्त मधुर कर्मों में व्याप्त रहता है।

क्रान्तदर्शी होने से यह संयमी पुरुष काश्यप है ना उलझने के कारण असित् है और अपने अन्दर दिव्यगुणों को बढ़ाने के कारण देवल है।

भावार्थ— हम सोम के संयम से ज्ञान के दृष्टिकोण से क्रान्तदर्शी बने। हमारे कर्म प्रज्ञापूर्वक हो हम शरीर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से अक्षीणशक्ति हों।

परि प्रिया दिवि कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः। स्वानैर्याति कविक्रतुः।।

पावमान काण्ड - 1 म० 10

सोमासः = सोम प्र = प्रकर्षेण (खूब मदच्युतः = उत्साह के टपकाने वाले हों। सोम के कारण हमारा जीवन उल्लासमय हो हम कभी निराशा की बातें न करें। ये सोम मधोनाम् = (मा-आघः) पापांश-शून्य ऐश्वर्य वाले नः = हमारे श्रवस्ये = यश के लिए हो। उत्साह सम्पन्न पुरुष ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है। वह ऐश्वर्य सुपथा - अर्जित हुआ करता है और इसके दानादि उत्तम कार्य में विनियोग से मनुष्य यश का भागी बनता है। जुहोत प्र-च तिष्ठत = दान दो और प्रतिष्ठा पाओ इस वेदवाक्य के अनुसार संयमी पुरुष कमाता है

–देता है और प्रतिष्ठा पाता है। जितना देता है उतना ही अधिक कमाता भी है। वस्तुतः सुताः उत्पन्न हुए-हुए ये सोम (विदथे = विद्-लाभे) = धन के लिए अक्रमुः = गतिशील होते हैं। सोम मनुष्य को उस पुरुषार्थ के योग्य बनाता है जिससे यह सोमी खूब कमाता है। इसकी सब इन्द्रियाँ गतिशील बनी रहती हैं–गतिशील बने रहने से ही यह श्यावास्य-गतिशील इन्द्रियरूप घोड़ों वाला कहलाता है (श्येङ्-गतौ)

भावार्थः– मैं सोमी बनूं। सोम मुझे उत्साह, यश, और श्री प्राप्त कराएँ।

प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम्। सुता विदथे अक्रमुः।। पवमानका।।2.1

सोम के संयम से मैं विपश्चित बनता हूँ। वि–पश्+चत् = विशेष रूप से सूक्ष्मता के साथ देखकर मैं प्रत्येक पदार्थ का चिन्तन करने वाला बनता हूँ। इससे मन्त्र में कार्य-कारण का अभेद करते हुए सोम को ही विपश्चित कहा गया है। सोमासः = ये सोम प्र = खूब विपश्चितः -ज्ञानी हैं ये मुझे ज्ञानी बनाने वाले हैं। ऊर्मयः-हमारे अन्दर उत्साह की तरंगों को भरने वाले ये सोम अपोनयन्त = हमें कर्मों को प्राप्त कराते है, अर्थात् सोम के द्वारा मेरा जीवन प्रकाशमय होता है और मैं बड़े उत्साह से कर्मों में लोकसंग्रह के कार्यों में प्रवृत होता हूँ। ज्ञानी बनकर कर्मशील होता हूँ। तब ठीक रहता है जमदग्नि-बना रहता है। इस सोम की रक्षा में प्राणायाम आदि तपस्या भी आवश्यक है। इस तपस्या का करने वाला भार्गव है। यह जमदग्नि- भार्गव प्रभु का अंश = छोटा रूप बन जाता है। ऐसा बनाने वाला यह सोम अंशु है।

भावार्थ– मैं अंशु की रक्षा द्वारा प्रभु का अंश = छोटा रूप बनूं।

असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः। श्येनो न योनिमासदत्।।

पावमान काण्ड म०- 7

हे सोम पवस्व = मेरे जीवन में प्रवाहित हो अथवा मेरे जीवन को पवित्र कर। दक्ष-साधनः = तू मेरी दक्षता को सिद्ध करने वाला है। सोम के संयम से मेरा प्रत्येक कार्य कुशलता से होता है। 2. देवेभ्यः = ये सोम मेरे जीवन में देवों के लिए होता है, अर्थात् इससे मुझमें दिव्य गुणों की उत्तरोतर वृद्धि होती है। 3. पीतये = यह सोम मेरे पान = रक्षण के लिए हो –मैं आसुर वृत्तियों के आक्रमण से बचा रहूं 4. हरे = हे सोम ! तुम तो हरि हो-मेरे सब रोगों व मलों का हरण करने वाले 5. मरुद्भयः = तुम प्राणों के लिए हितकर होते हो, अर्थात् सोम के संयम से प्राण शक्ति बढ़ती है। प्राणायाम से सोमरक्षा तथा सोमरक्षा से प्राणशक्ति की वृद्धि इस प्रकार सोम और प्राण परस्पर उपकारक होते हैं

6. वायवे = (वा-गतौ) प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा यह सोम मेरी क्रियाशक्ति को बढ़ाने वाला होता है। मेरा जीवन कर्मठ बनता है। 7. यह सोम मेरे मद = उल्लास व उत्साह को स्थिर रखता है इस प्रकार दक्षता, दिव्यता, दानववृत्ति, दमन, रोगहरण, प्राणवर्धन कर्मसामर्थ्य वा उल्लास को जन्म देता हुआ यह सोम मुझे अघ + स्त्य = पापसमूह को नष्ट करने वाला तथा असुरों के दृढ़ से दृढ़ दुर्गों का सेवन = नाश करने वाला दृढ़-च्युत बनाता है।

भावार्थ– सोम के द्वारा मैं दक्षता आदि सात रत्नों से अपने जीवन को सुशोभित करने वाला बनूं।

पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्भ्यो वायवे मदः।।

पावमान काण्ड म० 8

सोमः–सोम परि-सु-आनः = शरीर में सर्वत्र उत्तमतः से प्राणशक्ति को बढ़ाने वाला है। 49 प्रकार के वायु जो ध्यान एवं ज्ञानपूर्वक होने से ही मेरे ये कर्म पवित्र होते हैं। इन पवित्र कर्मों के द्वारा ही तो मुझे प्रभु की उपासना करनी है। महिषा इव = (मह-पूजायाम्) प्रभु की पूजा करने वालों के समान ये सोम मुझे वनानि = (वन-संभक्ति) समभजनों वा उपासनाओं को नयन्त = प्राप्त कराते हैं, मेरा जीवन इन पवित्र कर्मो को प्रभु चरणों में निवेदित करता हुआ उपासनामय बनता है।

सोम के द्वारा ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों का ही विस्तार करने से ये वृत है। प्रभु को प्राप्त कराने से आप्त्य है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही उपासना तो स्वतः ही हो जाती है अतः यह ज्ञान और कर्म का विस्तार करने वाला द्वित भी कहलाता है और ज्ञान का विस्तार क्रियावान् बना ही देता है, अतः ज्ञान का विस्तार करने वाला यह एकतः नाम वाला हो जाता है। एकत् का ही विस्तार द्वित्त है और द्वित्त का त्रित। एवम् यह त्रित अपने को प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ– मैं सोमी बनूं सोम मुझे ज्ञान-कर्म-उपासना का विस्तार करने वाला बनाकर तृत आप्य बनाए।

प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः। वनानि महिषाइव।।

पावमान काण्ड म०- 2

अमहियुः = जो अपने साथ पृथ्वी को पार्थिव भोगों को नहीं जोड़ता अर्थात् पार्थिव भोगों में नहीं फंसता वह आङ्गिरस = अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति वाला पुरुष प्रार्थना करता है कि इन्दो = हे शक्ति का संचार करने वाले सोम!

पवस्व = तू मेरे जीवन को पवित्र कर। सुतः = उत्पन्न हुआ-हुआ तू वृषा = शक्तिशाली बनाने वाला है। तू नः = हमे जने = अपने समाज में यशसः-कृधि = यशस्वी कर और विश्वाद्विषः = द्वेष की सब भावनाओं को अपजहि = हमसे दूर कर।

सोम के संयम से जीवन पवित्र बनता है। पवित्र ही नहीं, शक्तिशाली भी होता है। इस पवित्रता और शक्ति के परिणामस्वरूप यह अमहीयुः = कोई भी ऐसा कर्म नहीं करता जो उसके अपयश का कारण बने। स्वार्थ की भावनाओं से उठकर यह लोकहित के लिए कर्म करता है और परिणामतः इसके यश की गन्ध चारों ओर फैलती है। यह किसी के साथ द्वेष भी नहीं करता। इसका जीवन सबके प्रति प्रेम के बर्ताव वाला होता है।

भावार्थ– सोम के संयम से मैं पवित्र, शक्तिसम्पन्न, यशस्वी तथा निर्दोष बन जाऊँ।

पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने। विश्वा अप द्विषो जाहि।।

पावमान काण्ड 5 म०- 3

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भृगु है– जो अपना परिपाक करता है। यह भृगु तपः–परिपाक से अपने जीवन को पवित्र करता है। यह कहता है कि हे पवमान = मेरे जीवन को पवित्र करने वाले सोम ! तू हि = निश्चय से भानुना = दीप्ति के साथ वृषा = मुझे द्रविड़ (पराक्रम) -सम्पन्न करने वाला असि = है। सोम के संयम से उत्पन्न शक्ति ज्ञान की दीप्ति से युक्त होती है। सोम शरीर को बलवान् बनाता है तो साथ ही मस्तिष्क को भी ज्ञान की दीप्ति से युक्त करता है। शक्ति कार्य करती है तो दीप्ति कार्यों में गलती वा मालिन्य नहीं आने देती।

भृगु कहते हैं कि हे सोम ! द्युमन्तम् = दीप्ति वाले त्वाम् = तुझे हवामहे = हम पुकारते हैं। सोम को हम इसलिए चाहते हैं कि यह हमारे जीवन को तमसो मा ज्योतिर्गमय = अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलता है। पवमान = यह पवित्र करने वाला तो है ही। सोम ! तू मुझे असत् से सत् की ओर ले चल। संयमी पुरुष कोई असत् कार्य नहीं करता। मुझे पवित्र बनाकर हे सोम ! तू स्वः = उस स्वयं देदीप्यमान ज्योतिर्मय प्रभु को दृशम् = देखने के योग्य बनाता है। एवं सोम से मेरे जीवन में तीन परिणाम होते हैं– द्रविड़, दीप्ति व दर्शन। शक्ति (द्रविड़) का संचयन करने से हम निर्बलता की अयोग्यता को अपने से दूर करते हैं। यह दर्शन ही हमारे जीवन की अन्तिम साधना है।

मृत्योर्मामृतं गमय = हे सोम ! तू मुझे प्रभु का दर्शन कराके मृत्यु से बचाकर अमरता का लाभ करता है। यह दर्शन मुझे इसलिए प्राप्त हुआ है कि पवमान सोम ने मेरे सब मालिन्य को दूर कर दिया है।

भावार्थ– मैं प्राणसाधना करके द्रविड़ व दीप्तिसम्पन्न बनकर प्रभु दर्शन करने वाला बनूं।

(इन्दुः) वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे।। पवमान स्वर्दृशम्।। पावमान काण्ड म०- 5/4

इन्दुः = मुझे शक्तिशाली बनाने वाला सोम पविष्ट = मुझे पवित्र बनाता है। चेतनः = यह मुझमें चेतना उत्पन्न करता है – मैं जागृत हो जाता हूँ। जीवन-यात्रा में मैं सावधान होकर चलता हूँ नशे में नहीं जाता। अपने स्वरूप को पहचानता हूँ तथा अपने लक्ष्य को भूल नहीं जाता। यह सोम कविनांप्रियः = क्रान्तदर्शियों को प्रणीत करने वाला होता है। संयमी पुरुष अपने अन्दर तृप्ति व आनन्द का अनुभव करता है। वस्तुतः आनन्द बाह्य वस्तुओं में नहीं है। मतिः = यह सोम = मननशील बनाता है। बुद्धि को तीव्र करता है। यह मननशीलता इसे न्याय्यमार्ग से भटकने नहीं देती। इस प्रकार यह संयमी न्यायमार्ग से न भटकता हुआ रथीः इव = उत्तम रथी की भांति अश्वं-सृजत् = इन्द्रिय रूप घोड़ों को इस शरीर रूप रथ में जोड़ता है।

रथी सोया हुआ न हो, चेतन हो, साथ ही तत्वज्ञानियों की दृष्टि वाला होकर अन्दर ही अन्दर आनन्द का अनुभव करता है और वह मननशील भी हो तो कभी भटकने की आशंका हो सकती है? यह कश्यप है अपने मार्ग को देखता है और उस मार्ग में आने वाले विघ्नों को नष्ट कर डालता है इसलिए यह मारीच है सब विघ्नों को मार डालने वाला। विघ्नों को दूर कर आगे बढ़ता हुआ यह लक्ष्य स्थान पर पहुँच ही जाता है।

भावार्थ– मैं सदा जागृत रहूँ अपने लक्ष्य को भूल न जाऊँ।

इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः। सृजदश्वं रथीरिव।। 5

पावमान काण्ड 5 म०- 5

ये सोमासः = सोम वाजिनः = ज्ञान को दीप्त करने वाले हैं और वाजी होते हुए ये इस शरीर रूप रथ को गव्या = ज्ञानेन्द्रियों से प्र-असृक्षत = अच्छी प्रकार से युक्त करते हैं। ये सोम ही शुक्रासः = शीघ्रता से कार्य करने वाले होते हुए अश्वया = कर्मेन्द्रियां से इस रथ को संश्रिष्ठ करते हैं और अन्त में आशवः = सारे शरीर में व्याप्त होने वाले (यश-व्याप्तौ) ये सोम इसे वीरया =

वीरता की भावना से युक्त करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के योग से ज्ञान में वृद्धि होती है। कर्मेन्द्रियों के योग से शक्ति की और वीरता की भावना से हृदय में सद्‌गुणों की। इस प्रकार ये सोम ज्ञान, शक्ति व सद्‌गुणों से हमें आप्यायित करने वाले होते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में शक्ति और हृदय में वीरता [Virtue] ही तो त्रिविध विकास है। यह विकास करने वाला कश्यप मारीच है। तत्वज्ञानी भी है, विघ्नों को मारकर आगे बढ़ने वाला भी।

भावार्थ– मैं अपने शरीर रथ में इन्द्रिय रूप घोड़ों को ठीक से जोड़कर आगे बढ़ता चलूँ।

अंसृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया। शुक्रासो वीरयाशवः।।

पावमान काण्ड अ० 5 म० 6

हे सोम ! तू मुझमें देवः = दिव्य गुणों को जन्म देने वाला है। तू आयु = मुझे आजीवन पवस्व = पवित्र कर डाल सोम वस्तुतः मनुष्य को सोम = शान्त बनाने वाला है इससे जीवन में स्थिरता बढ़ती है। अशान्ति तभी होती है जब मल की अभिवृद्धि होती है। रोग दूर करके वह सोम शरीर को शान्ति देता है और मानस मलों को दूर करके यह मन की अशान्ति को दूर भगा देता है। यह शान्त मानस व्यक्ति 'निध्रुवि' निश्चय से अपने स्थान पर ध्रुवता से रहने वाला होता है। 'काश्यप' ज्ञानी होने से यह व्यर्थ की व्यग्रता में नहीं फंसता।

अव्यग्रता व मनः प्रसाद के साथ यह अपने जीवन-पथ पर चलता है और सोम से कहता है कि ते मदः = तेरे द्वारा उत्पन्न ये मद इन्द्रं गच्छतु = (गमयन्तु) = मुझे परमात्मा को प्राप्त कराने वाला हो। धन का मद विलास की ओर ले जाता हैं, शरीर की शक्ति का मद निर्बलों पर अत्याचार की ओर, योग का बल विभूतियों के प्रदर्शन की ओर और ज्ञान का मद विरोधी को पराजित करने की भावना की ओर। यह सोम का ही मद है जो हमें प्रभु की ओर ले चलता है।

हे सोम ! तू धर्मणा = अपनी धारकशक्ति से वायुम् = (अनु) प्राणों की साधना के अनुपात में आरोह = ऊर्ध्वगतिवाला हो। प्राणायाम के द्वारा इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला हो। प्राणायाम के द्वारा इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है मनुष्य ऊर्ध्वरितस् हो जाता है।

भावार्थ– सोम मुझे पवित्र करे, प्रभु को प्राप्त कराए और मेरे जीवन का धारण करने वाला हो।

पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः। वायुमा रोह धर्मणा।।

पावमान काण्ड अ.व. 5 म० 7

हमारे जीवन को पवित्र करने वाला यह सोम दिवः = द्युलोक के चित्रम् = अद्भुत तन्युतुम् = विद्युत् प्रकाश के समान ज्योतिः = ज्ञान के प्रकाश को अजीजनत् = उत्पन्न करता है। कौन से ज्ञान के प्रकाश को? जो वैश्वानरम् = (विश्वनरहितम्) सब लोकों का कल्याण करने वाला है तथा बृहत् (बृहि-वृद्धौ) लोकवृद्धि का कारण है।

आधुनिक युग में ज्ञान की वृद्धि हो रही है, परन्तु यह ज्ञान-वृद्धि अणु-बम्बों आदि का निर्माण करके लोकहित के लिए कल्याणकारी प्रमाणित नहीं हो रही। ज्ञान बढ़ा है, परन्तु यह लोकवृद्धि का कारण न बनकर लोकसंक्षय का कारण हो गया है। संयमी पुरुषों का ज्ञान हितकर व वृद्धिकर होता है। जैसे आकाश में बिजली चमकी और सूचीभेद तम में भी मार्ग दीख गया, उसी प्रकार संयमी के मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान-विद्युत् का प्रकाश होता है और उसे गूढ़ से गूढ़ विषय भी स्पष्ट हो जाते हैं। यह अज्ञान –ग्रन्थियों को सुलझाता हुआ उस ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है जो सभी का हितकर व वृद्धिकर होता है। संयमी होने से यह उस ज्ञान का दुरुपयोग नही करता, उसे अपने भोगों की वृद्धि का साधन नहीं बनाता। यह तो है ही 'अमहियुः' = पार्थिव भोगों को न चाहने वाला, इसी से यह 'आङ्गीरस' है और इसी से यह अपने ज्ञान को 'वैश्वनर, वृहत्' बना पाया है।

भावार्थ– सोम से मुझे वह ज्योति प्राप्त हो जो सभी की अभिवृद्धि का हेतु बने।

पवमानो अजीजनद् दिवश्चित्रं न तन्यतुम्।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत्।। 8

पावमान काण्ड अ. 5 म० 7

इन्दवः = हमें शक्तिशाली बनाने वाले सोम परि-सू-आनासः = चारों ओर- सारे शरीर में, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में उत्तम प्राणशक्ति का संचार करने वाले हैं। ये सोम बर्हणागिरा = वृद्धि की कारणभूत वेदवाणी के साथ-ज्ञान की वाणी के साथ मदाय = उल्लास के लिए होते हैं। सोम से मुझे ज्ञान के साथ शक्ति प्राप्त होती है, मेरा प्रत्येक अङ्ग प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है, मेरा जीवन सात्विक व उल्लासमय होता है। इस उल्लास को प्राप्त व्यक्ति मधोः धारया अर्षन्ति = माधुर्य की धारा के साथ गति करते हैं ये जिस भी व्यक्ति के सम्पर्क में आते

हैं उसे मधुरता का ही अनुभव होता है। इनके व्यवहार में धारण शक्ति होती है– इनके व्यवहार से औरों का पोषण होता है। यहाँ धारा शब्द का प्रयोग इसलिए भी है कि जैसे– जल की धारा न रुकते हुए, न चिपटते हुए, अनाशक्ति से आगे और आगे, बढ़ती जाती है, उसी प्रकार ये व्यक्ति भी अपने कार्यक्रम में आगे और आगे चलते जाते हैं। ये किसी भी वस्तु से बद्ध नहीं होते ये 'असित्' हैं, समझदार होने से 'काश्यप' और दिव्यगुणों वाले होने से 'देवल' हैं।

भावार्थ– मैं मधु की धारा के साथ बहता चलूँ।

परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा। मधो अर्षन्ति धारया।।

पावमान काण्ड 5 म० 9

यह क्रान्दर्शी सोम परिप्रासिष्यदत् श्रितः– मेरे जीवन में चारों ओर बहता है। मुझे तत्व को जानने वाली दृष्टि प्राप्त होती है और मेरी प्रत्येक इन्द्रिय गहराई तक पहुँचने वाली होती है यह सोम सिन्धोः = सारे रुधिर प्रवाह को बहाने वाली, मानस सरोवर में भावना की ऊँची भावनाओं की तंरग उठती है। वस्तुत जिस व्यक्ति का हृदय तरंगित नहीं होता वह कोई महान् कार्य भी नहीं . पाता। सोम मनुष्य के मस्तिष्क को तीव्र ज्ञान की ज्योतिवाला बनाता है तो उसके हृदय को ऊँचे-ऊँचे संकल्पों से भर देता है। ये ज्ञान और संकल्प मिलकर उसे महान् कार्यों को करने योग्य बनाते हैं।

यह सोम उसी पुरुष का बिभ्रत् = धारण करता है जो 1. कारुम्– शिल्पमयता से वस्तुओं का निर्माता होता है। और पुरुस्पृहम् = महान् स्पृहावाला होता है। कार्यों को कुशलता से करते चलना और एक ऊँचे लक्ष्य वाला होना। ये दोनों बातें सोम के धारण में सहायक होती हैं। 'लाँघ जा' यह वेद का आदेश है। 'बहुलाभिमानः' = तुझमें गौरव की भावना हो। यह भावना संयम के लिए सहायक हो जाती है। महत्वाकांक्षा न होने पर ब्रह्मचर्य का संयम कठिन है।

भावार्थ– मैं कारु व पुरुस्पृह बनकर सोम का धारण करूँ।

परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः। कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्।।

पावमान क़ाण्ड 5-10

विशेष– जैसा कि 'पवमान सोम' में सोम के विभिन्न अर्थों से यह ध्वनित हो रहा है कि– सोम केवल औषधि ही नहीं है अपितु सोम का अध्यात्म रूप भक्तिरूपी रस है।

ऋग्वेद में भी यह स्पष्ट किया सोम का अभिप्राय केवल शिल-बट्टे से पिसी औषधि सोमलता ही नहीं है। वस्तुतः सोम का (ब्रह्मविदुः जनाः) पान ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले योगीजन भक्ति रस में डूब तथा तल्लीन होकर, भक्ति की मस्ती को प्राप्त करके ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, वे ही वास्तविक सोम का पान करते हैं।

चारों वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों के निर्धारण में ऋग्वेद में ज्ञान काण्ड, यजुर्वेद में कर्मकाण्ड, सामवेद में उपासना काण्ड और अथर्व वेद में विज्ञान काण्ड साधारणतः स्वीकार किया जाता है। अतः सामवेद में उपासनाकाण्ड मुख्यतः माना जाता है।

भारतीय चिकित्सा ग्रन्थों में सोम औषधि का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। सोम शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। जैसे–चन्द्र, वीर्य, सोम्यगुण, ओषधि और भक्ति आदि सोम सोमशब्द के विख्यात अर्थ हैं।

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु' = पार्थिव भोगों की कामना न करने वाला कहता है कि उप = समीपता से, उ = निश्चयपूर्वक सु = उत्तम प्रकार से जातम् = विकास करने वाले इन्दुम् = सोम को देवाः = देवलोग अयासिषुः = प्राप्त करते हैं। यदि एक बालक ब्रह्मचार्यश्रम में माता पिता व आचार्य की समीपता में निवास करता है और गृहस्थ बनने पर विद्वान् अतिथियों के सान्निध्य को प्राप्त करता है। प्रातः-सायं प्रभु की उपासना करता है तो उस व्यक्ति का जीवन संयम-प्रवण रहता है और सोम उसके शरीर में व्याप्त होकर उसके उत्तम विकास का कारण बनता है। यह सोम गोभिः = ज्ञानप्रद वेदवाणियों के साथ अप् – तुरम् = उसके अन्दर कर्मों को त्वरा से -शीघ्रता से कराने वाला होता है। सोमी पुरुष को आलस्य नहीं व्याप्ता। न ही काम-क्रोध आदि वासनाएँ उसके मार्ग में विघातक होती हैं। यह भङ्गम् = कामादि का मर्दन करने वाला है– उन वासनाओं को कुचल डालने वाला है और इस प्रकार परिष्कृतम् = यह जीवन को बड़ा परिष्कृत– शुद्ध बनाने वाला है।

एवं सोम के सुरक्षित होने पर जीवन में निम्न परिणाम उत्पन्न होते हैं– 1. उत्तम विकास, 2. ज्ञानपूर्वक शीघ्रता से कार्य करने की शक्ति 3. वासनाओं का भङ्ग और 4. जीवन का परिमार्जन। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनाने वाले इस सोम को प्राप्त वे ही करते हैं जो 'देवाः' = देव बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ– मैं देव बनने का निश्चय करूँ।

उषो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्ग परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः।।1

पवमान काण्ड षष्ठ प्रपाठ अ० 5। म० खण्ड 3।

पुनानः = हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ यह सोम विचर्षणिः = बहुत सूक्ष्म दृष्टिवाला–तत्त्व ज्ञानी की दृष्टि को उत्पन्न करने वाला विश्वा मृधः = अन्दर घुस आने वाली, कुचल डालने वाली (मृध् Murder) सभी काम-क्रोधादि वृत्तियों को अभि अक्रमीत् = आक्रान्त करता है। सोम की रक्षा से हमारा जीवन पवित्र होता है। यह सोम रोग कृमियों पर आक्रमण करके हमारे शरीरों को स्वस्थ बनाता है और वासनाओं पर आक्रमण करके हमारे मनों को निर्मल बनाता है। बुद्धि की कुण्ठा को दूर कर उसे तीव्र बनाता है एवं यह सोम 'वि-प्र' है –हमारा विशेषरूप से पूरण करने वाले सोम को देवलोग धीतिभिः = ध्यान के द्वारा शुम्भन्ति = अपने शरीर में सुशोभित करते हैं। इस सोम के शरीर में सुरक्षित रखने का सर्वमहान् उपाय प्रभु का ध्यान ही है। सदा प्रभु का चिन्तन करने वाला व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता और सोम को सुरक्षित रख पाता है। इसकी रक्षा से यह बड़ी तीव्र बुद्धि वाला बनता है, अतः 'बृहन्मति' कहलाता है और शक्तिशाली बनने में 'आङ्गिरस' होता है।

भावार्थ– मैं सदा प्रभु का स्मरण करने वाला बनूँ।

पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः। शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः।।

पावमान काण्ड षष्ठ प्रपाठकस्य अ० 5. ख० 3 म० 2

इस मानव-शरीर में सोलह कलाओं का निवास है, अतएव पुरुष को 'षोडशी' कहा जाता है 'कलाः शेरते अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से शरीर 'कलश' है। सुतः = उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम कलशम् = इस शरीर में आविशन् = समन्तात् प्रवेश करता हुआ या व्याप्त होता हुआ विश्वाः = सम्पूर्ण श्रियः = श्रियों– उत्तमताओं शोभाओं को अभिअर्षन् = प्राप्त कराता है। सोम स्वयं सोलह कलाओं में केन्द्रीभूत एक महत्त्वपूर्ण कला है। इसके ठीक होने पर अन्य सब कलाएँ ठीक होती है –शरीर का अंग प्रत्यङ्ग शोभामय होता है।

इन्दुः = यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्तिशाली बनाने वाला सोम इन्द्राय = इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए धीयते = धारण किया जाता है, अर्थात् इस सोम का धारण इन्द्र ही करता है –वही व्यक्ति जो इन्द्रियों का दास नहीं बन जाता। **'जीभ ने चाहा और हमने खाया' ये वृत्ति हमें सोम धारण करने के योग्य बनाती है। मैं इन्द्र बनता हूँ–** सोम को धारण करता हूँ और परिणामतः 'जमदग्नि' = ठीक पाचन शक्तिवाला बना रहता हूँ और मेरी सब ही शक्तियों का ठीक से परिपाक भी होता है, अतः 'भार्गव' होता हूँ।

भावार्थ– मैं इन्द्र = जितेन्द्रिय बनकर सोम का धारण करूँ।

आविशन् कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः। इन्दुरिन्द्राय धीयते।।3।।

पा० काण्ड षष्ठप्रपाठकस्य अ० 5 ख० 3 म० 3

यथा = जैसे रथ्यः = रथ में जोतने योग्य उत्तम घोड़ा होता है, उसी प्रकार इस शरीर रूप रथ में यह सोम असर्जि = जोता गया है। घोड़ों के उत्तम होने पर यात्रा पूर्ति की बड़ी आशा होती है, इसी प्रकार शरीर में सोम के होने पर हमारी जीवन-यात्रा पूर्ण हो जाया करती है। यह सोम पवित्रे = हृदय की पवित्रता के निमित्त सुतः = उत्पन्न किया गया है। शरीर में सोम के होने पर मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि कलुषित भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं = मन निर्मल बना रहता है। यह सोम चम्वोः = चमुओं के निमित्त सुतः = उत्पन्न किया गया है। (चम्वोः = द्यावापृथिव्यौ) 'निघण्टु में' 'चमु' नाम द्यावापृथिवी का है। जिस प्रकार दो सेनाएँ एक दूसरे का आवाहन करती हुई एक दूसरे के सामने खड़ी होती हैं (क्रन्दसी) उसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवी लोक हैं। इस पिण्ड में ये मस्तिष्क व शरीर रूप में हैं– पृथिवी शरीरं, द्यौः मूर्धा। सोम शरीर को दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को उग्र तेजस्वी। इस प्रकार मन को पवित्र, शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता हुआ वाजी = सतत गति वाला होता हुआ कार्ष्मन् = लक्ष्य स्थान पर पहुँचता है और नि = निश्चय से अक्रमीत् = पहुँचता है। 'सोम हमे हमारे जीवन यात्रा के लक्ष्य पर पहुँचाता है, यह सोम का कितना महान् लाभ है। उस लक्ष्य स्थान पर पहुँच कर 'प्रभु' रूप वसु = सम्पत्ति को प्राप्त करते है, इससे बढ़कर और अधिक उत्कृष्ट सम्पत्ति क्या हो सकती है? प्रभु के सामीप्य में अपने जीवन में शक्ति का अनुभव करता हुआ यह 'अङ्गीरस' होता है।

भावार्थ– सोम के सेवन से 'पवित्र मन, दृढ़ शरीर व उज्ज्वल मस्तिष्क' बनकर मैं जीवन के लक्ष्य स्थान पर पहुँचने वाला बनूँ।

असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्बोः सुतः। कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत्।। म०4।।

पा० काण्ड षष्ठप्रपाठकस्य अ० 5 ख० 4

यत् = जब गावः न = गौवों के समान या वेदवाणियों के समान भूर्णयः = भरण् करने वाले ये सोम प्र अक्रमुः = गति करते है जब कृष्णा त्वचम् = काले आवरण-पर्दे को अपघ्नन्तः = नष्ट करते हुए गति करते हैं। सोम हमारे जीवन का भरण करने वाले हैं, उसी प्रकार जैसे गौवों का दूध हमारे शरीर को नीरोग, मन को 'सात्विक तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है। वेदवाणियाँ भी हमारे जीवन के पोषण में पर्याप्त स्थान रखती हैं। त्वेषाः = ये दीप्ति वाली है

इनके कारण हमारा जीवन मार्ग प्रकाशमय बना रहता है। अर्थात् ये निरन्तर गति वाले हैं। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर यह थकता नहीं है। अनथक रूप से निरन्तर आगे बढ़ता है। जैसे रथ में जोतने योग्य उत्तम घोड़ा होता है, उसी प्रकार इस शरीररूप रथ में यह सोम जोता गया है। घोड़ों के उत्तम होने पर यात्रापूर्ति की बड़ी आशा होती है, इसी प्रकार शरीर में सोम के होने पर हमारी जीवन यात्रा पूर्ण हो जाया करती है। यह सोम हृदय की पवित्रता के निमित्त उत्पन्न किया गया है। शरीर में सोम के होने पर मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि कलुषित भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं –मन निर्मल बना रहता है। यह सोम चमुओं के निमित्त उत्पन्न किया गया है निघण्टु में चमू नाम द्यावापृथिवी का है। जिस प्रकार दो सेनाएँ एक दूसरे का आह्वान करती हुई एक-दूसरे के सामने खड़ी होती हैं, उसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवीलोक है। इस पिण्ड में ये मस्तिष्क व शरीर रूप में हैं। सोम शरीर को दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को उग्र-तेजस्वी।

इस प्रकार मन को पवित्र, शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता हुआ यह सोम सतत गतिवाला होता हुआ लक्ष्य स्थान पर पहुँचता है और निश्चय से पहुँचता है। सोम हमें हमारे जीवन यात्रा के लक्ष्य पर पहुँचाता है, यह सोम का कितना महान् लाभ है। उस लक्ष्य स्थान पर पहुँचकर हम 'प्रभु' रूप सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं, इससे बढ़कर और अधिक उत्कृष्ट सम्पत्ति क्या हो सकती है? प्रभु के सामीप्य में अपने जीवन में शक्ति का अनुभव करता हुआ यह आङ्गिरस होता है।

भावार्थ– सोम के सेवन से 'पवित्र मन, दृढ़ शरीर व उज्ज्वल मस्तिष्क' बनकर मैं जीवन के लक्ष्य स्थान पर पहुँचने वाला बनूँ।

जब गौवों के समान या वेदवाणियों के समान भरण करने वाले ये सोम गति करते हैं तब काले आवरण पर्दे को नष्ट करते हुए गति करते हैं। सोम हमारे जीवन का भरण करने वाले हैं, उसी प्रकार जैसे गौवों का दूध हमारे शरीर को नीरोग, मन को सात्विक तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है। वेदवाणियाँ भी हमारे जीवन के पोषण में पर्याप्त स्थान रखती हैं। ये दीप्तिवाली हैं। इनके कारण हमारा जीवन मार्ग प्रकाशमय बना रहता है। ये निरन्तर गति वाले हैं। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर यह थकता नहीं है। अनथक रूप से निरन्तर आगे बढ़ता हुआ यह मार्ग में आने वाली रुकावटों को दूर करता जाता है।

असर्जि ....न्यक्रमीत्।। 4।।
प्र यद्गावो न..कृष्णामप त्वचम्।। 5

पावमान काण्ड प्र० 6 अ० 5 ख० 3

ये रुकावटें ही ज्ञान के आवरण हैं। काम, क्रोधं, लोभादि आवरण काली त्वचा के रूप में है –सोम इनका नाश कर देता है, विघ्नों के दूर हो जाने पर, यात्रा को पूर्ण करके यह उस पवित्र प्रभु का अतिथि बनता है। अतः इनका नाम मेध्यातिथि हो जाता है। यह ऐसा एक-एक कदम चलते-चलते कण-कण करके बना पाया है, अतः इनका नाम 'काण्व' है।

भावार्थ– हम सोम को धारण करें। ये हमारा धारण करेंगे। हमारे मार्ग को प्रकाशमय बनाएंगे। हम अनथक रूप से आगे बढेंगे, सब विघ्न-बाधाओं को पार कर जाएँगे। निश्चय से स्थिरता की मनोवृति वाला ज्ञानी कहाता है– हे सोम तू हिंसक कामादि को नष्ट करता हुआ हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है। कामादि वासनाओं को नष्ट करके तू काम-वासना की समाप्ति व यज्ञीय भावना के उदय से यह सोम आनन्द व उल्लास का जनक है।

हे सोम ! देव की ओर न जाने वाले प्रभु की कामना न करने वाले मनुष्य को एक धक्का लगा उसे कुछ ऐसी प्रेरणा कर कि वह भोग की वृति को छोड़कर आत्मा की ओर झुकाववाला बने। आत्मा की ओर झुक जाने पर इसकी चित्तवृत्ति डांवाड़ोल नहीं रहती– यह स्थितिप्रज्ञ सा बन जाता है, निध्रुवि हो जाता है। वस्तुतः स्थितिप्रज्ञ बनना ही ऊँचा ज्ञानी बनना है कश्यप होना है।

भावार्थ– सोम मेरी वासना को समाप्त करता है। यह यज्ञीय भावनाओं को मुझमें जन्म देता है। उल्लास का कारण होता है और मुझे आत्मप्रवण बनाता है।

हे सोम इस धारण शक्ति से मेरे अन्दर वह या मेरे जीवन को पवित्र कर जिससे तू मेरी चक्षु को दीप्त करता है। सोम से जीवन का धारण तो होता ही है, साथ ही मनुष्य की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उसका दृष्टिकोण ठीक हो जाता है। प्रत्येक वस्तु को ठीक रूप से रखने के कारण वह किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं होता और न किसी प्राणी के साथ द्वेष की भावना वाला होता है। दृष्टिकोण को ठीक करने से यह मानव हितकारी कर्मों को प्रेरित करता है। वस्तुतः दृष्टिकोण की विकृति ही मनुष्य को स्वार्थपूर्ण केवल अपने प्राण-पोषण के कर्मो में उलझाए रखती है। सोम के संयम का यह परिणाम है

कि हमारा दृष्टिकोण ठीक बनता है और हम परार्थ में ही स्वार्थ को सिद्ध होता देखते हैं।

अपध्नन् पवसे ....नुदस्वादेवयुं जनम्।। 6

पावमान का० अ० 5 ख० 3

अया पवस्व..हिन्वानो मानुषीरपः।। 7

पावमान का० अ० 5 ख० 3

हमें परहित के कार्यों में रस आने लगता है।

भावार्थ– सोम-जीवन का धारण करता है– हमें दीर्घायु बनाता है। हमारी चक्षु को दीप्त कर हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है। हमारा झुकाव लोकहित के कार्यों में हो जाता है।

हे सोम ! वह तू मेरे जीवन को पवित्र बना जो तू मेरी रक्षा करता है। यह सोम मुझे काम-क्रोधादि वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। सोमी पुरुष न क्रोध करता है न ईर्ष्यालु होता है। यह सोम इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को दिव्य शक्ति के भाग अंश से पूरित करता है जिससे यह इन्द्र ज्ञान के आवरण-भूत वृत्र काम को नष्ट कर सके। परन्तु प्रश्न तो यह है कि प्रभु की दिव्य शक्ति का यह अंश प्राप्त किसे होता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि महान् अथवा महनीय-प्रशंसनीय कर्म करने वाले इन्द्र को यह दिव्य शक्ति प्राप्त हुआ करती है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन में कोई महान् कर्म करने की प्रेरणा लेकर उसे मूर्तिरूप देने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, उसी व्यक्ति को प्रभु का यह दिव्यांश प्राप्त हुआ करता है। यह व्यक्ति महान् उद्देश्य से चलने के कारण पार्थिव भोगों में कभी फंसता नहीं उनकी ओर इसका झुकाव भी नहीं होता, इसलिए इसे पार्थिव भोगों को न चाहने वाला कहा है। शक्तियों के जीर्ण न होने से यह आङ्गिरस है।

भावार्थ– मैं महान् कर्म को अपना लक्ष्य बनाऊँ, जिससे मुझमें दिव्य शक्ति का अवतरण हो।

हे शक्ति देने वाले सोम ! तू इस मार्ग से मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवाहित हो। जिससे तेरा श्रवण-प्रवाह सब अङ्गों में चारों ओर मदों के निर्मित्त हो। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर जीवन उल्लासमय बनता है। यह सोमी पुरुष गतिमय-चञ्चल पाँच ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय को दूर कर देता है। चञ्चलता के हनन से चञ्चल इन्द्रियों का हनन हो जाता है। शत्रुता के नाश से शत्रु के मित्र बन जाने पर शत्रु नष्ट हो जाता है। चञ्चलता के नष्ट हो जाने

पर ये अत्यन्त अस्थिर इन्द्रियाँ भी नष्ट हो जाती हैं और उनके स्थान में अवस्थित इन्द्रियों व मन का उदय होता है यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम्।" इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार यही परमगति है। अमहियुः पुरुष ही इस परमगति को जानता है। पार्थिव भोगों की कामनाएं तो मनुष्य को अत्यन्त चञ्चल बनाए रखती हैं।

स पवस्व य ....महीरपः। पावमान का०अ०5. ख०3 म० 8

अया वीती............................अवाहन्नवतीर्नव–म० 9

पावमान काण्ड अ०5. ख०3

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उचथ्य आङ्गिरस' है = उत्तम स्तोता जो शक्ति सम्पन्न है। यह प्रभु से आराधना करता है कि हममें आध्यायनीय सोम के द्वारा सम्पत्ति को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्राप्त कराइए; कौन सी सम्पत्ति को? जोकि ज्ञान में निवास करने वाली है और हममें शक्ति का भरण करने वाली है।

इस प्रकार स्तोता की सम्पत्ति का चित्रण इन शब्दों में हुआ है कि वह प्रकाशमय है और शक्ति से पूर्ण है। आदर्श मनुष्य वही है जो पहलवान के शरीर में ऋषि की आत्मा रखता है। प्रकाश और शक्ति का चयन करने वाला ही सच्चा स्तोता है। सोम इन दोनों ही तत्वों का मूल है, इसलिए यह स्तोता सोम को आध्यायनीय मानता है। यह सोम से कहता है कि उत्तम प्रकार से मुझे प्राणित करने वाला, सब प्रकार से ध्यान देने योग्य तू पवित्रता के निमित्त समन्तात् गति कर। यह कहता है कि सोम इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त हो और इसके द्वारा इसका शरीर पवित्र होकर प्राणित हो उठे। यदि मैं अपने जीवन को इस प्रकार बनाता हूँ तभी मैं प्रभु का सच्चा स्तोता होता हूँ।

सोम पुकारता है –पुकारकर मन्त्र के ऋषि मेधातिथि से कहता है कि मुझे अपनाकर तो देखो। देखें कि मैं किस प्रकार तुम्हारे लिए सुखों का वर्षक होता हूँ। किस प्राकर तुम्हें शक्ति सम्पन्न बनाता हूँ। मैं तुम्हारे दुःखों का हरण करने वाला हूँ। सब मलिनताओं को दूर भगानेवाला हूँ। तुम्हारे शरीर को शक्ति सम्पन्न बनाता हूँ तो मन को निर्मल। मैं तेरे हृदय को पूजा की वृत्ति से परिपूर्ण उदार बनाता हूँ। मेरे द्वारा तू सूर्य के समान दर्शनीय होता है तेजस्वी बनता है। सूर्य 'मित्र' है मृत्यु से बचाने वाला है। यह सोम भी सूर्य की भांति ही रोगों से बचाकर मृत्यु से बचाता है और हमें सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है।

इस सोम के द्वारा यह मेधातिथि अपनी चक्षु से दृष्टिकोण से सम्यक् चमकता है। सोमी पुरुष का दृष्टिकोण बड़ा सुन्दर होता है। वह संसार में

समझदारी से चलता है। मेधा के साथ चलने से यह मेधातिथि कहलाता है। कण-कण करके इसने मेधा का संचय किया है, अतः यह 'काण्व' है।

परि धुक्षं ....स्वानो अर्ष पवित्र आ।। – 10

अचिक्रदद् वृषा.......................................सं सूर्येण दिद्युते मन्त्र– 1

पावमान काण्ड अ०5. ख०4

गत मन्त्र का मेधातिथि 'भृगु' = तपस्या के द्वारा अपना परिपाक करने वाला बनता है। तपस्या से परिपक्व होकर ही तो यह मेधा का संचय करने वाला ज्ञानी बनेगा। यह हृदय को पवित्र करके अथवा अपने को व्रतों के बन्धनों में बांधकर 'वारुणि' होता है और यही मेधातिथि खाने पीने में भी ठीक दृष्टिकोण होने के कारण जमदग्नि बनता है। यह प्रभु से कहता है कि हम आज ही आपके इस सोम का सर्वथा वरण-चुनाव करते हैं। इस सोम को ही सुरक्षित करने का ध्यान करते हैं, जो कि मुझे दक्ष-चतुर कार्यकुशल बनाता है। मैं उस सोम का वरण करूँ जो कि स्वास्थ्य का सुख उत्पन्न करने वाला है। सोम के संयम से मैं सब रोगों का अभिभव कर पाता हूँ। रोगों से दूर हो स्वास्थ्य सुख का अनुभव करता हूँ। यह सोम मुझे सब विघ्न-बाधाओं से और अन्त में संसार से पार ले जाने वाला है। सोम से मनुष्य में शक्ति, उल्लास व ऐसे उत्साह का संचार होता है कि पहाड़ जैसे विघ्नों में भी व्याकुल नहीं होता। यह सोम मेरी रक्षा करता है। सोम मुझे रोगों का शिकार तो होने ही नहीं देता प्रलोभनों का शिकार होने से भी बचाता है। इससे मेरे मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि भी नहीं उत्पन्न होते। यह सोम मेरे अन्दर महान् स्पृहा को जन्म देता है। मेरे अन्दर महान् कार्य कर जाने की भावना उत्पन्न होती है। वस्तुतः यह पुरुस्पृहता प्रलोभनों से बचने में भी सहायक होती है।

–हे हिंसा की भावना से दूर रहने वाले स्तोतः ! तू सोम को समन्तात् अपने शरीर में प्राप्त करा। वस्तुतः सोम को शरीर में सुरक्षित रखने के लिए हिंसादि की भावना से ऊपर उठना आवश्यक है। किसी भी प्रकार की उत्तेजना 'सोमरक्षा' के लिए 'विघातक' है। इसी से ब्रह्मचारी के लिए शोक-मोह-क्रोध सभी वर्जित है। यह सोम पाषाणों के हेतु से उत्पन्न किया गया है। इस अर्थेववाक्य के अनुसार पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर का ही यहाँ अद्रि शब्द से संकेत है। सोम की रक्षा से शरीर वज्रतुल्य बनता ही है। इस सोम को पवित्रता के निमित्त हमें शरीर में प्राप्त करना चाहिए। यह स्थूल शरीर में से रोगरूप मलों को दूर करता है मन के द्वेषादि मलों को हरता है तथा बुद्धि की कुण्ठा को भगाता है

—आ ते दक्षं मयोभुवं..................................पान्तमा पुरुस्पृहम्।

पा०का०अ० 5.ख० 4 म० 2

—अध्वर्यो अद्रिभिः............................पुनाहीन्द्राय पातवे-

अ०5.ख०4 म०3 पावमान काण्ड

—जो व्यक्ति सोम की, जो सारे भोजन का सार है, रक्षा करता है वह 'अवत्सार' कहलाता है। यह ज्ञानी काश्यप तो है ही। वह संसार में आने वाली विघ्न-बाधाओं को तैरता हुआ, उल्लासवाला दौड़ता चलता है। धाव् धातु के दोनों अर्थ है गति और शुद्धि। यह मार्ग में आने वाले विघ्नों का शोधन-सफाया करता हुआ आगे बढ़ता है। यह उत्पन्न हुए-हुए सर्वथा ध्यान देने योग्य सोम को धारणशक्ति से आगे और आगे बढ़ता चलता है। ज्ञानी होने से रमणीय विषयों का भोग करता हुआ भी उनमें उलझता नहीं है। वह तो तेजी से तैरता हुआ सदा उत्साह में स्थित आगे बढ़ता ही चलता है।

—हे सोम मुझे उस सम्पत्ति को सर्वथा प्राप्त करा जो मेरे जीवन को सदा उल्लासवाला और मुझे उत्तम शक्तिवाला बनाती है। सम्पत्ति और समृद्धि शब्दों में यह अन्तर है कि समृद्धि जहाँ बाह्य वस्तु है वहाँ सम्पत्ति आन्तर वस्तु है। यह सम्पत्ति 'तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सहस्' आदि शब्दों से सूचित होती है और क्रमशः अन्नमयादि कोशों को अलंकृत करती है। सोम वस्तुतः इस सम्पूर्ण सम्पत्ति का मूल है। यहाँ वीर्य व सहस दो का ही संकेत प्रतीक रूप में है। वस्तुतः सोम से तो सारी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

शक्ति और सतत प्रसाद को प्राप्त कराके हे सोम ! तू हममें ज्ञान व यश को धारण कर। मेरे जीवन से ऐसे ही कार्य हों जो कीर्तिकर हों। वस्तुतः संयमी पुरुष का जीवन-क्रम इस प्रकार सुन्दरता से चलता है कि शत्रु भी उसका यशोगान करते हैं। इसके जीवन में एक ऐसी स्थिरता होती है कि सभी उससे प्रभावित होते हैं। यह ध्रुव बुद्धिवाला-स्थितप्रज्ञ होता है। सदा ज्ञानमार्ग से विचरण करने वाला 'काश्यप' होता है! सोम हमें सदा उल्लासमय, शक्तिशाली, ज्ञानी व उत्तम कीर्ति वाला बनाता है।

—सोम के संयम से कान्ति व शोभा के लिए संयमी पुरुष अपने अन्दर एक विशिष्ट दृष्टिकोण को उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टिकोण का ही परिणाम होता है कि वे विषयों से आबद्ध रहते हैं। अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर दीप्त करते है। दिव्य-गुणों को अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का जीवन बनाने से पुराण व वृद्ध होते हुए भी ये मनुष्य अत्यन्त नवीन पद युवावस्था में शनैः-शनैः

—तरत् स मन्दी....................................मन्दी धावति –

पा०का०अ० 5.ख० 4 मन्त्र 4

—आ पवस्व...श्रवांसि धारय। —

पा०का०अ० 5.ख० 4 मन्त्र 5

—अनु प्रत्नास आयवः...........................जनन्त सूर्यम् —

पावमान काण्ड अ० 5.ख० 4 म०6

प्रवेश करते हैं। इनकी सब शक्तियां ठीक होकर ये फिर से नौजवान हो जाते हैं। सोम के संयम से मनुष्य धीमे-धीमे अधिकाधिक स्वस्थ होता चलता है और वस्तुतः यौवन को पुनः प्राप्त कर लेता है। आचार्य ने सोम को वह 'मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र' माना है जो सब रोगों की ओषध है। देवों की भांति मनुष्य कभी जीर्ण नहीं होता अधिकाधिक युवा होता चलता है। वही स्तुत्यतम जीवन है। सोम का संयम 'पुनर्युवा' बनाने वाला है।

—हे सोम तू मेरे जीवन को सर्वाधिक प्रकाशमय बनाने वाला है। सोम की ऊर्ध्वगति होकर यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानाग्नि दीप्त होकर मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। निरन्तर प्रभु के नामों का जप करता हुआ तू ऊर्ध्वगति का लक्ष्य करके प्रवाहित हो। वृक्ष में जैसे मूल में डाला हुआ जल ऊपर शिखर तक पहुँचकर पत्ते-पत्ते को हरा-भरा करने वाला होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगति वाला सोम मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को ही नहीं सभी अंगों को सबल बनाता है। हे सोम ! तू अपने उत्पत्ति स्थान इस शरीर में ही स्थित होता हुआ उत्तम सम्भजनीय वस्तुओं के निमित्त समन्तात् शरीर में व्याप्त हो। यदि सोम शरीर में ही, जहाँ वह उत्पन्न हुआ है, रहे तो, यह अपने धारक को सब सेव्य वस्तुओं को प्राप्त कराने वाला होता है। इसके धारण से उत्तमोत्तम गुणों की वृद्धि होती है।

इसका धारण तप की अपेक्षा करता है। आरामपसन्दगी इसके लिए विघातक है। इसका धारण करने वाला भृगु = तपस्वी है, अपना परिपाक करने वाला है। उसका जीवन श्रेष्ठ होने से यह 'वारुणि' है। पूर्ण स्वस्थ होने से यह जमदग्नि है —इसकी जठराग्नि दीप्त है। मैं प्रभु के नामों का जप करूँ और ऊर्ध्वरितस् बनूँ।

—हे सोम हमारी सब कामनाओं का पूर्ण करने वाला होता हुआ ज्योतिर्मय है —हमारे जीवनों को तू प्रकाशमय बनाता है। हे हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय बनाने वाले सोम ! तू मुझे शक्तिशाली बनाता हुआ शक्तिशाली कर्मों वाला बनाता है। मेरी प्रवृति को धर्मप्रवण करता हुआ तू मेरे जीवन में धर्मों का धारण करने वाला होता है।

—अर्षा सोम ....सीदन् योनौ वनेष्वा पा०का०अ० 5.ख० 4 म० 7

—वृषा सोम.....................दध्रिषे पा०का०अ० 5.ख० 4 मन्त्र 8

सोम के संयम का पहला परिणाम मेरे जीवन में यह है कि मैं उत्तम इच्छाओं वाला होता हूँ। मेरी वे इच्छाएँ सामान्यतः पूर्ण भी हो जाती हैं। मैं अपने जीवन में घृत, लवण, तण्डुल व ईंन्धन की चिन्ता से ही व्याकुल नहीं रहता परिणामतः यह चिन्ता मेरी बुद्धि को अव्यवस्थित करने वाली नहीं होती। दूसरा परिणाम यह होता है कि मैं शक्तिसम्पन्न होता हूँ। मेरे सब कार्य शक्ति के चिह्नों को प्रकट करते हैं। तीसरा परिणाम यह होता है कि मेरी प्रवृत्ति धर्म-कर्मों के साधन का कारण बनती है। सोम मुझे द्युमान बनाता है, अतः मैं 'कश्यप' होता हूँ। वासनाओं को अशुभ भावनाओं को समाप्त करने वाला होने से 'मारीच' बनता हूँ। सोम मेरी अभिलाषाओं को पूर्ण करे, मुझे शक्तिशाली बनाएं तथा मेरी प्रवृत्ति को धर्म प्रवण करे।

–प्रभु प्रेरणा श्रवण– यह सोम मेरे जीवन में ब्रह्म की प्रेरणा के लिए पवित्रता करे। सोम के धारण से वासनाओं का नाश होकर मेरा जीवन इस प्रकार पवित्र हो कि मुझे हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़े। यह सोम मन को बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित करने वाले समझदार लोगों से धारण के उद्देश्य से शुद्ध किया जाता है। मनेशी बनना मन को बुद्धिपूर्ण रखना सोम संयम का सर्वोत्तम साधन है। धारित होकर यह हमारा धारणकर्ता है। धारण के हेतु से ही तो विद्वानों ने इसका संयम किया।

मुझे शक्तिशाली बनाने वाले सोम ! तू दीप्त के हेतु से वेदवाणी की ओर चल। वेदवाणी ब्रह्म है। इसकी ओर चलना 'ब्रह्मचर्य' है। वेदवाणी का अध्ययन मुझे सोम के संयम में भी सहायक होता है। इसी संयम से मैं प्रभु प्रेरणा को भी सुनने वाला बनता हूँ। यह सोम मुझे पवित्र कर प्रभु प्रेरणा को सुनने योग्य बनाता है।

–वृषा सोम ....दध्रिषे –8

–इषे पवस्व.........................रुचाभि गा इहि –9 पावमान काण्ड 5/4/9

हे सोम तू धारणमयी शक्ति के साथ मेरे जीवन को शक्तिशाली बनाने वाला है। मेरे साथ दिव्य गुणों को जोड़ने वाला है। मेरे जीवन को पवित्र कर मुझमें प्रवाहित हो। तू रक्षण के द्वारा और बुराइयों व रोगों के निवारण के द्वारा हमें हमारे साथ जोड़ने वाला है। जब मैं अपने से जुड़ा होता हूँ तब स्वस्थ होता हूँ। यह सोम मेरे स्वास्थ्य का कारण है –शारीरिक स्वास्थ्य का भी और मानस स्वास्थ्य का भी। वस्तुतः इस स्वास्थ्य के द्वारा ही यह मेरे उल्लास का कारण बनता है। रोग कृमियों का नाशक होने से यह मेरा धारण करता है। शक्ति का स्रोत तो यह है ही –स्रोत क्या शक्ति ही है। शक्ति सम्पन्न बनाकर ही यह मुझमें दिव्यता भरता प्रक्रिया के द्वारा यह हमें हमारे साथ जोड़ता है–

हमें स्वस्थ्य बनाता है। यह सोम रोगों से भी मेरी रक्षा करता है। यह सोमी पुरुष 'असित' विषयों से आबद्ध ज्ञानी और दिव्य गुणों का उपादान करने वाला होता है। सोम देवयुः तो है ही।

–यह क्रान्तदर्शी है, भार्गव है–तपस्या से अपना परिपाक करने वाला है। यह सोम से कहता है कि हे सोम तू उत्तम कर्म के द्वारा मेरे जीवन को उल्लासमय, शक्तिशाली व दिव्यगुणयुक्त बनाने के द्वारा मुझे पूजा प्रवण बनाता हुआ सब दृष्टिकोणों से बढ़ाता है। संयमी पुरुष का जीवन प्रभुपूजा की ओर झुकाव वाला होता है और उसका जीवन शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से उन्नतिवाला होता है।

हे सोम निश्चय से मुझे उल्लासमय बनाता हुआ मेरे जीवन में शक्तिशाली के रूप में आचरण करता है। मेरा जीवन निर्बल नहीं होता। सब प्रकार की निर्बलता से दूर होकर आज मैं प्रभु को पाने के योग्य बना हूँ।

सोम के द्वारा मेरी सर्वांगीण उन्नति होती है। –यह सोम मुझे विशेष रूप से द्रष्टा बनाता है। मैं क्रान्तदर्शी बनकर प्रत्येक वस्तु को उसके वास्तविक रूप में देखता हूँ। यह मुझे पवित्र करने वाला है।

–मन्द्रया सोम धारया ....वारेभिरस्मयुः–पा०का०अ० 5.ख० 4म० 10

–अया सोम सुकृत्यया................वृषायसे–पा०का०अ० 5.ख० 4 म०11

–अयं विचर्षणिर्हितः ....बृहत् –12 पावमान काण्ड

इसी का परिणाम है कि उस-उस वस्तु की आपात् रमणीयता मुझे उलझा नहीं पाती। इस प्रकार यह सोम मेरे लिए हितकर होता है। यह मुझे पवित्र करने वाला है और वह चेतनामय है। इस सोम के संयम से मैं मोहमयी प्रमाद मदिरा पीकर बेसुध नहीं हो जाता, अपितु मेरी चेतना स्थिर रहती है। इस प्रकार यह सोम मुझे सदा सर्वमहान्, प्राप्त करने योग्य प्रभु की ओर प्रेरित करता है। प्राप्त करने योग्य वस्तु 'आप्यम्' है। सर्वोत्तम आप्य 'प्रभु' है। उस सर्वोत्तम 'आप्य' की प्राप्ति के लिए मुझे यह स्मृति सदा बनी ही रहनी चाहिए कि मैं कौन हूँ? यहाँ क्यों आया हूँ? सोम इस चेतना को स्थायी रखता है और मुझे प्रभु दर्शन कराता है। प्रभु दर्शन के लिए दो बातें आवश्यक हैं। 1. शक्ति 2. चेतना। गत मन्त्र में सोम के लिए कहा था कि यह मुझे शक्तिशाली बनाता है और प्रस्तुत मन्त्र में कहा है कि मेरी चेतना को स्थिर रखता है। शक्ति का तत्व 'जमदग्नि' बनने में है, मेरी जठराग्नि सदा तीव्र बनी रहे –मैं जमत् + अग्नि बना रहूँ। जाठराग्नि ठीक रहने से ही सब धातुओं का ठीक उत्पादन होकर मेरी शक्ति स्थिर रहती है। चेतना के लिए 'भार्गव' तपस्वी बनना आवश्यक है।

– हे हमें शक्तिशाली बनाने वाले सोम ! तू हमारे महनीय-प्रशंसनीय ज्ञानरूप धन के लिए हृदय में तंरग सी धारण करता हुआ खूब गतिशील होता है। सोम के धारण से हृदय में गम्भीर ज्ञान के लिए उसी प्रकार उत्साह होता है जैसा कि समुद्र में तरंगें उठती है।

ज्ञान प्राप्ति के अतिरिक्त यह सोम हमें निरन्तर दिव्य गुणों की ओर ले चलता है। जो उसे निरन्तर कार्य करने में समर्थ बनाती हैं। इससे हमारे अन्दर दैवी-सम्पत्ति की वृद्धि होती है। संयमी पुरुष कभी थकता नहीं। उसके शरीर में शक्ति होती है जो उसे निरन्तर कार्य करने में समर्थ बनाती है।

सोम का मस्तिष्क पर परिणाम गम्भीर ज्ञान के लिए सामर्थ्य है, हृदय में दैवी गुणों का विकास तथा शरीर को यह अनथक काम करने के योग्य बनाता है। –न थकने वाला शक्तिशाली पुरुष।

प्र न इन्द्रो................अभि देवा अपास्य।। पा०का०अ० 5.ख० 5 म०13

सोम के विविध नाम

सोम का वैदिक साहित्य में पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसके दो रूप थे। एक पार्थिव तथा दूसरा दिव्य। दिव्य रूप में वर्णित सोम ब्राह्माण्ड में व्याप्त एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है : जिसमें अमरत्व और प्रकाशत्व दो दिव्य गुण विद्यमान हैं। इसका विवेचन देवताओं के प्रसंग में हुआ है यहाँ पर सोम का पार्थिव रूप वर्णित है।

वैदिक युग में सोम नामक एक लता थी। यह अपने विशिष्ट गुणों के कारण सुविख्यात थी। ऋग्वेद के अनुसार सोमलता मुञ्जवान् पर्वत पर मिलती थी।[1] सुश्रुत संहिता के अनुसार यह लता अन्य विभिन्न स्थानों पर भी मिलती थी।[2] ब्राह्मण काल में सोम लता अत्यन्त दुर्लभ हो गयी थी। ऋग्वेदीय ब्राह्मण

– प्र न इन्द्रो.........................अभि देवां अयास्य। 13

1. ऋ० 1.93.6, 3.48.2, 5.34.4, 5.36.2, 5.85.2.
2. सुश्रुत संहिता चिकित्सा अध्याय 29 में सोम की उत्पत्ति विषयक निम्न वर्णन मिलता है।
   हिमवत्यबुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा।
   श्री पर्वते देवगिरीदेव सहे तथा।।
   पारियात्रे च विन्ध्ये च देव सुन्दे हृदे तथा।
   उत्तरेण वितस्ताया प्रवृद्धा ये महीधराः।।
   पञ्चतेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः
   ह्यवत्प्लवते तत्र चन्द्रमा सोम सत्तमः।।
   तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवान् शुभानपि
   काश्मीरेषु सरोदिव्यं नाम्नः क्षुद्रकमानसम्।।
   गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्था।
   सन्त्यपरे चापि सोमः सोम समप्रभाः।।

ग्रन्थों के अनुसार सोम को खरीदना और बेचना पाप का कारण माना गया है।[1] पुनरपि अनेकधा सोम खरीदने के प्रसङ्ग मिलते हैं। इनको संवत्सर के तेरहवे मास में खरीदते थे।[2] इसके प्रतिरूप में, वस्त्र तथा पशुओं को दिया जाता था।[3]

ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों से विदित होता है कि सोमरस इस काल में अत्यन्त दुर्लभ हो गया था। अतः इसको प्राप्त करने के लिए सभी लालायित रहते थे। इन्द्र ने तो सोम की चोरी भी कर ली थी।[4]

देवताओं में प्रतिस्पर्धा होती थी। प्रथम आने वाले को सोमरस पीने का प्रथम अधिकार मिलता था।[5] सामाजिक संगठन में सोम को ब्राह्मणों का भक्ष्य बताया गया है।[6] क्षत्रियों, वैश्य और शूद्रों को सोमपान का अधिकार नहीं था। सोम के प्रतिरूप में क्षत्रिय पीपल, बरगद, गूलर और पलाश के फल एवं रस पीते थे।[7]

सोमरस निकालने की विधि–

सोमलता को पानी में धोकर पत्थरों पर पीसा जाता था। पीसने पर सोमरस नीचे चमड़े के वस्त्र पर इकट्ठा हो जाता था। सोमरस को छान कर घड़ों में भर लेते थे।[8]

सोमरस को दूध, घृत, दही, मधु आदि में मिलाकर पीते थे। कौषीतकि ब्राह्मण में 'मधुमिश्रित' तथा 'घृतमिश्रित' सोम का उल्लेख है। ऋग्वेद के अनुसार दूध मिले सोम को गवाशिरम्[9] दही मिश्रित सोम को "दध्याशिरम्"[10] पुराडाशमिश्रित सोम को पुराडाश-सोम[11] तथा यव मिश्रित सोम को यवाशिरम्[12]

---

1. पापो हि सोम विक्रयी। ऐत.ब्रा. 3.1
2. त त्रयोदशान्मासादक्रीणन्........ऐत ब्रा. 3.1
   सोमं राजानं अक्रीणन् तस्माद् प्राच्यां दिशिक्रीयते। –वही
3. कौ. ब्रा. 7.10 ऐत. ब्रा. 5.1
4. ऐत. ब्रा. 35.11
5. वही 9.1
6. सोम ब्राह्मणानां स भक्ष्यः। –ऐत.ब्रा 35.1
7. ऐत. ब्रा. 35.4
8. वही, 35.6
9. कौ. ब्रा. 13.5.6
10. सोममिन्द्र गवाशिरम्। ऋ० 3.42.1
11. सोमासो दध्याशिरः। ऋ० 5.51.7
12. पुरोडाशंसोम। ऋ० 8.2.1
13. यवाशिरम्। ऋ० 3.42.1

कहा जाता था। यह मिश्रण सोम को स्वादिष्ट बनाकर पीने अथवा विभिन्न रोगोपचार के लिए किया जाता होगा।

सोम रस पान से लाभ–

सोमरस पीने से शरीर में कान्ति, ओज, बल और वीर्य की वृद्धि होती थी। सुश्रुत-संहिता के अनुसार सोमरस पीने वाला दीर्घायु प्राप्त करता है। वह अग्नि, जल, विष, अस्त्र एवं शस्त्र के दुष्प्रभाव से मुक्त रहता है। हाथी के समान बलशाली हो जाता है। तथा समस्त वेदवेदाङ्ग के तत्त्व को जानकर अव्याहत गति से विचरण करता है।[1]

सोमलता का स्वरूप–

सोमलता के 24 भेद बताये गये हैं।[2] सुश्रुत संहिता के अनुसार सोम एक ही है परन्तु स्थान, नाम, आकृति और वीर्य भेद से उसके भेद 24 हो जाते है। ये भेद निम्न है। (1) अंशुमान, (2) मुञ्जवान, (3) चन्द्रमा, (4) रजतप्रभ, (5) दूर्वा, (6) कनीयान, (7) श्वेताक्ष, (8) कनक प्रभ, (9) प्रतानवान, (10) तालवृन्त, (11) करवी, (12) अशंवान्, (13) स्वयंप्रभ, (14) महासोम, (15) गरुडाहत, (16) गायत्र, (17) त्रैष्टुभ, (18) पाङ्कत, (19) जागत,

---

1. औषधीनां पतिसोममुपयुज्य विचक्षणः
   दशवर्ष सहस्त्राणि नवां धारयेत् तनुम्।।
   आग्निर्न तोयं न विषं च न शस्त्रमेव च।
   तस्यालमायुः क्षपणे ससर्थाश्च भवन्ति हि।।
   भद्राणां षष्ठिं वर्षाणां प्रसूतानामनेकधा।
   कुञ्जराणां सहस्त्रस्य बलं समधिगच्छाति।
   क्षीरोदकं शक्रसदनमुत्तरोश्च कुरुनपि।
   यत्रेच्छाति स गन्तु वा तत्राप्रतिहतागति।।
   साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान् विदन्ति तत्त्वतः।
   चरत्यमोध सङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत्।

   –सुश्रुत संहिता चिकित्सा अ॰ 29
2. यजुर्वेद स्वामी दयानन्द भाष्य, 19.33
3. अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः।
   दुर्वासोमः कनीयाश्च श्वेताक्षः कनक प्रभ।।
   प्रतानवास्तालवृन्तः करवीरोऽशंवानपि।
   स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडहृतः।। सुश्रुत संहिता चिकित्सा अध्याय-29
4. सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दशपञ्च च
   तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च।। वही. अध्याय 29

(20) शाक्वर, (21) अग्निष्टोम, (22) रैवत, (23) त्रिपदागायत्री, (24) उडुपति।

सोमलता के इन सभी भेदों में पन्द्रह पत्ते होते थे। जो शुक्ल पक्ष में निकलते थे तथा कृष्णपक्ष में झड़ जाते थे। शुक्ल पक्ष में सोमलता का प्रतिदिन एक-एक पत्ता निकलता था। इस प्रकार पूर्णमासी के दिन पन्द्रह पत्ते निकल आते थे। पुनः कृष्णपक्ष में एक-एक पत्ता झड़ने लगता था इस प्रकार अमावस्या को केवल लता शेष रह जाती थी। इस प्रकार की वनस्पति इस समय उपलब्ध नहीं है।

सोमलता विषयक आधुनिक अनुसन्धान--

प्राचीन भारतीय साहित्य में सोमरस के अलौकिक गुणों से प्रभावित होकर आधुनिक वनस्पति अनुसंधाताओं ने सोमलता को खोजने का संकल्प किया। सोमलता की खोज का प्रथम प्रयास 1784 ई० में शुरू हुआ। जब भगवद्गीता के अंग्रेजी अनुवाद में सोम के गुणों को यूरोप के वनस्पति अनुसंधाताओं ने पढ़ा तो उन्होंने इनकी खोज शुरू की। इंग्लैण्ड की सरकार ने भारत स्थित अपने कर्मचारियों को इसकी खोज का कार्य सौंपा 1814 ई. में एक्सवर्ग नामक व्यक्ति ने सद्याष (Ratta Groveolenslimm) को सोम बताया। इस प्रकार सोमलता के अन्वेषण का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा उत्तरोत्तर बढ़ता गया। जिन वनस्पतियों के गुणों की समानता वैदिक साहित्य में वर्णित सोम से मिलती गयी उन-उन वनस्पतियों को सोम का प्रतिनिधि मान लिया गया। इस प्रकार की लगभग एक सो वनस्पतियों को सोम रूप में स्वीकार किया जा चुका है।

डॉ. वाट ने साराकोस्टैम्म (रोक्स) वोगृ (मदारकुल) को सोम माना है। इसे संस्कृत, हिन्दी, बंगला भाषाओं में सोम कहा जाता है तथा मलयालम् एवं तमिल भाषाओं में सोमम्। इसी परम्परा में पेरिप्लोका एकाइल्ला डेकने (मदारकुल) 'सरोपिजिथाजाति एकेड्रा पैकिक्लाडावौ सग्नेटेसी एकेड्रा वल्गेरिस कलाई अगेरिक नामक कुकुरमुत्ते की जाति अमानिता मस्कारिया गिलोय, गिनसेंग (पैनेक्स शेनशुंग अरालिसेसी कुल) आदि प्रमुख वनस्पतियों को सोम रूप में स्वीकार किया जाता है।[1]

---

1. सोम लता की विशेष जानकारी के लिये देखिये,
(क) सचित्र आयुर्वेद जुलाई 1972. पृ. 47.48 तथा मई 1974 पृ. 71.1
(ख) धर्मयुग, 3 जून, 1973. पृ. 23.24 तथा 9 फरवरी
(ग) गुरुकुल पत्रिका, दिसम्बर-जनवरी, 1974-75. पृ. 189
(घ) वैदिक सोम का समीक्षात्मक अध्ययन, पी.एच.डी. शोध प्रबन्ध, गुरुकुल कांगडी, नीराजना शर्मा, 1977

चतुर्थ-अध्याय

यजुर्वेदीय संस्कृति

संस्कार एवं संस्कृति

'संस्कार' शब्द प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, किन्तु 'सम' के साथ 'कृ' धातु तथा 'संस्कृत' शब्द बहुधा मिल जाते हैं। ऋग्वेद में संस्कृत शब्द धर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है, यथा 'दोनों अश्विन् पवित्र हुए वरतन को हानि नहीं पहुँचाते। 'ऋग्वेद' में संस्कृत तथा संस्कृतत्र तथा 'रणाय संस्कृत' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण में वर्णन आया है?[1] पुनः शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि स्त्री किसी संस्कृत घर में खड़े पुरुष के पास पहुँचती है।[2]

छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि उस यज्ञ की दो विधियाँ हैंः मन से या वाणी से। ब्रह्मा उनमें एक को अपने मन से बनाता या चमकाता है।[3] जैमिनि के सूत्रों में संस्कार शब्द अनेक बार आया है। जैसा कि आचार्य वादरि का मत है कि याग, दान होम आदि कर्मों की सिद्धि में उपकारी सामग्री के साधन ब्रीहि आदि का नाम 'द्रव्य', उसके शौकल्य अरुण आदि धर्मों का नाम 'गुण' और **''संस्कारो नाम यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य''** अर्थात् जिसके होने पर पदार्थ किसी अर्थ की सिद्धि के योग्य हो जाता है, ऐसे उक्त सामग्री के प्रोक्षण आदि धर्मों का नाम 'संस्कार' है, यह तीनों उक्त कर्म की सिद्धि के लिए होने से 'शेष' हैं, जैसे-सामग्री के बिना उक्त कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही सामग्री के होने पर भी जो गुण सामग्री के विधान किये गए हैं, उनके तथा प्रोक्षणादि संस्कारों के बिना भी उक्त कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती, अतएव सामग्री की भाँति

---

1. स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरुः साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह। शतपथ ब्रा.-3.2.1.22
2. तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति। शतपथ वा-3.21.22
3. तस्मादेष एवं यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तिनी।
   तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होता। छन्दोग्य उप. 4.16.1&2

गुण तथा संस्कार भी सामग्री द्वारा उक्त कर्म की सिद्धि में उपकारी हैं। क्योंकि तीनों के होने से ही उक्त की सिद्धि होती है। इसलिए द्रव्य गुण तथा संस्कार यह तीनों दूसरे के लिए हैं इसलिए 'शेष' का लक्ष्य है।[1]

यजुर्वेद में यज्ञ संस्कृति

यजुर्वेद को विषय प्रतिपादन की दृष्टि से कर्मकाण्ड का वेद माना जाता है। यज्ञ का विविध अर्थों में वर्णन विस्तार रूप में प्राप्त होता है जैसा कि वेद मन्त्र में बतलाया है कि जो पदार्थ संयोग से विकार को प्राप्त होते हैं वे अग्नि के निमित्त से अतिसूक्ष्म परमाणुरूप होकर वायु के बीच रहा करते हैं और कुछ शुद्ध भी हो जाते हैं परन्तु जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती इससे विद्वानों को चाहिये कि होमक्रिया और वायु अग्नि जल आदि पदार्थ का शिल्पविद्या से अच्छी-अच्छी सवारी बना के अनेक प्रकार के लाभ उठावें अर्थात् अपनी मनोकामना सिद्ध करके औरों की भी कामनासिद्धि करें। जो जल इस पृथिवी से अन्तरिक्ष को चढ़कर वहाँ से लौटकर फिर पृथिवी आदि पदार्थों को प्राप्त होते हैं वे प्रथम और जो मेघ में रहने वाले हैं वे दूसरे कहाते हैं।[2] इसी प्रकार आगे वेद में कहा है कि – ईश्वर ने सृष्टि के आदि में दिव्य गुण वाले अग्नि, वायु, (आदित्य) रवि और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा चारों वेदों के उपदेश से सब मनुष्यों के लिये विद्या प्राप्ति के साथ यज्ञ के अनुष्ठान की विधि का उपदेश किया है जिससे सब की रक्षा होती है क्योंकि विद्या और शुद्धि क्रिया के बिना किसी को सुख वा सुख की रक्षा प्राप्त नहीं हो सकती इसलिये हम सबको उचित है कि परस्पर प्रीति के साथ अपनी बृद्धि और रक्षा यत्न से करनी चाहिय। जो ग्यारहवें मन्त्र से यज्ञ का फल कहा है उसका प्रकाश परमेश्वर ही ने किया है।[3]

यज्ञ शब्द वैदिक संस्कृति में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपनयन से लेकर मरण पर्यन्त उसे यज्ञ की परिधि में आबद्ध रहना ही पड़ता है। संन्यासी को

---

1. द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः। जैमिनीसूत्र- 3.1.3
2. पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽअग्रेवोऽअग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं, सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्। यजुर्वेद, 1. 12 मन्त्र
3. एतंतेदेव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव। यजुर्वेद 12. 12 मन्त्र।

भी ब्रह्मयज्ञ करना ही होता है। ज्ञान यज्ञ, उपासना यज्ञ, भूदान यज्ञ तथा प्रजनन यज्ञ आदि का लोक व्यवहार देखकर प्रतीत होता है कि विश्व के समस्त लोकोपकारक कर्म, यज्ञ के अन्तर्गत आ जाते हैं। शतपथ के 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' को यदि 'श्रेष्ठतमं कर्म वै यज्ञः' में परिवर्तित कर दिया जाए तो इसमें अत्युक्ति न होगी। संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विस्तृत अर्थ उपलब्ध होते हैं।[1]

यजुर्वेद में यज्ञ का अर्थः विद्वानों ने 'देवपूजा संगतिकरण तथा दान[2] अर्थ वाली यज्ञ धातु से भाव तथा अकर्तरिकारक में 'नङ्'[3] प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होने वाले यज्ञ शब्द का अर्थ–(1) विद्या ज्ञान तथा धर्म के अनुष्ठान में अधिक विद्वानों की लोक परलोक सुख सम्पादनार्थ सेवा तथा सत्कार करना (2) अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल तथा विरोध को जानकर शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना तथा (3) नित्य विद्वानों का समागम एवं शुभ विद्या सुख तथा धर्मादिगुणों का दान करना किया है। यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण यज्ञ का मूल रूप 'यज्ज' मानता है जिसका अर्थ विस्तृत होता हुआ उत्पन्न होने वाला है।[4]

ईश्वर

यजुर्वेद में स्वयं ईश्वर आदेश देते हैं कि – जो अग्नि और वायु यज्ञ के मुख्य अङ्ग को प्राप्त कराने वाले और सुखरूप हैं तथा जल को प्राप्त कराने वाली क्रियाओं को कराने हारे हैं और सब जगत् को पालते हैं वे मुझ से अच्छी प्रकार उत्तम-उत्तम क्रिया-कुशलता में युक्त हुए मुझे, यज्ञ करने वाले को सुख में स्थापन करते हैं जैसे यह जगदीश्वर और नम्र होना तेरे लिये कल्याण में समीप स्थित होते हैं, वे वैसे ही मेरे लिये भी स्थित होते हैं इस कारण जैसे मैं यज्ञ का अनुष्ठान करके सुख में स्थित होता हूँ वैसे तुम भी उस में स्थित होओ। अर्थात्–ईश्वर कहता है कि हे मनुष्यों! रस के परमाणु करने, जगत् के पालन के निमित्त सुख करने, क्रियाकाण्ड के हेतु और ऊपर को तथा टेढ़े वा सूधे जाने वाले अग्नि वायु के गुणों से कार्यों को सिद्ध करो।

1. द्र., वैदिक कोषः – सूर्यकान्त प्र. 420-431 तथा ब्राह्मणोद्धारकोषः पृ. 655-664
2. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु भ्वादिगण धातु संख्या प्र. 39
3. अष्टाध्यायी 3.390 (यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्)
4. स तायमानो जायते। स यज्जायते तस्माद् यज्ञो है वै नामैतद्यज्ञ इति।।शत. 3/9/4/23

इस से तुम लोग सुखों में अच्छी प्रकार स्थिर हो तथा मेरी आज्ञा पालो और मुझको ही वार-वार नमस्कार करो।[1] इसी प्रकार आगे यजुर्वेद में बतलाया है कि–हे मनुष्यों! तुमको ऐसी इच्छा करनी चाहिये कि हमारी आयु कि जिससे हम जीते हैं वह अच्छी क्रिया से परमेश्वर और विद्वानों के सत्कार से मिले हुए कर्म विद्या देने आदि के साथ समर्पित हो जीवाने का मूल मुख्य कारण पवन अच्छी क्रिया और योगाभ्यास आदि के साथ समर्पित हो जिससे दुख को दूर करता है वह पवन उत्तम क्रिया से श्रेष्ठ काम के साथ समर्पित हो सब सन्धियों में व्याप्त अर्थात् शरीर को चलाने कर्म कराने आदि का जो निमित्त है वह पवन अच्छी क्रिया से उत्तम काम के साथ समर्पित हो जिससे बली होता है वह पवन अच्छी क्रिया से उत्तम कर्म के साथ समर्पित हो जिससे अङ्ग-अङ्ग में अन्न पहुँचाया जाता है वह पवन उत्तम क्रिया से यज्ञ के साथ समर्पित हो नेत्र उत्तम से सत्कर्म के साथ समर्पित हो कान आदि इन्द्रियाँ जो कि पदार्थों का ज्ञान कराती हैं अच्छी क्रिया से सत्कर्म के साथ समर्पित हों वाणी आदि कर्मेन्द्रियाँ उत्तम क्रिया से अच्छे काम के साथ समर्पित हों मन अर्थात् अन्तःकरण उत्तम क्रिया से सत्कर्म के साथ समर्पित हो जीव उत्तम क्रिया से सत्कर्म के साथ समर्पित हो चार वेदों का जानने वाला उत्तम क्रिया से यज्ञादि सत्कर्म के साथ समर्थ हो ज्ञान का प्रकाश उत्तम क्रिया से यज्ञ के साथ समर्पित हो सुख उत्तम क्रिया से यज्ञ के साथ समर्पित हो पूछना वा जो बचा हुआ पदार्थ हो वह उत्तम क्रिया से यज्ञ के साथ समर्पित हो यज्ञ अर्थात् व्यापक परमात्मा उत्तम क्रिया से अपने साथ समर्पित हो। अर्थात्-मनुष्यों को चाहिए कि जितना अपना जीवन शरीर, प्राण, अन्तःकरण, दशों इन्द्रियाँ और सब से उत्तम सामग्री हो उसको यज्ञ के लिये समर्पित करें जिससे पापरहित कृतकृत्य होके परमात्मा को प्राप्त होकर इस जन्म और द्वितीय जन्म में सुख को प्राप्त होवें।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि– हे जिज्ञासु जन! यह मध्य रेखा भूमि के परभाग की सीमा है यह प्रत्यक्ष गुणों वाला सबको पूजनीय जगदीश्वर संसार की नियत स्थिति का बन्धक है यह ओषधियों में उत्तम अंशुमान आदि सोम पराक्रमकर्ता बलवान् जन का पराक्रम है और यह चारों वेद का ज्ञाता तीन वेदरूप वाणी का उत्तम स्थान है तू इसको जान

---

1. घृताची स्थो धुर्यौ पात ꣺ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्। यज्ञ नभश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे में संतिष्ठस्व।। यजु. 2.19
2. आयुर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा प्राणो .... कल्पताएꣳ स्वाहा/यजु./22-33

अर्थात्–हे मनुष्यों! जो इस भूगोल की मध्यस्थ रेखा की जावे तो वह ऊपर से भूमि के अन्त को प्राप्त होती हुई व्याससंज्ञक होती है। यही भूमि की सीमा है। सब लोगों के मध्य आकर्षणकर्ता जगदीश्वर है सब प्राणियों को पराक्रमकर्ता ओषधियों में उत्तम अंशुमान आदि सोम है और वेदपरायण पुरुष वाणी का परगन्ता है यह तुम जानो।[1]

यज्ञकर्म

यजुर्वेद में बतलाया गया है कि–हे विद्वान् लोगों! तुम जैसे परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए इस संसार में निर्दोष और पवित्र करने हेतु जो सूर्य की किरण हैं उनसे यज्ञसम्बन्धी प्राण और अपान की गति तथा पदार्थों के भी पवित्र करने में हेतु हों और जैसे उक्त सूर्य की किरणों से आगे समुद्र का अन्तरिक्ष में चलने वाले प्रथम पृथिवी में रहने वाली सोम ओषधि के सेवन से तथा दिव्यगुणयुक्त वह जल पवित्र हों। वैसे पवित्र पदार्थों का होम अग्नि में करो वैसे ही मैं भी आज के दिन इस पूर्वोक्त क्रिया सम्बन्धी यज्ञ को प्राप्त करके जो प्रथम श्रेष्ठ मन आदि इन्द्रिय और सुवर्ण आदि धन वाला यज्ञ का नियम से पालक तथा विद्वान् और श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त होने वा उनका प्राप्त कराने यज्ञ की इच्छा करने वाला मनुष्य है उसको पवित्र करता हूँ। अर्थात्–जो पदार्थ संयोग से विकार को प्राप्त होते हैं वे अग्नि के निमित्त से अतिसूक्ष्म परमाणुरूप होकर वायु के बीच रहा करते हैं और कुछ शुद्ध भी हो जाते हैं परन्तु जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है। वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती इससे विद्वानों को चाहिए कि होम क्रिया और वायु अग्नि जल आदि पदार्थ वा शिल्प विद्या से अच्छी-अच्छी सवारी बना के अनेक प्रकार के लाभ उठावें। जो जल इस पृथिवी से अन्तरिक्ष को चढ़कर वहाँ से लौटकर फिर पृथिवी आदि पदार्थों को प्राप्त होते हैं वे प्रथम और जो मेघ में रहने वाले हैं वे दूसरे कहाते हैं। ऐसी मेघ का वृत्र तथा सूर्य्य का इन्द्र नाम से वर्णन करके युद्धरूप कथा के प्रकाश से मेघविद्या दिखलाई है। इसी को स्पष्ट करते हुए अगले मन्त्र में बतलाते हैं कि– हे विद्वान पुरुषों! तुम श्रद्धालु होकर यजमान के यज्ञ के अनुष्ठान से भय मत करो और उससे मत चलायमान हो। इसप्रकार यज्ञ करते हुए तुम

---

1. इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
 अयꣳ सोमो वृष्णोऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥ यजु. 23.62

को उत्तम से उत्तम ग्लानिरहित श्रद्धावान् सन्तान प्राप्त हो और मैं भौतिक अग्नि को उक्त गुणयुक्त तथा सत्य सुख के लिये वायु तथा वृष्टि जल की शुद्धि तथा अग्नि कर्म और हवि होने के लिये निश्चल करता हूँ अर्थात्—ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना वा चलायमान कभी न होना चाहिये क्योंकि मनुष्यों को उक्त यज्ञ आदि अच्छे-अच्छे कार्यों से ही उत्तम-उत्तम सन्तान शारीरिक वाचिक और मानस विविध प्रकार के निश्चल सुख प्राप्त हो सकते हैं।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि—हे दिव्य सुख वा उत्तम गुण देने तथा सब ऐश्वर्य का विधान करने वाले जगदीश्वर! वेद और विद्वान् आप के प्रकाशित किये हुए इस पूर्वोक्त यज्ञ को अच्छी प्रकार कहते हैं कि जिससे बड़ों में बड़ी जो वेदवाणी है उसके पालन करने वाले चारों वेदों के पढ़ने से ब्रह्मा की पदवी को हुए विद्वान् के लिये सुख और श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त होते हैं। इस यज्ञ सम्बन्धी धर्म से यज्ञ को करने वा सब प्राणियों को सुख देने वाले विद्वान् और उस विद्या वा धर्म के प्रकाश से मेरी भी रक्षा कीजिये। इसी को समझाते हुए अगले मन्त्र में बतलाते हैं ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यों! तुम्हारा मन अच्छे ही कामों में प्रवृत्त हो तथा मैंने जो संसार में यज्ञ करने की आज्ञा दी है उसका उक्त प्रकार से यथावत् अनुष्ठान करके सुखी हो तथा औरों को भी सुखी करो। यह परमेश्वर का नाम है जैसे पिता और पुत्र का प्रिय सम्बन्ध है वैसे ही परमेश्वर के साथ ओंकार का सम्बन्ध है तथा अच्छे कामों के बिना किसी की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती इसलिये सब मनुष्यों को सर्वथा अधर्म छोड़कर धर्म कामों का ही सेवन करना योग्य है जिससे संसार में निश्चय करके अविद्यारूपी अन्धकार निवृत्त होकर विद्यारूपी सूर्य्य प्रकाशित हो। यज्ञ के अनुष्ठान से सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा वा सुख होते हैं यह इस में प्रकाशित किया है।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि—हे ऐश्वर्य के देने वाले जगदीश्वर! जो आप मनुष्यों में सत्य धर्माचरण की रक्षा सब को उत्पन्न करके सत्कार वा उपासना आदि में स्तुति के योग्य हम लोगों

---

1. पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण ...... देवयुवम्।। यजु. 1, 12 मा भेर्मा संविक्थाऽअतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा।। यजु. 1, 23
2. एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव।। यजु. 2, 12

   मनो जूतिर्जुष्टतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमं दधातु। विश्वे देवासऽइह मादयन्तामो3म्प्रतिष्ठ।। यजु. 2, 13

के लिये धन के दान करने वाले धन को देते हैं सो प्राप्त करते हुए आप वारंवार अत्यन्त धन दीजिये सब सुखों से पोषण कीजिये। जो अग्नि मरण धर्म वाले मनुष्यों के कार्यों में नियमाचरण का पालन प्रकाश करने अग्निहोत्रादि यज्ञों में खोजने योग्य ऐश्वर्य को देने जगत् को प्रेरणा करने वाला प्रकाशमान अग्नि है वह हमलोगों के लिये धन को प्राप्त कराता हुआ अत्यन्त धन को देता और धन को देने का निमित्त हो के सब प्रकार के सुखों को धारण करता है।[1] इसी प्रकार यजुर्वेद में आगे बतलाया गया है कि– हे विद्वान् मनुष्यों! जैसे उत्तम ज्ञानयुक्त परमात्मा, वेदविद्या और बिजुली का घोष अर्थात् शब्द अर्थ और सम्बन्धों के बोधवाला सब कर्मवाला मैं पढ़ना पढ़ाना वा होमरूप यज्ञ से आभ्यन्तर में रहने वाले तप्त जल बाहर धारण होने वाले शीतल जल को सम्पादन करता वा निःक्षेप करता हूँ वैसे आप भी कीजिये, जो अग्नि आदि पदार्थ वा चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य किये हुए मनुष्यों के साथ वर्त्तमान परमेश्वर जीव और बिजुली के अनेक शब्द सम्बन्धी वाणी है उसकी पूर्वदेश से जैसे में रक्षा करता हूँ वैसे आप भी रक्षा करो जो प्राण वा चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य किये हुए विद्वानों के साथ वर्तमान उत्तम ज्ञान करानेवाली वाणी है उसकी पश्चिम देश से रक्षा करता हूँ वैसे आप भी रक्षा करें जो ज्ञानी का ऋतुओं के साथ वर्तमान मन के समान वेगवाली वाणी है उसका दक्षिण देश से पालन करता हूँ वैसे आप भी रक्षा करें जो बारह महीनों का अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य किये हुए विद्वानों के साथ वर्त्तमान सब कर्मयुक्त वाणी है उसकी उत्तर देश से पालन करता हूँ वैसे आप भी रक्षा करें।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि–हे घृतप्रसक्त अर्थात् घृत चाहने और यज्ञ के कराने हारो! तुम गौ आदि पशुओं को पालो, तुम एक-एक जन सर्वगत पवन से समान प्रीति करते हुए समान विस्तृत अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुए प्रिय सुख को अच्छे ऐश्वर्ययुक्त यज्ञ करने वाले धनी पुरुष में करो तथा उसके अभिप्राय को प्राप्त होओ और इस के होम के योग्य पदार्थ को आप ही निष्पादन किये हुए के समान अग्नि में होमों अर्थात् यज्ञ की किसी क्रिया का विपरीत भाव न करो और इसके शरीर के साथ एकीभाव रक्खो किन्तु विरोध से द्विधा आचरण मत करो। हे

---

1. त्वमग्ने व्रतंपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा। त्वां यज्ञेष्वीड्यः।
   रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्।। यजु. 4.16
2. मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः।
   पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि।। यजु. 5.11

यज्ञ कर्म से सर्वसुख के पहुँचाने वालो! सत्कर्म के अनुष्ठान से प्रकाशित धर्मिष्ठ ज्ञानी पुरुष जो कि यज्ञ देखने की इच्छा करते हुए बार-बार यज्ञ में आते हैं उन विद्वानों के लिये अच्छे सत्कार कराने वाली वाणियों को उच्चारण करते हुए यज्ञपति को सर्व सुख वर्षाने वाले यज्ञ में अभियुक्त करो।[1] इसी प्रकार यजुर्वेद के अगले मन्त्र में बतलाया है कि– हे संगति करने योग्य विद्वान्! आप जो यज्ञ का बहुत पदार्थों में विस्तृत आठों दशाओं से आठ प्रकार का परिपूर्ण सामग्रीसमूह है वह सूर्य के प्रकाश को ढाँप कर फिर फैलने देता है वह आप सूर्य के प्रकाश में यज्ञ करने वाले गृहस्थ तू उस यज्ञ को परिपूर्ण कर जो मेरी प्रजा में सब महान् धनादि पदार्थों की समृद्धि को वा जीवन को बार-बार विस्तारता है उसको मैं सत्ययुक्त क्रिया से प्राप्त होऊँ। अर्थात्–मनुष्यों को चाहिये कि सदा यज्ञ का आरम्भ और समाप्ति को करें और संसार के जीव को अत्यन्त सुख पहुँचावें।[2] इसी प्रकार आगे यजुर्वेद में स्पष्ट करते हुए समझाया है कि–हे मनुष्यों! जैसे अपने को यज्ञ की इच्छा करने वाले विद्या के दाता विद्वान् लोग विद्वानों की प्रसन्नता के लिये गृहाश्रम वा अग्निहोत्रादि यज्ञ में स्थिर हों वा जैसे अच्छे-अच्छे गुणों में प्रसिद्ध हुए धारणशील तथा प्राप्ति करने वाले होता के लिये जो सेवन की जाती वह विद्यारूप लक्ष्मी विद्वानों में जिसकी विद्यमान हो जिसका कि लक्ष्मी में मन और जिसके सैकड़ों दूध आदि वस्तु हैं वह यजमान वर्तमान है वैसे विद्या के दाता तुम लोग विद्या को ग्रहण करके प्राप्त करने योग्य गृहाश्रम वा अग्निहोत्र आदि को प्राप्त होओ। अर्थात्–मनुष्यों को चाहिये कि धनप्राप्ति के लिये सदैव उद्योग करें जैसे विद्वान् लोग धन प्राप्ति के लिये प्रयत्न करें वैसे उनके अनुकूल अन्य मनुष्यों को भी यत्न करना चाहिये।[3]

यजुर्वेद को कर्मकाण्ड प्रधान अर्थात् विभिन्न प्रकार के महायज्ञों का विधान करनेवाला वेद माना जाता है। यज्ञ के विषय में अन्य अनेक मन्त्र भी इस वेद में प्राप्त होते हैं।[4]

---

1. भव। वर्षों वर्षीयसी यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।। यजु. 6.11.
2. यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सो अष्टधा दिवमन्वाततान।
   य यज्ञ धुक्ष्व महि में प्रजायाछं रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा।। यजु. 8.62
3. दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः।
   परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवभ्योंऽअध्वर्यन्तोऽअस्थुः।। यजु. 17.56
4. यजुर्वेद 18.42.63/19.31-32/20.38, 45, 49, 62, 48-85/26.14/26.31/28.14 26. 11/33.16 तथा 34.21

संगतिकरण

यजुर्वेद में संगति के सम्बन्ध में अनेक मन्त्रों में वर्णन मिलता है। संगतिकरण का अभिप्राय है कि प्रायः व्यक्ति अच्छे विचारों को सुनें। ऋषि महर्षियों का सत्संग करें। समस्त समाज संगठित होकर के परस्पर उत्तम विचार का होकर के उत्तम व्यवहार परस्पर करें। जैसा की वेद में कहा है कि—सूर्य्यलोकों के समान विद्या आदि शुभ गुणों से प्रकाशमान! आप जो विद्वान् आप लोगों का यह पुरुषों के वर्त्तने योग्य गृहाश्रम व्यवहार सुख को निश्चय करके प्राप्त करता है और जो गृहाश्रम के सुख को सिद्ध करने वाली अच्छी शिक्षा और विद्याभ्यास के पीछे विज्ञान प्राप्ति का हेतु सत्यव्यवहार का निरन्तर विज्ञान देने वाली आप लोगों की श्रेष्ठ बुद्धि श्रेष्ठ मार्ग में निरन्तर प्रवृत्त होवे। जो आप्त विद्वानों से उत्तम विद्या और शिक्षा जो तुझ को प्राप्त हो उस बुद्धि से ही युक्त हम दोनों स्त्री पुरुष को सदा सुख देते रहिये।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि— हे मनुष्यो! तुम्हारी अवस्था ईश्वर की आज्ञा पालन से निरन्तर समर्थ होवे, जीवन का हेतु बलकारी प्राण धर्मयुक्त विद्याभ्यास से समर्थ होवे, नेत्र प्रत्यक्ष के विषय शिष्टाचार से समर्थ हो, कान वेदाभ्यास से समर्थ हो और पूछना संवाद से समर्थ हो, यज्ञ धातु का अर्थ ब्रह्मचर्यादि के आचरण से समर्थ हो। जैसे हम लोग सबके पालने हो ईश्वर के समान धर्मात्मा राजा के पालने योग्य सन्तानों के सदृश होवें तथा विद्वान् हुए जीवन मरण से छूटे मोक्ष सुख को अच्छे प्रकार प्राप्त होवें। अर्थात् ईश्वर आज्ञा देते हैं कि तुम लोग मेरे तुल्य धर्मयुक्त गुण कर्म और स्वभाव वाले पुरुष ही की प्रजा होओ अन्य किसी क्षुद्राशय पुरुष की प्रजा होना स्वीकार कभी मत करो। जैसे मुझको न्यायाधीश मान मेरी आज्ञा में वर्त और अपना सब कुछ धर्म के साथ संयुक्त करके इस लोक और परलोक के सुख को नित्य प्राप्त होते रहो, वैसे जो पुरुष धर्मयुक्त न्याय से तुम्हारा निरन्तर पालन करे उसी को सभापति राजा मानो।[2] इसी प्रकार आगे यजुर्वेद में बतलाया गया है कि— जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना और योगविद्या की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं वे सब ऐश्वर्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योगविद्या को सिद्ध कर सकते हैं। जो परमेश्वर की वाणी के

---

1. यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः। यजु. 8.4
2. आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः .... ऽअभूम।। यु. 9.21

समान अपनी वाणी को शुद्ध करते हैं वे सत्यवादी हो के सब क्रियाओं के पलों को प्राप्त होते हैं। इसी को अगले मन्त्र में स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि– सत्यकामनाओं को पूर्ण करने और अन्तर्यामिरूप से प्रेरणा करने हारे जगदीश्वर आप हमारे पीछे कहे और आगे जिसको कहेंगे उस दिव्य विद्वानों वा गुणों की जिससे रक्षा हो मित्रों को जिससे प्राप्त हों सत्य को जिससे जीतें धन की जिसमें उन्नति होवे सुख को जिसमें बढ़ावें और ऋग्वेद से जिसकी स्तुति हो उस विद्या और धर्म का संयोग कराने हारे यज्ञ को सत्य क्रिया के साथ प्राप्त कराइये। अर्थात्– जो मनुष्य ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़ ईश्वर के समान सब जीवों के साथ मित्रभाव रखते हैं वे संपत् को प्राप्त होते हैं।[1] इसी प्रकार यजुर्वेद में आगे संगति के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि–स्त्री पुरुष जनों को चाहिये कि सत्य उपदेश और पढ़ाने के लिये सब विद्याओं से युक्त प्रगल्भ निष्कपट धर्मात्मा सत्यप्रिय पुरुषों की नित्य प्रार्थना और उनकी सेवा करें। और विद्वान् लोग सबके लिये ऐसा उपदेश करें कि जिससे सब धर्माचरण करने वाले हो जावें।[2] इसी प्रकार आगे यजुर्वेद में स्पष्ट करते हुए कहा है कि– हे विद्वानों जैसे यह प्रत्यक्ष अग्नि संयोग विभाग कराने हारी क्रिया तथा मङ्गलकारिणी दीप्तियों के साथ वर्तमान प्रगट हुए कार्यों के साधक सङ्गत व्यवहार और लोक समूह को आकर्षण करता हुआ सम्बन्ध कराता है और जिस प्रकाशमान अपने स्वरूप में उत्तमाङ्ग के तुल्य वर्त्तमान सूर्य को धारण करता तथा ग्रहण करने तथा देने योग्य रसों को प्राप्त कराने वाली सुखदायक वाणी को प्रवृत्त करता है वैसे तू शुभगुणों के साथ युक्त होता और सब विद्याओं को धारण कराता है। अर्थात्–जैसे ईश्वर ने नियुक्त किया हुआ अग्नि सब जगत् को सुखकारी होता है वैसे ही विद्या के ग्राहक अध्यापक लोग सब मनुष्यों को सुखकारी होते हैं ऐसा सब को जानना चाहिये। इसी को अगले मन्त्र में स्पष्ट करते हैं कि–जैसे दुग्ध देने वाली सेवन की हुई गौ दुग्धादि पदार्थों से प्राणियों को सुखी करती है और जैसे आप्त

---

1. देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।। 11.6
   इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ सखिविदꣳ सत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितम्। ऋचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं...... स्वाहा।। 11.8
2. भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
   मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः।। यजु. 12.60

विद्वान् विद्यादान से अविद्या का निवारण कर मनुष्यों की उन्नति करते हैं वैसे ही यह अग्नि है ऐसा जानना चाहिये।[1] इसी प्रकार यजुर्वेद में संगतिकरण के सम्बन्ध में आगे बतलाते हैं कि–जो विद्वान् लोग इस संसार में अग्निक्रिया से रहित अर्थात् आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि सम्बन्धी बाह्य कर्मों को छोड़ के आभ्यन्तर अग्नि को धारण करने वाले संन्यासी हैं वे होम को नहीं किये भोजन करते हुए सर्वत्र विचर के सब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश किया करें। इसी प्रकार आगे कहा है कि– युद्ध में शत्रुओं की सेनाओं को सव ओर से मारती और शत्रुओं को जीतने के उत्साह को प्राप्त होती हुई उन विद्वानों की सेनाओं का नायक उत्तम ऐश्वर्य वाला शिक्षक सेनापति पीछे सब को मिलने वाला प्रथम सब अधिकारियों का अधिपति दाहिनी ओर और सेना को प्रेरणा अर्थात् उत्साह देने वाला बाईं ओर चले तथा पवनों के समान वेग वाले बली शूरवीर आगे को जावें। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि– अग्निहोत्र आदि यज्ञ में चार पदार्थ होते हैं अर्थात् बहुतसा पुष्टि सुगन्धि मिष्ट और रोग विनाश करने वाला होम का पदार्थ, उसका शोधन, यज्ञ का करने वाला तथा वेदी आग लकड़ी आदि। यथाविधि से हवन किया हुआ पदार्थ आकाश को जाकर फिर वहाँ से पवन वा जल के द्वारा आकर इच्छा की सिद्धि करने वाला होता है ऐसा मनुष्यों को जानना चाहिये।[2] आगे यजुर्वेद में संगतिकरण के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि–हे मनुष्य! तेरे प्रजाजनों के स्वामी होने के लिये जिससे जीवन होता है वह आयुर्दा परमेश्वर और अच्छे महात्माओं के सत्कार से समर्थ हो जीवन का हेतु प्राण वायु यज्ञ करने से समर्थ होवे नेत्र परमेश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हो क़ान ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हों वाणी ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार के समर्थ

---

1. भुवोयज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
   दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्।। यजु. 15.23
   अवोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
   महाऽइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ।। यजु. 15.24
2. ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानाꣳ संवत्सरीणमुप भागमासते।
   अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य।। यजु. 17.13
   इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञऽआदित्यानां मरुताꣳ शर्द्धऽउग्रम्।
   महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्।। यजु. 17.40
   वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
   ततो वाकाऽआशिषो नो जुषन्ताम्।। यजु. 17.57

हों जो कि शरीर इन्द्रिय तथा प्राण आदि पवनों को व्याप्त होता है वह आत्मा ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हो चारों वेदों का जानने वाला विद्वान् ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हो न्याय का प्रकाश ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हो सुख ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हो जानने की इच्छा पठनरूप यज्ञ से समर्थ हो पाने योग्य धर्म सत्यव्यवहार से समर्थ हो जिसमें स्तुति होती है वह अथर्ववेद और जिससे जीव सत्कार आदि करता है वह यजुर्वेद और स्तुति का साधक ऋग्वेद और सामवेद और अत्यन्त बड़ा वस्तु और सामवेद का रथन्तर नाम वाला स्तोत्र भी ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हो। हे विद्वानों! जैसे हम लोग जन्म मरण के दुख से रहित हुए मोक्ष सुख को प्राप्त हों वा समस्त संसार के स्वामी जगदीश्वर को पालने योग्य प्रजा हों तथा उत्तम क्रिया और सत्यवाणी से युक्त हों वैसे तुम भी होओ। अर्थात्–मनुष्य धार्मिक विद्वान् जनों के अनुकरण से यज्ञ के लिये सब समर्पण कर परमेश्वर और राजा को न्यायाधीश मान के न्यायपरायण होकर निरन्तर सुखी हों।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि–जहाँ बहुदर्शी अन्नादि ऐश्वर्य से संयुक्त सज्जनों से सत्कार को प्राप्त एक धर्म ही में जिनकी निष्ठा हे उन विद्वानों की सभा सत्य न्याय को करती है उसी राज्य में सब मनुष्य ऐश्वर्य और सुख में निवास करते हैं। आगे स्पष्ट करते हुए समझाया गया है कि–जैसे विद्वान् लोग अनेक धातु और साधन विशेषों से वस्त्रादि को बना के अपने कुटुम्ब का पालन करते हैं तथा पदार्थों के मेलरूप यज्ञ को कर पथ्य ओषधिरूप पदार्थों को देके रोगों से छुड़ाते और शिल्प क्रियाओं से प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं वैसे अन्य लोग भी किया करें।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि–जो दिव्य पदार्थों और विद्वानों में हुए निर्माण करने हारे दाता जिन की सुशिक्षित वाणी वे विद्वान् संग करने योग्य व्यवहार के ऊपर प्रथम वर्तमान बहुत मनुष्यों को धारण करते हुए मधुरादिगुणयुक्त होम करने योग्य पदार्थ से पुरातन प्रकाश और परम ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं वे सब मनुष्यों

---

1. आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां................... वेट् स्वाहा।। यजु. 18.29
2. ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
   तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्।। यजु. 19.45
   सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
   अश्विना यज्ञꣳ सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्।। यजु. 19.80

के सत्कार करने योग्य हैं। अर्थात्–जो विद्वान् पढ़ने और उपदेश से सब मनुष्यों को उन्नति देते हैं वे संपूर्ण मनुष्यों को सुभूषित करने हारे हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–हे विद्वान्! जैसे विद्युत् के समान वर्त्तमान सेचनकर्ता परमैश्वर्य और पराये सामर्थ्य को रोकने हारे के लिए बल को अप्रशंसनीय प्राप्त होने हारा कीर्ति के लिये बहुत पदार्थों को धारण करते हुए अत्यन्त पराक्रमी मेघ को संगत करता संगति से उत्पन्न हुए जगत् के उत्तम भाग में विद्वानों की कामना करें वैसे तू भी कर। अर्थात् जब तक मनुष्य शुद्धान्तःकरण नहीं होवे तबतक विद्वानों का संग, सत्यशास्त्र और प्राणायाम का अभ्यास किया करें जिससे शीघ्र शुद्धान्तःकरणवान् हो।[1]

यज्ञ के पर्याय मख शब्द के अर्थ–

यजुर्वेद में यज्ञ के पर्याय मख शब्द के अर्थ कई मन्त्रों में आये हैं। यजुर्वेद में मख शब्द के अर्थ का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि– हे मनुष्यों! जैसे मैं परमैश्वर्ययुक्त पुरुष के पराक्रम को सिद्ध करूँ वैसे आज भूमि के उस स्थान मैं जहाँ विद्वानों का पूजन होता हो उत्तम अवयव के समान तुम लोगों को सिद्ध करूँ शिर सम्बन्धी धर्मात्माओं के सत्कार के निमित्त वचन के लिये तुझको प्रिय आचरणरूप व्यवहार के सम्बन्धी आप को सिद्ध करूं उत्तम गुणों के प्रचारक शिल्पयज्ञ के विधान के लिये आप को सत्याचरण रूप व्यवहार के सम्बन्धी आप को सिद्ध करूं उत्तम विज्ञान की प्रकटता के लिये आप को और विद्या को बढ़ाने हारे व्यवहार के सम्बन्धी आप को सिद्ध करूं। वैसे तुम लोग भी पराक्रमी होओ। अर्थात्–जो मनुष्य धर्मयुक्त कर्मों को करते हें वे सब के शिरोमणि होते हैं।[2] इसी प्रकार आगे बताया है कि– जो मनुष्य और जो स्त्रियां स्वयं विद्यादि गुणों को पाकर अन्यों को प्राप्त कराके विद्या सुख और धर्म की वृद्धि के लिये अधिक सुशिक्षित जनों को विद्वान् करते

---

1. दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा।
   मूर्द्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः।। यजु. 20.42
   त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
   वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्।। यजु. 20.44
2. इन्द्रस्यौजः स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
   मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
   मखाय त्वा मखस्थं त्वा शीर्ष्णे।। यजु. 37.6

हैं वे पुरुष और स्त्रियाँ निरन्तर आनन्दित होते हैं।[1] यजुर्वेद में आगे मख शब्द के अर्थ बतलाते हुए कहते हैं कि– ब्रह्मचर्य ज्ञान, मनन, सद्व्यवहार सिद्धि सांगोपांगयोग, ऐश्वर्यप्रद अर्थात्– वे विद्वान्! जिस प्रकार आप ब्रह्मचर्य आश्रम रूप यज्ञ के शिर के तुल्य हैं इससे विद्याग्रहण के अनुष्ठान के लिये आप को ज्ञान सम्बन्धी उत्तर व्यवहार के लिये आपको जिस कारण आप विचार रूप यज्ञ के उत्तम अवयव के समान हैं इससे गृहस्थों के व्यवहार के लिये आपको यज्ञ के उत्तम अवयव के लिये आप को जिस कारण आप गृहाश्रम के उत्तम अवयव के समान हैं इससे गृहस्थों के कार्यों को संगत करने के लिये आप को यज्ञ के उत्तम शिर के समान अवयव के लिये आप को सेवन करें। इससे उत्तम व्यवहार की सिद्धि के लिये आप को सत् व्यवहार की सिद्धि सम्बन्धी उत्तम अवयव के तुल्य वर्तमान होने के लिये आपको योगाभ्यास के लिये आप को साङ्गोपाङ्ग योग के सर्वोपरि वर्त्तमान विषय के लिये आप को ऐश्वर्य देने वाले के लिये आप को ऐश्वर्य देने वाले के सर्वोत्तम कार्य के लिये आप को हम लोग सेवन करें। अर्थात् जो सत्कार करने में उत्तम हैं वे दूसरों को भी सत्कारी बना के मस्तक के तुल्य अवयवों वाले हों।[2] इसी प्रकार आगे समझाया है कि– शोधक, तत्त्वबोध अर्थात्–हे मनुष्यों! जैसे में अन्तरिक्ष के विद्वानों के यज्ञस्थल में बलवान् अग्नि आदि के दुर्गन्ध के निवारण में समर्थ धूम आदि से तुझ को वायु की शुद्धि करने के लिये तुझ को शोधक पुरुष के शिर रोग की निवृत्ति के अर्थ तुझ को सम्यक् तपाता हूँ पृथिवी के बीच विद्वानों के यज्ञस्थल में वेगवान् घोड़े की लेंडी लीद से तुझ को पृथिव्यादि के ज्ञान के लिये तुझ को तत्त्वबोध के उत्तम अवयव के लिये तुझ को यज्ञसिद्धि के लिये तुझ को यज्ञ के उत्तम अवयव की सिद्धि के लिये उस को सम्यक् तपाता हूँ भूमि के बीच विद्वानों की पूजा स्थल में बलवान् शीघ्रगामी अग्नि के तेज आदि से आप को उपयोग के लिये तुझ को

1. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरन्नर्यं,........
   ....त्वा शीर्ष्णे।। यजु. 37.7
2. मखस्य शिरोसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
   मखस्य शिरोसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
   मखस्य शिरोसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
   मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
   मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।। यजु. 37.8

उपयुक्त कार्य के उत्तम अवयव के लिये तुझको उपयुक्त कार्य के उत्तम अवयव के लिये तुझ को यश के लिये तुझ को यज्ञ के उत्तम अवयव के लिये तुझ को यज्ञ के लिये आप को और यज्ञ के उत्तम अवयव के लिये तुझ को सम्यक् तपाता हूँ।[1]

इस प्रकार यज्ञ शब्द अनेक अर्थों का द्योतक है; जिनमें अग्निहोत्र भी एक है। 37वें अध्याय में मख शब्द का 55 बार विभिन्न विभक्तियों में प्रयोग हुआ है तथा वह विभिन्न अर्थों का प्रकाश करता है।

पञ्च महायज्ञ और उनका प्रकार—वैदिक संस्कृति की अनुपम देन यज्ञ की शिक्षा ब्रह्मचर्य काल से ही दी जाती है। ब्रह्मचारी ब्रह्मयज्ञ तथा देवयज्ञ करता है। संन्यासी केवल ब्रह्मयज्ञ, किन्तु गृहस्थ तथा वानप्रस्थ को पाँच यज्ञ करने होते हैं जिनके नाम हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ तथा अतिथियज्ञ। वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर पञ्च महायज्ञों का उल्लेख हुआ है। कुछ आचार्य इन्हें माहसत्र या महामख भी कहते हैं।

पञ्च महायज्ञों का प्रयोजन—ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि, 'अग्निहोत्र' से वायु वृष्टि जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना, अर्थात् शुद्ध वायु का स्वासास्पर्श, खान पान से आरोग्य, बुद्धि बल पराक्रम बढ़के धर्म अर्थ काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना इसीलिये इसको देवयज्ञ कहते हैं। 'पितृयज्ञ' से जब माता-पिता और ज्ञानी महानुभावों की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढ़ेगा, उससे सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने संतान और शिष्यों की है, उसका बदला देना उचित ही है। बलिवैश्वदेव का भी फल जो पूर्वोक्त कह आए हैं वही है। वहाँ पूर्व इसका फल 'पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना तथा जो अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उसका प्रत्युपकार कर देना बताया है।

जब उस उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्यविज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। बिना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती। सन्देह निवृत्ति के बिना दृढ़ निश्चय ही नहीं होता। निश्चय के बिना सुख कहाँ?

इसमें किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। यह प्रयोजन इतना महत्त्वपूर्ण है कि यज्ञ बिना जगत् का अधूरापन भर न सकेगा।

ब्रह्मयज्ञ—पञ्च महायज्ञों में यद्यपि क्रम भिन्न मिलता है। कुछ आचार्यों ने इसे अन्तिम माना है तथा कुछ ने मध्य में। किन्तु महर्षि दयानन्द ने मनु के अनुसार इस महायज्ञ को प्रथम स्थान दिया है। कात्यायन इसे सर्वाधिक महत्त्व देता है।

ब्रह्मयज्ञ के विभाग—ब्रह्मयज्ञ के दो विभाग हैं—एक सन्ध्या जिसके अन्तर्गत ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना तथा योगाभ्यास आता है तथा दूसरा है स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन। यहाँ सन्ध्या पर ही विचार किया जायेगा।

सन्ध्या का समय—ऋग यजु साम तथा अथर्ववेद में ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं जिनमें उभय काल सन्ध्या करने का उल्लेख है। वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र भी उभयकाल सन्ध्या करने का विधान मिलता है। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में भी उभयकाल सन्ध्या का निर्देश है।

(1) इसलिये दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये।

(2) सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातः काल और सायंकाल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये।

(3) जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धि वेलाओं में सन्ध्योपासन करें।

(4) तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्धयोः सवैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्याः।

(5) याज्ञवल्क्य ने राजा को सायंकाल तथा मनु ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सन्ध्या ध्यान आदि करना चित्रित किया है।

ब्रह्मयज्ञ का प्रकार—यजुर्वेद में ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ईश्वर प्राप्ति हेतु जो साधना की जाती है उसका वर्णन बहुत ही अच्छी प्रकार से किया गया है। जैसा की कहा है कि—जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भविद्या किया चाहे वह यम आदि योग के अङ्ग और क्रिया कौशलों से अपने हृदय के शुद्ध तत्त्वों को जान बुद्धि को प्राप्त और इनको गुण कर्म तथा स्वभाव से जान के उपयोग लेवे। फिर जो प्रकाशमान सूर्यादि पदार्थ हैं उनका भी प्रकाशक ईश्वर है उसको जान और अपने आत्मा में निश्चय करके अपने और दूसरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करें।[1] यजुर्वेद में बताया है कि—जो मनुष्य परमेश्वर की

1. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभारत्।। यजु. 11.1

इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्त्वविद्या को यथाशक्ति सेवन करें, उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थविद्या का अभ्यास करें तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें।[1] इसी प्रकार आगे कहा है कि—जो पुरुष योगाभ्यास करते हैं वे अविद्या आदि क्लेशों को हटाने वाले शुद्ध गुणों को प्रकट कर सकते हैं। जो उपदेशक पुरुष से योग और तत्त्वज्ञान को प्राप्त होके ऐसा अभ्यास करे वह भी इन गुणों को प्राप्त होवे।[2] आगे बतलाया है कि—जो दान देने लेने के स्वभाव वाले बुद्धिमान् पुरुष जिस बड़े सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त आप्त पुरुष के समान वर्त्तमान सब शास्त्रों के जानने हारे बुद्धिमान् पुरुष से विद्याओं को प्राप्त हुए विद्वानों से विज्ञान युक्त जन सब जगत् को उत्पन्न और सबके प्रकाशक जगदीश्वर की बड़ी सब प्रकार की स्तुति है उस तत्त्वज्ञान के विषय में जैसे अपने चित्त को समाधान करते और अपनी बुद्धियों को युक्त करते हैं वैसे ही प्रकृष्टज्ञान ज्ञान वाला अन्य के सहाय की अपेक्षा से रहित ही मैं विधान करता हूँ। अर्थात् जो नियम से आहार विहार करने हारे जितेन्द्रिय पुरुष एकांत देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं वे तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही सुख भोगते हैं।[3] आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि—हे योगशास्त्र के ज्ञान की इच्छा करने वाले मनुष्यों! आप लोग जैसे सत्य वाणी से संयुक्त में संस्कारों से जिस पूर्व के योगियों ने प्रत्यक्ष किये सब से बड़े व्यापक ईश्वर को अपने आत्मा से युक्त करता हूँ वह ईश्वर तुम योग के अनुष्ठान और उपदेश करने हारे दोनों को विद्वान् को जैसे उत्तम गति के अर्थ मार्ग प्राप्त होते हैं वैसे विविध प्रकार से प्राप्त होवें। जैसे सब अच्छे सन्तानों के तुल्य आज्ञाकारी मोक्ष को प्राप्त हुए विद्वान् लोग अविनाशी ईश्वर के योग से सुख के प्रकाश में होने वाले स्थानों को अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं वैसे मैं भी उनको प्राप्त होऊं। अर्थात्—योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का सङ्ग करें। उनके सङ्ग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। जैसे विद्वान् का प्रकाशित किया हुआ माग सब

1. युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्तया।। यजु. 11.2
2. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतोधिया दिवम्। बृहज्ज्योतिः
   करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्।। 11.3
3. युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः।
   वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।। यजु. 11.4

को सुख से प्राप्त होते हैं। वैसे ही योगाभ्यासियों के सङ्ग से योगविद्या सहज से प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस सङ्ग और ब्रह्मज्ञान के विना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता इसलिये उस योगविद्या के साथ ही सब मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें।[1] इस प्रकार के अन्य मन्त्रों में भी ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ब्रह्म की प्रार्थना, ध्यान और ब्रह्म का साक्षात्कार करने का विधान किया है। इससे आगे यजुर्वेद में स्पष्ट करते हुए कहा है कि–चेतनस्वरूप परमात्मा की उपासना को छोड़ किसी अन्य जड़ की उपासना कभी न करें क्योंकि उपासना अर्थात् सेवा किया हुआ जड़ पदार्थ हानि लाभ कारक और रक्षा करने हारा नहीं होता इससे चित्तवान् समस्त जीवों का चेतनस्वरूप जगदीश्वर ही की उपासना करनी योग्य है अन्य जड़ता आदि गुणयुक्त पदार्थ उपास्य नहीं।[2] इसी प्रकार यजुर्वेद में आगे बतलाया गया है कि–जिस चेतनस्वरूप जगदीश्वर ने समस्त संसार को उत्पन्न किया है उसकी अराधना उपासना से सत्यविद्यायुक्त उत्तम बुद्धि को तुम लोग प्राप्त हो सकते हो किन्तु इतर जड़ पदार्थ की अराधना से कभी नहीं। आगे बतलाते हैं कि–जब जव परमेश्वर की प्रार्थना करनी योग्य हो तब तब अपने लिये वा और के लिये समस्त शास्त्र के विज्ञान से युक्त उत्तम बुद्धि ही मांगनी चाहिये जिसके पाने पर समस्त सुखों के साधनों को जीव प्राप्त होते हैं।[3] इसी को आगे स्पष्ट करते हुए समझाया है कि–यदि मनुष्य धर्म अर्थ और काम को सिद्धि को चाहें तो परमात्मा की उपासना कर उस ईश्वर की आज्ञा में बरतें।[4]

ईश्वर के विषय में स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद में कहा है कि–जिसका पूज्य बड़ा कीर्ति करनेहारा धर्मयुक्त कर्म का आचरण ही नामस्मरण है जो सूर्य बिजुली आदि पदार्थों का आधार इस प्रकार अन्तर्यामी होने से प्रत्यक्ष जिसकी मुझ को मत ताड़ना दे वा वह अपने से मुझ को विमुख मत करे इस प्रकार यह प्रार्थना वा बुद्धि और जिस कारण नहीं उत्पन्न हुआ इस प्रकार यह परमात्मा उपासना के योग्य है। उस परमेश्वर की प्रतिमा-परिणाम उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकृति, मूर्ति वा आकृति नहीं है। अर्थात्–जो कभी देहधारी नहीं होता जिसका कुछ भी परिमाण सीमा का कारण नहीं है जिसकी

---

1. युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
   शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः। यजु. 11.5
2. हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये। स चेत्ता देवता पदम्।। यजु. 22.10
3. देवस्य चेततो महीम्प्र सवितुर्हवामहे। सुमतिं सत्यराधसम्।। यजु. 22.11
4. रातिँ सत्पतिं महे सवितारमुपह्वये। आसवं देववीतये।। यजु. 22.13

आज्ञा का पालन ही नामस्मरण है जो उपासना किया हुआ अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है वेदों के अनेक स्थलों में जिस का महत्त्व कहा गया है जो नहीं मरता न विकृत होता न नष्ट होता उसी की उपासना निरन्तर करो जो इससे भिन्न की उपासना करोगे तो इस महान् पाप से युक्त हुए आप लोग दुःख क्लेशों से नष्ट होगें।[1] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि– ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ सब दिशाओं में व्याप्त हो के इन्द्रियों के बिना सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है वह भूत भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिये पहिले प्रकट होता है वह ध्यानशील मनुष्य के जानने योग्य है अन्य के जानने योग्य नहीं हैं।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि–विद्वान् ही जिसको बुद्धि बल से जानता जो सब आकाशादि पदार्थों का आधार प्रलय समय में सब जगत् जिसमें लीन होता और उत्पत्ति समय में जिससे निकलता है और जिस व्याप्त ईश्वर के बिना कुछ भी वस्तु खाली नहीं उसको छोड़ किसी अन्य को उपास्य ईश्वर मत जानो।[3] आगे बतलाते हैं कि–जो विद्वान् लोग ईश्वर के मुक्तिसाधक बुद्धिस्थ स्वरूप का उपदेश करें ठीक ठीक पदार्थों के और ईश्वर गुण कर्म स्वभाव को जानें वे अवस्था में बड़े पितादिकों के भी रक्षा के योग्य होते हैं ऐसा जानो।[4]

इसी प्रकार आगे यजुर्वेद में बतलाया है कि– मनुष्य जैसे अपने लिये गुण कर्म स्वभाव और सुख को चाहे वैसे औरों के लिये भी चाहे। जैसे अपनी उन्नति की चाहना करें वैसे परमेश्वर और विद्वानों के निकट के अन्यों की उन्नति की प्रार्थना करें। केवल प्रार्थना ही न करें, किन्तु सत्य आचरण भी करें। जब जब विद्वानों के निकट जावें तब तब सब के कल्याण के लिये प्रश्न और उत्तर किया करें।[5]

---

1. न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः।
   हिरण्यगर्भऽइत्येष मा मा हिꣳ सीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येषः।। यजु. 32.3
2. एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः।
   सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः। 32.4
3. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
   तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।। यजु. 32.8
4. प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
   त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत्। यजु. 32.9
5. मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
   मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा।। यजु. 32.15

देवयज्ञ—देवयज्ञ को यज्ञ हवन तथा होम भी कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा तथा उनका संग करने यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों के दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु वृष्टि जल ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाने को यज्ञ कहा है। यज्ञ अथवा देवयज्ञ का उल्लेख यजुर्वेद, वैदिक वाङ्मय महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों तथा सिख मत के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर हुआ है।

यजुर्वेद में प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यज्ञेन कल्पन्ताम् वाक्य आता है। यजुर्वेद में इस वाक्य का 12 बार तथा 12.33 में 16 बार प्रयोग हुआ है यजुर्वेद 22.31 में संवत्सर के 12 मासों के लिए यज्ञ करने का उल्लेख है यज्ञ से सम्बद्ध यज पद का 21वें अध्याय में 30 बार तथा 18वें अध्याय में 44 बार प्रयोग है, अध्याय में 235 बार प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि वेद, विशेषतया यजुर्वेद में यज्ञ का कितना महत्त्व है।

यजुर्वेद भाष्य में यज्ञ करने का उल्लेख—प्रायः सम्पूर्ण यजुर्वेद को यज्ञ आकार मानते हुए भी यजुर्वेद भाष्य में यज्ञ करने का उल्लेख करते हैं।

1. विद्या और पुरुषार्थ के साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये।[1]

2. सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान सदैव करना चाहिये।

3. ईश्वर आज्ञा देता है कि मैंने जो संसार में यज्ञ करने की आज्ञा दी हैं उसका उक्त प्रकार से यथावत् अनुष्ठान करके स्वयं सुखी हो तथा अन्यों को सुखी करो।

4. मनुष्यों को चाहिये कि यज्ञ का अनुष्ठान करके सुखी हों।

5. जिसका विद्वान् लोग यजन करते हैं उस यज्ञ को हम लोग भी करें।

6. सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान करके सबको सुख पहुँचाना चाहिये।

7. मनुष्यों को चाहिये कि उस यज्ञ का अनुष्ठान कभी न छोड़ें। यजुर्वेद में अन्य भी अनेक स्थलों पर यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है।

देवयज्ञ का लाभ—

1. **आरोग्य**—यज्ञ से आरोग्य के विषय में यजुर्वेद में लिखा है—अतएव

---

1. महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप।

सुगन्ध मिष्ठ पुष्टि तथा रोगनाशक गुणों से युक्त द्रव्यों को अग्नि में डालकर औषधि आदि की शुद्धि द्वारा जगत् का आरोग्य सम्पादन करना चाहिये।

मनुष्य नित्य सुगन्ध्यादि द्रव्य अग्नि में डालकर उसके द्वारा वायु तथा किरणों द्वारा वनस्पति तथा औषधियों की मूल शाखा पुष्प फलादि में प्रविष्ट होकर सब पदार्थों की शुद्धि करके सबको आरोग्य करें। **आयुर्यज्ञेन कल्पताम्** 22.33. में आयु का यज्ञ से समर्थ होना कहा है। जो प्रतिदिन अग्नि होत्रादियज्ञ और युक्ताहार विहार करते हैं वे नीरोग हो कर दीर्घायु होते हैं। एक अन्य मन्त्र में भी यज्ञ से आरोग्य का उल्लेख है।[1]

2. **सुख प्राप्ति**–यजुर्वेद में यज्ञ से सुख प्राप्ति बतलाते हुए मन्त्र में कहा है कि–जब मनुष्य वेद आदि शास्त्रों के द्वारा यज्ञक्रिया और उसका फल जान के शुद्धि और उत्तमता के साथ यज्ञ को करते हैं। तब वह सुगन्धि आदि पदार्थों के होम द्वारा परमाणु अर्थात् अति सूक्ष्म होकर वायु और वृष्टि जल में विस्तृत हुआ सब पदार्थों को उत्तम करके दिव्य सुखों को उत्पन्न करता है। जो मनुष्य सब प्राणियों के सुख के अर्थ पूर्वोक्त तीन प्रकार के यज्ञ को नित्य करता है। उसको सब मनुष्य हविष्कृत् अर्थात् यह यज्ञ का विस्तार करने वाला, उत्तम मनुष्य है ऐसा वारम्वार कहकर सत्कार करें। इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि–परमेश्वर ने अग्नि और सूर्य्य को इसलिये रचा है कि वे सब पदार्थों में प्रवेश करके उनके रस और जल को छिन्न-भिन्न कर दें जिससे वे वायुमण्डल में जाकर फिर वहाँ से पृथिवी पर आके सब को सुख और शुद्धि करने वाले हों। इससे मनुष्यों को उत्तम सुख प्राप्त होने के लिये अग्नि में सुगन्धित पदार्थों के होम से वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा श्रेष्ठ सुख बढ़ाने के लिये प्रीतिपूर्वक नित्य यज्ञ करना चाहिये जिससे इस संसार के सब रोग आदि दोष नष्ट होकर उसमें शुद्ध गुण प्रकाशित होते रहें। इसी प्रयोजन के लिये मैं ईश्वर तुम सबों का उक्त यज्ञ के निमित्त शुद्ध करने का उपदेश करता हूँ कि हे मनुष्यों! तुम लोग परोपकार करने के लिए शुद्ध कर्मों को नित्य किया करो तथा उक्त रीति से वायु अग्नि और जल के गुणों को शिल्पक्रिया में युक्त करके अनेक यान आदि यन्त्रकला बना कर अपने पुरुषार्थ से सदैव सुखयुक्त होओ स्पष्ट करते हुए आगे बतलाते हैं कि–ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि तुम लोग शुद्ध और विस्तार युक्त

---

1. महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप।
   अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रांवासि..........।। यजु. 1.15

भूमि के बीच में अर्थात् बहुत से अवकाश में सब ऋतुओं में सुख देने योग्य घर को बना के उसमें सूखपूर्वक वास करो तथा उसमें रहने वाले दुष्ट स्वभावयुक्त मनुष्यादि प्राणी और दोषों को निवृत्त करो। फिर उसमें सब पदार्थ स्थापन और वर्षा का हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान करके नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि यज्ञ के करने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा संसार में अत्यन्त सुख सिद्ध होता है। आगे बतलाया है कि–मनुष्यों को अपने विज्ञान से अच्छी प्रकार पदार्थों को इकट्ठा करके उनसे यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये जो कि वृष्टि वा बुद्धि का बढ़ाने वाला है वह अग्नि और मन से सिद्ध किया हुआ सूर्य के प्रकाश को त्वचा के समान सेवन करता है। आगे बतलाया है कि– जो यज्ञ से शुद्ध किये हुए अन्न, जल और पवन आदि पदार्थ हैं वे सब शुद्धि, बल पराक्रम और दृढ़ दीर्घ आयु के लिये समर्थ होते हैं। इससे सब मनुष्यों को यज्ञकर्म का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये तथा परमेश्वर की प्रकाशित हुई जो वेदचतुष्टयी अर्थात् चारों वेदों की वाणी हैं, उसके प्रत्यक्ष करने के लिये ईश्वर के अनुग्रह की इच्छा तथा अपना पुरुषार्थ करना चाहिये और जिस प्रकार परोपकारी मनुष्यों पर ईश्वर कृपा करता है, वैसे ही हम लोगों को भी सब प्राणियों पर नित्य कृपा करनी चाहिये अथवा जैसे अन्तर्यामी ईश्वर आत्मा और वेदों में सत्य ज्ञान तथा सूर्यलोक संसार में मूर्तिमान पदार्थों का निरन्तर प्रकाश करता है, वैसी ही हम सब लोगों को परस्पर सब के सुख के लिये सम्पूर्ण विद्या मनुष्यों को दृष्टिगोचर करा के नित्य प्रकाशित करनी चाहिये और उनसे हमको पृथिवी का चक्रवर्ती राज्य आदि अनेक उत्तम सुखों को उत्पन्न निरन्तर करना चाहिये। आगे बतलाते हैं कि–मनुष्यों को इस प्रकार का यज्ञ करना चाहिये कि जिससे पूर्ण लक्ष्मी सकल आयु अन्न आदि पदार्थ रोगनाशक और सब सुखों का विस्तार हो, उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि उसके बिना वायु और वृष्टि जल तथा ओषधियों की शुद्धि नहीं हो सकती और शुद्धि के बिना किसी प्राणी को अच्छी प्रकार सुख नहीं हो सकता इसलिये ईश्वर ने उत्तम यज्ञ करने की आज्ञा सब मनुष्यों को दी ही। स्पष्ट करते हुए आगे बतलाया गया है कि–ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना वा चलायमान कभी न होना चाहिये क्योंकि मनुष्यों को उक्त यज्ञ आदि अच्छे-अच्छे कार्यों ही से उत्तम-उत्तम सन्तान शारीरिक वाचिक और मानस विविध प्रकार के निश्चल सुख प्राप्त हो

सकते हैं।[1] इसी प्रकार आगे ,कहा है कि—जो मनुष्य ईश्वर के करने कराने व आज्ञा देने के योग्य व्यवहार को छोड़ता है वह सब सुखों से हीन होकर और दुष्ट मनुष्यों से पीड़ा पाता हुआ सब प्रकार दुःखी रहता है। किसी ने किसी से पूछा कि जो यज्ञ को छोड़ता है इसके लिये क्या होता है। वह उत्तर देता है कि ईश्वर भी उसको छोड़ देता है। फिर वह पूछता है कि ईश्वर उसको किस लिये छोड़ देता है। वह उत्तर देने वाला कहता है कि दुख भोगने के लिये। जो ईश्वर की आज्ञा को पालता है वह सुखों से युक्त होने योग्य है और जो कि छोड़ता है, वह राक्षस हो जाता है।[2] आगे बतलाया है कि—हे विद्वान् मनुष्यो! जो यज्ञ निश्चल भूमि को बढ़ाता है उसको तुम बढ़ाओ जो निश्चल सुख और शास्त्रों का निवास कराने वाला है वा आकाश में रहने वाले पदार्थों को पुष्ट करता है उसको तुम बढ़ाओ जो नाशरहित पदार्थों को निवास कराने वाला है वा विद्यादि प्रकाश को प्रकाशित करता है उसको तुम बढ़ाओ जो बिजुली आदि अग्नि वा पशुओं की पूर्ति करने वाला यज्ञ है उसका अनुष्ठान तुम किया करो।[3] इसी प्रकार यजुर्वेद के अन्य मन्त्रों में भी यज्ञ के द्वारा सुख प्राप्ति बतलाया है।[4]

3. **वायु आदि की शुद्धि**—यज्ञ का एक लाभ जल तथा वृष्टि आदि का शोधन भी है। इसका उल्लेख यजुर्वेद के मन्त्रों में मिलता है। यजुर्वेद में बतलाया है कि—जो पदार्थ संयोग से विकार को प्राप्त होते हैं वे अग्नि के निमित्त से अतिसूक्ष्म परमाणु रूप होकर वायु के बीच रहा करते हैं और कुछ

---

1. युष्माऽइन्द्रोन्वृणीत वृत्रतूर्य्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिता स्थ।
   अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। दैव्याय.......।। यजु. 1.13
   शर्मास्यवधूतँ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।
   अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्या स्त्वग्वेत्तु।। यजु. 1.14
   शर्मास्यवधूत ँ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेतु।
   धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्वग्तेतु दिवः स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी...।। 1.19
   जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्ने रिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा.......... नाके।। यजु. 1.22
   मा भेर्मा संविक्थाऽअतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्
   त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा।। 1.23
2. कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति
   तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोसि।। यजु. 2.23
3. ध्रुवोऽसि पृथिवी दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि
   दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि।। यजु. 5.13
4. 8.59, 60, 61। 18.51, 66। 19.19।27.13.18।18.41।19.32।1.19। में वर्णन हैं

शुद्ध भी हो जाते हैं परन्तु जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती इससे विद्वानों को चाहिये कि होमक्रिया और वायु अग्नि जल आदि पदार्थ वा शिल्पविद्या से अच्छी-अच्छी सवारी बना के अनेक प्रकार के लाभ उठावें अर्थात् अपनी मनोकामना सिद्ध कर के औरों की भी कामना सिद्धि करें। जो जल इस पृथिवी से अन्तरिक्ष को चढ़कर वहाँ से लौटकर फिर पृथिवी आदि पदार्थों को प्राप्त होते हैं वे प्रथम और जो मेघ में रहने वाले हैं वे दूसरे कहाते हैं। ऐसी शतपथ ब्राह्मण में मेघ का वृत्र तथा सूर्य्य का इन्द्र नाम से वर्णन करके युद्धरूप कथा के प्रकाश से मेघविद्या दिखलाई है।[1] यजुर्वेद में बतलाते हुए ईश्वर आज्ञा देता है कि–विद्वान् मनुष्यों को पृथिवी का राज्य तथा उसी पृथिवी में तीन प्रकार के यज्ञ और ओषधियाँ इनका नाश कभी न करना चाहिये। जो यज्ञ अग्नि में हवन किये हुए पदार्थों का धूम मेघमण्डल को जाकर शुद्धि के द्वारा अत्यन्त सुख उत्पन्न करने वाला होता है इससे यह यज्ञ किसी पुरुष को कभी छोड़ने योग्य नहीं है तथा जो दुष्ट मनुष्य हैं उनको इस पृथिवी पर अनेक बन्धनों से बाँधे और उनको कभी न छोड़े जिससे कि वे दुष्ट कर्मों से निवृत्त हों और सब मनुष्यों को चाहिये कि परस्पर ईर्ष्या द्वेष से अलग होकर एक दूसरे की सब प्रकार सुख की उन्नति के लिये सदा यत्न करें। आगे बतलाते हैं कि–हे मनुष्यों तुम लोगों को विद्या के सिद्ध करने वाले कार्यों के नियमों में विघ्नकारी दुष्ट जीवों को सदा मारना चाहिये और सज्जनों के समागम से विद्या की वृद्धि नित्य करनी चाहिये। जिस प्रकार अनेक उद्योगों से श्रेष्ठों की हानि दुष्टों की वृद्धि न हो सो नियम करना चाहिये और सदा श्रेष्ठ सज्जनों का सत्कार तथा दुष्टों का दण्ड देने के लिए उनका बन्धन करना चाहिये। परस्पर प्रीति के साथ विद्या और शरीर का बल सम्पादन कर क्रिया तथा कलायन्त्रों से अनेक यान बनाकर सबको को सुख देना ईश्वर की आज्ञा का पालन तथा ईश्वर की उपासना करनी चाहिए।[2] इसी प्रकार आगे

---

1. पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्।।
1.12

2. पृथिवी देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ...............मा मौक्।। यजु. 1.25
आपाररूं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते
द्योर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन.......... मा मौक्।। 1.26

बताते हैं कि–सब मनुष्यों को वेदी बनाकर और पात्र आदि होम की सामग्री ले के उस हवि को अच्छीं प्रकार शुद्ध कर तथा अग्नि में होम कर के किया हुआ यज्ञ वर्षा के शुद्ध जल से सब ओषधियों को पुष्ट करता है। उस यज्ञ के अनुष्ठान से सब प्राणियों को नित्य सुख देना मनुष्यों का परम धर्म है।[1] आगे कहा है कि–जब मनुष्य लोग सुगन्ध्यादि पदार्थ अग्नि में हवन करते हैं तब वे ऊपर जाकर वायु वृष्टि जल को शुद्ध करते हुए पृथिवी को आते हैं जिससे यव आदि ओषधि शुद्ध होकर सुख और पराक्रम के देने वाली होती हैं। जैसे कोई वैश्य लोग रुपया आदि को दे-ले कर अनेक प्रकार के अन्नादि पदार्थों को खरीदते वा बेचते हैं वैसे सब हम लोग भी अग्नि में शुद्ध द्रव्यों को छोड़कर वर्षा वा अनेक सुखों को खरीदते हैं खरीदकर फिर वृष्टि और सुखों के लिये अग्नि में हवन करते हैं।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि– जो यज्ञ में दी हुई आहुति हैं वे सूर्य के उपस्थित रहती हैं अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति से परमाणुरूप होकर सब पदार्थ पृथिवी के ऊपर आकाश में हैं उसी पृथिवी का जल ऊपर खिंचकर वर्षा होती है उस वर्षा से अन्न और अन्न से सब जीवों को सुख होता है। इस परम्परा सम्बन्ध से यज्ञशोधित जल और होम किये द्रव्य को सब जीव भोगते हैं।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– बुद्धिमान् श्रेष्ठ और अनिष्ट के विवेक करने वाले विद्वान् लोग अपने शिष्यों में यथायोग्य शिक्षा विधान करते हैं यज्ञ कर्म से जल और पवन की शुद्धि उसकी शुद्धि से वर्षा और उससे सब प्राणियों को सुख उत्पन्न होता है।[4] इसी प्रकार यजुर्वेद के अन्य मन्त्रों में भी यज्ञ से लाभ, वायु शुद्धि बतलाया है।[5]

4. **अन्य लाभ**–यजुर्वेद में यज्ञ के अन्य लाभ इष्ट वस्तु प्राप्ति दीर्घायु रोगादि क्लेश निवृत्ति, वर्षा का होना, उत्तमसन्तान, पुष्कल अन्न की उत्पत्ति

---

1. कृष्णोंऽस्याखरेष्ठो त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां
   प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।। यजु. 2.1
2. पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत।
   वस्नेव विक्रीणावहाइषमूर्जँ शतक्रतो।। यजु. 3.49
3. अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देहविः।
   सं ते प्राणो वातेन गच्छताँ समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा।। यजु. 6.10
4. रक्षसां भागोऽसि निरस्तः रक्षऽइदमहः रक्षोऽभितिष्ठामीदमहःरक्षोऽवबाधऽइदमहः
   रक्षोऽधमं तमो नयामि। धृतेन .... ।। यजु. 6.16
5. 13.30/18.50.51 में भी मिलता है।

तथा दुर्गन्ध निवारण बतलाए हैं। यजुर्वेद में बतलाया गया है कि यज्ञ के अनुष्ठान के बिना उत्साहबृद्धि, सत्यवाणी, धर्माचरण की रीति, तप, धर्म का अनुष्ठान और विद्या की पुष्टि का सम्भव नहीं होता और इसके बिना कोई भी मनुष्य परमेश्वर की आराधना करने को समर्थ नहीं हो सकता। इससे सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान करके सबके लिये सब आनन्द करने चाहिये।[1] यज्ञ के छोड़ने वाले को यज्ञपति परमेश्वर द्वारा छोड़ दिये जाने का उल्लेख है।[2] इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि याज्ञिक को प्रभु कृपा भी मिलती है।

यजुर्वेद में वर्णित यज्ञ का कार्य—यज्ञ का कार्य आकाश तथा मेघमण्डल में जाकर वायु तथा वृष्टि जल का शोधन करना तथा न बरसने वाले मेघों को वर्षोन्मुख करना है।[3] आगे बतलाते हैं कि—जो पदार्थ संयोग से विकार को प्राप्त होते हैं वे अग्नि के निमित्त से अतिसूक्ष्म परमाणुरूप होकर वायु के बीच रहा करते हैं और कुछ शुद्ध भी हो जाते हैं परन्तु जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती इससे विद्वानों को चाहिये कि होमक्रिया और वायु अग्नि जल आदि पदार्थ वा शिल्पविद्या से अच्छी अच्छी सवारी बना के अनेक प्रकार के लाभ उठावें अर्थात् अपनी मनोकामना सिद्ध कर के औरों को भी कामनासिद्धि करें। जो जल इस पृथिवी से अन्तरिक्ष को चढ़कर वहाँ से लौटकर फिर पृथिवी आदि पदार्थों को प्राप्त होते हैं वे प्रथम और जो मेघ में रहने वाले हैं वे दूसरे कहाते हैं। अर्थात्—जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टिजल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है वैसे अन्य उपाय से कभी नही हो सकती।[4] आगे बतलाते हैं कि— संस्कार किया हुआ

---

1. आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै
   तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये ....।। यजु. 4.7
2. कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति
   तस्मै............ भागोऽसि।। 2.23
3. युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिता स्थ। अग्नये....।। 1.13
   पृथिवी देवयजन्योपध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्वधान.....
   द्विष्मस्तमतो मा मौक्।। यजु. 1.25
4. पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः।
   देवीरापो अग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽऽग्रऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिँ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्।।
   यजु. 1.12

हवि जो अग्निके मध्य छोड़ा जाता है वह विस्तृत होकर अग्नि और सोम के बीच पहुँचकर अन्नादि पदार्थों को उत्पन्न करता है।[1] इसीप्रकार आगे बतलाया गया है कि– मनुष्यों को अच्छी प्रकार सिद्ध किया हुआ यज्ञ जिसमें भौतिक अग्नि के संयोग से ऊपर को अच्छे-अच्छे पदार्थ छोड़े जाते हैं वह सूर्य की किरणों में स्थिर होता है तथा पवन उस को धारण करता है और वह सब के उपकार के लिये हजारो सुखों को प्राप्त कराके दुःखों का विनाश करने वाला होता है। अर्थात् यज्ञ सूर्य किरणों में स्थिर होता है तथा पवन उसको धारण करता है और वह सबके उपकार के लिये हजारों सुखों को प्राप्त करके दुःखों का विनाश करने वाला होता है।[2] आगे बतलाते हैं कि– अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ सूर्य की किरणों के साथ रहकर अपने निरन्तर शुद्ध गुण से सब पदार्थों को पवित्र करता है। तथा वह उसके द्वारा सब पदार्थों को सूर्य की किरणों से तेजवान, शुद्ध, उत्तम रसवाले, सुख कारक प्रसन्नता का हेतु तथा दृढ़ करता है।[3] आगे बतलाते हैं कि– अग्निहोत्र आदि यज्ञ में चार पदार्थ होते हैं अर्थात् बहुत सा पुष्टि सुगन्धि मिष्ट और रोग विनाश करने वाला होम का पदार्थ, उसका शोधन, यज्ञ का करने वाला तथा वेदी आग लकड़ी आदि। यथाविधि से हवन किया हुआ पदार्थ आकाश को जाकर फिर वहाँ से पवन वा जल के द्वारा आकर इच्छा की सिद्धि करने वाला होता है। ऐसा मनुष्यों को जानना चाहिए।[4] यज्ञ के कार्य का वर्णन करते हुए बतलाया है कि–मनुष्य लोग जो जो सुगन्धि आदि पदार्थ अग्नि में छोड़ते हैं वे अलग-अलग होकर सूर्य के प्रकाश तथा भूमि में फैलकर सब सुखों को सिद्ध करते हैं तथा जो वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि पदार्थ शिल्पविद्यासिद्ध कलायन्त्रों से विमान आदि यानों में युक्त किये जाते हैं वे सब सूर्यप्रकाश वा अन्तरिक्ष में सुख से विहार करते हैं। जो पदार्थ सूर्य की किरण वा अग्नि के द्वारा परमाणुरूप होके अन्तरिक्ष में जाकर फिर पृथिवी पर आते हैं फिर भूमि से

---

1. 1.22, 24, 1.5, 16
2. देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
   आददेऽध्वरकृतं .... वायुरसि तिग्मतेता द्विषतो वधः।। 1.24
3. सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाभ्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः।
   सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाभ्यश्छिद्रेण .... देवयजनमसि।। यजु. 1.31
4. वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
   ततो वाकाऽआशिषो नो जुषन्ताम्।। यजु. 17.57

अन्तरिक्ष वा वहाँ से भूमि को आते जाते हैं वे भी संसार को सुख देते हैं। मनुष्यों को उचित है कि इसी प्रकार बार-बार पुरुषार्थ से दोष, दुःख और शत्रुओं को अच्छी प्रकार निवारण करके सुख भोगना भुगवाना चाहिये तथा यज्ञ से शुद्ध वायु जल, ओषधि और अन्न की शुद्धि के द्वारा आरोग्य, बुद्धि और शरीर के बल की वृद्धि से अत्यन्त सुख को प्राप्त होके विद्या के प्रकाश से नित्य प्रतिष्ठा को प्राप्त होना चाहिये अर्थात्—यज्ञ कार्य द्युलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी पर स्थित हानिकर तत्त्वों को दूर करना भी है।[1] आगे बतलाते हैं कि—यज्ञ में भरकर डाली हुई होम द्रव्यों को दर्वि आकाश को जाती वहाँ से वर्षा के रूप में भरी हुई वापिस लौटती है। इस प्रकार यज्ञ भी एक प्रकार का व्यापार है जिसमें याज्ञिक अन्नादि उत्तम पदार्थ तथा पराक्रम युक्त वस्तुओं का लेन देन करता है। आगे बतलाते हैं कि यज्ञ इच्छा सिद्धि का संवन भी कराता है। अग्नि में विधिपूर्वक डाली आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। आदित्य से वृष्टि होती होती है। वृष्टि से अन्न तथा प्रजा उत्पन्न होते हैं। आगे बतलाते हैं कि—यज्ञ का कार्य हेतु पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके द्युलोक तक पहुँचाना तथा जलवायु की शुद्धि करके शुद्ध वर्षा से औषधि वनस्पतियों की शुद्धि, वृद्धि करके अधिक फल उत्पन्न करने वाली बनाना है। जिससे सब प्रजा को सुख आनन्द तथा आरोग्यतादि होती है।

यज्ञ के साधन

यज्ञ के सम्पादन के लिए उन साधनों की अपेक्षा है। जिनसे यज्ञ सम्पन्न होता है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में स्रुवा, चमस, यज्ञपाक के पात्र, द्रोण कलश, सिलबट्टा, ऊखली, मूसल, सोमवल्ली आदि को कूटने पीसने के साधन, सूप बुहारी, नलिका यन्त्र, होमवेदी, चन्दन आदि का उल्लेख है।[2] तथा एक मन्त्र में जुहु उपभृत तथा ध्रुवा।[3] का तथा समित का एवं समिधा द्वारा भौतिक अग्नि को उद्दीपन करने का उल्लेख है। एक अन्य मन्त्र में चमसेषु पद का प्रयोग हुआ। यज्ञ के साधनों के साथ ही यज्ञ करने वाले यजमान

---

1. दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा............सं ज्योतिषाभूम।। यजु. 2.25
2. स्रुश्च में चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्चमऽआधवनीयश्च में वेदिदश्च मे...........यज्ञेन कल्पताम्। 18.21
3. पवत्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाभ्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः। .... देवयुवम् ।। 1.12

यजमान पत्नी आग्नीध्र, होता तथा ब्रह्मा आदि का उल्लेख भी यजुर्वेद में उपलब्ध होता है।

देवयज्ञ का प्रकार और सामग्री

देवयज्ञ का प्रकार यह है कि पहले अग्नि को प्रज्वलित करके उसे घी से प्रदीप्त करने के उपरांत उसमें घृत, भात, पुरोडाश, यज्ञीय सामग्री अथवा अन्य औषधि आदि की वेद अथवा वेदानुकूल ग्रन्थों के मन्त्रों से आहुति दी जाती है। यजुर्वेद में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है–ईश्वर उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को वेदी बनाकर और पात्र आदि होम की सामग्री लेके उस हवि को अच्छी प्रकार शुद्ध कर तथा अग्नि में होम करके वहाँ अग्नि के आधान अर्थात् स्थापन का भी उल्लेख है। यज्ञाग्नि को मन्थन से भी उत्पन्न किया जाता है।[1] यह यज्ञ को प्रज्वलित अग्नि में किया जाता है।[2]

यजुर्वेद के तृतीय अध्याय के प्रथम मन्त्र में विद्वानों को संबोधित करते हुए कहा है कि तुम जिन ईंधनों से अच्छी प्रकार प्रकाश हो सकता है उन लकड़ी घी आदिकों से भौतिक अग्नि को उद्‌दीपन अर्थात् प्रकाशित करो तथा जैसे अतिथि को अर्थात् जिसके आने जाने वा निवास का कोई दिन नियत नहीं है उस संन्यासी का सेवन करते हैं वैसे अग्नि का सेवन करो और इस अग्नि में सुगन्ध-कस्तूरी केसर आदि मिष्ठ गुड़ शक्कर आदि, पुष्ट भी दूध आदि, रोग को नाश करने वाले सोमलता अर्थात् गुडूची (गिलोय) आदि औषधि इन चार प्रकार के शाकल्य का अच्छी प्रकार हवन करो। वहाँ दोष निवारण करने में तीक्ष्ण स्वभाव वाले घी, मिष्ट आदि पदार्थों को डालने तथा काष्ठादि वा घी से बढ़ाने का उल्लेख भी मिलता है।[3] यहाँ भी कष्ठादि ईंधन से लकड़ी जलाने, घी से प्रदीप्त करने तथा प्रज्वलित अग्नि में हवि डालने का उल्लेख है।

अग्न्याधान का प्रकार इस प्रकार है–ओ3म् भुर्भूवः स्वः। मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला, उससे कपूर में आग लगा, किसी एक पात्र में धर, उसमें

---

1. अग्निꣳस्तोमेन बोधय समिधानोऽअमर्त्यम्।
   हव्या देवेषु नो दधत्।। यजु. 22.15
2. समिद्धेऽअग्नावधि मामहानऽउक्थपत्रईड्यो गृभीतः।
   तप्तं धर्म्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः।। यजु. 17.55
3. समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन। 3.1

छोटी-छोटी लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करें।[1]

तृतीय महायज्ञ-पितृयज्ञ

जीवित माता-पिता आदि वृद्धजनों, सत्यनिष्ठ विद्वानों एवं मन्त्रार्थवित् ऋषियों के सेवा सत्कार तथा श्रद्धापूर्वक तृप्त करने को पितृयज्ञ कहते हैं। इसके दो भेद हैं–एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। जिस कर्म से उपर्युक्त पूज्यजनों को सुख से तृप्त किया जाए वह तर्पण तथा जो उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा की जाए वह श्राद्ध कहलाता है। उनका यह भी कथन है कि यह जीवित व्यक्तियों में ही घटित होता है, मृतकों में नहीं, क्योंकि मृत व्यक्ति के विद्यमान न होने से उनकी सेवा नहीं की जा सकती तथा उनके लिये किये कर्म की उन्हें प्राप्ति न होने से वह कार्य व्यर्थ हो जाता है।

पितृयज्ञ के अन्तर्गत तीन सत्करणीय माने हैं–देव, ऋषि, और पितर।[2] यजुर्वेद में इन तीनों का ही उल्लेख मिलता है।

यजुर्वेद में पितृयज्ञ का उल्लेख तथा प्रकार–यजुर्वेद में पितृयज्ञ का उल्लेख मिलता है। वहाँ आचार्यों को भी पितर कहा गया है।[3] प्रजा के रक्षक भी पितर कहलाते हैं यजुर्वेद के मन्त्र में कहा है कि–जो ऐश्वर्य को प्राप्त होने के योग्य पितर लोग अत्युत्तम प्रिय रत्नादि से भरे हुए कोशों के निमित्त बुलाये हुए हैं वे इस हमारे समीप स्थान में आवें वे हमारे वचनों को सुनें वे हमको अधिक उपदेश से बोधयुक्त करें वे हमारी रक्षा करें आगे बतलाते हैं कि–जो चन्द्रमा के तुल्य शान्त शमदमादि गुणयुक्त अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण हमारे अन्न और विद्या के दान के रक्षक जनक अध्यापक और उपदेशक लोग हैं वे आप्त लोगों के जाने आने योग्य धर्मयुक्त मार्गों से आवें इस पढ़ाने उपदेश करने रूप व्यवहार में वर्तमान होके अन्नादि से आनन्द को प्राप्त हुए हमको अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी सदा रक्षा करें।[4] इसी प्रकार यजुर्वेद के अन्य मन्त्रों में भी गुरुजनों के

1. सामान्य प्रकरण, मन्त्र ओं भूर्भुवः स्वः। द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
2. तत्र तत्कर्तव्यास्त्रयः सन्ति-देवा ऋषयः पितरश्च।
3. आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्।। यजु. 2.33
4. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
   तऽआगमन्तु तऽइह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तुतेऽवन्त्वस्मान।। 19.57
   आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
   अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।। 19.58

लिए पितर शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] ईश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य लोग माता और पिता आदि धार्मिक सज्जन विद्वानों को समीप आए देखकर उनकी सेवा कर प्रार्थना पूर्वक वाक्य कहें कि हे पितरो! आप लोगों का आना हमारे उत्तम भाग्य से होता, सो आओ और जो अपने व्यवहार में यथायोग्य भोग आसन आदि पदार्थों को हम देते हैं उनको स्वीकार करके सुख को प्राप्त हो तथा जो आपके प्रिय पदार्थ हमारे लाने योग्य हों उस-उस की आज्ञा दीजिये। क्योंकि सत्कार को प्राप्त होकर आप प्रश्नोत्तर विधान से हम लोगों को स्थूल और सूक्ष्म विद्या वा धर्म के उपदेश से यथावत् वृद्धियुक्त कीजिये। आपसे वृद्धि को प्राप्त हुए हम लोग अच्छे-अच्छे कामों को करके तथा औरों से अच्छी प्रकार कराके सब प्राणियों का सुख और विद्या की उन्नति करें।[2] दक्षिण पार्श्व मैं बैठकर भूमि में घुटने टिकाकर उनका अभिवादन किया जाता है।[3] अनेक प्रकार से उत्तम रस स्वादिष्ट जल रोगनाशक, औषधि, मिष्ठादि पदार्थ, दूध, घी, उत्तम रीति से पकाया हुआ अन्न तथा रसीले फलों के रस से उन्हें तृप्त किया जाता है।[4] आगे बतलाते हैं कि–जैसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये छः ऋतु, रस, शोष और जीव, अन्न, कठिनता, क्रोध के उत्पन्न करने वाले होते हैं वैसे ही पितर भी अनेक, विद्याओं के उपदेश से मनुष्यों को निरन्तर सुख देते हैं। इससे मनुष्यों को चाहिये कि उक्त पितरों को उत्तम-उत्तम पदार्थों से सन्तुष्ट करके उनसे विद्या के उपदेश का निरन्तर ग्रहण करें।[5] इसी प्रकार यजुर्वेद में आगे बतलाते हैं कि– पुत्रादि सब लोग अच्छे संस्कार किये हुए सुगन्धादि से युक्त अन्न पानों से पितरों को भोजन करा के आप भी इन अन्नों का भोजन करें यही पुत्रों की योग्यता है। जो अच्छे संस्कार किये हुए अन्न पानों को करते हैं वे रोगरहित होकर शतवर्षपर्यन्त जीते हैं। स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जो कलश के समान वीर्यादि धातुओं

---

1. 19. 67. 70, / 34.17 यजु0 19.67, 70 / 34.17
2. अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
   अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ।। 2.31
3. आच्या जानु दक्षिणतो निषध। 19.62
4. ऊर्ज्जं बहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
   स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन्।। यजु. 2.34
5. नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो धोराय नमो वः पितरो मन्यवे। नमो वः पितर .... देष्मैतद्वः पितरो वासः।। यजु. 2.32

से पूर्णसम विभाग करने द्वारा सन्तानों का उत्पादक अच्छे प्रकार भोजन का करने वाला विविध पुष्टियों से प्रसिद्ध उत्तम कर्मों को करके सैकड़ों वाणियों से युक्त जिससे गीला किया जाता है उस कूप के समान पूर्ति करने हारे व्यवहार में स्थित के समान पुरुष और जो कुम्भी के सदृश स्त्री है इन दोनों को योग्य है कि पितरों को अन्न देवें और जिस नवीन गर्भाशय के बीच गर्भ धारण किया जाता उस की निरन्तर रक्षा करें।[1] आगे बतलाते हैं कि जो पितर लोग हमसे विद्या वा अवस्था में वृद्ध हैं जो वानप्रस्थ वा संन्यासाश्रम को प्राप्त हो के गृहाश्रम के विषय-भोग से उदासीनचित्त हुए प्राप्त हों जो पृथिवी पर विदित लोक में निवास किये हुए अथवा जो निश्चत कर के अच्छी गतिवाले प्रजाओं में प्रयत्न करते हैं उन पितरों के लिये आज यह सुसंस्कृत अन्न प्राप्त हो।[2] आगे बतलाते हैं कि–हे मनुष्यो! तुम लोग विद्याओं को अच्छे प्रकार होओ धार्मिकों के मार्गों से सम्यक् चलो, धर्म को करो। हे विद्वान् पितामह! तुम्हारे बने रहते ही रक्षा करने वाले माता पिता तुम्हारे पुत्र आदि ब्रह्मचर्य्य को करते हुए पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो और स्वयंवर विवाह कर पश्चात् गर्भाधानादि रीति से यथोक्त सन्तान को अनुकूल उत्पन्न करें। अर्थात् पितरों को अन्य सेवा से भी सन्तुष्ट किया जाता है।[3] इसी प्रकार यजुर्वेद में आगे बतलाते हैं कि– तू विद्वानों में सुख को प्राप्त होने के लिये जिस प्रतिज्ञा क्रिया कर्म से गृहाश्रम के असंख्य व्यवहारों को प्राप्त होते हो तथा जिस विज्ञान से सब वेदों में कहे कर्म को यथावत् करते हो उससे इस गृहाश्रमरूप संगति के योग्य यज्ञ को हमको प्राप्त कीजिये अर्थात्–विवाह की प्रतिज्ञाओं में भी माता-पिता तथा आचार्य को सुख देने की प्रतिज्ञा की जाती है।[4]

---

1. त्वमग्नऽईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
   प्रादाः पितृभ्यः स्वधया तेऽअक्षन्नद्धि त्वं देवप्रयता हवीꣳषि।। यजु. 19.66
   कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भोऽअन्तः।
   प्लाशिर्व्यक्तः शतधारऽउत्सो दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः।। यजु. 19.87
2. इदम्पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वांसो यऽउपरासऽईयुः।
   ये पार्थिवे रजस्या निवषत्ताये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु।। 19.68
3. सम्प्रच्यवध्वभुप संप्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुधम्।
   पुनः कृष्वाना पितरा युवानान्वाता ँतीत् त्वपि तन्तुमेतम्।। 15.53
4. येन वहसि सहस्त्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्।
   तेनेसं यज्ञं नो नय सवेषु गन्तवे।। 15.54

पितृयज्ञ से लाभ—यजुर्वेद में पितृयज्ञ लाभ के सम्बन्ध में बतलाते हैं कि—जो सन्तान माता-पिता आदि के सेवक होते हुए विद्या और विनय से धर्म का अनुष्ठान करते हैं वे अपने जन्म की सफलता करते हैं।[1] आगे बतलाया है कि—हे विद्यार्थी! जैसे माता, पढ़ाने और उपदेश करनी वाली ये तीन निरन्तर विद्या से दीप्ती हुई स्त्री जिसमें धन धरने योग्य हैं उस संसार के बीच उत्तम धन चाहने वाले जीव के लिये उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन विद्या से प्रकाश को प्राप्त हुई कन्याओं को धारण करें वा पढ़ाने और उपदेश करने हारे मनुष्य स्तुति करने हारी स्त्री और प्रशंसित विज्ञानयुक्त स्त्री तोंदी में बल वा सुख के समान मन को धारण करें वा जैसे ये सब उक्त पदार्थों को प्राप्त हों। वैसे तू सब व्यवहारों की संगति किया कर।

पितृयज्ञ के लाभ के सम्बन्ध में बतलाते हैं कि— हे चन्द्रमा के समान आनन्दकारक उत्तम सन्तान! ज्ञानयुक्त पितरों के साथ प्रतिज्ञा करता हुआ जो तू सूर्य और पृथिवी के मध्य में धर्मानुकूल आचरण से सुख का विस्तार कर। हे चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन! उस तेरे लिए हम लोग लेने देने योग्य व्यवहार से सुख का विधान करें जिससे हम लोग लेने देने योग्य व्यवहार से सुख का विधान करें जिससे हम लोग धनों के पालन करने हारे स्वामी हों। अर्थात् माता-पिता के अनुचर धन के स्वामी होते हैं।[2] आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि— जैसे माता-पिता पुत्र का पालन करते हैं वैसे पुत्र को माता पिता की सेवा करनी चाहिये सब मनुष्यों को इस जगत् में यह ध्यान देना चाहिये कि हम माता पिता का यथावत् सेवन करके पितृऋण से मुक्त होवें जैसे विद्वान् धार्मिक माता पिता अपने सन्तानों को पापरूप आचरण से पृथक करके धर्माचरण में प्रवृत्त करें वैसे सन्तान भी अपने माता-पिता को वर्त्ताव करावें। अर्थात् गृहस्थ पुत्र का पालन तथा माता-पिता की सेवा से ही अनृण होता है।[3]

---

1. तवꣳ सोम प्रचिकितो मनीषा त्वꣳ रजिष्ठमनुनेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः।। 19.52
2. त्वꣳ सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवीऽआ ततन्थ।
तस्मै तऽइन्दो हविषा विधेम वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम्।। यजु. 19.54
3. यदा पिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया।। यजु. 19.11

पितरों की कोटियाँ—यजुर्वेद में गुणों की दृष्टि से पितरों की इन कोटियों की चर्चा मिलती है—

1ण **ब्राह्मणासः**—वेद में कहा है कि—हे विद्या के आनन्द को देने वाले विद्वान् लोगों! विज्ञानरूपी आनन्द की प्राप्ति के लिये तुमको हमारा नमस्कार हो। हे दुःख का विनाश और रक्षा करने वाले विद्वानों! दुःख और शत्रुओं की निवृत्ति के लिये तुमको हमारा नमस्कार हो। हे धर्मयुक्त जीविका का ज्ञान कराने वाले विद्वानों जिससे प्राण का स्थिर धारण होता है उस जीविका के लिये तुम को हमारा शीलधारण विदित हो। हे विद्या अन्न आदि भोगों की शिक्षा करने हारे विद्वानों! अन्न, पृथिवी, राज्य और न्याय के प्रकाश के लिये तुम को नमस्कार हो।

2. **सोम्यासः**—सोमगुण वाले-शमदमादि गुणयुक्त- अर्थात् वेद में कहते हैं कि—हे मनुष्यों! मैं जो पिता आदि मनुष्यों और विद्वानों की दो गतियों जिन में आते जाते अर्थात् जन्म मरण को प्राप्त होते हैं उनको सुनता हूँ उन दोनों गतियों से यह सब जगत् चलायमान हुआ है। अच्छे प्रकार प्राप्त होता है और जो पिता और माता से पृथक् होकर दूसरे शरीर से अन्य माता पिता को प्राप्त होता है। सो यह तुम लोग जानो। आगे बतलाते हैं कि जो जीते हुए प्रथम मध्यम और उत्तम चोरी आदि दोष रहित जानने के योग्य विद्या को जानने हारे तत्वज्ञान को प्राप्त विद्वान् लोग हैं वे विद्या के अभ्यास और उपदेश से सत्य धर्म के ग्रहण कराने हारे कर्म से बाल्यावस्था में विवाह का निषेध करके सब प्रजाओं को पालें। स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि—चन्द्रमा के तुल्य शान्त शमदमादि गुणयुक्त अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण हमारे अन्न और विद्या के दान से रक्षक जनक अध्यापक और उपदेशक लोग हैं वे आप्त लोगों को जाने आने योग्य धर्मयुक्त मार्गों से आवें इस पढ़ाने उपदेश करने रूप व्यवहार में वर्त्तमान हो के अन्नादि से आनन्द को प्राप्त हुए हमको अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी सदा रक्षा करें।[1]

3. **अग्निष्वात्ताः**—अग्नि में जलाए हुओं को 'अग्निष्वात्ताः' कहते हैं। यजुर्वेद में बतलाते हैं कि—जो चन्द्रमा के तुल्य शान्त शमदमादि गुणयुक्त अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण हमारे अन्न और विद्या के दान से रक्षक जनक अध्यापक और उपदेशक लोग हैं वे आप्त लोगों को जाने आने योग्य धर्मयुक्त

1. यजु. 19.47, 49, 58

मार्गों से आवें इस पढ़ाने उपदेश करने रूप व्यवहार में वर्त्तमान होके अन्नादि से आनन्द को प्राप्त हुए हम को अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावे और हमारी सदा रक्षा करें। आगे बतलाते हैं कि–जो अच्छे प्रकार अग्निविद्या के ग्रहण करने तथा जो अग्नि से भिन्न अन्य पदार्थ विद्याओं को जानने हारे वा ज्ञानी पितृलोग वा विज्ञानादि प्रकाश के बीच अपने पदार्थ के धारण करने रूप क्रिया से आनन्द को प्राप्त होते हैं उन पितरों के लिये स्वयं प्रकाशमान परमात्मा इस प्राणों को प्राप्त होने वाले शरीर को कामना के अनुकूल समर्थ करें। और आगे बतलाते हैं कि–मनुष्यों को चाहिये कि भूगर्भ और अग्नि विद्या से पृथिवी के पदार्थों की अच्छी प्रकार परीक्षा करके सुवर्ण आदि रत्नों को उत्साह के साथ प्राप्त होवें और जो पृथिवी को खोदने वाले नौकर चाकर हैं उनको इस विद्या का उपदेश करें। आगे बतलाते हैं कि–जब स्त्री पुरुष एक दूसरे की परीक्षा करके आपस में दृढ़ प्रीति वाले होवें तब वेदोक्त रीति से यज्ञ का विस्तार और वेदोक्त नियमानुसार विवाह करके धर्म से सन्तानों को उत्पन्न करें। जब कन्या पुत्र आठ वर्ष के हों तब माता पिता उनको अच्छी शिक्षा देवे। इसके पीछे ब्रह्मचर्य धारण कराके विद्या पढ़ाने के लिये अपने घर से बहुत दूर आप्त विद्वान् पुरुषों और आप्त विदुषी स्त्रियों की पाठशालाओं में भेज देवें। वहाँ पाठशाला में जितने धन का खर्च करना उचित हो उतना करें क्योंकि सन्तानों को विद्यादान के बिना कोई उपकार वा धर्म नहीं बन सकता। इसलिये इसका निरन्तर अनुष्ठान किया करें। आगे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि–सब अध्यापक स्त्री और पुरुषों को चाहिये कि सब श्रेष्ठ क्रियाओं से कन्या पुत्रों को विद्या और शिक्षा से युक्त शीघ्र करें। जिससे ये पूर्ण ब्रह्मचर्य ही करके गृहाश्रम आदि का यथोक्त काल में आचरण करें।[1] किन्तु इसी प्रकरण में पितरों को आने, हमारे वचन सुनने, उपदेश देने तथा रक्षा करने आदि का उल्लेख है।[2] जो जीवितों में ही घटित होता है। मृतकों में नहीं। अतः महर्षि दयानन्द ने अग्नि विद्या के ज्ञाता, होम तथा शिल्प के लिये अग्नि के गृहीता तथा अग्नि स्वरूप परमात्मा के ग्रहण करने वाले आदि अर्थ किये हैं। जो पितरों में सर्वथा घटते हैं। आत्मा को अग्नि कहा गया है। अतः चाहे भौतिक अग्नि का शिल्प में प्रयोग हो, चाहे यज्ञ में अथवा चाहे आत्म परमात्म रूप अग्नि हो उसके जानने वाले पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं।[3]

अग्निष्वात्तः–

यम की संस्कृति

विश्व के साहित्य में एवं संस्कृति में जब शरीर से प्राण तथा आत्मा मृत्यु के समय पृथक् होते हैं उसका वर्णन वैदिक साहित्य में छोड़ कर कहीं पर भी उपलब्ध नहीं है। भारतीय संस्कृति में मृत्यु के देवता को यम कहा जाता है इसलिए ही यजुर्वेद के 39 अध्याय को कई नामों से जाना जाता है जैसे अन्त्येष्टि यम आदि नामों से कहा गया है। जिस समय जीवात्मा मृत्यु को प्राप्त हो रहा होता है। उस समय जीवात्मा को क्या-क्या प्रार्थना करनी चाहिए तथा शरीर के समस्त अंगों की गति अर्थात् लय (लीन) कहाँ-कहाँ होता है इसका वर्णन यम की संस्कृति यजुर्वेद में उपलब्ध है इसका संक्षिप्त रूप में वर्णन प्रस्तुत है। पुराणों में यम के सम्बन्ध में अनेक उपकथायें मिलती हैं जो भयावह भी हैं। वेद के यम तथा पुराणों के यम का वर्णन एक दूसरे से विपरीत सा प्रतीत होता है। मृत्यु के देवता के रूप में दोनों समान हैं।

हे मनुष्यों तुमको चाहिए की इन्द्रिय आदि के अधिपति जीव के साथ वर्तमान जीवन के लिए एवं प्राणों के लिए सत्य क्रिया, भूमि के लिए, सत्य वाणी रूप अग्नि के लिए, आकाश में चलने के लिए, वायु की प्राप्ति के लिए, विद्युत् की प्राप्ति के लिए, और सूर्य मण्डल की प्राप्ति के लिए, अपने आपको संयुक्त करो।[1]

इसी प्रकार आगे कहा है, कि हे मनुष्यों। तुम लोग शरीर के जलाने में दिशाओं के हुतद्रव्य कि पहुँचाने को सत्यक्रिया चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिये, नक्षत्र लोकों के लिये, जलों में चलने के लिये, समुद्रादि में जाने के लिये, नाभि के जलने के लिये, और पवित्र करने के लिये सत्यक्रिया को सम्यक् प्रयुक्त करो।[2]

इस प्रकार आगे के मन्त्र में आया है, कि मनुष्यों तुम लोग मरे हुए शरीर के वाणी इन्द्रिय सम्बन्धी होम के लिये सुन्दर क्रिया शरीर के अवयवों को जगत् के प्राणवायु में पहुँचाने को सत्यक्रिया धनञ्जय वायु को प्राप्त होने के लिये, एक नेत्रगोलक जलाने के लिये, सुन्दर आहुति दूसरे नेत्रगोलक के जलाने के लिये एक कान को दूसरे कान के विभाग के लिये स्वाहा शब्द कर आहुति चिता में छोड़ें।[3]

---

1. स्वाहा प्राणेभ्य साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहाऽग्नये.............. यजु 39.1
2. दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा.............. यजु. 39.2
3. वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा .... यजु. 39.3

इसी बात को अगले मंत्र में प्रतिपादित किया है, कि हे मनुष्यों जैसे मैं सत्यक्रिया से ऐसे आगे पीछे कहे प्रकार से मरे हुए शरीरों को जलाके अन्तःकरण और वाणी के विद्यमानों में उत्तम इच्छापूर्ति उत्साह गौ आदि के सुन्दर स्वरूप को प्राप्त होऊं जैसे मुझ जीवात्मा में खाने योग्य अन्नादि के मधुरादि रस कीर्ति शोभा वा ऐश्वर्य्य आश्रय करें वैसे ही तुम इसको प्राप्त होओ और ये तुम में आश्रय करें।[1]

इसी बात को अगले मन्त्र में कहा गया है, कि हे मानव। जिस ईश्वर ने सम्यक् पोषण वा धारण किया हुआ, सम्यक् प्रकाशमान सब उत्तम जीव वा पदार्थों के सम्बन्धी सम्यक् प्राप्त होता हुआ धाम रूप प्रकाश शरीर के पृथक् हुआ, ऊपर को चलता हुआ प्राण अपान सम्बन्धी तेज, अच्छे प्रकार प्राप्त हुए जल में पृथिवी सम्बन्धी विशेषकर प्राप्त हुए समय में मनुष्यदेह सम्बन्धी तेज, हिंसा करता हुआ मित्र प्राण सम्बन्धी तेज, विस्तार किये वा पालन किये तालाब में वायुसम्बन्धी तेज, हरण किया हुआ तेज, अग्नि देवता सम्बन्धी तेज, बुलाया हुआ तेज, बोलने वाला, शब्द किया तेज और प्रजा का रक्षक जीव सम्यक् पोषण वा धारण किया है, उसी परमात्मा की तुम लोग उपासना करो[2]।

इसी प्रकार अगले मन्त्र में भी ऐसा ही उपदेश देखने को मिलता है हे मनुष्यों। इस जीव को शरीर छोड़ने के पहिले दिन सूर्य दूसरे दिन अग्नि, तीसरे वायु, चौथे महीना आदित्य, पाँचवें चन्द्रमा, छठे वसन्तादि ॠतु, सातवें मनुष्यादि प्राणी, आठवें बड़ों का रक्षक सूत्रात्मा वायु, नवम, में प्राण, दसवें में उदान, ग्याहरवे में बिजुली, बाहरवें दिन सब दिव्य उत्तम गुण प्राप्त होते हैं।[3]

इस प्रकार अगले मन्त्र में आया है कि हे मनुष्यों! मरण को प्राप्त हुआ जीव अपने कर्म से तीव्र स्वभाव वाला शान्त भयंकर निर्भय अन्धकार को प्राप्त, प्रकाश को प्राप्त कांपता निष्कम्प शीघ्र सहनशील न सहने वाला और से नियमधारी सब से अलग और विक्षेप को प्राप्त होता है।[4]

इसी प्रकार आगे कहा गया है, कि हे मनुष्यो। जो वे मरे हुए जीव हृदय रूप अवयव से अग्नि को हृदय के ऊपरले भाग से बिजुली को संपूर्ण

1. मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। .... यजु. 39.4
2. प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः ....यजु. 39.5
3. सवित प्रथमेऽहन्नग्नि वायुस्तृतीयो .... यजु. 39.6
4. उग्रश्च भोमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च .... यजु. 39.7

हृदय के अवयवों से पशुओं के रक्षक जगत् धारणकर्ता सब के जीवन हेतु परमेश्वर को यकृत रूप शरीर के अवयव से सर्वत्र होने वाले ईश्वर को हृदय के इधर उधर के अवयवों से विज्ञानयुक्त ईश्वर को दुष्टाचारी और पाप के प्रति वर्तमान क्रोध से सब जगत् के स्वामी ईश्वर को भीतरली पसुरियों के अवयवों में हुए विज्ञान से महादेव तीक्ष्ण स्वभाव वालों प्रकाशमान ईश्वर को आँत विशेष से अत्यन्त वास के हेतु राजा के तुल्य ठोडी वाले जन को पेट में हुए दो मासपिण्डों से जानने वा प्राप्त होने योग्य वस्तुओं को प्राप्त होते हैं, ऐसा तुम लोग जानो।[1]

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए मन्त्र कहता है–हे मनुष्यों गर्भाशय में स्थित वा बाहर रहने वाले जीवन शुद्ध रुधिर से तीव्र गुण श्रेष्ठ कर्म से प्राण के तुल्य प्रिय दुष्टाचरण से रुलाने हारे उत्तम क्रीड़ा से परम ऐश्वर्य वा बिजुली बल से उत्तम मनुष्यों को उत्तम आनन्द से साधने योग्य पदार्थों को प्रशंसा को प्राप्त होने वाले के कण्ठ में हुए स्वर दुष्टों को रुलाने हारे जन को भीतर पसुरी में हुए महादेव विद्वान् के हृदय में स्थित लालपिण्ड के सुखप्रापक मनुष्य का आँत विशेष पशुओं के रक्षक पुरुष के हृदय की नाड़ी को प्राप्त होते हैं।[2]

इसी प्रकार अगले मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्यों को चाहिए कि दाहकर्म में घी आदि से त्वचा के ऊपरले बालों के लिये इस शब्द का नख आदि के लिये शरीर की त्वचा जलाने को भीतरली त्वचा जलाने के लिये, रुधिर जलाने की हृदयस्थ रुधिर पिण्ड को जलाने को चिकने धातुओं को जलाने की सब शरीर के अवयवों को आर्द्र करने वाले भागों को जलाने को बहारले मांसों को जलाने को, भीतर के मांसों को जलाने को, स्थूल नाड़ियों को जलाने को, सूक्ष्म नाड़ियों को जलाने को, शरीरस्थ कठिन अवयवों को जलाने को, वीर्य के जलाने को, गुदारूप अवयव के दाह के लिये इस शब्द का निरन्तर प्रयोग करें।[3]

इसी व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए अगले मन्त्र में कहा गया है कि हे मानव! तुम लोग अच्छे प्रकार प्राप्त होने को इस शब्द का जाने के लिये, सम्यक् चलने के लिये, विविध प्रकार वस्तुओं की प्राप्ति को ऊपर को जाने

---

1. अग्निꣳहृदयेनाशनिꣳहृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना। शर्वं मत....... यजु.39.8
2. उग्रं लोहितेन मित्रंसौव्रत्येन रुद्रं दौर्वत्येनेन्द्रं........... यजु, 39.9
3. लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा............ यजु. 39.10

के लिये, पवित्र के लिये, शुद्ध करने वाले के लिये विचार के प्रकाश के लिये, और जिसमें शोक करते हैं उसके लिये इस शब्द का प्रयोग करो।[1]

इस प्रकार से मन्त्र में कहा गया है, कि मनुष्यों को चाहिए प्रताप के लिये, सन्ताप को प्राप्त होने वाले के लिये, ताप गर्मी को प्राप्त होने वाले के लिये, दिन के होने को निवारण के लिये, पाप निवृत्ति के लिये और सुख के लिये इस शब्द का निरन्तर प्रयोग करें।[2]

फिर से वही बात अगला मन्त्र कहता है हे मनुष्यों! तुम लोग नियन्ता न्यायाधीश, वायु के लिये इस शब्द का नाशकर्ता काल के लिये, प्राणत्याग कराने वाले समय के लिये बृहत्तम अति बड़े परमात्मा के लिये वा ब्राह्मण विद्वान् के लिये ब्रह्म वेद वा विद्वान् की हत्या के निवारण के लिये, सब दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों वा जलादि के लिये और सूर्य भूमि के शोधने के लिये इस शब्द का प्रयोग करो।[3]

आगे कहा गया जैसे तपस्वी लोग, युद्ध में वीरगति को प्राप्त करने वाले योद्धा जिस गति को प्राप्त होते हैं वह गति मृत्यु के पश्चात् हमें भी प्राप्त हो। यह प्रार्थना अथर्ववेद में की गई है। अन्त्येष्टि संस्कार में अथर्ववेद के मन्त्र का भी विनियोग मिलता है। जिसका भाव यह है कि ये जो यम एवं मृत्यु है हमें इस प्रकार प्राप्त हों कि हम जीवात्मा जो हमारे पूर्वज प्रचेता विद्वान् जिस गति को प्राप्त हुये हैं उसी गति को हम भी प्राप्त हों।

संस्कार विधि में तैत्तिरीय आरण्यक के मन्त्रों का विनियोग भी अन्त्येष्टि संस्कार में किया गया है।

यजुर्वेद में दार्शनिक तत्व

ईश्वर—बहुत से विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में बहुदेवतावाद है परन्तु यजुर्वेद में स्पष्ट रूप में माना है, कि ईश्वर एक है उसी के अग्नि आदि अनेक नाम हैं।

वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव न्यायकारी, दयालु जगत् का स्रष्टा, धारणकर्त्ता और सबका अन्तर्यामी ही ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि वह प्रलय

1. आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा............ यजु 39.11
2. तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा .... यजु. 39.12
3. यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहा.......... यजु. 39.13

समय सबको ग्रहण करने से आदित्य वह अनन्त बलवान् और सबका धर्त्ता होने से वायु वह आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा वही शीघ्रकारी वा शुद्ध भाव से शुक्र वह महान् होने से ब्रह्म, वह सर्वत्र व्यापक होने से आप और वह सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है ऐसा तुम जानो।[1]

इस प्रकार ईश्वर के बारे में अगले मन्त्र में आता है जिस विशेषकर प्रकाशमान पूर्ण परमात्मा से सब निमेष कलाकाष्ठा आदि काल के अवयव अधिकतर उत्पन्न होते हैं उस इस परमात्मा को कोई भी न ऊपर न तिरछा सब दिशाओं में वा नीचे और न बीच में सब ओर से ग्रहण कर सकता है इसको तुम सेवो।[2]

वेद इसी बात को आगे कहता है, कि जिसका पूज्य बड़ा कीर्ति करने द्वारा धर्मयुक्त कर्म का आचरण ही नामस्मरण है जो सूर्य बिजुली आदि पदार्थों का आधार इस प्रकार अन्तर्यामी होने से प्रत्यक्ष जिस को मुझ को मत ताड़ना दे वा वह अपने से मुझको विमुख मत करो। इस प्रकार यह प्रार्थना वा बुद्धि और जिस कारण नहीं उत्पन्न हुआ इस प्रकार यह परमात्मा उपासना के योग्य है। उस परमेश्वर की प्रतिमा-परिमाण उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकृति मूर्ति या आकृति नहीं है। अथवा द्वितीय पक्ष यह है कि इस पच्चीसवें अध्याय में 10 मन्त्र से 13 मन्त्र तक अनुवाक् जिस परमेश्वर की प्रसिद्ध महती कीर्ति उसका प्रतिबिम्ब नहीं है।[3]

इस प्रकार इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि विद्वानों! यह प्रसिद्ध परमात्मा उत्तम स्वरूप सब दिशा और विदिशाओं को अनुकूलता से व्याप्त हो के वही अन्तःकरण के बीच प्रथम कल्प आदि में प्रसिद्ध प्रकटता को प्राप्त हुआ वही प्रसिद्ध हुआ वह आगामी कल्पों में प्रथम प्रसिद्धि को प्राप्त होगा सब ओर से मुखादि अवयवों वाला अर्थात् मुखादि इन्द्रियों के काम सर्वत्र करता प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ अचल सर्वत्र स्थिर है। वही तुम लोगों की उपासना करने और जानने योग्य है।[4]

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा गया है जिस परमेश्वर से पहिले कुछ भी नहीं उत्पन्न हुआ जो सब और अच्छे प्रकार से वर्तमान है

---

1. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा .... यजु. 32.1
2. सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि .... यजु. 32.2
3. न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः .... यजु. 32.3
4. एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः .... यजु 32.4

जिसमें सब वस्तुओं के आधार सब लोक वर्तमान है वहीं सोलह कला वाला प्रजा के साथ सम्यक् रमण करता हुआ प्रजा का रक्षक अधिष्ठाता लीन तेजोमय बिजुली सूर्य, चन्द्रमारूप प्रकाशक ज्योतियों को संयुक्त करता है।[1]

इस प्रकार अगले मन्त्र में भी इसका उल्लेख देखने को मिलता है। जगदीश्वर ने तीव्र तेज वाले प्रकाशयुक्त सूर्यादि पदार्थ और भूमि दृढ़ की है, जिसने सुख को धारण किया जिसने सब दुःखों से रहित मोक्ष धारण किया जो मध्यवर्ती आकाश में वर्त्तमान लोक समूह का विविध मान करने वाला है उस सुखस्वरूप स्वयं प्रकाशमान सफल सुखदाता ईश्वर के लिये हम लोग प्रेम भक्ति से सेवा करें वा प्राप्त होवें।[2]

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा गया है कि जिस परमात्मा को प्राप्त अर्थात् उसके अधिकार में रहने वाले सबको धारण करने हारे चलायमान स्वगुणों से प्रशंसा करने योग्य सूर्य और पृथिवी लोक रक्षा आदि से सबको धारण करते हैं। जिस ईश्वर में सूर्य लोक अधिकतर उदय को प्राप्त हुआ जो महत् व्याप्त जल ही और जो कुछ भी आकाश है उसको भी विशेषकर प्रकाशित करता हुआ प्रकाशक होता है। ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास से हम सेवा करने वाले हो उसको तुम भी भजो।[3]

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा गया है कि जिसमें सब जगत् एक आश्रय वाला होता उसी बुद्धि वा गुप्त कारण में स्थित नित्य चेतन ब्रह्म को पण्डित विद्वान् जन ज्ञान दृष्टि से देखता है, उसमें यह सब जगत् प्रलय समय में सङ्गत होता और उत्पत्ति समय में पृथक् स्थूल रूप भी होता है। वह विविध प्रकार व्याप्त हुआ प्रजाओं में ठाढे सूतों में जैसे वस्त्र तथा आड़े सूतों में जैसे वस्त्र वैसे ओत प्रोत हो रहा है वही सबके उपासना करने योग्य है।[4]

इसी प्रकार अगले मन्त्र में भी कहा गया है, जो वेदवाणी को धारण करने वाला पण्डित बुद्धि में विशेष धारण किये नाश रहित मुक्ति के स्थान उस नित्य चेतन ब्रह्म का शीघ्र गुण कर्म स्वभावों के सहित उपदेश करे और जो इस अविनाशी ब्रह्म के ज्ञान में स्थित जानने योग्य तीन उत्पत्ति, स्थिति,

---

1. यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा .... यजु. 32.5
2. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा चेन स्व स्तभितं येन .... यजु. 32.7
3. यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तमानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने .... यजु 32.7
4. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। यजु. 32.8

प्रलय वा भूत भविष्यत् वर्तमान काल है। उनको जानता है वह अपने पिता वा सर्वरक्षक ईश्वर का ज्ञान देने वा अस्तित्व से रक्षक होवे।[1]

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा गया है जिस जीव और प्रकृति से विलक्षण आधाररूप जगदीश्वर में मोक्ष सुख को प्राप्त होते हुए विद्वान् लोग सर्वत्र अपनी इच्छापूर्वक विचरते हैं, जो सब लोक लोकान्तरों और जन्मस्थान नामों को जानता है वह परमात्मा हमारा भाई के तुल्य मान्य सहायक उत्पन्न करने हारा वही सब पदार्थों और कर्म फलों का विधान करने वाला है यह निश्चय करो।[2]

इसी प्रकार अगले मन्त्र में भी ईश्वर के बारे में ही कहा गया है कि आप जो प्राणियों को सब ओर से व्याप्त होके पृथिवी सूर्यादि लोकों को सब ओर से व्याप्त होके और ऊपर नीचे सब आग्नेयादि उपदिशा तथा पूर्वादि दिशाओं को सब ओर से व्याप्त हो के सत्य के स्वरूप वा अधिष्ठान को सन्मुखता से सम्यक् प्रवेश करता है प्रथम कल्पादि में उत्पन्न चार वेदरूप वाणी को पढ़े वा सम्यक् सेवन करके अपने शुद्ध स्वरूप वा अन्तःकरण से उसको प्राप्त कीजिए।[3]

इसी प्रकार से अगले मन्त्र में भी आता है कि जो परमेश्वर सूर्य और भूमि को शीघ्र प्राप्त होके सब ओर से देखता है जो देखने योग्य सृष्टिस्थ भूगोलों को शीघ्र प्राप्त होके सब ओर से प्रकट होता है जो पूर्वादि दिशाओं को शीघ्र प्राप्त होके सब ओर से विद्यमान है, जो सुख को शीघ्र ही प्राप्त होके सब ओर से देखता है जो सत्य के विस्तृत कारण को विविध प्रकार से बांध के उस सुख को देखता जिससे वह सुख हुआ और जिससे वह विज्ञान हुआ है उसको यथावत् जान के उपासना करो।[4]

इसी प्रकार की बात अगले मन्त्र में भी कही गयी है मैं सत्य क्रिया वाणी से जिस सभा ज्ञान, न्याय वा दण्ड के रक्षक आश्चर्य गुण कर्म स्वभाव वाले इन्द्रियो के मालिक जीव के कमनीय प्रीति के विषय प्रसन्न करने हारे वा प्रसन्नरूप परमात्मा की उपासना और सेवा करके सत्य असत्य का जिससे

---

1. प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्। यजु. 32.9
2. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यजु. 32.10
3. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। यजु. 32.11
4. परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः। यजु 32.12

सम्यक् विभाग किया जाय उस उत्तम बुद्धि को प्राप्त होऊँ, उस ईश्वर को सेवा करके इस बुद्धि को तुम लोग भी प्राप्त होओ।[1]

इसी प्रकार अगले मन्त्र में मनुष्यों को ईश्वर से बुद्धि की याचना करनी चाहिये इस विषय को कहते हैं। स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से विद्या के जताने हारे ईश्वर वा अध्यापक विद्वान् अनेकों विद्वान् और रक्षा करने हारे ज्ञानी लोग जिस बुद्धि या धन को प्राप्त होके सेवन करते हैं उस बुद्धि वा धन से मुझको आज सत्य वाणी से प्रशंसित बुद्धि वा धन वाला कीजिये।[2]

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा गया है कि जैसे अतिश्रेष्ठ परमेश्वर वा विद्वान् धर्मयुक्त क्रिया से मेरे लिये शुद्ध बुद्धि वा धन को देवे विद्या से प्रकाशित प्रजा का रक्षक बुद्धि को देवें परम ऐश्वर्यवान् बुद्धि को देवे और बलदाता बलवान् बुद्धि को देवे और सब संसार वा राज्य का धारण करने हारा ईश्वर वा विद्वान् मेरे लिये बुद्धि धन को देवे वैसा तुम लोगों को भी देवें।[3]

इस प्रकार अगले मन्त्र में कहा गया है कि हे परमेश्वर आपकी कृपा और हे विद्वान! तेरे पुरुषार्थ से सत्याचरणरूप क्रिया से मेरे ये वेद ईश्वर का विज्ञान वा इनका ज्ञाता पुरुष और राज्य धनुर्वेद विद्या और क्षत्रिय कुल भी ये दोनों राज्य की लक्ष्मी को प्राप्त हों जैसे विद्वान् लोग मेरे निमित्त अतिश्रेष्ठ शोभा वा लक्ष्मी को धारण करें। हे जिज्ञासु जन। तेरे लिये भी उस श्री के अर्थ हम लोग प्रयत्न करें।[4]

वैदिक काल के पश्चात् कालान्तर में पैराणिक साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। इस साहित्य में मूर्ति पूजा का प्रचलन मिलता है, वैदिक साहित्य में न तो मूर्ति पूजा का वर्णन है, और न तो अवतार या बहुदेवतावाद का वर्णन मिलता है।

जीवात्मा—यजुर्वेद में जीवात्मा का वर्णन प्राप्त होता है। यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में जीवात्मा एवं आत्मा शब्द का विवेचन मिलता है।

जीवाय नमः यजु. 2.32

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवींजीवदानुम्। यजु. 1.28

---

1. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। यजु0 32.13
2. यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। यजु0 32.14
3. मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः। यजु0 32.15
4. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
   मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा।। यजु0 32.16

आनऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। यजु. 3.54
जीवं व्रातं सचेमहि। वही 3.55
पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा यजु. 4.15
आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा। यजु. 7.82
संवसाथां स्वर्विदा समीचीऽ उरसात्मना। यजु. 11.31
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा। यजु. 12.85
शिवारुतस्य भेषजी तया नो मृडजीवसे। यजु. 16.49
म आत्मा च मे यजु. 18.3
मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन यजु. 18.29

यजुर्वेद में जीवात्मा के सम्बन्ध में अनेक ऐसे मन्त्र आते हैं जिसमें जीवात्मा प्रार्थना करता है, कि मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म में मुझे पुनः इन्द्रिय शरीर आदि सुन्दर प्राप्त हो।[1]

जिस प्रकार ऋग्वेद में तथा उपनिषदों में जीवात्मा को नित्य माना गया है उसी प्रकार यजुर्वेद में भी जीवात्मा को नित्य स्वीकार किया गया है।

सृष्टि संरचना–यजुर्वेद में सृष्टि संरचना के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र आये हैं। यजुर्वेद के 31 अध्याय पुरुष सूक्त में सृष्टि संरचना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में भी पुरुष सूक्त आया है इसलिए ऋग्वेदीय संस्कृति में उसकी विस्तृत व्याख्या की जा चुकी है। उस पुरुष सूक्त की पुनः व्याख्या करना पुनरावृत्ति करना होगा। यजुर्वेद में पशन उत्तर रूप में सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र आये हैं। जिनकी संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत है।

इस मन्त्र में कहा गया है, कि इस जगत् में कौन पूर्व अनादि समय में संचित होने वाली है क्या वह उत्पन्न स्वरूप है, कौन पिलपिली चिकनी है और कौन अवयवों को भीतर करने वाली है यह आप को पूछता हूँ।[2]

इस मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्र में बताया गया है। हे जिज्ञासु मनुष्य बिजुली पहिला संचय है महत्तत्त्व बड़ा उत्पत्ति स्वरूप है रक्षा करने वाली प्रकृति पिलपिली चिकनी है रात्रि के समान वर्त्तमान प्रलय सब अवयवों को निगलने वाला है यह तू जान।[3]

---

1. पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राण पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः– यजु0 4.15
2. का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किं स्विदासीद् बृहद्वयः। यजुः 23.53
3. द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽ आसीद् बृहद्वयः। यजु 23.54

फिर इसी प्रकार अगले मन्त्र में प्रश्न किया गया है कि हे विदुषी स्त्री! कौन बार-बार रूप का आवरण करने हारी कौन बार-बार यवादि अन्नों के अवयवों को निगलने वाली कौन बार-बार न्यारी-न्यारी चाल को प्राप्त होता और कौन जल के मार्ग को विशेष पसर के चलता है।[1]

इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र के प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है। मनुष्यों जन्मरहित प्रकृति विश्व के रूप को प्रलय समय में निगलने वाली से ही किये हुए खेती आदि के अवयवों का नाश करती है खरहा के तुल्य योग वेगयुक्त कृषि आदि में खरखराने वाला वायु अच्छे प्रकार कूद के चलने अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को शीघ्र प्राप्त होना और मेघ मार्ग में विविध प्रकार से जाता है इस को तुम जानो।[2]

फिर आगले मन्त्र में प्रश्न किया गया है कि हे विद्वान् संयोग से उत्पन्न हुए संसार रूप यज्ञ के कितने विशेषकर संसाररूप यज्ञ जिनमें स्थित हो वे कितने इसके जलादि साधन कितने देने लेने योग्य पदार्थ कितने प्रकार से ज्ञानादि के प्रकाशक पदार्थ समिधरूप कितने होता अर्थात् देने लेने आदि व्यवहार के कर्त्ता वसन्तादि प्रत्येक ऋतु में संगम करते हैं इस प्रकार इस विषय में विज्ञानों को आप से मैं पूछता हूँ।[3]

इसी प्रकार से अगले मन्त्र में पूछे गये प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है इस संगत जगत् के छः ऋतु विशेष स्थिति के आधार असंख्य जलादि उत्पत्ति के साधन असंख्य देने लेने योग्य वस्तु आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीन प्रसिद्ध ज्ञानादि की प्रकाशक विद्या पाँच प्राण मन और आत्मा सात देने लेने आदि व्यवहार के कर्त्ता प्रति वसन्तादि ऋतु में संगत होते हैं उस जगत् के विज्ञानों को तेरे लिये मैं कहता हूँ।[4]

फिर अगले मन्त्र में प्रश्न किया गया है सबके आधारभूत संसार के बन्धन के स्थान मध्यभाग को कौन जानता कौन सूर्य और पृथिवी तथा आकाश को जानता कौन बड़े सूर्यमण्डल के उपादान वा निमित्त कारण को जानता और जो जिससे उत्पन्न हुआ है उस चन्द्रमा के उत्पादक को और चन्द्रलोक को कौन जानता है इनका समाधान कीजिए।[5]

---

1. काऽईमरे पिशङ्गिला काई कुरुपिशङ्गिला। यजु. 23.55
2. अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला। यजु. 23.56
3. कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः। यजु 23.57
4. षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः। यजु. 23.58
5. कोऽअस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्। यजु. 23.59

फिर इसका उत्तर दिया गया है कि इस सबके अधिकरण जगत् के बन्धन, बन्धन के स्थान कारणरूप मध्यभाग परब्रह्म को मैं जानता हूँ यथा प्रकाशित और अप्रकाशित लोकसमूहों और आकाश को भी मैं जानता हूँ बड़े सूर्यलोक के उपादान तैजस कारण और निमित्तकारण ब्रह्म को मैं जानता हूँ जो चन्द्र उस परमात्मा को तथा चन्द्रमा को मैं जानता हूँ।[1]

1. वेदाहमस्य भुवनस्य नाभि वेद द्यावा पृथिवीऽअन्तरिक्षम्। यजु. 23.70

पंचम-अध्याय

अथर्ववेदीय संस्कृति

ऋग्वेद के पश्चात् अथर्ववेद सबसे बड़ा वेद है। जिस समय चारों वेदों का विषय विभाजन किया गया तो अथर्ववेद में विज्ञान काण्ड स्वीकार किया गया है। सृष्टि के जितने भी पदार्थ हैं, उनके उपयोग का वैज्ञानिक रहस्य क्या है, इसका रहस्य पूर्ण वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है। अथर्ववेद में केवल विज्ञान ही नहीं है अपितु मानव जीवन की जितनी भी समस्याएँ हैं उन सबका वर्णन अथवा उनका समाधान यहाँ उपलब्ध है।

समाज व्यवस्था–अथर्ववेद में एक सुन्दर समाज व्यवस्था का वर्णन मिलता है यथा–

वर्ण व्यवस्था–अथर्ववेद में तीन स्थानों पर चारों वर्णों का एक साथ उल्लेख है। एक स्थान पर ब्राह्मण को विराट् पुरुष का मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को मध्यभाग और शूद्र को पैर कहा गया है।[1] दूसरे स्थान पर चारों वर्णों का प्रिय होने की कामना की गई है।[2] तृतीय स्थान पर भी चारों वर्णों का प्रिय होने की प्रार्थना की गई है।[3] इन मन्त्रों में ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण देव और ब्रह्मन् शब्द है, क्षत्रिय के लिए राजन्य और राजन् शब्द, वैश्य के लिए वैश्य और अर्य शब्द तथा शूद्र के लिए शूद्र शब्द हैं।

ऋग्वेद और यजुर्वेद की तुलना करने से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र में ही चारों वर्णों का नाम मिलता है।[4] यजुर्वेद में चारों वर्णों का नाम कई बार आया है। अथर्ववेद में इनका अनेक बार वर्णन हुआ है।

---

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्। मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। अथर्व 19.6.6
2. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। अ. 19. 62.1.
3. प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च। अ. 19.32.8
4. ब्राह्मणो अस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। उरुतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। ऋ0 10।90।92

ब्राह्मण शब्द बहुत प्रयुक्त हुआ है। क्षत्रिय शब्द 10 बार, राजन्य शब्द 10 बार, वैश्य शब्द 2 बार और शूद्र शब्द 7 बार प्रयुक्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि वर्ण-व्यवस्था का क्रमिक विकास हुआ है। ऋग्वेद में वह सूक्ष्म रूप से प्राप्य है। अथर्व में वह विकसितरूप में है। अथर्व में चारों वर्णों के कर्मों आदि का भी विवेचन है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वेदों में वर्ण शब्द का प्रयोग रंग अर्थ में है ऋग्वेद में आर्य वर्ग और दास वर्ग का उल्लेख है[2] वर्ग शब्द का प्रयोग वर्ण-व्यवस्था अर्थ में नहीं है। जाति शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में सर्वथा नहीं हुआ है।

ब्राह्मण—अथर्ववेद के ब्रह्मगवी और ब्रह्मजाया सूक्तों से ब्राह्मण के विषय में महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।[3] ब्राह्मण देवबन्धु अर्थात् देवभक्त होता है।[4] ब्राह्मण अपने हृद्‌बल अर्थात् मनोबल से देवनिन्दकों को नष्ट करता है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तपस्या के द्वारा शक्ति-संचय करते हैं और उनमें शाप देने की शक्ति होती है। इस तपोबल या शाप से देव-द्रोहियों को नष्ट कर सकते हैं देवभक्त और देवद्रोही के लिए अथर्ववेद में क्रमशः देवबन्धु और देवपीयु शब्द मिलते हैं। अथर्ववेद में यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को धनुष रखने, शस्त्रास्त्र चलाने और इनके द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने वाला शूर वीर होता है। वह युद्धों में जाता है और वहाँ वीरगति प्राप्त करता है।[5] क्षत्रिय राष्ट्र का रक्षक है। राष्ट्र की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य है।[6] वह विद्वान् होता है और यज्ञ के द्वारा दीर्घायु प्राप्त करता है।[7]

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण को क्षत्रिय से ऊँचा स्थान दिया गया है अतएव कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मण को कष्ट न दे और उसकी गाय या धनादि का अपहरण न करें।[8]

---

1. आर्य वर्णम् आवत्। ऋ. 3.34.9
2. ब्रह्मगवी—अथर्व 5/18; 511, 12.5
3. यो ब्राह्मणं देवबन्धु.। अ. 5.15.131
4. तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून हृद्‌बलै.। अ. 5.18.8।
5. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। अ. 18.2.17
6. तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य। अ. 5.17.3
7. अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान् नाम गह्वात्यायुषे। अ. 6,76,5
8. अथर्व. 12, 5, 1, 73।

ब्रह्म और क्षत्र का समन्वयः

अथर्ववेद में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों मिलकर चलें और दोनों मिलकर राष्ट्र की उन्नति करें।[1] दोनों की शक्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण अग्नि है और क्षत्रिय सूर्य है।[2] ब्राह्मण ज्ञाननिष्ठ है, अतः वह बृहस्पति में प्रवेश करता है, क्षत्रिय शौर्यनिष्ठ है, अतः वह इन्द्र में प्रवेश करता है।[3] ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति का वैसा ही सम्बन्ध है, जैसे पृथिवी और द्युलोक का।[4] अर्थात् ये दोनों परस्पर संवद्ध और एक दूसरे के पूरक हैं। यजुर्वेद में भी ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से श्री की प्राप्ति का वर्णन है।[5]

वैश्यः

वैश्य का मुख्य कर्म वाणिज्य बताया गया है। अथर्ववेद में इन्द्र को वणिक् के रूप में प्रस्तुत करते हुए वाणिज्य उसका प्रमुख कर्म बताया गया है।[6] इस सूक्त में कहा गया है कि द्युलोक और पृथिवी के बीच में जितने भी मार्ग है, वह उसका उपयोग करता है और क्रय-विक्रय के द्वारा धन-संग्रह करता है।[7] क्रय और विक्रय के लिए क्रमशः प्रपण और प्रतिपण शब्दों का प्रयोग किया गया है। व्यापार में समुन्नति के लिए देवों की कृपा भी अभीष्ट है। साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि व्यापार में चरित्रमूलक उत्थान हो।[8] अथर्ववेद में वैश्य के लिए विश्व शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[9] काठक संहिता और कौशिकसूत्र के अनुसार वैश्य का प्रमुख कार्य कृषि भी था। उसके पास भूमि होती थी और वह पशुओं को हाँकने के लिए अष्ट्रा (पैनी) रखता था।[10] ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्य की सामाजिक स्थिति का उल्लेख है कि वह

---

1. अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन।। अ. 7, 78, 2
2. अयं वा उ अग्निब्रह्म असावादित्यः क्षत्रम्। अ. 15-10-61
3. अतो वै वृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशद् इन्द्रं क्षत्रम्। अ. 15.10-5
4. अ. 15, 10, 6
5. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम। यजु. 3.2-16
6. इन्दमहं वणिजं चोदयामि। अ. 3, 15, 1
7. यथां क्रीत्वा धनमाहराणि। अ. 3, 15, 2
8. प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपण0। शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च। अ. 3, 15, 5
9. अ. 6, 13, 1
10. काठक सं. 37.1। अष्ट्रामिति वैश्यस्य। कौ0 सूत्र 80, 50

'अन्यस्य बलिकृत' दूसरों को कर देता था, 'अन्यस्याद्यः' दूसरों का उपजीव्य या भोजन था, यथाकामज्येयः' आवश्यकतानुसार उसे उखाड़ा जा सकता था।[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय वैश्य को विशेष आदर नहीं प्राप्त था।

यजुर्वेद में चारों वर्णों के कर्तव्यों का सुन्दर वर्णन किया गया है।[2] इसमें बताया गया है कि ब्राह्मण का काम ज्ञानोपार्जन और ज्ञान-प्रसार है, क्षत्रिय का राष्ट्र-सुरक्षा, वैश्य का मरुत् अर्थात् वायु के तुल्य राष्ट्र को जीवन प्रदान करना और राष्ट्र की श्री-वृद्धि करना, शूद्र का तप अर्थात् शारीरिक श्रम और सेवा।

शूद्रः—ऋग्वेद में पुरुष सूक्त में केवल एक बार शूद्र का उल्लेख आया है[3] अथर्ववेद में शूद्र शब्द का प्रयोग सात बार हुआ है।[4] शूद्रों का काम सेवावृत्ति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों को आर्य कहा गया है और शूद्र को हीन वृत्ति के कारण पृथक् कहा गया है।[5] अन्य वर्णों के तुल्य शूद्र का भी प्रिय होने का दो बार उल्लेख है।[6] ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि समाज में उसकी स्थिति दयनीय थी।[7] शूद्र को 'पर-प्रेष्य' अर्थात् दूसरों का सेवक 'कामेत्थाप्य' अर्थात् इच्छानुसार उपयोग में लाने योग्य और 'यथाकामबध्य' अर्थात् इच्छानुसार दण्डनीय कहा गया है।

पंच जनः—ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर पंच जनो का उल्लेख है। इन पंच जनो को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। पञ्चमानवाः, पञ्चमनुषाः, पञ्च जनाः, पञ्च कृष्टयः, पञ्च क्षितयः और पञ्च चर्षणयः आदि।[8] यास्क ने औपमन्यव का मत दिया है कि चार वर्ण और निषाद ये पंच जन हैं।[9] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ये पाँच हैं—देव, मनुष्य, गन्धर्व-अप्सरस्, सर्प और पितर।[10] यास्क ने दूसरा मत दिया है कि ये पाँच

1. एतरेय व्रा. 7.29
2. ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्म्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्। यजु 30, 5
3. ऋ. 10, 90, 12
4. अथर्व. 4.20.4, 19.6.6, 19.32.8
5. यश्च शूद्र उतार्यः। अ. 4.20.4
6. प्रियं.......शूद्राय। अ. 19.32.8, प्रियं.......शूद्र उत्तार्य.। अ. 19.62.1,
7. ऐतरेय ब्रा. 7.19.7
8. पञ्चमानवाः। अथर्व. 3.21.5, 3.24.3, पञ्चमानुषा। ऋ. 8.9.2, पञ्च कृष्टयः। अ. 3. 24.3 पञ्चजनाः। ऋ. 3.37.9,
9. चत्वारों वर्णा विषादः पञ्च इति औपमन्यवः। निक्तत 3.8
10. ऐतरेय. ब्रा. 3.31.5

हैं–गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस।[1] सायण पंचजन में चार वर्ण और निषाद के समर्थक हैं। रोठ और गेल्डनर ने पंचजन से पृथिवी के सभी मनुष्यों का अर्थ लिया है। आर्यों को मध्य में रख कर चारों दिशाओं के चार जनों को लेकर पंचजन बनते हैं।[2] त्सिमर ने उक्त मत का खण्डन किया है और पंचजन ये माने हैं– तुर्वश, यदु, अनु, दुह्य और पुरु। ग्रिफिथ, मैकडानल्ड आदि ने इस मत को माना है।[3] इनके मत के अनुसार सिन्धु नदी के इधर रहने वाली ये पाँच जातियाँ या जन थे। ऋग्वेद का कथन है कि–'सारे पंचजन मेरे यज्ञ में आवें, इससे ज्ञात होता है कि पंचजन में सभी आर्य जनों का समावेश है।[4] अतः पंचजन में चारों वर्णों और निषाद का संग्रह उचित है। अथर्ववेद में पंचजनों की समृद्धि की कामना की गई है।[5]

अथर्ववेद में दर्शनिक तत्त्व

परमतत्त्व–जो (परमेश्वर) भूतकाल और भविष्यकाल का और जो सब (जगत) का अधिष्ठाता है और सुख जिसका केवल स्वरूप है, उस ज्येष्ठ (सबसे बड़े वा सबसे श्रेष्ठ) ब्रह्म (महान् परमेश्वर) को नमस्कार है।[6] स्कम्भ (धारण करने वाले परमात्मा) करके विविध प्रकार थामे गये यह दोनों सूर्य और भूमि स्थित है। स्कम्भ (परमेश्वर) में यह सब अत्मा वाला (जगत्) वर्तमान हैं जो कुछ श्वास लेता हुआ (चैतन्य) और जो आँखें मूँदे हुये (जड़) है।[7] तीनों (ऊँची, नीची और मध्यम) ही विविध प्रकार मापने वाला (वा विमान रूप आधार, परमेश्वर) खड़ा हुआ और दुःख हरने वाले (हरि परमात्मा) दिशाओं में सब ओर प्रवेश किया।[8] बारह प्रधि (पुट्टी अर्थात् महीने) एक पहिया (वर्ष)

---

1. निरुक्त 3.8
2. डा. सूर्यकान्तः वैदिक कोष पृ. 255
3. मैक. संस्कृत लिटरेचर पृ. 154
4. पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम। ऋ. 10.53.4
5. पञ्च कृष्टयः। ... इह स्फातिं समावहान। अ. 32.24.3।
6. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
   स्व र्यस्य च केवलं तम्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। 10.8.1
7. स्कम्भेनेमे विष्टामिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः
   स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राण निमिषच्च यत्।2
8. तिस्रो ह प्रजा अत्यांयमांयन् न्यान्या अर्कमर्मितोऽ विशन्त।
   बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश।।3

तीन नाभि के अङ्ग (ग्रीष्म, वर्षा और शीत) है, किसने ही इस को जाना है। उस (पहिये, वर्ष) में तीन सौ और साठ शङ्कु और खीले (बड़े छोटे दिन) लगे हुये हैं, जो टेड़े होकर विचल नहीं होते।[1] हे ऐश्वर्यवान् (विद्वान्) इस (बात) को विज्ञान पूर्वक जान (कि) छह यम (नियम से चलने चलाने वाले पाँच ज्ञानेद्रिय और एक मन) और एक (जीवात्मा) (अपने क्रमानुसार) अकेला उत्पन्न होने वाला है। उस (जीवात्मा) में ही बन्धुपन को वे (छह इद्रिय) प्राप्त करते हैं, जो (जीवात्मा) इन (छह) के बीच एक अकेला उत्पन्न होने वाला है।[2] प्रकट स्तुति योग्य प्रसिद्ध पूजनीय पाने योग्य अविनाशी ब्रह्म हृदय में दृढ़ स्थापित है। उसी (ब्रह्म) में जमा हुआ यह सब चेष्टा करता हुआ और श्वास लेता हुआ प्रत्यक्ष स्थित है।[3] एक चक्र वाला और एक नेमी (नियम) वाला सहस्त्रों प्रकार से व्याप्ति वाला (ब्रह्म) भली भांति आगे और निश्चय करके पीछे वर्तमान है। उसमें अधि (खण्ड) से सब अस्तित्व (जगत्) को उत्पन्न किया और जो इस (ब्रह्म) का (दूसरा कारण रूप आधा है। वह कहाँ रहा)[4] पाँच (पृथिवी आदि तत्व) को ले चलने वाला (परमेश्वर) इन (सब लोकों) के आगे आगे चलता है प्रश्न करने योग्य पदार्थ संयुक्त होकर (उसके) पीछे चल चलते हैं। उस परमेश्वर का जाना (निकट रहना, विद्वानों करके) देखा गया है और जाना (दूर होना) नहीं सर्वोत्तम परब्रह्म (विद्वानों से) अधिक निकट और (अविद्वान् से) अधिक दूर है।[5] इसी प्रकार आगे स्पष्ट है कि तिरछे बिल (छिद्र) वाला ऊपर को बन्धन वाला पात्र (अर्थात् मस्तक) है, उस (पात्र) में सम्पूर्ण यश (व्याप्ति वाला ज्ञान सामर्थ्य) स्थापित है उस (पात्र) में सात ऋषि (ज्ञान कारण व मार्गदर्शक इन्द्रियाँ) मिलकर बैठते हैं, जो इस बड़े (शरीर) के रक्षक हुए हैं।[6] जो पहिले से और जो पीछे से संयुक्त हैं, जो सब ओर से

---

1. अथर्ववेद काण्ड 10, सूक्त।8
2. इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः।
   तस्मिन् हापित्वभिच्छन्ते य एषामेक एकजः। 10.8.5
3. आविः सन्निहि<u>तं</u> गु<u>हा</u> <u>ज</u>रन्नाम <u>म</u>हत् <u>प</u>दम्।
   तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम्। 10.8.6
4. एक चक्रं वर्वत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र धुरो नि पश्चा।
   अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्वतद् बभूव। 10.8.7
5. पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
   अयातमस्यददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः। 10.8.8
6. तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अथर्व. 10 काण्ड, सूक्त 8, म. 9

जो सब काल से संयुक्त है। जिसे (वाणी) करके यज्ञ (पूजनीय व्यवहार) आगे (तायते) फैलता है उस (वाणी) को तुझसे पूछता हूँ वाणियों में से वह कौन सी (वाणी) है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि जो कुछ चेष्टा करता है उड़ता है और जो कुछ ठहरता है श्वास लेता हुआ, न श्वास लेता हुआ, और जो कुछ आँख मूदें हुए विद्यमान हैं सबको रूप देने वाले विस्तृत (ब्रह्म) ने (उस सबको और) पृथिवी को धारण किया था, वह (ब्रह्म) शक्तिमान् होकर एक ही रहता है।[2] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि अन्त रहित बहुत प्रकार फैला हुआ (ब्रह्म अर्थात्) मोक्ष सुख का स्वामी (परमात्मा) परस्पर सीमा युक्त उन (दोनों अर्थात्) अन्तरहित (कारण) और अन्तवाले (कार्य जगत्) को अलग-अलग करता हुआ और इस (ब्रह्माण्ड) का भूतकाल और भविष्यत् काल को जानता हुआ विचरता है।[3] आगे स्पष्ट किया है कि प्रजा (जब जगत्) का पालने वाला गर्भ (गर्भ रूप आत्मा) के भीतर विचरता है और न दीखता हुआ वह बहुत प्रकार विशेषकर के प्रकट होता है। उसने आधे खण्ड से सब अस्तित्व (जगत्) को उत्पन्न किया, और जो इस (ब्रह्म) का (दूसरा कारणरूप) आधा है, वह कौन सा चिह्न है।[4] आगे बतलाते हैं कि घड़े से जल को ऊपर भरते हुए जल लाने वाले को जैसे (उस परमेश्वर को) सब लोग आँख से देखते हैं मन से नहीं जानते हैं[5] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि– बड़ा पूजनीय (ब्रह्म) संसार के बीच दूर में (वर्तमान होकर) पूर्ण (पूरे विद्वान्) के साथ वसता है, और हीन (अधूरे पुरुष) के साथ दूर देश में त्याग जाता है, उसको राज्य धारण करने वाले लोग सम्मान धारण करते हैं।[6] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–जिससे सूर्य उदय होता है। उसे ही ज्येष्ठ (सबसे

---

1. या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
   यया यज्ञः प्राङ् तायते................।। अथर्वः काण्ड 10 सू. 8 म. 10
2. यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत्।
   तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् ....।। अथर्व. काण्ड 10 सू. 8 म. 11
3. अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते। ते नाकपालश्चरति...........।। अथर्व. का. 10 सू. 8 म. 12
4. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते। अर्धेन दिश्वं भुवनं जजान....। अथर्व. का. 10 सू. 8, म. 13
5. ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्। पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः।। अथर्व. का. 10 सू. 8 म. 14
6. अथर्व.–काण्ड-10 सूक्त 8 म. 15

बड़ा) मैं मानता हूँ उससे कोई भी बढ़ कर नहीं हैं[1] जो (विद्वान्) अवर (इस काल वा लोक) में, मध्य में अथवा पुराने काल में (वर्तमान) वेद के जानने वाले (परमात्मा) को सब ओर से बिखानते हैं। वे सब (विद्वान्, उस) अखण्ड रहित (परमात्मा) को ही अग्नि (प्रकाश स्वरूप) और दूसरा (दूसरे नाम वाला) तीनों (कर्म, उपासना और ज्ञान) को स्वीकार करने वाला (हँसम्) हँस (सर्वव्यापक वा सर्वज्ञानी) निरन्तर बताते हैं।[2] इसीप्रकार आगे बतलाया है कि मोक्षसुख को प्राप्त हुए इस (सर्वत्र वर्तमान) हरि (दुख हरने वाला) हँस (सर्वव्यापक परमेश्वर) के दोनों पक्ष (ग्रहण करने योग्य कार्य कारण रूप व्यवहार) सहस्त्रों दिनों वाले (अनन्त देश काल) में फैले हुए हैं। वह (परमेश्वर) सब दिव्यगुणों को हृदय में लेकर सब लोकों को निरन्तर देखता हुआ चलता रहता है।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि वह सत्य से ऊँचा होकर प्रतापी होता है, वेद ज्ञान से अवर होकर विविध प्रकार देखता है प्राण (आत्मबल) के साथ आड़ा तिरछा होकर अच्छी रीति से जीता है जिसके भीतर ज्येष्ठ (सबसे बड़ा ब्रह्म) निरन्तर ठहरा हुआ है।[4] आगे बतलाया है कि जो (पुरुष) निश्चय करके उन दोनों अरणियों (रगड़कर अग्नि निकालने की दो लकड़ियों) को जान लेवे जिन दोनों से अग्नि मथ कर निकाला जाता है। वह विद्वान् ज्येष्ठ (सबसे बड़ा ब्रह्म) को समझ लेगा और वह बड़े ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञान) को जानेगा।[5] आगे स्पष्ट करते हुआ कहा है कि–विभाग रहित (परमात्मा) पहिले समर्थ हुआ उसने पहिले मोक्ष सुख सब ओर से धारण किया। चारों दिशाओं में स्थिति वा गति वाले (उस परमेश्वर) ने भोगने योग्य होकर सब सुख वा ऐश्वर्य को ग्रहण किया।[6] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–वह (सुखों से) अनुभव योग्य होगा और भी बहुत अन्न भोगेगा जो अति उत्तम गुण वाले

---

1. अथर्ववेद–काण्ड 10, सूक्त 8, मन्त्र 16 वाँ।
2. ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराण वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति। आदित्यमेव.....।। अथर्व.–का. 10 सू. 8 मन्त्र 17
3. सहस्राह्वयं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्। स देवान्त्सर्वानु......।। अथर्व. का. 10, सू. 8, म. 18
4. सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति। प्राणेन.......।। अथर्व.–का. 10, सू. 8. म. 19
5. यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु। स विद्वान् ज्येष्ठ मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्।। अथर्व.–का. 10 सू. 8. म.–20
6. अपादग्रे समभवत् सो अग्ने स्वराभरत्। चतुष्पाद्.....।। अथर्व.–का. 10 सू. 8. म. 21

सनातन (नित्य स्थायी) देव (स्तुतियोग्य परमेश्वर) को पूजेगा।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि–इसको सनातन (नित्य स्थायी परमात्मा) वे विद्वान् कहते हैं, और वह आज (प्रतिदिन) नित्य नवा होता जावे दिन और रात्रि दोनों एक दूसरे के दो रूपों में से उत्पन्न होते हैं।[2] सौ सहस्र दस सहस्र दस करोड़ वे गिनती धन इस (परमात्मा) में रखा हुआ है। इस सब ओर देखते हुए (परमात्मा) के उस (धन) को निश्चय करके वे सब (प्राणी) पाते हैं। उस से यह देव (स्तुति योग्य परमात्मा) अब रुचता है (प्रिय लगता है।) अर्थात् वह परमेश्वर सबको सदा प्रिय लगता है।[3] एक वस्तु बाल से सूक्ष्म है, और एक वस्तु नहीं भी दीखती है। उससे अधिक चिपटने वाला वह देवता (परमेश्वर) मेरा प्रिय है।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–यह कल्याणी (आनन्दकारिणी, प्रकृति जगत् की सामग्री) अजर, अमर होकर मरण धर्मी के घर में है। जिसके लिये (जिस ईश्वर की आज्ञा मानने के लिए) वह सिद्ध की गई है, वह (परमेश्वर, उस प्रकृति में) सोता है, जिसने (उस प्रकृति को) सिद्ध किया था, वह (परमेश्वर) स्तुति योग्य हुआ।[5] तू स्त्री तू पुरुष, तू कुमार (लड़का) अथवा कुमारी (लड़की) है। तू स्तुति किया गया (होकर) दण्ड (दमन सामर्थ्य) से चलता है, तू सब ओर मुख वाला (बड़ा चतुर होकर) प्रसिद्ध होता है।[6] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि–यह (जीवात्मा) इन (प्राणियों) को अथवा पिता अथवा इनका पुत्र है अथवा इनका ज्येष्ठ भ्राता (सबसे बड़ा भाई) अथवा कनिष्ठ भ्राता (सबसे छोटा भाई) एक ही देव (सर्व

---

1. भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु। यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्।। अथर्व.–का. 10 सू. 8. म. 22
2. सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
   अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः।। अथर्व.–का 10 सू. 8. म. 23
3. शतं सहस्रमयुतं न्यर्वुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्।
   तदस्य ध्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत्।। अर्थव. का. 10 सू. 8. म. 24
4. बालादेकभणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
   ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया।। 10.8.25
5. इयं कल्याण्य जरा मर्त्यस्याभृता गृहे।
   यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः।। 10.8.26
6. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
   त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः। 10.8.27

व्यापक परमात्मा) ज्ञान में प्रविष्ट होकर सबसे पहिले प्रसिद्ध हुआ वही गर्भ के भीतर (प्राणियों के अन्तःकरण में) व्यापक है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–पूर्ण (ब्रह्म) से सम्पूर्ण (जगत्) उदय होता है। पूर्ण (ब्रह्म) करके संपूर्ण (जगत्) सींचा जाता है और भी उस (कारण) को आज हम जानें जिस कारण से वह (सम्पूर्ण जगत्) सब प्रकार सींचा जाता है अर्थात् परमब्रह्म की उपासना सब लोग करें।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–यह (शक्ति अर्थात् परमेश्वर) सदा से ही भक्तों की नेत्री (आगे बढ़ाने वाली) प्रसिद्ध है, इस पुरानी ने सब (जगत्) को घेर लिया है प्रभातवेलाओं को प्रकाशित करने वाली वह बड़ी देवी (दिव्य शक्ति) एक एक पलक मारने से (सब को) देखती रहती है।[3] आगे बतलाया है कि रक्षक ही नाम देवता (दिव्य शक्ति, परमात्मा) सत्यज्ञान से घिर हुआ स्थित है। उस (देवता) के रूप (स्वभाव) से यह रहे वृक्ष दाख (समान फलों) की माला वाले हैं अर्थात् उसी की दया से यह हरे-हरे वृक्ष आदि प्राणियों को फल आदि से सुखदायक होते हैं।[4] आगे कहते हैं कि–(जो विद्वान) समीप में वर्तमान (देव परमात्मा) को नहीं छोड़ता है और समीप में वर्तमान जैसे (उसको) देखता है। देव (दिव्यगुण वाले परमात्मा) की बुद्धिमत्ता देख वह (विद्वान्) न तो मरता और न जीर्ण (निर्बल) होता है[5]

अपूर्व (कारण रहित परमात्मा करके) भेजी हुई वे वाचायें जैसे कर तैसा बोलती हैं। बोलती हुई वे जहाँ पहुँचती हैं। उसकी बड़ा ब्रह्मज्ञान वे (विद्वान) बताते हैं।[6] इस प्रकार आगे बतलाया है कि–जिस (तन्माताओं के विकास) वे दिव्य लोक वा पदार्थ और मनुष्य भी आश्रित है। जैसे (पहिये की)

---

1. उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत्त वा कनिष्ठः।
   एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।। अथर्व. 10.8.28
2. पूर्णात् पूर्णमुद्चति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
   उतो तदद्य विद्याम यतस्तत परिषिच्यते। अथर्व 10.8.29
3. एषां सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं वभूव।
   मही देव्यु ।षसो विभाती सैकेनैकेन भिषता विचष्टे। अथर्व. 10.8.30
4. अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ति परीवृता।
   तस्या, रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरित स्रजः। अथर्व 10.8.31
5. अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
   देवस्य पश्य काव्यं न भमार न जीर्यति।। अथर्व. 10.8.32
6. अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
   वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्। अथर्व. 10.8.33

नाभि में अरे (लगे होते हैं) (हे विद्वान्) तुझसे व्यापक तन्मात्राओं के पुष्प (फूल विकास) को पूछता हूँ जिसमें वह ब्रह्म बुद्धि के साथ स्थित है।[1]

जिन (संयोग वियोग आदि दिव्य गुणों) करके प्रेरा गया वायु चलता रहता है, जो दिव्य गुण आपस में मिली हुई पाँच (पृथिवी, जल, वायु और आकाश तत्वों से सम्बन्ध वाली दिशाओं का दान करते हैं। जिन देवों (संयोग, वियोग आदि द्विव्य गुणों) ने आहुति (दान, क्रिया, उपकार) को अतिशय करके माना (स्वीकार किया था, वे प्रजाओं के नेता (संचालक दिव्य गुण कौन से थे।[2] इन (दिव्य पदार्थों) में से एक (जैसी अग्नि) इस पृथिवी को ढंकता है। एक (जैसे वायु) ने इनमें जो विविध प्रकार धारण करने वाला है। (जैसे वायु) वह प्रकाश को देता है। कोई एक (दिव्य पदार्थ) सब दिशाओं में रखा करते हैं।[3] जो (विवेकी फैले हुये सूत्र (तागे समान कारण) को जान लेवे, जिस सूत्र वा कारण में यह प्रजायें (कार्यरूप) ओत-प्रोत हैं। जो (विवेकी) सूत्रें के सूत्र (कारण) को जानता है जो बड़ा ब्राह्मण है।[4] जब सूर्य और पृथ्वी के बीच दहकता हुआ सबका जलाने वाला अग्नि प्राप्त हुआ। जहाँ (सूर्य और पृथिवी के बीच) एक (सूर्य) को पति (रक्षक वा स्वामी) रखने वाली (दिशायें) दूर तक ठहरी थीं, तब आकाश में चलने वाला (वायु या सूत्रात्मा कहाँ निश्चय कर के था।[5] आगे भी कहा है कि–आकाश में चलने वाला (वायु वा सूत्रात्मा) अन्तरिक्ष (वा तन्मात्राओं) में प्रवेश किये हुये था दिव्य पदार्थ समुद्रों में (अगम्य कारणों में प्रवेश किये हुये थे संसार का बड़ा ही विविध प्रकार मापने वाला (वा विमान रूप आधार परमेश्वर) खड़ा था और शुद्धि करने वाले (परमेश्वर) ने सब दिशाओं में प्रवेश किया था।[6] उत्तम गुण से ही अमृत (मोक्ष सुख) में

---

1. यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारानाभाविवश्रिताः।
   अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्।। अथर्व 10.8.34
2. येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः।
   य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे तआसन।। अथर्व 10.8.35
3. इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव।
   दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रतिरक्षन्त्येके।। अथर्व 10.8.36
4. यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
   सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् सविद्यात् व्राह्मणं महत्।। अथर्व 10.8.37
5. यदन्तरा धावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः।
   यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्नमात रिश्वा तदानीम्।। अथर्व 10.8.39
6. अप्स्वासीन्मातरिश्वाप्रविष्टाः देवाः सलिलान्यासन्।
   वृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आविवेश।। अथर्व 10.8.40

अधिकार करके वह परमेश्वर गायत्री (स्तुति की और, विविध प्रकार आगे बढ़ा जो (विद्वान्) मोक्ष ज्ञान (के अभ्यास) से मोक्ष ज्ञान की यथावत् जानते हैं। वे मानते हैं कि अजन्मा तब कहाँ देखा गया।[1] निवासों (पृथिवी आदि लोकों) का ठहराने वाला और चलाने वाला–सत्य धर्म वाला (परमेश्वर) धनों के लिये (हमारे) संग्राम में प्रकाशमान (परमेश्वर) चलाने वाले सूर्य के समान ओर वायु के समान स्थित हुआ।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया भी गया है कि– (सात शिर के और दो नीचे छिद्र) नव द्वार वाला पुण्य का साधन (यह शरीर) तीन (रज, तम और सत्व) गुणों से ढका हुआ है। उस (शरीर) में जीवात्मा का स्वामी जो पूजनीय (ब्रह्म) है उसको ही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।[3] निष्काम धीर (धैर्यवान) अमर अपने आप वर्तमान वा उत्पन्न रस (वीर्य वा पराक्रम) से तृप्त अर्थात् परिपूर्ण (परमात्मा) कहीं से भी न्यून नहीं है। उस ही धीर (बुद्धिमान्) अजर (अक्षय) युवा (महाबली) आत्मा (परमात्मा) को जानता हुआ पुरुष मृत्यु (मरण वा दुख) से नहीं डरा है।[4]

प्राण तत्व परम तत्व है:–प्राण (जीवनदाता परमेश्वर) को नमस्कार है, जिसके वश में सब यह (जगत्) है। सदा वर्तमान जो सबका ईश्वर है और जिसके भीतर सब अटल ठहरा है।[5] हे प्राण! (जीवनदाता परमेश्वर) दहाड़ने के हित के लिये तुझे नमस्कार, बादल की गर्जन के हित के लिए तुझे नमस्कार। हे प्राण (परमेश्वर) वर्षा के हित के लिये तुझे नमस्कार है।[6]

जब प्राण (जीवनदाता परमेश्वर) बादल की गर्जन द्वारा ओषधियों (अन्न आदि) को बल से पुकारता है वे अच्छे प्रकार गर्भवती होती हैं और

1. उतरेणेव गायत्रीममृतेऽधि विचक्रमे।
   साम्ना ये साम संविदुरजस्तद् ददृशे क्व।। 10.8.41
2. निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा।
   इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्।। अथ., काण्ड दस, सू. 8 मं.–42
3. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
   तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।। अ., काण्ड 10, सू. 8, म.–43
4. अकामो धीरो अमृतः................।। अथ0, काण्ड व., सू–8, मं.–44।
5. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
   यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।। अथ, काण्ड 11, सूक्त–4, मं.–1
   अरा इव रथमाथौ प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्।
   ऋची यजूंषि सामानि यज्ञः शत्रं बह्म च।। अथ., काण्ड–11, सूक्त 4, मं. 1,
6. नमस्ते प्राण क्रन्दाय...............।। अथ., काण्ड–11, सूक्त–4, मं.–2

गर्भों को पुष्ट करती हैं। फिर भी बहुत सी होकर उत्पन्न हो जाती है।[1] जब प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) ऋतु काल आने पर ओषधियों (अन्न आदि) को बल से पुकारता है। तब सब (जगत्) बड़ा आनन्द मानता है। जो कुछ भी पर है।[2] जब (जीवनदाता परमेश्वर) में वर्षा द्वारा विशाल पृथिवी को सींच दिया तब जीव जन्तु बड़ा हर्ष मनाते हैं। हमारी बढ़ती अवश्य होगी।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि–सींची हुई ओषधियां (अन्न आदि) प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) से मिलकर बोलीं–हमारी आयु को निश्चय करके तूने बढ़ाया है, हम सबको सुगन्धित तू ने बनाया है।[4] आगे बतलाया है कि–आते हुए (पुरुष) के हित के लिए तुझे नमस्कार हो, जाते हुए हित के लिये नमस्कार हो। हे प्राण! (जीवनदाता परमेश्वर) खड़े होते हुये हित के लिये नमस्कार और बैठे हुये के हित के लिये तुझे नमस्कार हो।[5]

हे प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) श्वास लेते हुये (पुरुष) के हित के लिये तुझे नमस्कार प्रश्वास लेते हुए के हित के लिये नमस्कार होवे। बाहिर जाते हुये (पुरुष) के हित के लिये तुझे नमस्कार सम्मुख जाते हुय हित के लिये तुझे नमस्कार सबके हित के लिये तुझे नमस्कार सब के हित के लिये तुझे यह नमस्कार हो।[6] हे प्राण! (जीवन दाता परमेश्वर) तेरी जो प्रीति करने वाली और जो हे प्राण तेरी अधिक प्रीति करने वाली उपकार क्रिया है और भी जो तेरा भय निवारक कर्म है। उसका हमारे जीवन के लिये दान कर।[7] हे प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) सब उत्पन्न प्राणियों को निरंतर ढ़क लेता है। जैसे–पिता प्रिय पुत्र को (वस्त्रों आदि से) प्राण परमेश्वर ही सब का ईश्वर है। जो कुछ भी श्वास लेता है और जो नहीं श्वास लेता है।[8] प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) मृत्यु और प्राण जीवन को कष्ट देने वाला (ज्वर आदि रोग)

---

1. यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
   प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो, वह्वीर्वि जायन्ते।।3।। अ.–काण्ड–11, सू–4, मं.–3,
2. यत प्राण..................।। अथ,–काण्ड–11, सूक्त–4, मं.–4
3. यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
   पशवस्ततत्प्रमोदन्ते महोवै नो भविष्यति।। अथ., काण्ड–11, सूक्त–4, मं. 5
4. अथ.। काण्ड–11, सू. 4, मंत्र–7,
5. अथ काण्ड।। सू.–4, मंत्र–8,
6. नमस्ते प्राण ....।। अथ, काण्ड–11, सूं.–4, मं.–8
7. याते प्राण ....।। अथ, काण्ड–11, सूं.–4, मं.–9,
8. प्राणः प्रजा अनु ....।। अथ, काण्ड–11, सूं.–4, मं.–10,

है। प्राण की विद्वान् लोग उपासना करते हैं। प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) है। सत्यवादी को उत्तम लोक पर स्थापित कर सकता है।[1] प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) विराट् (विविध प्रकार ईश्वर) और प्राण (परमेश्वर) मार्ग पर दर्शिका शक्ति है। प्राण (परमेश्वर) की सब उपासना करते हैं। प्राण (परमेश्वर ही प्रेरणा करने वाला और आनन्द दाता है। प्राण (परमेश्वर) को प्रजा (सृष्टि पालक) वे विद्वान् कहते हैं।[2] प्राण और अपान (श्वास प्रश्वास) चावल और जौ के समान पुष्टि कारक हैं। प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) जीवन का चलाने वाला कहा जाता है। जौ में भी प्राण (श्वास वायु) रखा हुआ है। अपान (प्रश्वास वायु) चावल कहा जाता है।[3] पुरुष गर्भ के भीतर श्वास लेता है और प्रश्वास (वाहिर को श्वास) लेता है। जब तू हे प्राण। जीवनदात्री परमेश्वर तृप्त करता है। तब वह (पुरुष) फिर उत्पन्न होता है।[4]

प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) को आकाश में व्यापक (सूत्रात्मा वायु के समान) वे बताते हैं। वायु भी (जीवन दाता परमेश्वर) कहा जाता है। प्राण (परमेश्वर) में ही बीता हुआ और होनहार वस्तु और प्राण में सब टिका हुआ है।[5] निश्चल स्वभाव वाले महर्षियों की प्रकाशित की हुई और विज्ञानियों की बताई हुई देव से उत्पन्न और मनुष्यों से उत्पन्न औषधियां उत्पन्न हो जाती हैं। जब तू हे प्राण (जीवनदाता परमेश्वर) उनको तृप्त करता है।[6]

जब प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) ने वर्षा द्वारा विशाल पृथिवी को–सींच दिया। तब ही अन्न आदि पदार्थ और जो कोई जड़ी बूटी है वे भी बहुत उत्पन्न होती हैं।[7] हे प्राण (जीवन दाता परमेश्वर) जो (पुरुष) तेरे इस (महत्त्व) को जानता है। और जिस (पुरुष) में तू दृढ़ ठहरा हुआ है। सब (प्राणी) उस उत्तम लोक (स्थान) पर (वर्तमान) उस (पुरुष) के लिये बलि (उपहार) लावें।[8]

---

1. प्राणो मृत्यु .... ।। अथ, काण्ड–11, सूं.–4, मं.–11,
2. प्राणो विराट् .... ।। अथ, काण्ड–11, सूं.–4, मं.–12
3. प्राणापानौ .... ।। अथ, काण्ड–11, सूं.–4, मं.–13
4. अपानति .... ।। अथ, काण्ड–11, सूं.–4, मं.–14
5. प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
   प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। अथ., काण्ड–11, सू.–4, मं.–15
6. आथर्वणीराङ्गिरसीदैवीर्मनुष्यजाउत।
   ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि।। अथ., काण्ड–11, सू.–4, मं.–16
7. यदा प्राणो .... ।। अथ, काण्ड–11, सूक्त–4, मं.सं.–17
8. यस्ते प्रणेदं .... ।। अथ, काण्ड–11, सूक्त–4, मं.सं.–18

हे प्राण (परमेश्वर) जैसे तेरे लिये यह सब प्रजायें भक्ति रूप उपहार देने वाली हैं। वैसे ही उस (पुरुष) के लिये बलि (उपहार) वे लावें जो पुरुष हे बाड़ी कीर्ति वाले (परमेश्वर) तुझको सुने[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–वही (परमेश्वर) सब ओर से व्याप्त और वर्तमान होकर सब दिव्य पदार्थों के भीतर गर्भ (के समान) विचरता है और फिर प्रकट होता है। उस वर्तमान (परमेश्वर) ने होनहार आगामी जगत् में अपने कर्मों से प्रवेश किया है। जैसे–पिता पुत्र में (उत्तम शिक्षा दान में) प्रवेश करता है।[2] हंस (सर्वव्यापक वा सर्वज्ञानी परमात्मा) समुद्र (समुद्र समान अपने अगम्य सामर्थ्य) से उदय होता हुआ एक (सत्य वा मुख्य) पाद (स्थिति नियम) की नहीं उखाड़ता है। हे विद्वान। जो वह (परमात्मा) उस (नियम) को उखाड़ देवे न तो वह (परमात्मा) उस नियम को उखाड़ देवे न तो आज न कल्प होवे न रात्री न दिन होवे न कभी भी प्रभाव होवे।[3] आठ (दिशाओं) में चक्र वाला एक नेमि (नियम वाला) और सहस्त्र प्रकार से व्याप्त वाला भली भाँति आगे और निश्चय करके पीछे वर्तमान है। उसने आगे खण्ड से सब अस्तित्व व उत्पन्न किया और जो इसका (इस कारण रूप) आधा है वह कौन-सा चिह्न है।[4] जो (परमेश्वर) इस विविध जन्म वाले सब और चेष्टा करने वाले (कार्यरूप) जगत् का ईश्वर है। (इनसे) भिन्न (परमात्मा रूप पदार्थ) पर शीघ्र व्यापक होने वाले उस तुझ को हे प्राण। (जीवन दाता परमेश्वर) नमस्कार हो।[5] जो (परमेश्वर इस विविध जन्न वाले और सब चेष्टा करने वाले (कार्यरूप जगत् का) ईश्वर है। वह आलस्य रहित धीर (बुद्धिमान्) प्राण (जीवनदाता परमेश्वर) देवज्ञान द्वारा मेरे साथ-साथ ठहरा रहे[6]

सोते हुये (प्राणियों) वह (प्राण, परमात्मा) ऊपर रहकर जागता है और कभी नहीं तिरछा (होकर) गिरता है। किसी ने भी सोते हुओं में इस (प्राण

---

1. यथा प्राण .... ।। अथ, काण्ड–11, सूक्त–4, मं.सं.–19
2. अन्तगर्भश्च .... ।। अथ, काण्ड–11, सूक्त–4, मं.सं.–20
3. एकं पादं .... ।। अथ, काण्ड–11, सूक्त–4, मं.सं.–21
4. अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्त्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
   अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः।। अ0 11.4.22
5. यो अस्य विश्व जन्मनईशे विश्वस्य चेष्टतः।
   अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै, प्राण नभोऽस्तु।। अ0 11.4.23
6. यो अस्य सर्वजन्मनं ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
   अतन्द्रो ब्रह्मण धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु। अ0 11.4.24

परमात्मा) का सोना कभी (परम्परा से) नहीं सुना।[1] हे प्राण! (जीवन दाता परमेश्वर) मुझ से पृथक् वर्तमान मत (हो) तू मुझसे अन्य न होगा हे प्राण! (जीवनदाता परमेश्वर) प्राणियों वा जल के गर्भ के समान तुझको (अपने) जीवन के लिये अपने में बाधता हूँ।[2]

सृष्टि तत्वः—इस (सर्वव्यापक ब्रह्म) के कौन से अङ्ग में तप (ब्रह्मचर्य आदि तपश्चरण वा ऐश्वर्य) जमकर ठहरता है। इसके किस अङ्ग में सत्य शास्त्र दृढ़ स्थापित है। इसके कहाँ पर व्रत कहाँ पर श्रद्धा (सत्य में दृढ़ विश्वास) स्थित है। इसके कौन से अङ्ग में सत्य (यथार्थ कर्म) ठहरा हुआ है।[3] इस (सर्वव्यापक ब्रह्म) के कौन से अङ्ग से अग्नि चमकता है। कौन से अङ्ग से विशाल स्कम्भ (धारण करने वाले परमात्मा) के अङ्ग (स्वरूप) को मापता हुआ चन्द्रमा विविध प्रकार (अपना मार्ग) मापता रहता है।[4] इस (सर्वव्यापक ब्रह्म) के कौन से अङ्ग में भूमि ठहरता है। कौन से अङ्ग में अन्तरिक्ष ठहरता है। कौन से अङ्ग में ठहराया हुआ सूर्य ठहरता है। किस अङ्ग में सूर्य से ऊँचा स्थान ठहरता है।[5] कहाँ की पाने की इच्छा करता हुआ ऊँचा होता हुआ अग्नि चमकता है। वहाँ को पाने की इच्छा करता हुआ आकास में गति वाले (वायु) झोंके लेता है। जहाँ पाने की इच्छा करती हुई। अनेक थूमें सब ओर से मिलती है। वह कौन सा निश्चय करके है। (इसका उत्तर) उसकी स्कम्भ (धारण करने वाला परमात्मा) तू कह।।[6]

वहाँ आधे महिने (पखवाड़े) और कहाँ महीने वर्ष के साथ मिलते हुए जाती हैं। जहाँ ऋतुयें और ऋतुओं के अवयव जाते हैं। जहाँ ऋतुयें और ऋतुओं के अवयव जाते हैं। वह कौन सा निश्चय करके हैं। (उत्तर) उसको स्कम्भ (धारण करने वाला परमोत्मा तू कह।[7] कहाँ पाने की इच्छा करती हुई दो मिलने वाली और अलग हो जाने वाली शक्तियाँ विरुद्ध रूप वाले, आपस में मिले हुए दिन और रात दौड़ते हैं। जहाँ मिलने की इच्छा करती हुई सब

---

1. उर्ध्वः सुप्तेषु .... ।। अथ, काण्ड–11, सूक्त–4, मं.–25।
2. प्राण .... ।। अथ, काण्ड–11, सूक्त–4, मं.–26।
3. कस्मिन्नङ्गे .... ।। अथ, काण्ड–10, सूक्त–7, मं.–1। (1)
4. कस्मादङ्गाद् .... ।। अथ, काण्ड-दसम्, सूक्त–7, मं.–2। (2)
5. कस्मिन्नङ्गेतिष्ठति .... ।। अथ, काण्ड-दसम्, सूक्त–7, मं.–3। (3)
6. क्व 2 प्रेप्सन् दीप्यत .... ।। अथ, काण्ड-दसम, सूक्त–7, मं.–4। (4)
7. क्वाऽर्धमासाः .... ।। अथ, काण्ड-11, सूक्त–7, मं.–5, (5)

प्रजायें चारों ओर से आती हैं। वह कौन सा निश्चय करके हैं? (उत्तर) उसको (धारण करने वाला परमात्मा) तू कह।[1]

जिसमें प्रजापति (सूर्य वा आकाश) ने सब लोकों को रोककर धारण किया है। वह कौन सा निश्चय करके हैं? (उत्तर) उसको स्कम्भ (धारण करने वाला परमात्मा) तू कह।[2] जो कुछ अति ऊँचा अति नीचा और जो कुछ अति मध्यम नाना रूप (जगत्) प्रजापति (परमेश्वर) ने रचा था कहाँ तक स्कम्भ (धारण करने वाले परमेश्वर) ने उस (जगत्) में प्रवेश किया था जितने में उस (परमेश्वर) ने नहीं प्रवेश किया है। वह कितना था।[3] कहाँ तक भूत काल में स्कम्भ (धारण करने वाले परमेश्वर) ने प्रवेश किया था, कितना भविष्यत काल उस (परमेश्वर के निरन्तर आशय में है। जो कुछ एक अङ्ग (अर्थात् थोड़ा सा जगत्) सहस्रों प्रकार से उस (परमेश्वर) ने रचा है। कहाँ तक उसमें स्कम्भ (धारण करने वाले परमेश्वर) ने प्रवेश किया था।[4] जिस ब्रह्म में विद्वान् जन जब लोकों को और सब कोशों (निधियों कार्य रूप जगत्) और सत् (नित्य अर्थात् जगत् का कारण है। वह कौन सा निश्चय करके है। (उत्तर) उसको स्कम्भ (धारण करने वाला परमात्मा) तू कहा।।[5] जिस (ब्रह्म) में तप (ऐश्वर्य वा सामर्थ्य) पराक्रम करके उत्तम व्रत (वरणीय कर्म) को धारण करता है। जिस ब्रह्म ने सत्य शास्त्र और श्रद्ध (सत्य धारण विश्वास) और सब प्रजायें मिलकर स्थापित हैं। वह कौन सा निश्चय करके है। (उत्तर) उसको स्कम्भ (धारण करने वाला परमात्मा) तू कह।[6]

---

1. क्व । प्रेप्सन्ती युवती .... । अथ, काण्ड-दसम्, सूक्त–7, मं.–6, (6)
2. यस्मिन्त्स्तबध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वां अधारयत्।
   स्कम्भं तं ब्रूहि कतभः स्विदेव सः।। अथ, काण्ड-दसम्, सूं.-7, मं.-7।
3. यत परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
   कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव।। अथ, का.-10, सूं. -7, मं.-8।
4. कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
   एकं, यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्रा।। अथ, का.-11, सूं.-9, मं.-7।
5. यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
   असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। अथ, का.-10, सूं.-7, मं. -10।
6. यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्। ऋतं च यत्र श्रद्धा
   चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वेदेव सः। अथ, का.-10, सूं.-7, मं.-11।

जीवात्मा

ईश्वर और जीव–अथर्ववेद का कथन है कि इस संसार में तीन ज्योतियाँ हैं।–सूर्य, जीव और परमात्मा। इनमें से सूर्य कृषि का साधन है। जीवात्मा की शक्ति से व्यक्ति संसार को देख पाता है। तीसरा परमात्मा है। उसकी केवल गति दिखाई पड़ती है, उसका रूप नहीं है।[1] ईश्वर पूर्ण है और जीवात्मा भी पूर्ण है। पूर्ण जीव पूर्ण ईश्वर से उत्पन्न होता है और वह उत्पन्न होकर ईश्वर की उपासना करता है।[2]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर परमात्मा को पिता, जनिता, पितामह आदि कहा गया है और जीव को पुत्र कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा और ईश्वर का व्याप्य व्यापक संबंध है। अथर्ववेद में यह भी कहा गया है कि अपनी धारणा शक्ति से ग्रहण किया हुआ अमरण स्वभाव वाला (जीव) मरण स्वभाव वाले (शरीर) के साथ एक स्थानी होकर नीचे को जाता हुआ (वा) ऊपर को जाता हुआ चलता है। वे दोनों दूर दूर चलने वाले हैं, (उन दोनों में से) एक-एक को (विवेकियों ने) निश्चय करके जाना है (और मूर्खों ने) नहीं निश्चय किया है।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि सात समृद्ध गर्भ वाले (पूरे उत्पादन सामर्थ्य वाले, महत्त्व, अहंकार, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के परमाणु) संसार के बीच होकर व्यापक परमात्मा की आज्ञा से विविध धारण सामर्थ्य में ठहरते हैं। वे ही (सातों) बुद्धिमान् (परमेश्वर) की धारण शक्तियों और विचार के साथ घेरने वाले (शरीरों और लोकों) को सब ओर से घेरते हैं।[4] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–शक्ति वाले कंपाने वाले (परमेश्वर) को समीप से इस व्याप्ति वाले नीचे (जीव से) परे (उत्तम) मैंने देखा है। वीर लोगों ने (इसी कारण से) वृद्धि करने वाले स्पर्श करने वाले (आत्मा) को परिपक्व (दृढ़) किया है, वे धारण योग्य (ब्रह्मचर्य आदि धर्म) मुख्य (प्रथम कर्तव्य) थे।[5] आगे बतलाते हैं

---

1. यजु. 40, 5 ईश. 5
2. यजु. 40, 8; ईश. 5
3. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यऽन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।। अ. का. 9, सू. 10 म. 17
4. सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
   ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः।। अ. का. 9 सू. 10म.17
5. शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
   उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथममान्यासन्।। अ.-का. 9 सू 10 म. 25

कि–तीन प्रकाश वाले (अपने गुण जताने वाले, अग्नि, सूर्य और वायु) ऋतु के अनुसार संवत्सर (वर्ष) में विविध प्रकार दीखते हैं, इनमें से एक (अग्नि, ओषधियों को) उपजाता है। दूसरा (सूर्य) अपने कर्मो (प्रकाश, वृष्टि आदि) से संसार को देखता रहता है, एक (वायु) की गति देखी गई है और रूप नहीं।[1]

वाणी के चार (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप) परिमाण युक्त जानने योग्य पद हैं, उनको वे ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) जानते हैं जो मननशील हैं। गुहा (गुप्त स्थान) में रखे हुए तीन (परा, पश्यंती और मध्यमा रूप पद) नहीं चलते (निकलते) हैं, मनुष्य (साधारण लोग) वाणी के चौथे (वैखरी रूप पद) को बोलते हैं।[2] अथर्ववेद में आत्मा का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि इस जगत् के प्रशंसनीय, पालनकर्ता, वृष्टि करने वाले उस (सूर्य) का मध्यवर्ती भ्राता (भाई समान हितकारी) (व्यापक) बिजुली है। इस (सूर्य) का तीसरा भ्राता घृतों (प्रकाश) करने वाले घी, काष्ठ आदि) से स्पर्श किया हुआ (पार्थिव अग्नि है), इस सूर्य में सात (इन्द्रियों त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि को शुद्ध करने वाले प्रजाओं के पालन कर्ता (जगदीश्वर) को मैंने देखा है।[3] इसी प्रकार वर्णन है कि– सात (इन्द्रियाँ त्वचा आदि–म.) एक चक्र वाले (अकेले पहिले के समान काम करने वाले जीवात्मा से युक्त) रथ। (वेगशील वा रथ समान, शरीर) को जोड़ते हैं, अकेला सात (त्वचा आदि इन्द्रियों) से झुकने वाला (प्रवृत्ति करने वाला) अश्व (अश्वरूप व्यापक जीवात्मा) सत्त्व, रज और तमोगुण रूप) तीन बन्धन वाले चलने वाले (वा जीर्णता रहित), न टूटे हुए चक्र (चक्र समान काम करने वाले अपने जीवात्मा) को (उस परमात्मा में) ले जाता है जिस (परमात्मा) में यह सबलोक यथावत् ठहरे हैं।[4] इसीप्रकार आगे आत्मा का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए अथर्ववेद में कहते हैं कि– जो सात (इन्द्रियाँ त्वचा, नेत्र, कान जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि) इस रथ (वेगशील वा रथ समान शरीर) में ठहरे हैं, (वेही) सात अश्व (व्यापनशील

1. त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
   विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्।। अ. का. 9 सू. 10 म026
2. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
   गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। अ. का. 9 सू. 10 म. 27
3. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
   तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।। अ. का. 9 सू. 9 म. 1
4. सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
   त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः। अ. का. 9 सू. 9 म. 2

वा घोड़ों समान त्वचा, नेत्र आदि) (उस) सात चक्र वाले (चक्र समान काम करने वाले त्वचा, नेत्र आदि से युक्त रथ अर्थात् शरीर) को ले चलते हैं। (वही) सात अच्छे प्रकार चलने वाली, (वा शरीर को चलाने वाली वा बहिनों के समान हितकारी त्वचा, नेत्र आदि) सब ओर से (वहाँ) मिलती हैं जहाँ (हृदयाकाश में) इन्द्रियों के सात झुकाव (स्पर्श, रूप, शब्द, रस, गन्ध, मनन और ज्ञान, सात आकर्षण) धरे गये हैं।[1] इसी प्रकार आगे वर्णन किया है कि–किसने पहिले ही पहिले उत्पन्न होते हुए हड्डियों वाले (देह) को देखा था, जिस (देह) को बिना हड्डियों वाला (विना शरीर वाला, जीवात्मा अथवा विना शरीर वाली प्रकृति) धारण करती है। कहाँ पर ही भूमि (संसार) का प्राण रक्त और जीवात्मा (था) कौन से पुरुष यह पूछने को विद्वान् के समीप जावे।[2] इसी प्रकार आगे जीवात्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि–हे प्यारे! इस (ब्रह्म विषय) में वह बोले जो (पुरुष) इस मनोहर चलने वाले (वा पक्षी रूप सूर्य) के ठहराये हुए मार्ग को सब प्रकार जानता है। किरणें इस (सूर्य) के मस्तक से जल को दुहती हैं, (जिस) जल को रूप (सूर्य के प्रकाश) को ओढ़ती हुई (उन किरणों) ने (अपने) पैर (नीचे भाग) से पिया था।[3] इसी प्रकार आगे आत्मा का विस्तरित वर्णन किया है कि अविज्ञानी रक्षा के योग्य (बालक) में विद्वानों के मनन के साथ रखे हुए इन पदों (पद चिह्नों) को पूछता हूँ बुद्धिमानों ने चलने योग्य निवास स्थान (संसार) के बीच (अपने) सात तन्तुओं (फैले हुए तन्तु रूप इन्द्रियों, त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाम, मन और बुद्धि) को अधिक बनने के लिये ही विविध प्रकार फैलाया था।[4] आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि–अज्ञानी मैं ज्ञानवान् बुद्धिमानों को ही इसमें पूछता हूँ, विद्वान् विद्वानों को जैसे (पूछता है) जिस (परमेश्वर) ने इन छह (पूर्व. दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊपर नीचे) लोकों को अनेक प्रकार थामा था, (उस) जन्म रहित

---

1. इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
   सप्तस्वसारो अभि सं नंवस्त यत्र गवां निहित सप्त नामा।। अ. का. 9 सू. 9 म. 3
2. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति।
   भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्।। अ. का. 9 सू. 4.म. 4
3. इह ब्रबीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
   शीर्ष्णः क्षीरं दुहूते गावो अस्य बव्रिं वसाना उदकं पदापुः।। अ. का. 9 सू. 4. म. 5
4. पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
   वत्से......................।। अ. का. 9 सू. 4. म. 6

(परमेश्वर) के स्वरूप में कौन सा निश्चय करके एक (सर्वव्यापक) ब्रह्म था।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–निर्मात्री (पृथिवी) ने जल में (वर्तमान) क्योंकि वह पृथिवी) पहिले (ईश्वरीय) आधार और विज्ञान के साथ (सूर्य से) मिली हुई थी। (फिर) वह (पृथिवी, सूर्य) बन्धन की इच्छा करने वाली रस (जलादि, उत्पादन सामर्थ्य) को गर्भ में रहने वाली और नियमानुसार ताड़ी गयी (दूर हटाई गयी थी) इसी प्रकार झुकाव रखने वाले (सूर्य का आकर्षण रखने वाले दूसरे लोक) भी वाक्य अवस्था (पिण्ड बनने के नाम, स्थान आदि) को प्राप्त हुए।[2] अथर्ववेद में आगे स्पष्ट किया है कि– निर्माण करने वाली (पृथिवी) (अपनी) शीघ्र गति के कष्ट में युक्त हुई गर्भ (के समान सूर्य) रोकने की शक्तियों (आकर्षणों) के भीतर स्थिर हुआ। निवासदाता (सूर्य) ने सब रूपों (श्वेत, नील, पीत आदि सात वर्णों) में रहने वाली किरण को तीनों (ऊँचे, नीचे और मध्य) लोकों में अनुकूलता से फैलाया और (उन लोकों को) बांधा (आकर्षित किया)।[3] पूर्णं (ब्रह्म) से सम्पूर्णं (जगत्) उदय होता है। पूर्णं (ब्रह्म) करके संपूर्ण (जगत्) सींचा जाता है और भी उस (कारण) को आज हम जाने जिस कारण से वह (सम्पूर्ण) जगत् सब प्रकार सींचा जाता है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्मा का विस्तरित वर्णन करते हुए कहा है कि– वही (ईश्वर) हमारा पालक और जनक और वही बान्धव है, वह सब पदों (अवस्थाओं) और लोकों को जानता है जो (परमेश्वर) अकेला ही दिव्य दिव्य गुण वाले पदार्थों का नाम रखने वाला है यथाविधि पूछने योग्य उसको सब प्राणी प्राप्त होते हैं।[5] इसीप्रकार आगे बतलाया है कि– अदीना वा अखण्डित अदिति अर्थात् प्रकृति से प्रकाशमान सूर्य, अदिति से मध्यवर्ती आकाश, अदिति से हमारी माता वह हमारा पिता वह हमारा पुत्र (सन्तान) है।

---

1. अचिकित्वांश्चिकितुषंश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्।
   वि यस्तस्तम्भ' षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।। अ. का. 9 सू. 4. म. 7
2. माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
   सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमियुः ।। अ. का. 9 सू. 4. म. 8
3. युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तुः।
   अभीप्रेद् वत्सो अनुगामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु।। अ. का. 9 सू. 4. म. 9
4. पूर्णात् पुर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
   उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते।। अ.का. 10 सू. 8 म. 29
5. स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
   यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा।। अ.का. 2 सू. 1 म. 3

अदिति से सब दिव्य गुण वाले पदार्थ, अदिति से विस्तृत (वा पञ्चभूत रचित) सब जीव, अदिति से उत्पन्न जगत् और उत्पन्न होने वाला जगत् है।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि– हे बिजुली और सूर्य! तुम दोनों का वह बड़ा ही महत्त्व है, रक्षणीय या गुप्त सार रस के झुकाव की तुम दोनों रक्षा करते हो। घर घर में (प्रत्येक) शरीर वा लोक में) सात रत्नों (धातुओं अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य) को धारण करने वाले हो, तुम दोनों की जय शक्ति सार रस को प्रत्यक्ष रूप से भले प्रकार बनावें।[2] अथर्ववेद में आगे कहा है कि–हे बिजुली और सूर्य तुम दोनों का बड़ा प्रीति करने वाला धर्म वा नियम है, तुम दोनों सार रस के सूक्ष्म तत्त्वों को सेवन करते हुए प्राप्त होते हो। घर-घर में बड़ी स्तुति के साथ वृद्धि करते हुए (रहते हो, तुम दोनों की जय शक्ति सार रस को प्रत्यक्ष रूप से उत्तमता के साथ प्राप्त हो।[3]

जीवात्मा के गुण, कर्म–जीवात्मा परमात्मा के तेज से उत्पन्न हुआ है। यह चेतन और ज्ञानवान् है। मन्त्र में अज से अज की उत्पत्ति कही गई है इसका अभिप्राय यह है कि दोनों अजन्मा है। एक अजन्मा से दूसरे का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा गया है कि अग्नि से अग्नि प्रकट हुई है। दोनों अग्नि के तुल्य तेजोमय हैं, अतः उन्हें अग्नि कहा गया है।[4] अथर्ववेद में जीवात्मा से यह प्रार्थना कराई है कि हे ईश्वर मुझे पुनः इन्द्रियाँ एवं शरीर प्रदान करने की कृपा करें। जैसा की कहा है कि– इन्द्रत्व (परम ऐश्वर्य) मुझको अवश्य (वा फिर जन्म में) आत्मबल, धन और वेदविज्ञान अवश्य (वा परजन्म में) प्राप्त होवे बोलने में चतुर विद्वान् लोग यथास्थान (कर्मानुसार मुझको) यहाँ ही अवश्य (वा परजन्म में) समर्थ करें।[5] अथर्ववेद

---

1. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
   विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।। अ.का. 7 सू. 6 म. 1
2. अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम।
   दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात्।। अ.का. 7 सू. 29 म. 9
3. अग्नाविष्णु महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्यां जुषाणौ।
   दमे दमे सुष्टुत्या वावृवानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात्।। अ.का. 7 सू. 29 म. 2
4. उन्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।
   अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 6
5. पुनमैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं च।
   पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव।। अ.का. 7 सू. 66 म. 1

में आगे स्पष्ट किया है कि–तुझको जीवों के लिये पूरा उत्तमपन (करने) के लिये वायु, मेघ और पोषण करने वाला, पालन करने वाला चलाने वाला सूर्य पुष्ट करे। तुझको प्राण और बल न छोड़े, तेरे लिये बुद्धि को सदा हम बुलाते हैं।[1] इसी प्रकार अथर्ववेद में आगे विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि– (हे मनुष्य) जीते हुए मनुष्यों को ज्योति सन्मुख होकर सब ओर से प्राप्त कर तुझको सौ शरद् ऋतुओं वाले (जीवन) के लिये सब प्रकार स्वीकार करता हूँ मृत्यु के फन्दों और अपकीर्ति को छोड़ता हुआ मैं अधिक दीर्घ और अधिक उत्तम जीवन को तेरे लिये पुष्ट करता हूँ।[2] आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि– जीव को प्राण देता हुआ चेष्टा करता हुआ, शीघ्रगामी, निश्चल (ब्रह्म) घरों के मध्य में सब ओर से सोता है (वर्तमान है) मरण स्वभाव वाले (शरीर) का अमरण स्वभाव वाला जीव (आत्मा) मरण धर्म वाले (जगत्) के साथ एकस्थानी होकर अपनी धारणा शक्तियों से चलता रहता है।[3] इसी प्रकार अथर्ववेद में आगे विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि– ये सब जीवते हुए (पुरुषार्थी जन) मृतकों (दुर्बलेन्द्रियों) से पृथक् होकर लौट आये हैं विद्वानों की वाणी हमारे लिये आज कल्याण कारी हुई है। नृत्य (हाथ पैर चलाने) के लिए और हँसने (आनन्द भोगने) के लिये आगे बढ़ते हुए पहुँचते हैं, अच्छे वीरों वाले हम विज्ञान का उपदेश करें।[4] आगे स्पष्ट किया है कि– इन (प्राणियों) के बीच जीवते हुए (पुरुषार्थी) लोगों के लिये मर्यादा में (परमेश्वर) ठहराता हूँ दूसरा (मरा, हुआ, दुर्बलेन्द्रिय) इस पाने योग्य पदार्थ (सुख) को कभी न पावे। सौ और बहुत सी बरसों तक जीवते हुए लोग मृत्यु (मरण वा दुःख) को (विज्ञान की) पूर्णता से तिरोहित करें (ढ़क देवें)।[5] इसी प्रकार आगे वर्णन किया है कि–बृहस्पति (बड़ी वेद वाणी का रक्षक परमात्मा) सब उत्तम

1. जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः।
   मा त्वा प्राणोबलं हासीदासुं तेऽनु ह्वयामसि।। अ.का. 8. सू. ५ म. 15
2. जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।
   अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि। अ.का. 8. सू. 2. मं. 2
3. अनच्छये तुरगातु जीबमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
   जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।। अ.का. 9. सू. 10 म. 8
4. इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
   प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम्।। अ.का. 12. सू. 2 म. 22
5. इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
   शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन।। अ.का. 12. सू. 2 म. 23

गुणों के साथ मुझे ऊपर वाली दिशा से बचावे उसमें (उस परमेश्वर के विश्वास में) मैं पर बढ़ाता हूँ, उसमें आश्रय लेता हूँ उस अग्रगामिनी शक्ति (वा दुर्गरूप परमेश्वर) अच्छे प्रकार प्राप्त होता हूँ वह (ज्ञान स्वरूप परमेश्वर) मुझे बचावे, वह मुझे पाले, उसको अपना आत्मा (मन सहित देह और जीव) सुन्दर वाणी (दृढ़ प्रतिज्ञा) के साथ मैं सौंपता हूँ।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्मा का विस्तृत वर्णन करते हुए कहते हैं कि–जीवन वाले (विद्वानों) के जीवन के साथ तू जीवित रह, उत्तम जीवन वाला होकर तू जीवित रह तू मत मरे। आत्मा वालों के प्राण (जीवन सामर्थ्य) से तू जीवित रह मृत्यु के वश में मत जा।।[2] इसीप्रकार आगे वेदों के इत्यादि स्थलों में जीव और आत्मा शब्द प्राप्त होता है। इनसे अतिरिक्त स्थानों पर भी जीव और आत्मा शब्द आये हैं। यद्यपि जीव और आत्मा शब्दों का अर्थ अन्य अर्थों में भी आता है। तथापि जीव और आत्मा शब्द वर्तमान में समझने वाले जीवात्मा वाले अर्थ में मूल वेदों में इसी अर्थ में जीव और आत्मा शब्द प्राप्त होता है। आत्मा के पर्याप्त शब्द वेदों में अनेक शब्द आते हैं। पुरुष, इन्द्र, जन्तु, जन मानुष, पशु आदि अनेक शब्द आत्मा की योनि निर्धारक शब्दों का प्रयोग वेदों में अनेक शब्दों एवं पर्याय रूप से प्राप्त होता है। इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्म के गुण कर्म का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है कि–धर्म के साक्षात् करने वाले मुनियों वा विषय देखने वाली इन्द्रियों का शुद्ध करने वाला हिंसा के भय से बचाने वाला सर्वव्यापक परमेश्वर निश्चय करके सूर्य, अग्नि आदि तेज में प्रवेश किये हुए चलता है। (उस) तुझको नमस्कार और आदर के साथ मैं आत्मदान करता हूँ महात्माओं के ऐश्वर्य वा सेवनीय कर्म को दुष्टता से हम नष्ट न करें। अर्थात् जीव रूपी अग्नि परमात्मा रूपी अग्नि में प्रविष्ट है। परमात्मा के साथ ही यह गति करता है।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हैं कि–अजन्मा व गतिशील परमात्मा ही पहिले ही पहिले इस (जगत्) में विचरता था उसकी छाती यह (भूमि) और पीठ आकाश हुआ। कटिभाग अन्तरिक्ष, दिशायें दोनों

---

1. आपो मौषधीमतीरेतस्या दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि।
   ता मा रक्षन्तु ता मा गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वहा।। अ.का. 19 सू. 17 म.6
2. आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान जीव मा मृथाः।
   प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगावशम्।। अ.का. 19 सू. 27 म. 8
3. अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ।
   नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम्।। अ.का. 4 सू. 39 म.9

कांखे (कक्षायें) और दोनों (अन्तरिक्ष और भूमि के) समुद्र दोनों कोखें (हुई)। अर्थात् अज अर्थात् अजन्मा आत्मा के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आत्मा का विराट् रूप यह है–पृथ्वी उसकी छाती है, द्युलोक उसकी पीठ है, अन्तरिक्ष उसका पेट या मध्य भाग है और दिशायें उसकी बगल हैं,[1] सत्य (यथार्थस्वरूप वा अस्तित्व) और ऋत (वेद आदि यथार्थ शास्त्र) (उसकी) दोनों आँखें सब सत्य और श्रद्धा उसका प्राण, और विविध प्रकाशमान प्रकृति (उसका) शिर (हुआ) क्योंकि यही परिमाण रहित पूजनीय अजन्मा वा गतिशील परमात्मा पाँच भूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला हैं। अर्थात् सत्य और ऋत उसकी आँखें हैं, संसार उसकी सत्ता है, श्रद्धा उसका प्राण है और ब्रह्माण्ड उसका सिर है।[2] इसी प्रकार आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–हे अजन्मे जीवात्माः तू गतिशील है, तू सुख प्राप्त करने वाला है, तेरे साथ बुद्धिमानों ने देखने योग्य परमात्मा को अच्छे प्रकार जाना है। उस पवित्र देखने योग्य परमात्मा को मैं अच्छे प्रकार जानूँ। अर्थात् जीवात्मा अजन्मा है और सुख का साधन है, अतः उसे स्वर्ग कहा गया है।[3] अथर्ववेद में आगे जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि–जीव को प्राण देता हुआ और चेष्टा कराता हुआ शीघ्रगामी, निश्चल (ब्रह्म) घरों के मध्य में सब ओर से सोता है (वर्तमान है) मरण स्वभाव वाले (शरीर) का अमरण स्वभाव वाला जीव (आत्मा) मरण धर्म वाले (जगत्) के साथ एक स्थानी होकर अपनी धारण शक्तियों से चलता रहता है। अर्थात् जीवात्मा अमर है। वह मनुष्य के शरीर के साथ चलता है। जीवात्मा में निजी शक्ति है। अतः वह नये जन्म लेता है।[4] आगे स्पष्ट किया है कि–समुद्र की पीठ पर वर्तमान, काम करने वाले टेढ़े चलने वाले बलवान् पुरुष को पालन कर्ता (परमेश्वर) निगल गया। दिव्य गुण वाले (परमेश्वर) की चतुराई को महत्त्व के साथ देख, वह (प्राणी) आज मर गया (जो) कल जी रहा था। अर्थात् परमात्मा वृद्ध है

---

1. अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद्द्यौः पृष्ठम्।
   अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी।। अ.का. 9 सू. 5 म. 20
2. सत्यं च ऋतं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
   एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः।। अ.का. 9 सू. 5 म. 21
3. अजो3 स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्।
   तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 16
4. अनच्छये तुरगातु जीबमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानम्।
   जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।। अ.का. 9 सू. 10 म. 8

और जीवात्मा युवक। परन्तु वृद्ध होते हुए भी इस जीव का संहार करता है। अतएव कहा गया है कि एक वृद्ध युवक को निगल जाता है।[1] इसी प्रकार आगे विस्तरित व्याख्या करते हुए 'जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का वर्णन करते हैं कि भूमि वा वाणी के रक्षक न गिरने वाले (अचल) ज्ञान मार्गों से समीप प्राप्त होते हुए और दूर प्राप्त होते हुए भी (परमेश्वर) को मैंने देखा है। वह (परमेश्वर) साथ मिली हुई (दिशाओं) को और वही नाना प्रकार से वर्तमान (प्रजाओं) को ढकता हुआ लोकों के भीतर अच्छे प्रकार निरन्तर वर्तमान है। अर्थात् ,वह इन्द्रियों का रक्षक है। स्थिर है और विविध शरीर में आता जाता रहता है।[2] आगे जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है जिस आपने इस पूजनीय पालनकर्ता विद्वानों के हितकारी निर्माण के कारण पृथिवी के गर्भ (गर्भ समान व्यापक) पालन हेतु सूर्य के प्राण संयोजक वियोजक निश्चल परमेश्वर को विज्ञान के साथ जाना है और जिस तूने हमें अच्छे प्रकार उपदेश किया है तो तू उस ब्रह्म का यहाँ पर ही उपदेश कर।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि उसका (परमेश्वर का बनाया हुआ) यह मनुष्यों का समूह है (क्योंकि) वह (परमेश्वर) छीके में किए हुए सा व्यापक है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है। कि–पाँच (पृथ्वी आदि तत्त्व) को ले चलने वाला तत्त्व (परमेश्वर) इन (सब लोकों) के आगे-आगे चलता है प्रंशन करने योग्य पदार्थ संयुक्त होकर (उसके) पीछे चले चलते हैं इस परमेश्वर का न जाना (निकट रहना, विद्वानों करके) देखा गया है और जाना (दूर होना) नहीं सर्वोत्तम पर ब्रह्म (विद्वानों से) अधिक निकट और (अविद्वानों से) अधिक दूर है।[5] इसी प्रकार जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का वर्णन किया है कि–बड़ा पूजनीय (ब्रह्म) संसार के बीच दूर में (वर्तमान होकर) पूर्ण (पूरे विद्वान) के साथ वसता है और हीन (अधूरे पुरुष) के साथ दूर देश

---

1. विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जंगार।
   देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान। अ.का. 9 सू. 10 म. 9
2. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
   स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।। अ.का. 9 सू. 10 म. 11
3. अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुगर्भं पितुरसुं युवानम्।
   य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वो चस्तमिहेह ब्रवः।। अ.का. 7 सू. 8 म. 1
4. तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः। अ.का. 13 सू. 4 म. 8
5. पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
   अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः।। अ.का. 10 सू. 8 म. 8

में त्यागा जाता है, उस (ब्रह्म) को राज्य धारण करने वाले लोग सन्मान धारण करते हैं।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–जिस स्वकरणीय (परमात्मा) में मधु (वेद ज्ञान) चखने वाले सब सुन्दर पालने वाले (प्राण वा इन्द्रियाँ) भीतर बैठ जाते हैं और ऐश्वर्य के साथ उत्पन्न (उदय) होते हैं उस परमात्मा के जिस पालन करने वाले को सबसे आगे (बढ़िया) स्वादु (चखने योग्य) वे (तत्त्वज्ञानी) बताते हैं उसको वह मनुष्य कभी नहीं पाता जो पिता (पालन कर्ता परमेश्वर) को नहीं जानता है।[2] अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि–उस (परमात्मा) को एक (परमात्मा) को शिर (प्रधान) मानने वाले दस (चार दिशाओं, चार मध्य दिशाओं और ऊपर नीचे की दिशाओं से सम्बन्ध वाले मिले हुए निवास स्थान (सब लोक) सेवते हैं।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि–अपनी धारणा शक्ति से ग्रहण किया हुआ अमरण स्वभाव वाला (जीव) मरण स्वभाव वाले (शरीर) के साथ एक स्थानी होकर नीचे को जाता हुआ (वा) ऊपर को जाता हुआ चलता है। वे दोनों नित्य चलने वाले हैं, उन दोनों में से) एक एक को (विवेकियों ने) निश्चय करके जाना है (मूर्खों ने) नहीं निश्चय किया है।[4] आगे अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि–जब सर्वज्ञ (परमेश्वर) सृष्टि की क्रिया को संकल्प (मनोविचार) के ग्रहण (स्वीकार करने) से अधिकार पूर्वक सब ओर लाया (प्रकट किया) कौन उत्पत्ति में साधक (योग्य) पदार्थ और कौन वर वरणीय इष्टफल) थे, कौन ही सर्वोत्तम वरों (इष्टफलों) का देने वाला हुआ।[5] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–तप (ईश्वर का सामर्थ्य) और कर्म (प्राणियों के कर्म का फल ही बड़े

---

1. दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊ नेन हीयते।
   महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति।। अ.का. 10 सू. 8 म. 15
2. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
   तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद। अ.का. 9 सू. 9 म. 21
3. तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश।
   रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः।। अ.का. 13 सू. 4 म. 6
4. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
   ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य। न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।। अ.का. 9 सू. 10 म. 16
5. यन्मन्युर्जायामावहत संकल्पस्य गृहादधि।
   क आसंजन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 1

समुद्र (परमेश्वर के गम्भीर सामर्थ्य) के भीतर दोनों थे (तप और कर्म ही) वे (प्रसिद्ध) उत्पत्ति में साधन (योग्य पदार्थ और वे ही वर (वरणीय इष्टफल) थे ब्रह्म (सबसे बड़ा परमात्मा) सर्वोत्तम वरों (इष्ट फलों) का दाता हुआ।[1] इसी प्रकार आगे विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि—दस दिव्य पदार्थ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय) पूर्व काल में (वर्तमान) दिव्य पदार्थों (कर्म फलों) से परस्पर मिले हुए उत्पन्न हुए। जो पुरुष निश्चय करके उनको प्रत्यक्ष जान लेवे वह ही आज महान् ब्रह्म को बतलावे अर्थात् उस ब्रह्म के सामर्थ्य से प्राणियों के पूर्वसंचित कर्म ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियाँ कर्मों के जानने और करने के लिए उत्पन्न हुए सूक्ष्मदर्शी पुरुष ही इसको जानकर परमात्मा का उपदेश करते हैं।[2]

अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि—प्राण और अपान (भीतर और बाहिर जाने वाला श्वास) नेत्र कान और जो (सुख की) निर्हानि और (दुःख की) हानि ब्यान (सब नाड़ियों में रस पहुँचाने वाले वायु) और उदान (ऊपर को चढ़ने वाला वायु) और वाणी और मन इन सब ने निश्चय करके संकल्प (प्राणी के मनोविकार) को सब और से प्राप्त कराया। अर्थात् प्राणियों के विहित कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर ने प्राण अपान आदि बनाये।[3] इसी प्रकार आगे भी जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि—ऋतुए अनुत्पन्न थे और भी धाता (धारण करने वाला आकाश) (बड़े पदार्थों का रक्षक वायु) इन्द्र (मध) और अग्नि (सूर्य आदि) और दिन और रात्रि (अनुत्पन्न थे) तब उन्होंने (ऋतु आदिकों ने कौन से सर्वश्रेष्ठ को पूजा है।[4] इस प्रकार प्रश्न करने पर आगे जीवात्मा का वर्णन करते हुए उत्तर में कहा है कि—तप (ईश्वर का सामर्थ्य) और कर्म (प्राणियों के कर्म का फल) ही बड़े समुद्र (परमेश्वर के गम्भीर सामर्थ्य) के भीतर दोनों थे। तप (ईश्वर का सामर्थ्य) निश्चय करके कर्म (कर्म के फलानुसार शरीर, स्वभाव आदि रचना) से प्रकट

---

1. तपश्चैवास्तां कर्मं चान्तर्महत्यर्णवे।
   त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म............।। अ.का. 11 सू. 8 म. 2
2. दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
   यौ वे तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 3
3. प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
   व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 4
4. अजाता आसन्नृतवोऽथो घाता बृहस्पतिः।
   इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत।। अ.का. 11 सू. 8 म. 5

हुआ है, सो उन्होंने (ऋतु आदिकों ने) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा को पूजा है। अर्थात् प्रलय में प्राणियों के कर्म और ईश्वर सामर्थ्य भी ईश्वर सामर्थ्य में रक्षित थे। फिर सृष्टि काल में कर्म फलों के अनुसार प्राणियों के विविध प्रकार शरीर और स्वभाव प्रकट हुए। उससे परमात्मा ही सर्व नियन्ता प्रतीत हुआ।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–इस (दीखती हुई भूमि) से पहिली (पहिले कल्प वाली) जो भूमि थी और जिस (भूमि) को सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं जो निश्चय करके उस (पहिले कल्प वाली भूमि) को नाम द्वारा जान लेवे वह पुराणवेत्ता (पिछले वृत्तान्त जानने वाला) माना जावे। अर्थात् वर्तमान सृष्टि में एक से साधन उपस्थित हो जाने पर भी किसी को ज्ञानी, किसी को अज्ञानी किसी को धनी, किसी को निर्धन, आदि विचित्रता देखकर बुद्धिमान् लोग पूर्व सृष्टि का अनुभव करते और उसके मर्म को साक्षात् करते हैं।[2] अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए प्रश्न पूछते हैं कि–कहाँ से (किस कारण से) इन्द्र (मेघ) कहाँ से सोम (प्रेरक वायु) कहाँ से अग्नि (सूर्य आदि तेज) उत्पन्न हुआ है। कहाँ से त्वष्टा (शरीर आदि का कारण पृथ्वी तत्त्व) उत्पन्न हुआ है, कहाँ से धाता (धारण करने वाला आकाश) प्रकट हुआ है। अर्थात् मेघ आदि पदार्थ किस कारण से उत्पन्न हुए हैं।[3] इसी प्रकार आगे उत्तर में स्पष्ट करते हुए कहा है कि–इन्द्र (पूर्वकल्पवर्ती मेघ) से इन्द्र (मेघ) सोम (प्रेरक वायु) से सोम (प्रेरक वायु) अग्नि (सूर्य आदि तेज) से अग्नि (सूर्य आदि तेज उत्पन्न हुआ है। त्वष्टा (शरीर आदि का कारण पृथ्वी तत्त्व) से प्रकट हुआ है, और धाता (धारण करने वाले आकाश) से धाता (धारण करने वाला आकाश) उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जो पदार्थ प्रलय में परमाणु रूप थे, वे पूर्व कल्प के समान इस कल्प में भी ईश्वर सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं।[4] इसी प्रकार आगे जीवात्मा के गुण (दस इन्द्रियों के विषय ग्राहक गुण) पूर्वकाल में (वर्तमान) दिव्य पदार्थों (कर्म फलों)

---

1. तपश्चैवास्तां कर्मं चान्तर्महत्यर्णवे।
   तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत।। अ.का. 11 सू. 8 म. 6
2. येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः।
   यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 7
3. कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
   कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत।। अ.का. 11 सू. 8 म. 8
4. इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत।
   त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत।। अ.का. 11 सू. 8 म. 9

से उत्पन्न हुए थे। वे पुत्रों (पुत्र रूप इन्द्रियों के गोलकों) को साथ (दर्शन वा विषय ग्रहण सामर्थ्य देकर कौन से स्थान में बैठते हैं। अर्थात् पूर्वकल्प के अनुसार आँख, कान आदि अपने-अपने गोलकों में दर्शन, श्रवण आदि गुण कहाँ रहते हैं।[1] इसी प्रकार आगे जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए प्रश्न पूछते हैं कि–जब (प्राणी के) केशों, हड्डी, सूक्ष्म नाड़ी (वायु ले चलने वाली नस) मांस मज्जा (हड्डियों के भीतर के रस) को उस (कर्ता परमेश्वर) ने लाकर धरा। और पैरों वाला (हाथ पाँव आदि अङ्गों वाला) शरीर बनाकर कौन से स्थान में उस (परमेश्वर) ने पीछे प्रवेश किया। अर्थात्–प्राणी के केश आदि धातु उपधातुओं और हाथ पैर आदि अङ्गों वाले शरीर को रच कर वह परमेश्वर कहाँ रहता है। इस प्रकार आगे भी जीवात्मा के गुण कर्म आदि के विषय में फिर प्रश्न किया है कि[2]–किससे केशों को कहाँ से सूक्ष्मनाड़ी कहाँ से हड्डियों को उसने लाकर धरा। अङ्गों जोड़ों मज्जा और मांस को कर्ता ने कहाँ से लाकर धरा।[3] आगे अथर्ववेद में जीवात्मा के गुणकर्म स्वभाव के सम्बन्ध में किए हुए प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि–परस्पर सींचने वाले प्रसिद्ध वे द्रव्य पदार्थ (पृथिवी आदि पंचभूत) हैं, जिन्होंने (उन) संग्रहों (उपकरण द्रव्यों) को सींचकर पुरुष में (आत्मा सहित शरीर में) प्रवेश किया है। अर्थात्–परमेश्वर के सामर्थ्य से पूर्व कल्प के समान पृथिवी, जल आदि पाँचों तत्त्व आपस में मिलकर शरीर के इन्द्रिय आदि अवयवों को बना कर स्वयम् भी प्राणियों के शरीर में प्रवेश कर रहे हैं।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्मा के सम्बन्ध में फिर प्रश्न करते हुए कहा है कि–दोनों जंघाओं, दोनों घुटनों दोनों पैरों, दोनों हाथों और भी शिर, मुख, पसलियों, दोनों कुच की टीपनी, दोनों कोंखों को तब किस ऋषि (ज्ञानवान्) ने मिला दिया। अर्थात् शरीर के भीतर जंघा आदि को किस चतुर ज्ञानी ने आपस में जोड़कर जमा दिया है।[5] इस प्रकार आगे उत्तर में कहते हैं कि–दोनों

---

1. ये त आसन दश जाता देव देवेभ्यः पुरा। पुत्रेभ्यो.........।। अ.का. 11 सू. 8 म. 10
2. यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत्।
   शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत्। अ.का. 11 सू. 8 म. 11
3. कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।
   अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मासं कुत आभरत्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 12
4. संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
   सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 13
5. ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरौ हस्तावथो मुखम्।
   पृष्टीर्वर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः।। अ.का. 11 सू. 8 म. 14

हाथों, शिर और भी मुख, जीभ, गले की नाड़ियों और हंसली की हड्डियों। इस सबको खाल से ढक कर बड़ी जोड़ने वाली (शक्ति, परमेश्वर) ने मिला दिया। अर्थात्–परमेश्वर ने तत्त्वों के संयोग वियोग से प्राणियों के अङ्गों को बनाकर और ऊपर से खाल में लपेट कर एक दूसरे में मिला दिया है।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव के सम्बन्ध में प्रश्न किया है कि–जब जोड़ने वाली (शक्ति, परमेश्वर) करके जोड़ा हुआ वह महान् (समर्थ) शरीर पड़ा हुआ था (तब) जिस (रंग) से यह (शरीर) आज रुचता है, किसने इस (शरीर) में वही (रंग) सब और से भर दिया। अर्थात्–जब शरीर अवयवों सहित चर्म में लपेटकर रख दिया गया, फिर उस पर गोरा, काला, पीला, आदि रंग किसने चढ़ाया।[2] इस प्रकार आगे उत्तर में कहते हैं कि–सब दिव्य पदार्थों ने उपकारीपन से समर्थ (सहायक) होना चाहा, उस (कर्म) को सत्यव्रता चलाने वाली (परमेश्वर शक्ति) जानती थी। वश करने वाले (परमेश्वर) की जो ईश्वरी उत्पन्न करने वाली शक्ति है, उसने इन (शरीर) में रङ्ग सब ओर से भर दिया। अर्थात्–तत्त्वों के संयोग वियोग क्रिया जानने वाले महारासायनिक, सर्वनियन्ता, सत्यव्रती, परमेश्वर ने अपनी शक्ति से व्यक्ति को विशेष करके जानने के लिये शरीर पर गोरा, काला, पीला आदि रंग चढ़ा दिया।[3] इसी प्रकार आगे जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है। कि–जो कर्म कर्ता (जीव) का अधिक उत्तम पिता (पालक) है, जब विश्व कर्ता (उस सृष्टि कर्ता परमेश्वर) ने (जीव के शरीर में) विविध छेद किये। (तब) दिव्य पदार्थों (इन्द्रिय की शक्तियों) ने मरणधर्मी (नश्वर शरीर) को घर बनाकर पुरुष (पुरुष शरीर) में प्रवेश किया। अर्थात्–जब जगत् पिता परमेश्वर ने शरीर में नेत्र, कान आदि गोलक बनाये, तब उसने उनमें उनकी शक्तियों को प्रवेश कर दिया।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–नींद और भी थवावटें अलक्ष्मी (महामारी, दरिद्रता आदि) अर्थात् पाप व्यवहार, दुःखदायी

---

1. शिरो हस्तावथोमुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
   त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही।। अ.का. 11 सू. 8 म. 15
2. यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत्।
   येनेदमद्य रोचने को अस्मिन् वर्णमाभरत्। अ.का. 11 सू. 8 म. 16
3. सर्वेदेवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती।
   ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 17
4. यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
   गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 18

इच्छायें बुढ़ापा गंजापन केशों के भूरेपन ने शरीर में धीरे-धीरे प्रवेश किया। अर्थात्–प्राणियों के दुष्कर्मों के फल से उनके शरीर में निर्बलता के कारण निद्रा आदि दोष घुस (प्रवेश) पड़ते हैं।[1] इसी प्रकार आगे जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि–चोरी, दुष्कर्म, पाप, सत्य (यथार्थ कथन कर्म आदि) यज्ञ (देव पूजा आदि) और बृद्धिकारक यश, बल और पराक्रम और हानि से रक्षक गुण (क्षत्रियपन) ने शरीर में धीरे-धीरे प्रवेश किया। अर्थात्–मनुष्य के दुष्ट विचारों से चोरी आदि दुष्ट कर्म और उनके नरक आदि बुरे फल और शुभ विचारों से सत्य कर्म आदि उत्तम कर्म और उनके मोक्ष आदि उत्तम फल शरीर द्वारा प्राप्त होते हैं।[2] आगे और स्पष्ट किया है कि–सम्पत्ति और भी निर्धनता और दानशक्तियाँ और जो कंजूसी की बातें (हैं, उन्होंने) और भूखा और सब तृष्णाओं ने शरीर में धीरे-धीरे प्रवेश किया। अर्थात्–मन की स्थिरता से सम्पत्ति आदि सुख, और उसकी चञ्चलता से निर्धनता आदि कष्ट प्राणी को शरीर द्वारा प्राप्त होते हैं।[3] इसी प्रकार आगे विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि–निन्दाएँ (गुणों में दोष लगाने) और भी अनिन्दाएँ (स्तुति गुणों के कथन) और जो कुछ "हाँ" ऐसा और "ना" ऐसा है और दक्षिणा (प्रतिष्ठा) श्रद्धा (सत्य ईश्वर और वेद में विश्वास) और अश्रद्धा (ईश्वर और वेद में भक्ति न होना) (इन सब ने) शरीर में धीरे-धीरे प्रवेश किया। अर्थात्– मनुष्य विहित कर्मों के करने और निषिद्ध कर्मों को छोड़ने से सुसंस्कार के कारण शरीर द्वारा सुख प्राप्त करता है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि–विद्याएं (तत्त्वज्ञान) और भी अविद्याएँ (मिथ्या कल्पनाएँ) और जो कुछ दूसरा उपदेश योग्य कर्म (विद्या और अविद्या सम्बन्ध वाला विषय है वह) और ब्रह्म (ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय संयम आदि तप) ऋचाएँ (पदार्थों) की गुण प्रकाशक विद्यायें साम ज्ञान (मोक्ष विद्यायें) और भी

---

1. स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः।
   जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन।। अ.का. 11 सू. 8 म. 19
2. स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
   बलं च क्षत्रमोजश्च .... ।। अ.का. 11 सू. 8 म. 20
3. भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः।
   क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 21
4. निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च।
   शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चा नु प्राविशन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 22

यजुर्ज्ञान (ब्रह्म निरूपक विद्याएँ) (इन सब ने) शरीर में प्रवेश किया। अर्थात्–मनुष्य आचार्य द्वारा विद्या और अविद्या के ज्ञान और ब्रह्मचर्य के धारण करने से चारों वेदों में वर्णित कर्म, उपासना, ज्ञानत्रयीविद्या में निष्ठा करके आनन्द पाता है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि– आनन्द हर्ष, बड़े आनन्द और बड़े उत्सवों से हर्ष देने वाले पदार्थ हैं (वे सब और) हँसी नाचों और मङ्गल कामों (खेल कूद आदि) (इन सब ने) शरीर में धीरे धीरे प्रवेश किया। अर्थात् मनुष्य शरीर द्वारा अनेक शुभ कर्म करके अनेक मङ्गल मनावें।[2] अथर्ववेद में आगे स्पष्ट किया है कि–आलाप (सार्थक बातें) और प्रलाप (अनर्थक बातें, बकबाद) और जो व्याख्यानों के कथन व्यवहार हैं, (उन सबने और) उद्योगों, प्रयोजनों और योगों (समाधि क्रियाओं) इन सब ने शरीर में प्रवेश किया। अर्थात् उत्साह के बढ़ाने वाले आलाप आदि व्यवहार शरीर के साथ मनुष्य को सुखदायक होते हैं।[3] इस प्रकार आगे अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए पहले कही हुई बात को फिर व्याख्या के रूप में स्पष्ट करते हुए समझाया है कि–प्राण और अपान (भीतर और बाहिर जाने वाला श्वास), नेत्र, कान, और जो (सुख की) निर्हानि और (दुःख की) हानि। व्यान (सब नाड़ियों में रस पहुँचाने वाला वायु) और उदान (ऊपर को चढ़ाने वाला वायु) वाणी और मन ये सब शरीर के साथ चलते हैं। अर्थात् जीवों में प्राण अपान आदि सब व्यापार शरीर के साथ होते हैं।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–आशीर्वादों (हित प्रार्थनाओं) और उत्तम शासनों और यथावत् प्रबन्धों और जो विशेष परामर्श हैं (उन्होंने) अनेक विचारों और सब सङ्कल्पों (मनोरथों) ने शरीर में धीरे-धीरे प्रवेश किया। अर्थात्–मनुष्य शरीर के सम्बन्ध से ज्ञान प्राप्त करके हित प्रार्थनाओं और शासन आदि क्रियाओं को दृढ़ संकल्पी होकर

---

1. विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।
   शरीरं ब्रह्म प्राविशदृच सामाथो यजुः।। अ.का. 11 सू. 8 म. 23
2. आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
   हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 24
3. आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये।
   शरीरं सर्वे प्राविशन्नयुजः प्रयुजो युजः।। अ.का. 11 सू. 8 म. 25
4. प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्चं क्षितिश्चया।
   व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते।। अ.का. 11 सू. 8 म. 26
5. आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषौ विशिषश्च याः।
   चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 26

सिद्ध करे।[5] इसी प्रकार अथर्ववेद में जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि–अस्ति (रुधिर) में रहने वाले और वस्ति (पेडू वा मूत्राशय) में रहने वाले और शीघ्र चलने वाले और दुर्बल (पतले), गाढ़े गुहा (शरीर के गुप्त स्थान) में रहनेवाले और वीर्य (वा रज) में रहने वाले जो (जल हैं) उन जलों को परस्पर बंधे हुए (शरीर) में (ईश्वर नियमों) ने पहुँचाया। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि– परमेश्वर ने नाड़ियों द्वारा वायु की गति से जल को विविध प्रकार पहुँचाकर शरीर को काम करने योग्य बनाया है।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–व्यापक दिव्यगुणों (ईश्वर नियमों) ने फिर हड्डी को समिधा (इन्धन समान साधन) बनाकर और वीर्य (वा स्त्री रज) को घृत (घृत समान पुष्टिकारक) बनाकर आठ प्रकार से (रस अर्थात् अन्न का सार, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, वीर्य, वा स्त्री रज इन सात धातुओं और मन के द्वारा) पुरुष (प्राणी के शरीर) को चलाया, और (उसमें) उन्होंने प्रवेश किया। इसे इस प्रकार से भी वर्णन किया जा सकता है कि–परमेश्वर ने अपनी शक्ति के प्रवेश से प्रधानता से हड्डियों को काष्ठ रूप अन्न आदि के पाक का साधन और पुरुष के वीर्य वा स्त्री के रज को घृत समान पुष्टिकारक बनाकर रस, रक्त, मांस आदि सात धातुओं और मन के द्वारा प्राणियों के शरीर को कार्ययोग्य किया है।[2] इसी प्रकार आगे जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए आगे बतलाया है कि– जो व्यापक (इन्द्रियों की शक्तियाँ) और जो दिव्य गुण वाले (इन्द्रियों के गोलक) हैं, और जो विराट्र (विविध प्रकार शोभायमान प्रकृति) ब्रह्म (परमात्मा) के साथ है। (इस सबने और) अन्न ने शरीर में प्रवेश किया, और प्रजापति (इन्द्रिय आदि प्रजाओं का स्वामी, जीवात्मा) शरीर में अधिकार पूर्वक (ठहरा)। अर्थात् परमात्मा ने जीव के शरीर में इन्द्रियों को उनकी शक्तियों सहित प्रकृति द्वारा रचा और शरीर पुष्ट के लिए अन्न आदि पदार्थ देकर सबका अधिष्ठाता जीवात्मा को किया।[3] इसे आगे स्पष्ट किया

---

1. आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृष्णाश्च याः।
   गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 28
2. अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
   रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्।। अ.का. 11 सू. 8 म. 29
3. या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
   शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः।। अ.का. 11 सू. 8 म. 30

है कि—सूर्य ने (जीवात्मा) के नेत्र को, वायु ने प्राण (उसके श्वास प्रश्वास) को विशेष करके स्वीकार किया। फिर दिव्य पदार्थों (दूसरे इन्द्रिय आदि) ने इस (जीवात्मा) का दूसरा शरीर का अवयव समूह अग्नि को दान किया। इस प्रकार से भी व्यक्त कर सकते हैं कि जैसे शरीर में सूर्य का प्रधानतत्त्व नेत्र पर और वायु का श्वास प्रश्वास पर है, इसी प्रकार अग्नि तत्त्व की विशेषता शरीर के अन्य सब अङ्गों में है।[1] अथर्ववेद में आगे जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कहते हैं कि—उससे (ब्रह्म से उत्पन्न) निश्चय करके पुरुष (पुरुष शरीर) को जानने वाला (मनुष्य) ब्रह्म (परमात्मा) परम ऐश्वर्य वाला है" ऐसा मानता है क्योंकि इस (परमात्मा) में सब दिव्य पदार्थ (पृथिवी, सूर्य, आदि लोक) ठहरते हैं, जैसे गौएं गोशाला में सुख से रहती हैं। अर्थात्—मनुष्य अपने शरीर में परमात्मा की अद्भुत स्थूल और सूक्ष्म रचना देखकर समस्त ब्रह्माण्ड का कर्ता, धर्ता और आधार उसको जाने।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि—पहिले (मरण समय के पहिले) से और मरण के साथ तीन प्रकार पर नाना गति से वह (प्राणी) चला चलता है। वह (प्राणी) एक (शुभ कर्म) से उस (मोक्ष सुख) को पाता है, एक (पापकर्म) से उस (नरक स्थान) को पाता है एक (पुण्य पाप के साथ मिले कर्म) से यहाँ पर (मध्य अवस्था में) नियम से रहता है। इसे इस प्रकार से भी वर्णन किया जा सकता है कि—मनुष्य जीवनकाल और परलोक में अपने शुभ कर्म से मोक्ष, अशुभ कर्म से नरक, और दोनों पुण्य पाप की मध्य अवस्था में मोक्ष और नरक की मध्यावस्था भोगता है।[3] इसी प्रकार अथर्ववेद में जीवात्म के गुण कर्म स्वभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि—भाप वाले बढ़े हुए अन्तरिक्ष के भीतर शरीर रखा हुआ है। उस (शरीर) के भीतर बल (गति कारक वा वृद्धिकारक जीवात्मा) अधिकारपूर्वक है, उस (जीवात्मा) से ऊपर बल (गतिकारक व वृद्धिकारक परमात्मा) कहा जाता है। इसे इस प्रकार से भी वर्णन किया जा सकता है कि—विशाल आकाश के भीतर मेघ,

---

1. सूर्यचक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
   अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये।। अ.का. 11 सू. 8 म. 31
2. तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
   सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते।। अ.का. 11 सू. 8 म. 32
3. प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
   अद एकेन गच्छत्य द एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते।। अ.का. 11 सू. 8 म. 33

वायु आदि पदार्थ हैं। उस आकाश के भीतर सब शरीर हैं शरीरों में चेतन्य जीवात्मा अधिष्ठाता है उस जीवात्मा का भी अधिष्ठाता सर्व नियन्ता परमात्मा है।[1]

अज का पञ्चतत्त्व रूप—अथर्ववेद में जीवात्मा के लिए पञ्चौदन अज के रूप में वर्णन है कि—इस (जीवात्मा) को ला और भले प्रकार उत्सुक (उत्साही) बन, भले प्रकार जानता हुआ वह सुकर्मियों के दर्शनीय लोक को ही प्राप्त हो। अनेक प्रकार से बड़े-बड़े अन्धकारों (अज्ञानों) को तर के अजन्मा वा गतिशील अज अर्थात् जीवात्मा तीसरे (जीव और प्रकृति से भिन्न) सुखस्वरूप परमात्मा को यथावत् प्राप्त करें।[2] इसी प्रकार आगे कहा है कि—इस संगतिकरण व्यवहार में यजमान (संगतिकर्ता) को परम ऐश्वर्य के लिये तुझे विद्वान् सेवनीय (परमात्मा) की ओर मैं लाता हूँ। जो (दोष) हमें सताते हैं उनको निरन्तर पकड़ (वश में कर) श्रेष्ठ व्यवहार वाले के वीर पुरुष निर्दोष (होवें)। अर्थात्—जो पुरुष परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा में श्रद्धा करके अपने दोषों को मिटाते हैं, वे अपनी और संसार की उन्नति करते हैं।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि— पर (अधिकार) से उस दुष्ट कर्म को अच्छे प्रकार शुद्ध करके जो कुछ उस (जीव) ने किया है, बड़ा ज्ञानवान् वह शुद्ध सूक्ष्म विचारों से ऊपर चढ़ जावे। अन्धकारों को पार करके, अनेक प्रकार से दूर दूर देखता हुआ अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा तीसरे (जीव और प्रकृति से अलग) सुखस्वरूप परमात्मा को यथावत् प्राप्त करे।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—हे अविद्या नाशक तू इस (हृदयस्थ) ढकने वाली (अविद्या) को पूर्णता के साथ ज्ञान से और गति अर्थात् उपाय से काट डाल, और मत अभिमान कर। पालन का विचार करने वाला तू मत द्रोह कर, इस (जीव) को समर्थ कर और तीसरे (जीव और प्रकृति से अलग) सुखस्वरूप परमेश्वर में इसको अधिकार पूर्वक फैलकर आश्रय दे।

---

1. अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम्।
   तस्मिंछवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते।। अ.का. 11 सू. 8 म. 34
2. आ नयैतमा रभस्व सुकृता लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
   तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 1
3. इन्द्राय भागं परि त्वा नयाभ्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम्।
   ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः।। अ.का. 9 सू. 5 म. 2
4. प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं चच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
   तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 3

अर्थात्–आत्मदर्शी विवेक मिथ्या ज्ञान का नाश करके निरभिमानी, सर्वोपकारी और पराक्रमी होकर परमात्मा का आश्रय लेकर आनन्दित होता है।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–वेद वाणी से बटलोही को अग्नि पर मैं रखता हूँ, तू जल सींच दे इस (अन्न जैसे जीवात्मा) को तू घर दे। हे विचारवानो! अग्नि से (अन्न जैसे उसको) तुम ढक दो परिपक्व (दृढ़ बुद्धि वाला) वह (वहाँ) जावे जहाँ सुकर्मियों का दर्शनीय स्थान है। इसे इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि–जैसे चतुर सूपकार आग पर बटलोही घर जल डालकर अन्न को आग द्वारा पकाकर उपकारी बनाता है, वैसे ही योगी जन आचार्य की शिक्षा से ब्रह्मचर्य आदि तप करके वेद द्वारा शान्त और परिपक्व बुद्धि वाला होकर धर्मात्माओं के बीच धर्मात्मा होता है।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–और भी असन्तप्त (बिना थका हुआ) तू सब और से तपाये हुए इस चरु (बटलोही) सी तीसरे (जीव और प्रकृति से भिन्न) सुख-स्वरूप जगदीश्वर की ओर ऊपर चढ़। ज्ञानवान् परमेश्वर से अधिकारपूर्वक पराक्रमी हुआ है, इस प्रकाशयुक्त लोक की और जयकर।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि–अजन्मा व गतिशील जीवात्मा अग्नि (समान शरीर में) है, जीवात्मा को ही (शरीर के भीतर) ज्योति वे (विद्वान्) बताते हैं, और जीवात्मा को जीते हुए पुरुष करके ब्रह्म (परमेश्वर) के लिये देने योग्य कहते हैं। श्रद्धा रखने वाले पुरुष करके दिया हुआ जीवात्मा इस लोक में अन्धकारों को दूर फेंक देता हैं। इसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि–जीता हुआ अर्थात् पुरुषार्थी योगी विद्या की प्राप्ति से परमात्मा में श्रद्धा करता हुआ अविद्यारूपी अन्धकारों को मिटा कर देदीप्यमान होता है।[4] इसी प्रकार आगे विस्तरित रूप से वर्णन करते हुए कहते हैं कि–पाँच भूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) से सींचा हुआ (जीवात्मा पाँच प्रकार (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द से) तीन (शरीर इन्द्रिय और विषय ज्योतियों (दर्शन साधनों

---

1. अनुच्छय श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्वं 1 सिना माभि मंस्थाः।
   माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 4
2. ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम्।
   पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः।। अ.का. 9 सू. 5 म. 5
3. उत् क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।
   अग्नेरग्निरधि सं बभृविथ ज्योतष्मन्तमभि लोकं जयैतम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 6
4. अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः।
   अजस्तमांस्यप हन्ति दूरस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः।। अ.का. 9 सू. 5 म. 7

को पाने की इच्छा करता हुआ विक्रम (पराक्रम) करें। यज्ञ (देवपूजा, संगतिकरण दान) कर चुकने वाले सुकर्मियों के मध्य में आगे बढ़कर पहुँच और तीसरे (जीव प्रकृति से भिन्न) सुखस्वरूप परमात्मा में अधिकार पूर्वक फैलकर विश्राम लें। इसे इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि–विवेकी पुरुष पृथिवी आदि पञ्चभूतों और उनके गन्ध आदि गुणों द्वारा संसार के शरीर इन्द्रिय और विषय का ज्ञान प्राप्त करके धर्मात्माओं में महाधर्मात्मा होकर परमात्मा की शरण लेता है।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि–हे अजन्मा व गतिशील जीवात्मा! (वहाँ) चढ़कर जा जहाँ सुकर्मियों का लोक (स्थान) है, और शत्रुनाशक (शूर) के समान प्रार्थना किया गया तू संकटों को पार करके चल। वह ब्रह्म (परमेश्वर) को दिया जाता हुआ पाँच भूतों से खींचा हुआ (जीवात्मा) दाता (अपने आप) को तृप्ति (सुख की परिपूर्णता) से तृप्त करे। इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि जो मनुष्य पुरुषार्थ करके विघ्नों को हटाकर परमेश्वर की शक्ति में लवलीन होता है, वह मोक्ष सुख से तृप्त रहता है।[2] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि– ब्रह्म (परमेश्वर को दिया जाता हुआ, पाँच भूतों से सींचा हुआ अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा तीन (शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक) सुखों वाली, तीन (आय, व्यय और वृद्धि) व्यवहारों वाली, तीन (धर्म, अर्थ और काम) से सींची हुई सुख की सिंचाई में दे चुकने वाले (अपने आत्मा) को धरता है" यह एकाएक संसार को रूप देने वाली कामनायें पूरी करने वाली तृप्त करने वाली देववाणी है। इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि–वेद पुकार पुकार कर कहता है कि परोपकारी आत्मदानी मनुष्य सब प्रकार की आज्ञा पालन में मोक्ष सुख पाता है।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–हे पालन करने वाले विद्वानों तुम्हारे लिये यह तीसरी ज्योति (परमेश्वर) वेद ज्ञान के लिये पाँच भूतों से सींचे हुए अजन्मे वा गतिशील जीवात्मा का दान करती है। श्रद्धा रखने वाले पुरुष करके दिया हुआ जीवात्मा इस लोक

---

1. पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमताकाक्रंस्यभानस्त्रीणि ज्योतींषि।
   ई जानानां........................।। अ.का. 9 सू. 5 म. 8
2. अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः।
   पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयति।। अ.का. 9 सू. 5 म. 9
3. अजस्त्रिनाके त्रिदेवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति।
   पञ्चौदनो ....।। अ.का. 9 सू. 5 म. 10

में अंधकारों को दूर फैंक देता है। इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि–परमात्मा ने विद्वानों को वेद द्वारा उपकार के लिए उत्पन्न किया है। इससे वे ईश्वर की आज्ञा का पालन करके अविद्या का नाश करें।[1]

अथर्ववेद में आगे पञ्चौदन अज का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि– यज्ञ (देवपूजा, संगतिकरण, दान) कर चुकने वाले सुकर्मियों के लोक को चाहता हुआ पुरुष ब्रह्म (परमेश्वर) के लिये पाँच भूतों (पृथिवी आदि) से सींचे हुए अजन्मे वा गतिशील जीवात्मा का दान करता है। (इसलिये) वह तू (सूख की) पूर्ण प्राप्ति के लिये इस लोक को जीत, (जिस से परमेश्वर करके) स्वीकार किया हुआ (जीवात्मा) हमारे लिये मङ्गलकारी होवे। इसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि–जो मनुष्य अग्रज विद्वानों के समान परमेश्वर की आज्ञा पालन में आत्मसमर्पण करके पुरुषार्थ करता है, वह सबके लिये मङ्गलकारी होता है।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–अजन्मा व गतिशील जीवात्मा दीप्यमान सर्व व्यापक परमेश्वर से ही प्रकट हुआ है, (वह) बुद्धिमान् (जीव) बुद्धिमान् (परमेश्वर) के बल का भले प्रकार विचारने वाला है। इस लिये विद्वान् लोग सम्पूर्ण भक्ति से सिद्ध किये हुए यज्ञ वेदाध्ययन आदि और अन्नदानादि पुण्यकर्म को प्रत्येक ऋतु में समर्थ करें। अर्थात्–मनुष्य परमेश्वर की महिमा को जानकर अपने सब उत्तम कर्मों को सब काल में सिद्ध करें।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–वह ज्ञान के साथ बुना हुआ वस्त्र और सुवर्ण भी दक्षिणा देवे। उससे वह (उन) लोकों को पूरा-पूरा पाता है, जो अन्तरिक्ष के और जो पृथिवी के हैं। इस प्रकार से भी वर्णन किया जा सकता है कि– मनुष्य सुपात्रों का यथावत् उत्तम पदार्थों से सत्कार करके ससार में प्रतिष्ठा बढ़ावें।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में स्पष्ट करते हुए कहा है कि– हे जीवात्मा। तुझको ये सब अमृतमय, उत्तम गुण वाली, प्रकाश (वा सार तत्त्व) से सींचने वाली, मधुरपन बरसाने वाली धारण

---

1. एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
   अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रदधानेन दत्तः।। अ.का. 9 सू. 5 म. 11
2. ई जानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
   स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवोस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु।। अ.का. 9 सू. 5 म. 12
3. अजो ह्य 1 ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित्।
   इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद देवा ऋतुशः कल्पयन्तु।। अ.का. 9 सू. 5 म. 13
4. अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम्।
   तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः।। अ.का. 9 सू. 5 म. 14

शक्तियाँ आदर से प्राप्त हों। व्याप्त किरणों वाले सूर्य (पूर्ण प्रकाश) में सुख के पीठ (आश्रय में अधिकार पूर्वक पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक को सहारा दे। अर्थात्–उद्योगी पुरुष अनेक प्रकार से धारण शक्तियाँ प्राप्त करके सूर्य के समान ज्ञान में प्रकाशित होकर आनन्दपूर्वक संसार भर का उपकार करते हैं।[1] अथर्ववेद में पञ्चौदन अज का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि–हे अजन्मे जीवात्मा! तू गतिशील है, तू सुख प्राप्त करने वाला है, तेरे साथ बुद्धिमानों ने देखने योग्य परमात्मा को अच्छे प्रकार जाना है। उस पवित्र देखने योग्य परमात्मा को मैं अच्छे प्रकार जानूँ। अर्थात्–ज्ञानी पुरुष ने जीवात्मा को ज्ञानी बनाकर परमात्मा को पाया है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य ज्ञानवान् होकर सर्वव्यापक परमेश्वर के दर्शन से आनन्दित होवे।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–हे विद्वान्! जिस नियम से बलवान पुरुषों को सब प्रकार के ज्ञानों वा धनों से युक्त (यज्ञ) में तू ले जाता है। उसी (नियम) से हमें इस प्राप्त होने योग्य यज्ञ में विद्वानों के बीच सुख पाने के लिये ले चल। इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि–मनुष्यों को योग्य हैं कि विद्वानों के बीच सुख प्राप्त करने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि–पक्का (दृढ़ स्वभाव), पाँच भूतों (पृथ्वी आदि) से सींचा हुआ महाविपत्ति को हटाता हुआ अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा सुख प्राप्त कराने वाले लोक में (आत्मा) को रखता है। उसी (उपाय) से सूर्य (प्रकाश) वाले लोकों को हम जीतें। अर्थात् जिस प्रकार निश्चल बुद्धिवाला मनुष्य महाविघ्नों को हटाकर सुख भोगता है। वैसे ही सब मनुष्य विद्या द्वारा पुरुषार्थ करके सुखी होवें।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि– जिस नियम को ब्रह्मज्ञानी में और (प्रत्येक) जीवात्मा के सेचन धर्मों की जिन विविध पूर्तियों को प्रजाओं के बीच उस (परमेश्वर) ने रखा है। हे विद्वान् पुरुष! हमारे उस सबको सुकर्मी के लोक में मार्गों के संगम पर तू जान। इस

---

1. एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः।
   स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ।। अ.का. 9 सू. 5 म. 15
2. अजो3स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्।
   त लोकं पुण्यं प्रज्ञेषम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 16
3. येना सहस्त्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्।
   तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे।। अ.का. 9 सू. 5 म. 17
4. अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
   तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम।। अ.का. 9 सू. 5 म. 18

प्रकार से भी कह सकते हैं कि–ब्रह्मज्ञानी अपने में और सब सृष्टि में वृद्धियों के ईश्वर नियमों को विविध प्रकार विचार कर पुण्यात्माओं के मार्ग पर चलकर सुखी होवे।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में स्पष्ट करते हुए कहा है कि–अजन्मा वा गतिशील परमात्मा ही पहिले ही पहिले इस (जगत्) में विचरता था, उसकी छाती यह (भूमि) और पीठ आकाश हुआ। कटिभाग अन्तरिक्ष दिशायें दोनों काँखें (कक्षायें) और दोनों (अन्तरिक्ष और भूमि के) समुद्र दोनों कोखें (हुई) इस प्रकार से भी वर्णन कर सकते हैं कि–अनादि, अनन्त, परमेश्वर सृष्टि का कर्ता, सर्व नियन्ता और सर्वव्यापक है।[2] इसी प्रकार अथर्ववेद में आगे पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कहते हैं कि–सत्य (यथार्थस्वरूप वा अस्तित्व) और ऋतु (वेद आदि यथार्थ शास्त्र) उसकी दोनों आँखें, सत्य और श्रद्धा उसका प्राण और विविध प्रकाशमान प्रकृति (उसका) शिर (हुआ)। क्योंकि यही परिमाण रहित, पूजनीय अजन्मा वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में पाँच भूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला है। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–सत्यस्वरूप, अनन्त, सब सृष्टि का स्वामी परमेश्वर सब का उपास्य देव है।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–वह (पुरुष) परिमाण रहित पूजनीय परमेश्वर को ही पाता है, तोल माप रहित दर्शनीय परमात्मा को ध्यान में रखता है, जो पुरुष पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–आत्मसमर्पण पुरुष पूर्ण भक्ति से उस अनन्त जगदीश्वर को पाता है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में वर्णन किया है कि–वह (रोग) इस (प्राणी) की हड्डियों को नहीं तोड़ सकता और न मज्जाओं (हाड़ के भीतरी रसों) को निरन्तर पी सकता है। (जो) इस (ईश्वर) को ठीक ठीक ग्रहण करके सब प्रकार से इस इस (प्रत्येक वस्तु) में प्रवेश करें। अर्थात्–वह मनुष्य सब

1. यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य।
   सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 19
2. अजो वा इदमग्ने व्यक्रमत तस्योर इयमभवद्द्यौः पृष्ठम्।
   अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी।। अ.का. 9 सू. 5 म. 20
3. सत्यं च ऋतं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
   एष वा........................।। अ.का. 9 सू. 5 म. 21
4. अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे।
   योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति।। अ.का. 9 सू. 5 म. 22

विपत्तियों से निर्भय रहता है जो परमात्मा को प्रत्येक वस्तु में साक्षात् करता है।[1] आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि–इस (परमेश्वर) का रूप (सौन्दर्य) इस (प्रत्येक वस्तु) में ही पहुँचता है। (तभी वह सर्वव्यापक रूप) उस (परमात्मा) के साथ इस जीवात्मा को मिला देता है। वह (पुरुष) अन्न, बड़ाई और पराक्रम इसके लिये (अपने लिये) दोहता है जो पुरुष जो पुरुष पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है।[2] अथर्ववेद में पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–विस्तृत रोचक वस्तुएँ (सुवर्ण आदि) विस्तृत नवीन वस्त्र और विस्तृत तृप्त करने वाली वाचायें (विद्यायें) उस (पुरुष) के लिये कामनायें पूरी करने वाली होती है। जो पुरुष पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले, दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता हैं इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि आत्मत्यागी मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सब प्रकार के सुख प्राप्त करता है।[3] आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–विस्तृत रोचक वा चमकीले वस्तु (सुवर्ण आदि) उस (पुरुष) के लिये ज्योति होते हैं, वस्त्र (उसके) शरीर के लिये कवच होते हैं। वह स्वर्ग (सुख देने वाला) लोक पाता है, जो पुरुष पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले, दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है। अर्थात्–जो मनुष्य परमात्मा में विश्वास रखता है, वह ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त करके स्वस्थ, दृढ़ और धनी होकर आनन्दित रहता है।[4] इसी प्रकार आगे पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में कहा है कि–जो स्त्री पहिले पति को पाकर उसके पीछे (मृत्यु आदि विपत्ति काल में) दूसरे पिछले (पति) को पाती है (उसी प्रकार जो प्रति मृत्यु आदि विपत्ति में दूसरे स्त्री को पाता है) वे दोनों निश्चय करके पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले अजन्मे वा गतिशील परमेश्वर को (अपने आत्मा में)

---

1. नास्यास्थीनिभिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत्।
   सर्वमेनं समादायेदमिद्रं म वेशयेत्।। अ.का. 9 सू. 5 म. 23
2. इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति।
   इषं मह ऊर्जमस्मै..............................ददाति।। अ.का. 9 सू. 5 म. 24
3. पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुधा भवन्ति।
   यो3ज पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति।। अ.का. 9 सू. 5 म. 25
4. पञ्चं रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति।
   स्वर्गं लोकमश्नुते यो3जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति।। अ.का. 9 सू. 5 म. 26

समर्पित करें, वे दोनों अलग न होवें। इसे इस प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है कि—जैसे विपत्ति काल में स्त्री दूसरे पति को और पुरुष दूसरी स्त्री को प्राप्त होकर सुख पाते हैं, वैसे ही मनुष्य परमात्मा को पाकर दुःखों से छूटकर सुखी होते हैं।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में पञ्चौदन अज का विस्तरित रूप से वर्णन करते हुए कहते हैं कि—दूसरा पति दूसरी बार विवाहित (वा नियोजित) स्त्री के साथ एक स्थान वाला होता है। जो पुरुष पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले, दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है। इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि—जैसे आत्मत्यागी परमेश्वरभक्त अपत्नीक पुरुष और धर्मात्मा विधवा स्त्री यथावत् विधि के साथ विपत्ति से छूटकर कर्तव्य पालन करते हैं, वैसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष अविद्या से छूटकर परमात्मा से मिलकर आनन्द पाता है।[2] इसीप्रकार आगे पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में विरत्तरित रूप में वर्णन करते हुए बतलाया है कि—यथाक्रम (एक के पीछे एक) बच्चे वाली गौ, अन्न पहुँचाने वाला बैल, वालिश (सिराहने का वस्त्र आदि) वस्त्र, सुवर्ण दान करके वे (धर्मात्मा लोग) उत्तम गति पाते हैं। अर्थात्—धर्म्मात्मा मनुष्य सुपात्रों को विविध प्रकार दान करके उनकी उन्नति से अपनी उन्नति करते हैं।[3] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि—आत्मबल, पिता, पुत्र, पौत्र, दादा, पत्नी, उत्पन्न करने वाली माता को और जो प्रिय हैं, उन सब को मैं आदर से बुलाता हूँ अर्थात्—मनुष्य सब आत्मसम्बन्धियों के साथ यथावत् उपकार करके सदा सुखी रहें।[4] इसीप्रकार आगे अथर्ववेद में पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है कि—जो (परमेश्वर) निश्चय करके अतिताप वाले प्रसिद्ध ऋतु को जानता है। वही अतिताप वाले प्रसिद्ध ऋतु (के समान) पूजनीय ब्रह्म अजन्मा पाँच भूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला (परमेश्वर) है। वह (मनुष्य अपने) निश्चय करके अप्रिय शत्रु की श्री को जला देता है, और अपने

---

1. या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम्।
   पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः।। अ.का. 9 सु. 5 म. 27
2. समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
   यो3जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति।। अ.का. 9 सु. 5 म. 28
3. अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपवर्हणम्।
   वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम्।। अ.का. 9 सु. 5 म. 29
4. आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
   जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये।। अ.का. 9 सु. 5 म. 30

आत्मबल के साथ रहता है। जो (पुरुष) पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में समर्पित करता है। अर्थात्—सूर्य और पृथ्वी का घुमाव उष्ण, शीत आदि ऋतुओं का कारण है उन सूर्य आदि लोकों का आदि कारण परमेश्वर है, ऐसा साक्षात् करने वाला पुरुष निर्विघ्न होकर आनन्द भोगता है।[1] अथर्ववेद में पञ्चौदन अज का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि—जो परमेश्वर निश्चय करके बनाने वाले प्रसिद्ध ऋतु को जानता है और जो अप्रिय शत्रु की अच्छे प्रकार बनानेवाली श्री को निश्चय करके ले लेता है। वही बनाने वाला प्रसिद्ध ऋतु (के समान) पूजनीय ब्रह्म अजन्मा पाँच भूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला (परमेश्वर) है। वह (मनुष्य अपने) निश्चय करके अप्रिय शत्रु की श्री को जला देता है, और अपने आत्मबल के साथ रहता है। जो (पुरुष) पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वर्षा आदि ऋतु अन्न आदि उत्पन्न करके बुभुक्षा आदि कष्ट मिटाते हैं उन ऋतुओं का आदि कारण परमेश्वर है ऐसा जानने वाला पुरुष निर्विघ्न रहता है।[2] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि—जो (परमेश्वर) निश्चय करके (अन्न आदि) मिलाने वाले प्रसिद्ध ऋतु को जानता है और (जो) अप्रिय शत्रु की अत्यन्त एकत्र करने वाली लक्ष्मी को निश्चय करके ले लेता है। वही परमेश्वर एकत्र करने वाला प्रसिद्ध ऋतु (के समान) पूजनीय ब्रह्म अजन्मा पाँच भूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला (परमेश्वर) है। वह (मनुष्य अपने) निश्चय करके अप्रिय शत्रु की श्री को जला देता है, और अपने आत्मबल के साथ रहता है। जो (पुरुष) पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वर्षा आदि ऋतु अन्न आदि उत्पन्न करके बुभुक्षा आदि कष्ट मिटाते हैं उन

---

1. यो वै नैदाधं नामर्तुं वेद। एष वै नैदाधो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
   निरेवाप्रियस्य .... ददाति।। अ.का. 9 सु. 5 म. 31
2. यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद। कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्त श्रियमा दत्ते।
   एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना योऽजं पञ्चौदनं दणिणाज्योतिषं ददाति।। अ.का. 9 सु. 5 म. 32

ऋतुओं का आदि कारण परमेश्वर हैं ऐसा जानने वाला पुरुष निर्विघ्न रहता है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि– जो (परमेश्वर) निश्चय करके (अन्न आदि) मिलाने वाले प्रसिद्ध ऋतु को जानता है और (जो) अप्रिय शत्रु की अत्यन्त एकत्र करने वाली लक्ष्मी को निश्चय करके ले लेता है। वही परमेश्वर एकत्र करने वाला प्रसिद्ध ऋतु (के समान) पूजनीय ब्रह्म अजन्मा पाँच भूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला (परमेश्वर) है। वह (मनुष्य अपने) निश्चय करके अप्रिय शत्रु की श्री को जला देता है, और अपने आत्मबल के साथ रहता है जो (पुरुष) पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता हैं। इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि सूर्य और पृथिवी का घुमाव उष्ण, शीत आदि ऋतुओं का कारण है, उन सूर्य आदि लोकों का आदि कारण परमेश्वर है, ऐसा साक्षात् करने वाला पुरुष निर्विघ्न होकर आनन्द भोग के अन्न आदि पुष्ट करने का नियम जानने वाला परमेश्वर है उन सूर्य आदि लोकों आदि कारण परमेश्वर है ऐसा जानने वाला पुरुष आनन्द भोगता है।[2] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि– जो परमेश्वर निश्चय करके उदय होते हुए प्रसिद्ध ऋतु (वसन्त) को जानता है और (जो) अप्रिय शत्रु की अत्यन्त उदय होती हुई श्री को अवश्य ले लेता है। वही परमेश्वर उदय होता हुआ प्रसिद्ध ऋतु (के समान) पूजनीय ब्रह्म अजन्मा पाँच भूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला (परमेश्वर) है। वह (मनुष्य अपने) निश्चय करके अप्रिय शत्रु की श्री को जला देता है, और आत्मा अपने आत्मबल के साथ रहता है जो पुरुष पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है।[1]

---

1. यो वै संयन्तं नामर्तं वेद।
   संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
   एष वै संयन्नामऋतुर्यदजः पञ्चौदनः।
   निरेवाप्रियस्य .... ददाति।। अ.का. 9 सु. 5 म. 33
2. यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेदं। पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
   एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य.................।। अ.का. 9 सु. 5 म. 34
3. यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद। उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
   एष वा उद्यन्नाम तुर्यदजः पञ्चौदनः निरेवाप्रियस्य .... ददाति।। अ.का. 9 सु. 5 म. 35

इसी प्रकार आगे पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से वर्णन करते हुए कहते हैं कि– जो (परमेश्वर) निश्चय करके (दुःखों के) हरने वाले प्रसिद्ध ऋतु को जानता है और (जो) अप्रिय शत्रु को जानता है और (जो) अप्रिय शत्रु की अत्यन्त हरा देने वाली श्री को निश्चय करके ले लेता है। वही (शत्रुओं का) हरा देने वाला प्रसिद्ध ऋतु (के समान) पूजनीय ब्रह्म अजन्मा पञ्चभूतों (पृथिवी आदि) का सींचने वाला (परमेश्वर) है। वह (मनुष्य अपने) निश्चय करके अप्रिय शत्रु की श्री को जला देता है और अपने आत्मबल के साथ रहता है। जो (पुरुष) पाँच भूतों (पृथिवी आदि) के सींचने वाले, दानक्रिया की ज्योति रखने वाले अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को (अपने आत्मा में) समर्पित करता है।[1] आगे अथर्ववेद में पञ्चौदन अज के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–निश्चय करके अजन्मे वा गतिशील जीवात्मा को और पाँच (भूतों से युक्त) सेचक पदार्थों को पक्का (दृढ़) करो। अन्तर्देशों के सहित साथ-साथ रहने वाली सब दिशायें एक मन होके तेरे लिये, इस (जीवात्मा) को स्वीकार करें। इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वर में परिपक्वबुद्धि होकर पदार्थों से उपकार लेते हैं, उनके लिये संसार के सब पदार्थ सुखदायी होते हैं।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–वे सब (दिशायें) तेरे लिये, तेरे इस (जीवात्मा) की रक्षा करें उन सब से इस प्रकाश करने योग्य ग्राह्य कर्म को मैं ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि मनुष्य सब पदार्थों से गुण ग्रहण करके संसार में विख्यात करें।[3]

---

1. यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद। अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष .... दक्षिणाज्योतिषंददाति।। अ.का. 9 सु. 5 म. 36
2. अजं च पचत पञ्च चौदनान्। सर्वादिशः संमनसः।
   सध्रीची सान्तर्देशाः प्रति गृह्णतु त एतम्।। अ.का. 9 सु. 5 म. 37
3. तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि।। अ.का. 9 सु. 5 म. 38

प्रकृति

अथर्ववेद में प्रकृति का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। प्रकृति का वर्णन करते हुए अथर्ववेद बतलाता है कि–प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा गया है। अर्थात् मनुष्य शरीर, कान, नाक आदि इन्द्रियों, तीनों गुणों जीवात्मा और परमात्मा के यथावत् ज्ञान से ब्रह्मज्ञानी होते हैं।[1] इसी प्रकार आगे कहा है कि प्रकाशमान सूर्य हमारा पालने वाला और उत्पन्न करने वाला है, इस (सूर्य में हमारी नाभि (प्रकाश का जलरूप उत्पत्ति का मूल) है, उत्तमता से फैले हुए (दो सेनाओं के समान स्थित) सूर्य और पृथिवी के बीच (जो) घर (अवकाश है, इस (अवकाश) में पालने वाले (सूर्य वा मेघ) ने (रसों को खींचने वाली) पृथ्वी के उत्पत्ति सामर्थ्य (जल) को यथाविधि धारण किया। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि परमात्मा की महिमा से सूर्य और भूमि सब प्राणियों के पिता माता और बन्धु के समान हैं, उन दोनों के बीच अन्तरिक्ष में पृथिवी से किरणों द्वारा जल खिंच कर मेघमण्डल में रहता है, फिर वही जल पृथिवी पर बरस कर नाना पदार्थ उत्पन्न करता और प्राणियों को जीवन साधन देता है, उस जगदीश्वर की उपासना सब मनुष्यों को सदा करनी चाहिये। संक्षिप्त रूप से इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–पुरुष प्रकृति का प्रेरक है। पिता ईश्वर है और पुत्री प्रकृति है। पिता पुरुष प्रकृति में गति देता है, अतः प्रकृति कार्य करती है।[2] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में प्रकृति का वर्णन करते हुए बतलाया है कि– निर्मात्री (पृथिवी) ने जल में (वर्तमान) रक्षक (सूर्य) को मर्यादापूर्वक पृथक् किया क्योंकि वह (पृथिवी) पहिले (ईश्वरीय) आधार और विज्ञान के साथ (सूर्य से) मिली हुई थी। (फिर) वह (पृथिवी, सूर्य) बन्धन की इच्छा करने वाली रस (जलादि, उत्पादन सामर्थ्य) को गर्भ में रखने वाली और नियमानुसार ताड़ी गयी (दूर हटाई गयी थी (इसी प्रकार) झुकाव रखने वाले (सूर्य का आकर्षण रखने वाले दूसरे लोक) भी वाक्य अवस्था (पिण्ड बनने से नाम, स्थान आदि) को प्राप्त हुए। अर्थात्–प्रलय में सब पदार्थ परमाणु रूप से प्रकृति में लीन रहते हैं। सृष्टि में पहिले जल होता है। सूर्य और पृथिवी एक पिण्ड में मिले रहते हैं। फिर दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। पृथिवी और

---

1. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृत्तम्।
   तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।। अ.का. 10 सु. 8 म. 43
2. द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।
   उत्तानयोश्चम्वो 3 र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।। अ.का. 9 सु. 10 म. 12

सूर्य की पृथक्ता और आकर्षण से वर्षा, शीत और ग्रीष्म ऋतुएँ संसार को सुख पहुँचाते रहते हैं। यही नियम सूर्य लोक सम्बन्धी दूसरे लोकों का है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–प्रकृति को माता कहा गया है और पुरुष को पिता। माता और पिता अर्थात् पुरुष और प्रकृति मिलकर सृष्टि संचालन रूपी पवित्र कार्य में भाग लेते हैं।[1] इसी प्रकार स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–निर्माण करने वाली (पृथिवी) (अपनी) शीघ्र गति के कष्ट में युक्त हुई गर्भ (के समान सूर्य) रोकने की शक्तियों (आकर्षणों) के भीतर स्थिर हुआ। निवास दाता (सूर्य) ने सब रूपों (श्वेत, नील, पीत आदि सात वर्णों) में रहने वाली किरण को तीनों (ऊँचे, नीचे और मध्य) लोकों में अनुकूलता से फैलाया और (उन लोकों को) बाँधा (आकर्षित किया) इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि–इन दोनों में भी माता अर्थात् प्रकृति अधिक चुस्त है और प्रत्येक काम में आगे रहकर काम काम करती है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रियाशीलता प्रकृति में है और पुरुष निष्क्रिय होने के कारण केवल पथप्रदर्शन करता है और प्रेरणा देता है।[2] इसी प्रकार आगे प्रकृति के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए बतलाया है कि–निर्माण करने वाली (पृथिवी) (अपनी) शीघ्र गति के कष्ट में युक्त हुई गर्भ (के समान सूर्य) रोकने की शक्तियों (आकर्षणों) के भीतर स्थिर हुआ निवास दाता (सूर्य) ने सब रूपों (श्वेत नील, पीत आदि सात वर्णों) में रहने वाली किरण को तीनों (ऊँचे, नीचे और मध्य) लोकों में अनूकूलता से फैलाया और (उन लोकों को) बाँधा (आकर्षित किया)। इस प्रकार से भी व्यक्त कर सकते हैं कि–दूरदर्शी परमेश्वर ने पृथिवी की गति विचलन न होने के लिये सूर्य को ऐसा बनाया कि जैसे गर्भ का बालक माता के उदर को पकड़े रहता है वैसे ही सूर्य भूमि आदि लोकों को अपनी श्वेत, नील पीत, रक्त हरित, कपिश और चित्र किरणों द्वारा अपने आकर्षण में रखता है।[3] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि एक (सर्वव्यापक परमेश्वर) (लोकों का) चलाने वाला एक अकेला ऋषि (सन्मार्गदर्शक) एक (ब्रह्म) ज्योति स्वरूप है, इस प्रकार से ही प्रार्थनायें हैं।

---

1. माता पितर मृत आबभाज धीत्यग्रे मनसा स हि जग्मे।
   सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः।। अ.का. 9 सू. 9 म. 8
2. युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
3. अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु।। अ.का. 9 सू. 9 म. 9

पृथिवी पर अकेला वर्तमान पूजनीय (ब्रह्म)एक ऋतु वाला (एकरस वर्तमान परमात्मा) (किसी से) नहीं जीता जाता है। अर्थात्–एक अद्वितीय, परमेश्वर अपनी अनुपम शक्ति से सर्वशासक है, उसी की आज्ञा पालन सब प्राणियों के लिये हितकारक है।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में प्रकृति का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि– वे (कारण रूप) दिव्य पदार्थ अवश्य बड़े हैं जो असत् (अनित्य कार्य रूप जगत्) से सब ओर प्रकट हुए हैं। लोग परे (कारण से परे) उस असत् (अनित्य कार्य रूप जगत् स्कम्भ (धारण करने वाले परमात्मा) का एक अङ्ग वे (विद्वान्) बताते हैं। इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं कि कार्य रूप जगत् के कारण रूप जगत् अति अधिक है और परमेश्वर उससे भी अधिक है। अर्थात्–प्रकृति को ब्रह्म का एक अंग माना गया है। प्रकृति को अव्यक्त और अनिर्वचीय होने के कारण असत् कहा गया है। उससे पंचमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है। पंचभूतों को बृहत् नामक देवता कहा गया है।[2] आगे प्रकृति के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए वर्णन किया है कि–संसार सुख दुःखात्मक है। इससे प्रिय और अप्रिय सभी वस्तुएँ हैं। इसे और खोल के बताया है कि– बहुत से प्रिय और अप्रिय कर्मों, सोने, बाधाओं और थकावटों आनन्दों और हर्षों को प्रचण्ड मनुष्य किस (कारण) से पाता है। अर्थात् भलाई बुराई सुख दुःख मनुष्य किस कारण से पाता है।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में प्रकृति का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और बताया है कि–प्रत्येक आगे वाली बड़ी दिशा को तुम दोनों आरम्भ करो, इस (आगे बढ़ाने वाले) दर्शनीय पद को श्रद्धा रखने वाले लोग सेवते हैं। जो कुछ तुम दोनों का परिपक्व (दृढ़ ज्ञान) प्रकाश स्वरूप (परमात्मा) में प्रविष्ट है, उस (ज्ञान) की रक्षा के लिये हे पति पत्नी। तुम दोनों मिलकर आश्रय लो। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–श्रद्धा वाले लोग इस संसार में सुख से रहते हैं। श्रद्धा का अभिप्राय यहाँ पर यह है कि संसार

1. एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैक धाशिषः।
   यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते।। अ.का. 8 सू. 9 म. 26
2. बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
   एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः।। अ.का. 10 सू. 7 म. 25
3. प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्रयः।
   आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः।। अ.का. 10 सू. 2 म. 9

में विषयों में लिप्त न होते हुए इस संसार को भोग और अपर्ग का साधन मानकर काम करना।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए अथर्ववेद में शिक्षा देते हुए बतलाया है कि– प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव करना चाहिए। सूर्य को चक्षु समझें, वायु को प्राण, अन्तरिक्ष को आत्मा और पृथिवी को शरीर अनुभव करना चाहिए।[2] इसी प्रकार ही आगे भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि–अविनाशी प्रकृति हमारी उत्पत्ति का निमित्त है, सब के आधार पृथिवी के समान माता मध्यवर्ती आकाश के समान हमारा भ्राता प्रकाशमान सूर्य के समान हमारा पिता अपवाद से (अलग करके) शान्तिकारक होवे, बन्धुवर्ग को पाकर पितरों, विज्ञानियों के प्रिय समाज से मैं कभी न गिरूँ। अर्थात् मनुष्य परमेश्वर रचित पदार्थों और माता पिता आदि कुटम्बियों का उपकार कर उनकी यथावत् सेवा से मनुष्य समाज में कीर्ति बढ़ावें।[3] अथर्ववेद में कहा है कि यह नवद्वार वाला शरीर तीन गुणों से आवृत्त है–उसमें आत्मा के समान जो यक्ष है उसको ब्रह्मज्ञानी जान पाते हैं।[4] प्रस्तुत मन्त्र में पुण्डरीक पद से मानव देह का ग्रहण किया है लोक एवं साहित्य भाषा में "पुण्डरीक" पद का अर्थ कमल या साधारणतया प्रत्येक पुष्प प्रसिद्ध है। पुष्प के समान ही इस शरीर की अवस्था है। यह बाल्य से किशोर, किशोर से यौवन, यौवन से जराजीर्ण होकर क्षीण हो जाता है। द्वितीय चरण में इस देह को तीन गुणों से आवृत्त बताया गया है। ये तीन गुण हैं। सत्व, रजस् तमस्। देह इनसे व्याप्त है। देह में इसका अधिष्ठाता चेतन आत्मा निवास करता है। इस आत्मा (जीव-चेतन) के समान एक और 'यक्ष' इस देह में व्याप्त हो रहा है, इसको ब्रह्मज्ञानी जान पाते हैं।

यह यक्ष परमात्मचेतन कहा जा सकता है। क्योंकि वह सर्वोत्कृष्ट चेतन, सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् वस्तु में व्याप्त है। विस्तृत दृष्टि से विचारने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत मन्त्र में देह–पर्याय पुण्डरीक पद, प्रत्येक कार्य का उपलक्षण है। अभिप्राय यह है कि वह कार्यभाव व्यक्त विश्व ब्रह्माण्ड तीन गुणों में व्याप्त है। इस बात का कथन करने के लिए

---

1. प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रंमेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
   यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ........................ श्रयेथाम्।। अ.का. 12 सू. 3 म. 7
2. पृथिव्यै स्वाहा।। अ.का. 5 सु. 9 म. 6
3. भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः
   द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वाभाव पत्सि लोकात्।। अ.का. 6 सू. 120 म. 2
4. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
   तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः।। अथर्व. 10.8.43

देह को एक प्रतीक मान लिया गया है। इसलिए देह के सम्बन्ध का यह कथन अखिल विश्व पर लागू होता है तथा इस बात को स्पष्ट करता है कि कार्यमात्र, सत्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों से व्याप्त है।

अथर्ववेद में प्रकृति के रूप में अदिति का नाम आया है, इसलिए कहा है कि–ये समुद्र उस पुरुष की नाड़ियाँ हैं,[1] ये दिशायें भी उसी ब्रह्म की नाड़ी कही गई हैं।[2] वह स्कम्भ ब्रह्म भूत में कितना प्रवेश किये हुए हैं और कितना भविष्य में प्रवेश करेगा। उस ब्रह्म को बतला वह कैसा है।[3] जिसका वर्तमान में एक-एक अंग अपने गुणों एवं शक्तियों से हजारों प्रकार का हो गया है, वह ब्रह्म निश्चित रूप में क्या है, उसे जानो।

इस सूक्त में अनेक रूप के द्वारा, उपमाओं द्वारा ब्रह्म को समझाया गया है। इसी प्रसंग में सृष्टि रचना का भी वही निमित्त कारण, सृष्टि की ऋतुएँ तथा भूमि द्यौ जल, आदि का वर्णन किया है। जहाँ लोक और कोशों की उत्पत्ति होती है। जो एक प्रकार से असत् से जान पड़ते थे, वह सत् हो जाते है। अर्थात् कार्य उत्पन्न पूर्व असत् होता है। अर्थात् वह कारण रूप से सत् होता है। इसी प्रकार यह विश्व संरचना भी उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण में विद्यमान होने के कारण अनुद्भूत अवस्था में होती है जिसे सामान्य रूप से असत् कहा जायेगा। वह ब्रह्म ही अपनी ऋत ओर सत् शक्तिओं के द्वारा एक वैज्ञानिक की भाँति इस प्रकृतिमय जगत् को जो कि प्रकट रूप में ही उसे अद्भूत रूप अथवा प्रकट अवस्था में उसका निर्माण करता है। अतः उस ब्रह्म की अनन्त शक्तियों एवं गुण समस्त ब्रह्म का आधार बनकर सर्वत्र अपनी महिमा से अनुभूति द्वारा प्राप्त है। यहाँ इस सूक्त में जहाँ सृष्टि का साहित्यिक वर्णन उपलब्ध है वहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्म की महिमा एवं उसके स्वरूप का भी रमणीय एवं साहित्यिक वर्णन किया गया है। आगे अथर्ववेद में इसी प्रकार का वर्णन मधु सूक्त में भी आता है। वहाँ पर गौ को सम्बोधित करके लिखा गया है कि यह मधुकशा गौ आदित्यों की माता है, वसुओं की दुहिता है, प्रजाओं की प्राण है, अमृत की नाभि है हिरण्यवर्ग मधुमती द्युतसत् या प्राणवत् होकर मर्त्यरूप भौतिक तत्त्वों में विचरती है।[4] यहाँ पर इसको आदित्यों की माता कहा है।

---

1. समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधिसमाहिताः।। अथर्व. 10.7.15
2. यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः। अथर्व. 10.7.16
3. कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य।।अथर्व. 10.7.9
4. मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
   हिरण्यवर्णा मधुकशा धृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु।। अथर्व. 9.1.4

आगे चलकर अथर्ववेद में अदिति को अष्ट पुत्र वाली से सम्बोधित किया है। वहाँ पर कहा गया है कि सत्य के प्रथम प्रवर्तक से आठ तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, ये आठ दिव्य ऋत्विज् हैं, अदिति के भी ये आठ पुत्र हैं और आठवीं रात्रि से वही अदिति हवनीय पदार्थों को प्राप्त होती है।[1]

सृष्टि उत्पत्ति

अथर्ववेद में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ये तथ्य उपलब्ध होते हैं अथर्ववेद में संसार की उत्पत्ति जल से मानी गई है। ईश्वर ने प्रारम्भ में जल में ही बीज डाला। जल ने इस बीज को गर्भ-रूप में धारण किया। उससे संसार की उत्पत्ति हुई। अत एव जल को रक्षक पोषक और अमृत कहा गया है। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि– सृष्टि की आदि में ईश्वर नियम से जल के भीतर जगत् का बीज और जीवन सामर्थ्य था, जिससे यह सृष्टि हुई है। उसी परमात्मा के नियम पर चलकर हम अपने जीवन को पुरुषार्थ करके सुधारें।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–पहिले ही पहिले निवास स्थान संसार को वा बालक रूप संसार को उत्पन्न करते हुए जल धाराओं ने बालक (रूप संसार) को यथावत् प्रकट किया, और उस उत्पन्न होते हुए (बालक, संसार) का जरायु (गर्भ की झिल्ली) तेजोमय परमात्मा था, इस सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की दिव्य गुण के लिये भक्ति के साथ हम सेवा किया करें। अर्थात् जल से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई और उससे सृष्टि का प्रारम्भ हुआ।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–तेज वाले लोकों का आधार पहिले ही पहिले ठीक-ठीक वर्तमान था। वही प्रकट होकर पृथिवी आदि पंचभूत का एक पति, ईश्वर हुआ उसने पृथिवी और सूर्य को धारण किया, उस सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की दिव्य गुण के लिये भक्ति के साथ हम सेवा किया करें। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–सर्वशक्तिमान् अविनाशी परमात्मा प्रलय काल में विद्यमान था। उसके कर्मों से ज्ञात होता है कि उस अकेले ने सूक्ष्म पंचभूत

---

1. अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
   अष्टयोनिरदितिरष्ट पुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति।। अथर्व. 8.9.21.
2. आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।
   यासु देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम।। अथर्व. 4.2.6
3. आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्। तस्योत जायमानस्योल्ब
   आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम।। अ.का. 4.2.8

का यथावत् संयोग वियोग करके पृथिवी, सूर्य आदि सृष्टि को रचा और धारण किया है, उसकी उपासना से उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्द भोगें। अर्थात्– हिरण्यगर्भ को संसार का सर्वप्रथम व्यक्ति कहा गया है।[1] अथर्ववेद में आगे सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–जब सर्वज्ञ (परमेश्वर) सृष्टि की क्रिया को संकल्प (मनोविचार) के ग्रहण (स्वीकार करने) से अधिकार पूर्वक सब ओर लाया (प्रकट किया) कौन उत्पत्ति में साधक (योग्य) पदार्थ और कौन वर (वरणीय, इष्टफल) थे, कौन ही सर्वोत्तम वरों (इष्टफलों) का देने वाला हुआ। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब ईश्वर ने सृष्टि को रचना चाहा, तब यह प्रश्न उत्पन्न हुए किन पदार्थों से सृष्टि की जावे, किस प्रयोजन के लिए वह होवे, और कौन उसका स्वामी होवे।[2] इसीप्रकार आगे बतलाया है कि–सात समृद्ध गर्भ वाले (पूरे उत्पादन सामर्थ्य वाले, महत्तत्त्व, अहंकार, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के परमाणु संसार के बीज होकर व्यापक परमात्मा की आज्ञा से विविध धारण सामर्थ्य में ठहरते हैं वे ही (सातों) बुद्धिमान् (परमेश्वर) की धारण शक्तियों और विचार के साथ घेरने वाले (शरीरों और लोकों) को सब ओर से घेरते हैं। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–महत्तत्त्व, अहंकार आदि सात पदार्थ जगत् के कारण हैं; वे ईश्वरीय नियम से सृष्टि के सब शरीरधारी प्राणियों और लोकों में परिपूर्ण है।[3] इसी प्रकार आगे सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–तप (ईश्वर का सामर्थ्य) और कर्म (प्राणियों के कर्म का फल) ही बड़े समुद्र (परमेश्वर के गम्भीर सामर्थ्य) के भीतर दोनों थे। (तप और कर्म ही) वे (प्रसिद्ध) उत्पत्ति में साधन (योग्य) पदार्थ और वे ही वर (वरणीय इष्टफल) थे, ब्रह्म (सबसे बड़ा परमात्मा) सर्वोत्तम वरों (इष्टफलों) का दाता हुआ। अर्थात्–अनादि चक्र रूप संसार में परमात्मा अपने सामर्थ्य से प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि रचकर आप ही सर्वनियन्ता हुआ।[4]

---

1. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
   स दाधार पृथिवीमुतद्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। अ.का. 4 सू. 2 म. 7
2. यन्मन्युर्जायामवहत् संकल्पस्य गृहादधि।
   क आसंजन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्।। अ. 11.8.1.
3. सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
   ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः।। अ. 9.10.17
4. तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
   त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्।। 11.8.2.

अथर्ववेद में यज्ञ संस्कृति

अथर्ववेद में कहा है कि यज्ञ के उपयोग में आने वाली तीन प्रकार की अग्नियाँ हैं जिनमें–आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि वह (विद्वान् पुरुष) निश्चय करके आहवनीय (अग्नि) का और गार्हपत्य (अग्नि) का दक्षिण अग्नि का और यज्ञ का और यजमान का और सब प्राणियों का प्रिय धाम (घर) होता है, और जो (विद्वान) ऐसे वा व्यापक (व्रात्य परमात्मा) को जानता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में यज्ञ का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–सब नरों का हितकारी, जगत् का बनाने वाला, संसार को सुख पहुँचाने वाला सर्वव्यापक परमेश्वर प्रातः काल के यज्ञ में हमारी रक्षा करें। वह शुद्ध करने वाला जगदीश्वर हमको धन के बीच रखे उत्तम आयु वाले और साथ-साथ भोजन करने वाले हम रहें। अर्थात् मनुष्य परमेश्वर के महान् उपकारों को देखकर पुरुषार्थ करके धन प्राप्त करें और परस्पर सहायक होकर सुख भोगें।[2] आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– सब उत्तम गुण विद्वान लोग और बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर हमको इस दूसरे यज्ञ में नहीं त्याग करें उत्तम जीवन रखनेवाले, प्रिय बोलते हुए हमलोग इन उत्तम गुणों की सुमति में रहें।[3] आगे बतलाया है कि जिन (महात्माओं) ने बुद्धिमानों के सत्य से इस तीसरे यज्ञ में अन्न प्राप्त कराया है वे सुख भोगते हुए अच्छे अच्छे धनुष वा विज्ञान वाले पुरुष हमारे अच्छे यज्ञ को उत्तम फल की ओर ले चलें।[4] ऊपर बतलाया गया तीनों मन्त्रों का संक्षिप्त रूप में सारगर्भित रूप में वर्णन इस प्रकार किया है कि–यज्ञ प्रातः, दोपहर और सायंकाल होते हैं। अतः उसके आधार पर तीन सवनों के नाम पड़े–प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायं सवन। इसी प्रकार आगे मुख्य यज्ञों के नाम गिनाए गए हैं–राजसूय (राजतिलक यज्ञ) वाजपेय (विज्ञान और बल का रक्षक यज्ञ) अग्निष्टोम (आग वा परमेश्वर वा विद्वान् के गुणों की स्तुति) तथा सन्मार्ग देने वाला वा हिंसारहित व्यवहार, पूजनीय विचार और अश्वमेध (चक्रवर्ती राज्य पालन की मेधा अर्थात् बुद्धि वाला व्यवहार) और (अन्य) अत्यन्त हर्षदायक जीवों की बढ़ती वाला व्यवहार परमेश्वर का नाम

---

1. तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन्।। 15.6. 14
2. अग्नि प्रातः सवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः। अ.का. 6.47.1
3. विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः। 6.47.2
4. इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त। 6.47.3

अर्थात् शेष इसलिये है कि वह नित्य अनादि, अनन्त और निर्विकार होकर उत्पत्ति और प्रलय से तथा स्थूल और सूक्ष्म रचना से बचा रहता है। अर्थात् मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की अराधना करते हुए राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि यज्ञों में समस्त प्राणियों को आनन्द देवें।[1] इसी प्रकार आगे कुछ अन्य मुख्य यज्ञों के नामों का उल्लेख है—अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्रसद्य, द्वादशाह, प्राजापत्य आदि है।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि—ईश्वर यज्ञ रूप है। उसकी ही कृति प्राकृतिक यज्ञ है उसका साक्षात् सम्बन्ध उससे है।[3] आगे स्पष्ट किया है कि— जब ग्रहण करने योग्य पुरुष (पूर्ण परमात्मा) के साथ (अर्थात् परमात्मा को यजमान मानकर) विद्वान् लोगों ने यज्ञ (ब्रह्माण्ड रूप हवनव्यवहार) को फैलाया। वसन्त ऋतु इस (यज्ञ) का घी ग्रीष्म ऋतु इस (यज्ञ) का ईन्धन और शरद् ऋतु हवनद्रव्य हुआ। इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि—विश्व में जो प्राकृतिक यज्ञ हो रहा है, उस यज्ञ में घी वसन्त ऋतु है समिधा ग्रीष्म ऋतु है और सामग्री शरद् ऋतु है।[4] आगे अथर्ववेद में यज्ञ की उत्पत्ति सम्बन्ध में कहते हैं कि—विद्वान् लोग और सब ऋतुयें यज्ञ (हवन आदि श्रेष्ठ व्यवहार) हवि (होमीय वस्तु) पुरोडाश (मोहन भोग आदि) स्रुचाओं (हवन के चमचों और यज्ञ के अस्त्र शस्त्रों (उलूखल, मूसल, सूप आदि) को रचते हैं (हे मनुष्य!) उन विद्वानों के चलने योग्य मार्गों से तू चल, जिन (मार्गों से यज्ञ कर चुकने वाले लोग सुख पहुँचाने वाले समाज में पहुँचते हैं। इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि देवों और वसन्त आदि ऋतुओं ने यज्ञ को जन्म दिया और यज्ञ के लिए घी आदि हवि, पुरोडाश आदि सामग्री, स्रुवा तथा अन्य यज्ञ के पात्रों को तैयार किया।[5] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से वर्णन करते हुए बतलाया है कि विद्वानों ने अपने पूजनीय कर्म से पूजनीय परमात्मा को पूजा है वे (उनके धारण योग्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म मुख्य, प्रथम कर्तव्य थे। उन महापुरुषों ने ही दुःखरहित परमेश्वर को पाया है, जिस परमेश्वर में रहकर, पहिले बड़े-बड़े साधनीय, श्रेष्ठ

---

1. राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
   अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः।। अ.का. 11.7.7.
2. अ. 9.6.28 एवं 40 से 44
3. सं यज्ञः तस्य यज्ञः। अ. 13.4.40
4. वसन्तो अस्यासीद् आज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हवि। अ. 11.6.10
5. देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञापुधानि।
   तेभिर्याहि पथभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्।। अ. 18.4.2.

कर्मों के साधने वाले लोग देवता अर्थात् विजयी होते हैं।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हैं कि वह परमेश्वर पूजनीय हुआ और सब ओर व्यापक हुआ वह अच्छे प्रकार जाना गया, वही निश्चय करके बढ़ा वह दिव्य वायु सूर्य आदि लोकों का अधिपति हुआ, वही हमारे बीच प्रापणीय बल सब ओर से धारण करे। अर्थात्–सर्वपूजनीय, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सदा प्रबुद्ध परमेश्वर के उपासक लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख पाते हैं।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–जो मनुष्य परमात्मा के नित्य उपकारी गुणों को अपने पूर्ण विश्वास और पुरुषार्थ से साक्षात्कार करते हैं वे ही जीवित पुरुष आनन्द भोगते हुए, परमात्मा का दर्शन करते हुए, अविद्या को मिटाकर विचरते हैं जैसे सूर्य निकलने पर अन्धकार मिट कर प्रकाश हो जाता है।[3] आगे बतलाया है कि–जब विद्वानों ने अपने अग्रगामी आत्मा के साथ देने और लेने योग्य व्यवहार से पूजनीय ब्रह्म को फैलाया। वह ब्रह्म उस (आत्मा) से अधिक बलवान् हुआ, जिस (ब्रह्म) को उन्होंने विशेष देने योग्य व्यवहार से पूजा था। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–विद्वान् योगी महात्माओं ने यह साक्षात् किया है कि इस जीवात्मा से अधिक ओजस्वी शक्तिविशेष परमेश्वर सब ब्रह्माण्ड को चला रहा है।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–विद्वान् लोग (ईश्वर की सीमा के विषय में) मूढ़ होकर भी ज्ञान से (परमात्मा को) मिले हैं और देववाणी के अङ्गों से (उसे) विविध प्रकार से पूजा है। जिस आपने इस पूजनीय परमेश्वर को विज्ञान के साथ जाना है उस परमेश्वर का यहाँ पर ही उपदेश करें। अर्थात्–ऋषि मुनि लोग असीम, अनादि, अनन्त, परमेश्वर को सब से बलिष्ठ जान कर ही विज्ञानपूर्वक आगे बढ़ते और उसका उपदेश करके संसार को आगे बढ़ाते हैं।[5] इसी प्रकार आगे है कि–यज्ञ उत्कृष्ट धर्म है।[6] अथर्ववेद में यज्ञ के सम्बन्ध

---

1. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्मांणि प्रथमान्यासन्।
   ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।। अ. 7.5.1
2. यज्ञो बभूव स आ वभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः।
   स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमादधातु।। अ. 7.5.2
3. यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन।
   मदेन तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य।। अ. 7.5.3
4. यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
   अस्ति नु तस्मादोर्जीयो यद् विहव्येनेजिरे।। अ. 7.5.4
5. मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त। अ. 7.5.5
6. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्मांणि प्रथमान्यासन्। अ. 7.5.1

में विस्तरित वर्णन करते हुए बतलाया है कि जिस भूमि पर विश्वकर्मा (सब कामों में चतुर) लोग वेदी (यज्ञ स्थान) को घेर लेते हैं, जिस (भूमि) पर यज्ञ (देवपूजा, संगतिकरण और दान व्यवहार) को फैलाते हैं। जिस पृथिवी पर ऊँचे और उजले विजय स्तम्भ आहुति (पूर्णाहुति, यज्ञपूर्ति) से पहिले गाड़े जाते हैं। वह बढ़ती हुई भूमि हमें बढ़ाती रहे। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि मनुष्यों को उचित है कि कर्मकुशल लोगों के समान अपना कर्तव्य पूरा करके संसार में दृढ़ कीर्ति स्थापित करें।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–सात (विषयों की) ग्रहण करने वाली (इन्द्रियाँ, त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि), सात ही विषय प्रकाश करने वाली (इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियाँ) सात ज्ञान (विषय) और सात ही गति (प्रवृत्ति) है। (वे ही) सात विषयों के साधन प्रत्येक प्राणी के साथ उन (प्रसिद्ध) सात इन्द्रियों से उत्पन्न हुई वासनाओं को प्राप्त हुए हैं, यह हमने सुना है। इस प्रकार कह सकते हैं कि– विद्वानों ने वेदादि शास्त्रों से निश्चय किया है कि सात इन्द्रियों और उनकी सूक्ष्म शक्तियों द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त करके प्राणी कामों में प्रवृत्ति करता है।[2] इसी प्रकार आगे यज्ञ में पशुओं की उपयोगिता बताई है कि–सब जीवों ने सात (त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि) परस्पर मिले हुए पदार्थों को ग्रहण किया है, तैंतीस (वसु आदि) देवता उन जीवों को सेवते हैं जो पुरुष इन (जीवों) में से तेजस्वी है, और जिसने (विज्ञान को) सूक्ष्म किया है वह तू हमको सुख पहुँचाने वाले समाज में पहुँचा इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–सब मनुष्यों में त्वचा, नेत्र कान, आदि समान हैं और सब पर वसु आदि प्राकृत पदार्थों का समान प्रभाव है परन्तु विज्ञानी पुरुष ही आप सुखी रहते हैं और सब को सुखी रखते हैं। अर्थात्–सात मेध अर्थात् यज्ञ हैं इनकी पूर्ति के लिए पशुओं का उपयोग किया जाता है।[3] इसीप्रकार आगे यज्ञ के तीन के सम्बन्ध में बतलाया है कि–यज्ञ के उपयोग के तीन अग्नियाँ–आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। इनमें से आहवनीय अग्नि

---

1. यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
   यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः ....।। अ. 12.1.13
2. सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्मां उत यश्चकर्श।
   त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम्।। अ. 12.3.16
3. सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तऋतवो ह सप्त।
   सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्।। अ. 8.9.18

दैनिक यज्ञ के उपयोग के लिए है गार्हपत्य गृहस्थों के विविध संस्कारों के लिए और बलिवैश्वदेव यज्ञ आदि के लिए है। यह विवाह के पश्चात् घर में स्थापित की जाने वाली अग्नि है। दक्षिणाग्नि विशेष यज्ञों आदि के लिए होती है। इन तीनों अग्नियों के लिए कहा गया है कि आहवनीय अग्नि अंगिरसों की है। गार्हपत्य आदित्यों की और दक्षिणाग्नि दाक्षिणों की अर्थात् योग्य और चतुर व्यक्तियों की है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि बड़ा विद्वान् तेजस्वी पुरुष यहाँ संगति में पूजनीय कर्मों और विद्यादि प्रकाश क्रियाओं को तुम्हारे लिये उत्तम कर्मों और विद्याओं को फैलावे।[2] इसी प्रकार आगे यज्ञ में सात होता (मन्त्रपाठक) का वर्णन करते हुए कहा है कि–हर्षकारक परमात्मा पृथिवी और प्रकाश में और इन घर (शरीर) में और (उस शरीर में भी) व्यापक है जो (शरीर) पहिला है समान सर्वसाधारण) कारण में विचरते हुए हर्षकारक परमात्मा को सात (मस्तक के सात गोलक) विषय ग्रहण करने वाली शक्तियों के साथ मैं ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार कह सकते हैं कि–जो परमेश्वर अन्धकार और प्रकाश में, हमारे वर्तमान और पूर्व शरीर में प्रत्येक सर्वसाधारण कारण में व्यापक है, सब मनुष्य योगाभ्यास से इन्द्रियों को वश में करके उस जगदीश्वर की शक्ति प्राप्त करें।[3] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–और उस हर्ष देने वाले, वाली चतुर (विद्वान्) पुरुष को श्येन (वाज) पक्षी (के समान) फुरतीला (आचार्य आदि) यज्ञ में लाया है। यदि आर्य (श्रेष्ठ) मनुष्य दर्शनीय दानी विद्वान् पुरुष को चुने, तब वह कर्म हो जावे। अर्थात्–जिस विद्वान् दूरदर्शी जन को उत्तम गुणों के कारण विद्वान् आचार्य आदि प्रसिद्ध करें उसको श्रेष्ठ लोग प्रधान बनाकर कार्य सिद्ध करें।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–तरने के साधनों (शास्त्रों वा घाटों आदि) द्वारा (मनुष्य) बहुत गतियों वाली बड़ी (विपत्तियों वा नदियों) को (उस प्रकार से) पार करते हैं जिससे यज्ञ करने वाले, सुकर्मी लोग चलते हैं ऐसा (निश्चय है) यहाँ (संसार में) यजमान के लिये स्थान उन (पुण्यात्माओं) ने दिया है जब कि दिशाओं

---

1. अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं.........। ब. 18.4.8
2. यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्नि प्रविद्वानिह वो युनक्तु।। अ. 5.26.1
3. द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः।। अ. 18.4.28
4. अधत्यं द्रप्सं विश्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्नि होतारमध धीरजायत।। अ. 18.1.21

को सत्ता वाले प्राणियों ने समर्थ बनाया है। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य विद्वान् धर्मात्माओं के वेदविहित मार्ग पर चल कर विपत्तियों से दूर होवें। धर्मात्मा लोग ही संसार में मान्य होते हैं, क्योंकि वे पुरुषार्थी जीव सब दिशाओं को उपकारी बनाते हैं।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए बतलाया है कि–वेद द्वारा घी वाली स्रुचायें (चमचे) वेद द्वारा वेदी स्थिर की गयी हैं। वेद द्वारा यज्ञ का तत्त्व और जो हवन करने वाले ऋत्विज हैं (वे भी स्थिर किये हैं) शान्तिकारक (वेद) के लिये स्वाहा (सुन्दर वाणी) है। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–यज्ञ का सारांश ब्रह्म है। इससे ज्ञात होता है कि यज्ञ के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति लक्ष्य है।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–उत्तम मनन साधन मन के लिये, ज्ञान के साधन चित्त के लिए, धारणावती बुद्धि के लिये, अच्छे सङ्कल्प वा उत्साह के लिये और स्मृति के हेतु विवेक के लिये समझ के लिए श्रवण के लिये और दर्शन के लिए हम लोग भक्ति से (परमेश्वर) को पूजें। अर्थात्–मनुष्य ईश्वर ज्ञान द्वारा आत्मिक शक्तियों को बढ़ा कर सदा पुरुषार्थ करें।[3] आगे बतलाया है कि–यज्ञ (रसों के संयोग वियोग) के ग्रहण करने वाले सूर्य और चन्द्रमा (के समान) ऋषि लोगों ने जो (वेद वाणीं) वेगवती वा ब्रह्म की (जो सत्व, रज और तम तीन गुणों से परे चौथा है) थी, यजमान के लिये मोक्ष सुख भर देने वाली (उस) गाने योग्य, (कर्म, उपासना और ज्ञान इन) तीन से पूजी गयी, प्राप्ति योग्य, बड़े सत्कार वाली निरन्तर स्तुति योग्य (विराट् वा देववाणी) को समर्थन करते हुए धारण किया है। अर्थात्–यज्ञ के दो पक्ष हैं–अग्नि और सोम की प्राप्ति। अग्नि का अभिप्राय है–तेजस्विता और श्रीवृद्धि। सोम का अभिप्राय है–जीवन में सोम्य गुणों का आना।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि– यम (सर्वनियन्ता परमात्मा) के लिये ऐश्वर्यवान् (जीवात्मा) अपने को शुद्ध करता है, यम (न्यायकारी ईश्वर) के लिये भक्तिदान का अधिकार है। साथ ही यह भी कहा गया है कि यह बाण या ब्रह्मास्त्र व्यर्थ नहीं जाता है[5] 'तपता' और

---

1. तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।
   अत्रादधुर्यजमानाय .... यदकल्पयन्त।। अ. 18.4.7
2. ब्रह्म स्रुचो धृतावतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
   ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा।। अ. 19.42.2.
3. मनसे चेतसे धिय.। अ. 6.41.1
4. अग्निषोमावदधुर्या तुरीयासीद्......। अ. 8.9.14
5. तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणाहेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्याम् न सा मृषा। अ. 5.18.9.

'मन्युता' के द्वारा यह संकेत है कि ब्रह्मशाप या ब्राह्मास्त्र तप और सात्त्विक क्रोध से प्रयुक्त होता है।[1]

ब्रह्मगवी के वर्णन से ब्राह्मण के गुण-कर्मों का ज्ञान होता है। ब्रह्मगवी अर्थात् ब्राह्मण की गाय या ब्राह्मण की वाणी श्रम और तपस्या से निर्मित होती है। ब्राह्मण के सभी गुणों का आधान ब्रह्मगवी में होता है। ब्राह्मण के ये गुण और कर्म इस सूक्त में निर्दिष्ट हैं–श्रम, तपस्या, ज्ञान, सत्य, श्री, यश, श्रद्धा, दीक्षा और यज्ञ-निष्ठा।[2] ब्राह्मण समाज का नेता होता है। उसके लिए ''पदवाय'' शब्द का प्रयोग है। पदवाय का अर्थ है–मार्गदर्शक। ब्राह्मण का मूर्धन्य और अधिपति है।[3]

अथर्ववेद में ब्राह्मण से सम्बद्ध 'विप्र' शब्द है। विप्र का अर्थ मेधावी और प्रतिभाशाली है। विप्र का विशेष 'सुमेधाः' अर्थात् मेधावी दिया गया है।[4] अथर्ववेद में विप्र शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। विप्र के कर्तव्यों में देव-स्तुति और देवाराधन मुख्य हैं। एक मन्त्र में विप्र-राज्य का भी उल्लेख है। विप्रराज्य के साथ 'यज्ञेषु' पर भी बल दिया है। इससे ज्ञात होता है कि विप्रराज्य में यज्ञ और धार्मिक क्रियाकलापों का महत्त्व होता है। यह मन्त्र चारों वेदों में पाया जाता है।[5]

ब्रह्मगवी–ब्रह्मगवी का अर्थ है–ब्राह्मण की गाय। गौ शब्द गाय के अतिरिक्त धन, वाणी आदि का भी बोधक है, अतः ब्रह्मगवी शब्द से ब्राह्मण का धन और ब्राह्मण की वाणी अर्थ भी ग्राह्य है। ब्रह्मगवी सूक्तों में ब्राह्मण की गाय, उसके धन और उसकी वाणी का अपहरण करने से राष्ट्र पर आने वाले संकटों आदि का विस्तृत वर्णन दिया गया है।[6]

ब्रह्मगवी के हरण और ब्राह्मण के सताने से होने वाले अनर्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:–

ब्राह्मण को सताना नहीं चाहिए।[7] जो ब्राह्मण को सताता है, उसे ब्रह्मगवी क्रव्याद् अग्नि बनकर नष्ट कर देती है।[8] ब्राह्मण गाय भयंकर, विषैली

---

1. अनुहाय तपसा मन्युना च। अ. 5.18/9
2. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्ता-ऋते श्रिता। अथर्व. 12.5.1.2.3
3. ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः। अ. 12.5.4
4. विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।। अ. 5.11.10
5. यज्ञेषु विप्रंराज्ये। ऋ. 8.3.4
6. अथर्व 5.18, 5.19, 12.5
7. न ब्राह्मणो हिंसितव्यः। अथर्व. 5/18/6
8. ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति। अ. 12.5.41

और विनाशक पदार्थों से युक्त है। वह साक्षात् कृत्या है।[1] जो क्षत्रिय या राजा ब्राह्मण को सताता है, उसके ओज तेज यश श्री आयु आदि 34 पदार्थ नष्ट हो जाते हैं।[2] ब्राह्मण को सताने से राष्ट्र का पतन होता है।[3] ब्रह्मगवी के अपहरण से राष्ट्र का तेज नष्ट हो जाता है।[4] जो राजा ब्राह्मण को अन्न-वत् भोज्य समझता है वह तीव्र विष का पान करता है।[5] जो ब्राह्मण को कोमल समझकर दुख देता है, उसे इन्द्र जलाता है और द्यावापृथिवी उसे दुख देते हैं।[6] पीड़ित ब्राह्मण क्षत्रिय के बल और तेज को नष्ट कर देता है।[7] राजा ब्राह्मण की गाय और धन आदि पर हाथ न लगावे।[8] ब्रह्मगवी के अपहरण से वह घर परिवार और आश्रम से हीन हो जाता है।[9]

ब्राह्मणी-हरण से अनर्थः

अथर्ववेद में इस बात का उल्लेख किया गया है कि यदि कोई राजा किसी ब्राह्मणी का हरण करता है तो उसके राष्ट्र का अधःपतन हो जाता है। देश की श्री नष्ट हो जाती है और राष्ट्र में अराजकता, अनैतिकता और अव्यवस्था का प्राबल्य हो जाता है।[10] जिस देश में ब्राह्मणी-हरण होता है, वहाँ सुन्दर सन्तान नहीं होती।[11] ब्राह्मणीहरण से कन्याओं में भय का संचार होता है और अलंकार धारण करके कोई वीर उनके सामने नहीं जा सकता है।[12] ब्राह्मणी का हरण इस लोक और परलोक दोनों में हरणकर्ता को दुःख देता है।[13] जिस देश में ब्राह्मणी का हरण होता है, वहाँ उल्कापात आदि अनर्थ

---

1. सैषा भीमा ब्रह्मगवी-अधविषा साक्षात्कृत्या। अ. 12.5.12
2. ओजश्च तेजश्च..................तानि सर्वाणि अपक्रामन्ति।
   ब्रह्मगवीम् आददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य। अ. 12.5. 7-11
3. परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते। अ. 5.19.6
4. ब्रह्मगवी पच्यमाना.................तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति। अ. 5, 19, 4
5. अ. 5, 18, 4,
6. अ. 5, 18, 5
7. निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चः। अ. 5.18.4
8. मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्। अ. 5, 10, 1
9. अ. 12-5-25
10. अथर्व. 5, 17, 1, 18,
11. न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते। अ. 5, 17, 13
12. नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामित्यग्रतः। अ. 5, 17, 14
13. भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता। 5, 17, 6

होते हैं।[1] इसी प्रकार आगे वर्णन किया गया है कि उस देश में स्त्रियाँ सुख की नींद नहीं सो पाती हैं, गाय दूध देना बन्द कर देती हैं, बैल भार वाहन नहीं करते हैं, फलफूल आदि की समृद्धि रुक जाती है।[2]

ब्राह्मणी-हरण स्त्रीहरण का प्रतीक है। जिस समाज में स्त्रियों का हरण, बलात्कार और परस्त्रीगमन आदि दोष व्याप्त होते हैं, वह समाज और राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता है। अतएव अथर्ववेद का कथन है कि वह राष्ट्र पतित हो जाता है। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि समाज में ब्राह्मण को उच्च स्थान प्राप्त है। वह किसी भी वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है और वही उसका पति माना जाएगा, क्षत्रिय वैश्य नहीं।[3] गोदान लेने का अधिकार ब्राह्मण को ही है। व्यक्ति ब्राह्मण को गोदान करके तीनों लोकों को प्राप्त करता है।[4]

क्षत्रियः

अथर्ववेद में क्षत्रिय के अर्थ में क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। क्षत्रिय के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह राष्ट्र की श्री-वृद्धि चाहता है, आन्तरिक विवादों को शान्त करता है, यज्ञ का प्रेमी होता है, प्रजा के अभीष्ट की पूर्ति करता है और प्रजा को दीर्घायु करने वाला होता है।[5]

यम (परमेश्वर) को ही संगति वाला संसार चलता है, (जैसे) पर्याप्त किया हुआ अग्नि तपाया हुआ (जल आदि रस ऊपर जाता है।) इस प्रकार भी संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि–यज्ञ यम को प्राप्त होता है। यम नियन्ता ईश्वर का वाचक है। सभी यज्ञ उसको ही प्राप्त होते हैं।[6] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–यज्ञ (पूजनीय व्यवहार) दक्षिणाओं (योग्य दानों) के साथ ऊँचा चढ़ा है, उस अग्रगामिनी शक्ति (वा दुर्ग रूप परमेश्वर) की ओर तुम्हें आगे लिये

1. सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रम्। अ. 5. 17. 4.
2. यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या। अ. 5. 17. 12. 17
3. ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः। अ. 5. 17. 9
4. ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्वा सर्वान् लोकान् समश्नुते। अ. 10. 10. 33
5. को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो.। अथर्व. 7. 10. 3. 1
6. यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
   यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः।। अ. 18.2.1

चलता हूँ उस शक्ति में तुम घुस जाओ, उसमें तुम भीतर जाओ, वह (शक्ति) तुम्हें सुख और कवच (रक्षा साधन देवे। इस प्रकार भी संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि– यज्ञ की उन्नति दक्षिणा से होती है अतएव यज्ञ की समाप्ति पर ब्रह्मा आदि को दक्षिणा दी जाती है।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि ज्ञानस्वरूप परमेश्वर श्रेष्ठ गुणों के साथ मुझे पूर्व वा सामने से बचावें, उसमें (उस परमेश्वर के विश्वास में) मैं बढ़ाता हूँ उसमें आश्रय लेता हूँ उस अग्रगामिनी शक्ति (वा दुर्गरूप परमेश्वर) को अच्छे प्रकार प्राप्त होता हूँ वह (ज्ञान स्वरूप परमेश्वर) मुझे बचावे, वह मुझे पाले, उसको अपना आत्मा (मन सहित देह और जीव) सुन्दर वाणी (दृढ़ प्रतिज्ञा) के साथ मैं सौंपता हूँ। अर्थात्–जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालने में आत्मसमर्पण करते हैं वे प्रत्येक स्थान पर उस परमात्मा की छत्र छाया में ऐसे सुरक्षित रहते हैं, जैसे शूरवीर पुरुष दुर्ग में सुरक्षित रहते हैं।[2] आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–जो (परमात्मा) यज्ञ (देवपूजा संगतिकरण दानव्यवहार) का बड़ा साधक तन्तु (सूत्रात्मा रूप) होकर देवों (इन्द्रियों, लोकों और विद्वानों) में निरन्तर फैला है। उस सब ओर से ग्रहण किये गये (परमेश्वर) को हम प्राप्त होवें। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–मनुष्य उस जगत् पिता, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक परमात्मा को ध्यान में रखकर अपनी उन्नति करें।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाया गया है कि–पुरोहित कैसा होना चाहिए उसमें कौन से गुण होने चाहिए? पुरोहित में ये गुण होने चाहिएं–वह ज्ञानी, सशक्त और बलवान हो। वह अपने राष्ट्र की उन्नति करने वाला हो। वह ब्रह्मशक्ति के साथ ही क्षत्रशक्ति की भी उन्नति करने वाला हो।[4]

यज्ञ का महत्त्व

अथर्ववेद में यज्ञ के महत्त्व का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि– सबसे पहिले वर्तमान निश्चल परमात्मा ने संगति कर्मों (परमाणुओं के मेलों) से मार्गों को फैलाया, फिर नियम पालने वाला, पियारा लोकः सब ओर प्रकट हुआ। पियारे बड़ाई योग्य उस (सूर्य) ने पृथिवियों

---

1. यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
   तामा विशत तां प्र विशट् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु।। अ. 19.19.6
2. तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा।। अ. 19.17.1
3. यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतमशीमहि। अ. 13.1.60
4. संशितं म इदं ब्रह्म............येषामस्मि पुरोहितः।। अ. 3.19.1

(चलते हुए लोकों) को सब ओर खींचा है, उस नियम कर्ता परमेश्वर के मेल से उत्पन्न हुए अमरण (मोक्ष सुख वा जीवन सामर्थ्य) को हम पाते हैं। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–जिस परमात्मा ने आकाश, सूर्य, पृथिवी, आदि लोक बनाकर हमें जीवन दिया है, उस बड़े जगदीश्वर को उपासना से विद्वान् लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख भोगें।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–नदियाँ बहुत अनुकूल बहें, विविध प्रकार के पवन और पक्षी बहुत अनुकूल (वहें) स्तुति योग्य विद्वानों ! इस यज्ञ (देवपूजा संगतिकरण और दान) को बढ़ाओ बहुत अनुकूल से भरी हुई भक्ति के साथ (तुम को) मैं स्वीकार करता हूँ। अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि नौका, खेती आदि में प्रयोग करने से नदियों को, विमान आदि शिल्पों से पवनों को और यथायोग्य व्यवहार से पक्षी आदि को अनुकूल करें और नम्रता पूर्वक विद्वानों से मिलकर सुख के व्यवहारों को बढ़ावें।[2] आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि–सत्य ज्ञान की स्तुति करते हुए ठीक-ठीक ध्यान रखते हुए, विजय चाहने वाले बुद्धिमान पुरुष के वीर पुत्र विविध प्रकार पूर्ण पद (पाने योग्य वस्तु को धारण करते हुए ज्ञानी ऋषियों ने पूजनीय व्यवहार के मुख्य स्थान (परब्रह्म) को पूजा है। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि सत्यग्राही ऋषि महात्मा लोग माता पिता आदि विद्वानों से उत्तम शिक्षा पाकर परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान में लवलीन होकर आत्मा की उन्नति करते हैं।[3] आगे अथर्ववेद में यज्ञ का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि–जिन अग्नि के प्रकाश करने वाले अङ्गिराओं (ज्ञानी ऋषियों ने श्रेष्ठ जीवन को सुन्दर रीति से करने योग्य शान्तिदायक कर्म से धारण किया था, तब ही उन नेताओं ने उद्यम से सब भोजन (पालन साधन धन अन्न आदि,) उत्तम घोड़ों वाले और उत्तम गौओं वाले पशु समूह को अच्छे प्रकार पाया है। अर्थात्–जो अग्नि विद्या में कुशल, पुरुषार्थी, विज्ञानी लोग धार्मिक कर्म कर के उत्तम जीवन बनाते हैं वे ही उद्योग कर के सब प्रकार से सुख

---

1. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
   आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे।। अ. 20.25.5
2. सं सं स्रवन्तु नद्यः । सं वाताः सं पतत्रिणः।
   यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि।। अ. 19.1.1.
3. ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
   विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त।। अ. 20.91.2

पाते हैं।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–सबसे पहिले वर्तमान निश्चल परमात्मा ने संगति कर्मों (परमाणुओं के मेलों) से मार्गों को फैलाया, फिर नियम पालने वाला, पियारा लोक सब ओर प्रकट हुआ। पियारे, बड़ाई योग्य उस (सूर्य) ने पृथिवियों (चलते हुए लोकों) को सब ओर खींचा है उस नियम कर्ता परमेश्वर के मेल से उत्पन्न हुए अमरण (मोक्ष सुख वा जीवन सामर्थ्य) को हम पाते हैं। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–जिस परमात्मा ने आकाश, सूर्य, पृथिवी आदि लोक बनाकर हमें जीवन दिया है, उस बड़े जगदीश्वर की उपासना से विद्वान् लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख भोगें।[2] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ का महत्त्व एवं उत्पत्ति के सम्बन्ध में बतलाया है कि–वह परमेश्वर पूजनीय हुआ और सब ओर व्यापक हुआ, वह अच्छे प्रकार जाना गया, वही निश्चय करके बढ़ा। वह दिव्य वायु सूर्य आदि लोकों का अधिपति हुआ, वही हमारे बीच प्रापणीय बल सब ओर से धारण करें। अर्थात् सर्वपूजनीय सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सदा प्रवृद्ध परमेश्वर के उपासक लोग आत्मिक बल वढ़ाकर मोक्ष सुख पाते हैं। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ उत्पन्न हुआ। उसकी बृद्धि हुई, उससे ज्ञान की भी वृद्धि हुई। इस प्रकार यज्ञ पद्धति का विस्तार होता गया।[3] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–वह सबसे पहिला वर्तमान हुआ और आगे वर्तमान रहने वाला पूजनीय (परमेश्वर) प्रकट हुआ। उससे ही यह सब उत्पन्न हुआ जो कुछ भी यह (जगत्) ऋषि (बड़े ज्ञानी) सब के उत्पन्न करने वाले (परमेश्वर) करके सब ओर से पाला गया झलकता हैं इस प्रकार भी व्याख्या है कि जो अविनाशी परमात्मा भूत और भविष्य में वर्तमान रहता है उसी ने अपने सामर्थ्य से यह सब जगत् रचा है। बुद्धिमान् लोग ऐसा निश्चय करके अपना सामर्थ्य बढ़ावें।[4] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि इस प्रकार आनन्द मनाती हुई मैं (विराट्) इस (चराचर जगत्) में आयी हूँ और तुम्हारी मित्रता में सुख देने वाली हूँ (कर्म फल के साथ) एक

---

1. आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
   सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्त मा पशुं नरः।। अ. 20.25.4
2. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यों व्रतपा वेन आजनि।
   आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे।। अ. 20.25.5
3. यज्ञो बभूव.........स उ वा वृक्षो।। अ. 7.5.2.
4. स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत। तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्
   किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम्।। अ. 13.1.55.

जन्मवाला तुम्हारा बोध मंगलकारी है, वह (बोध) तुम्हारी सब (आशायें) समझता हुआ संचार करता है। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि मनुष्यों के कल्याण के लिये ईश्वर शक्ति प्रकट होकर उन्हें संचित कर्म-अनुसार बृद्धि देकर आगे के लिये पुरुषार्थ का उपदेश देती है।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि– यह (प्रत्यक्ष) वेदि (विद्यमानता का बिन्दु वा यज्ञ भूमि) पृथिवी का परला अन्त है, यह (प्रत्यक्ष) ऐश्वर्यवान् रस (सोम औषध वा अन्न आदि का अमृत रस) पराक्रमी बलवान् पुरुष का वीर्य (पराक्रम) है। यह प्रत्यक्ष यज्ञ (परमाणुओं का संयोग वियोग व्यवहार) सब संसार की नाभि (नियम में बाँधने वाली शक्ति) है, यह (प्रत्यक्ष) ब्रह्मा (चारों वेदों का प्रकाशक परमेश्वर) वाणी (विद्या) का उत्तम (विविध रक्षा स्थान) अवकाश है। व्याख्यात्मक रूप से समझाकर इस मन्त्र का भावार्थ स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि–पृथिवी गोल है, यदि मनुष्य किसी स्थान से सीधा बिना मुड़े किसी ओर चलता जावे, तो वह चलते चलते फिर वहीं आ पहुँचेगा जहाँ से चला था। सब प्राणी सोम अर्थात् अन्न आदि के रस से बलवान् होते हैं, परमाणुओं के संयोग वियोग अर्थात् आकर्षण अपकर्षण में सब संसार की नाभि अर्थात स्थिति है। परमेश्वर ही सब वाणियों अर्थात् विद्याओं का भण्डार है। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि–यह यज्ञ संसार की नाभि अर्थात् केन्द्र है। प्राकृतिक यज्ञ की सत्ता से ही यह संसार चल रहा है।[2] इसी प्रकार आगे यज्ञ के महत्त्व के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–सहस्रों नेत्र वाले सैकड़ों सामर्थ्य वाले सैकड़ों जीवन शक्ति वाले आत्मदान वा भक्ति से इस (आत्मा) को मैंने उभारा है। जिससे ऐश्वर्यवान् मनुष्य इस (देही) को प्रत्येक कष्ट के पार निकाल कर (सौ) शरद् ऋतुओं तक पहुँचावे। अर्थात्–जब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दर्शन शक्ति, कर्मशक्ति और जीविकाशक्ति बढ़ाकर अपने को सुधारता है, तब वह इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलभ कर यशस्वी होकर चिरंजीवी होता है।[3] आगे बतलाते हैं कि– यज्ञ हजारों प्रकार की पुष्टियों को देने वाला

1. इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागभं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।
   समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन्। अ. 8.9.22
2. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
   अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।। अ. 9.10.14
3. सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
   इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्।। अ. 3.11.3

है, अर्थात् यज्ञ संसार को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचाता है।[1] यज्ञ देवों को जागृत करता है अर्थात् यज्ञ विद्वानों को जागरूक होने की शिक्षा देता है।[2] इसी प्रकार आगे विस्तार पूर्वक यज्ञ का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि अन्न की सफलता यज्ञ के द्वारा मानी गई है। यज्ञ दैवी अंश का प्रतीक है। मनुष्य यज्ञ के द्वारा दैवी अंश प्राप्त करता है। वह आत्मतत्त्व को जानकर मुक्ति प्राप्त करता है।[3] आगे कहते हैं कि जो श्रेष्ठ कर्म (यज्ञ) नहीं करते हैं, उनका तेज क्षीण हो जाता है और वे निस्तेज हो जाते हैं।[4] आगे अथर्ववेद में यज्ञ न करने के परिणाम का वर्णन करते हुए बतलाया है कि–यज्ञ को रूपक के द्वारा नौका माना है और कहा है कि जो यज्ञरूपी नौका पर नहीं चढ़ते हैं, वे पापी होते हैं और सदा दुःख में रहते हैं।[5] इसी प्रकार आगे यज्ञ से नीरोग काय के सम्बन्ध में बतलाया है कि–यज्ञ करने से रोग के कृमि नष्ट हो जाते हैं। यज्ञ में घी की आहुति दी जाती है, वह घी सामग्री आदि अनेक रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करते हैं अर्थात् नित्य नियम पूर्वक यज्ञ करने से शरीर नीरोग रहता है।[6] आगे है कि– यज्ञ में जो समिधाएँ डाली जाती हैं वे विशेष वृक्षों की ही होती हैं। वे भी रोग के कृमियों को नष्ट करते हैं।[7] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाते हैं कि जिनके घर में प्रतिदिन तीनों सवनों में नियम पूर्वक यज्ञ होता है! उसके घर में गण्डमाला या कण्ठमाला आदि रोग नहीं होते हैं।[8] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–यज्ञ के द्वारा इन रोगों की चिकित्सा करने का वर्णन है यक्ष्मा या तपैदिक, गंठिया और अज्ञात बहुत से ज्वर आदि रोगों का निवारण यज्ञ के द्वारा होता है।[9] इस प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ से रोग निवारण का वर्णन करते हुए यज्ञ का महत्त्व बताते हुए यहाँ तक माना गया है कि यज्ञ से मरणासन्न, क्षीण आयु और मृतप्राय

1. साहस्रः पोषः तमु यज्ञमाहुः।। अ. 9.4.7
2. देवान् यज्ञेन बोधय। अ. 19.63.1
3. अथर्ववेद 11.1.5
4. अथर्ववेद 11.1.5
5. अयज्ञियो हतवर्चा भवति। अ. 12.2.37
6. न ये शेकुः यज्ञियां नावमारुहम.। अ. 20.94.6
7. समिधः पिशाचजम्भनीः। अ. 5.29.14
8. त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे अ. 7.76.5
9. मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
   ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प मुमुक्तमेनम्।। अ. 3.11.1

को भी बचाया जा सकता है और उसे शतायु बनाया जा सकता है।[1] इसी प्रकार आगे यज्ञ के महत्त्व को स्वीकार करते हुए बतलाया गया है कि– यज्ञ मनुष्यों को चारों ओर से सुख देता है, अर्थात् यज्ञ को प्रतिदिन नियम से करने पर मनुष्य दुःख को दूर रख चारों ओर से सुख प्राप्त करता हुआ जीवन जीता है, अतएव विद्वान् उसका विस्तार करते हैं।[2] आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि–यज्ञ को विधिपूर्वक अपना कर यजमान अपनी सभी इच्छाओं को पूर्ण करता है।[3] आगे बतलाते हैं कि– प्रातः और सायंकाल यज्ञ करने से मनुष्य में सौमनस्य और सद्भाव आता है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ के महत्त्व का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि–सायं सायङ्काल में हमारे घरों का रक्षक और प्रातः प्रातः काल में सुख का (दाता) देने वाला अग्नि (ज्ञानवान् परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष वा भौतिक अग्नि) तू उत्तम उत्तम प्रकार के धन का देने वाला हो, तुझ को प्रकाशित करते हुए हम लोग शरीर को पुष्ट करें। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी व्यक्त करते हैं कि–यज्ञ से यज्ञ करने वाला उन्नत और तेजस्वी होता है।[5] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–यज्ञ से दीर्घायु, नीरोगता और श्रीवृद्धि प्राप्त होती है।[6] आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–जहाँ पर अर्थात् जिस स्थान पर यज्ञ होता है, वहाँ की वायु शुद्ध रहती है। अतएव ऐसे शुद्ध स्थानों पर ही मनुष्यों और पशुओं को अपने स्वास्थ्य की उन्नति के लिए रहना चाहिए।[7] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ के महत्त्व का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–सूक्ष्मदर्शी ऋषि मनुष्यादि प्रजाओं पर अनुपात (अनुकम्पा) करने वाले उत्तम कर्मों के रक्षक पुरुष को पाप से पृथक् किया हुआ बताते हैं। उसने जिन मथने योग्य प्रसन्न करने वाले, सूक्ष्म विषयों को आनन्द से सिद्ध किया है संसार का रचने वाला परमेश्वर उन (सूक्ष्म विषयों) के साथ हमें संयुक्त करें। संक्षिप्त रूप में इस

---

1. यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
   तमा हरामि निर्ऋतेरूपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय।। अ. 3.11.2
2. यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे। अ. 4.14.4
3. सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः। अ. 14.45.3
4. प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता।
   वासोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम।। अ. 19.55.4
5. उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत। समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि।। अ. 6.5.1
6. इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद वशी। रायस्पोषेण...........।। अ. 6.5.2-19.9.4
7. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व 1ः स्वायाः। 3.28.5

प्रकार भी कह सकते हैं कि–जो यज्ञ करता है, वह अपना कर्तव्य पूरा करता है, अतएव वह पाप का भागी नहीं होता है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–बड़े ऐश्वर्य वाला राजा यज्ञ करने वाले और उपदेशक पुरुष को शिक्षा देता है, और आदर करके धन देता है, और न चुराता है, और द्वित्य गुणा वा विद्वानों के प्राप्त कराने वाले धन को अधिक अधिक ही बढ़ाता हुआ इस संसार के अटूट कण कण प्राप्ति के लाभ में निधि रूप से रखता है। संक्षिप्त रूप में स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि–यज्ञ पवित्र कर्म है, जो निमय से यज्ञ करता है, उसे सभी प्रकार के सुख और लाभ प्राप्त होते हैं। अतः कहा है कि यज्ञ से मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति होती है।[2] आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–यज्ञ से श्रद्धा और मेधा प्राप्त होती है।[3] यज्ञ करने से यजमान को शुभ शक्ति प्राप्ति होती है।[4] यज्ञ यज्ञकर्ता को उन्नत और तेजस्वी बनाता है। इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–यज्ञ से प्रजा, धन की दीर्घायु प्राप्त होती है।[5] यज्ञ मनुष्य का पथ प्रदर्शक है अतः यज्ञ करने वाले कभी पथभ्रष्ट नहीं होते। यह यज्ञ ऐश्वर्यवर्धक, प्रजावर्धक और शक्तिदाता है।[6] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–यज्ञ के द्वारा इन्द्र (बादलों) की वृद्धि होती है और उससे वर्षा होती है।[7] इसी प्रकार आगे यज्ञ के महत्त्व का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि–मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन में जिन तीन वस्तुओं की इच्छा करता है वह हैं–धन, पुत्र और लोक या कीर्ति की इच्छा। उपनिषद् आदि में इनको एषणा कहा गया है। ये तीन इच्छाएँ यज्ञ से प्राप्त होती हैं, अतः इन्हें तीन वरों की प्राप्ति कहा है।[8] आगे अथर्ववेद में यज्ञ के महत्त्व का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि– यज्ञ का अभिप्राय राष्ट्रीय संगठन भी है ऐसे संगठनों आदि से जीवन में सदा विजय प्राप्त होती है। यज्ञ से आत्मिक शक्ति और आत्मिक बल प्राप्त किया जा सकता है। आत्मिक बल प्राप्त किया जा

---

1. यज्ञपतिमृषय एनसाहुनिर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
   मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः, सृजतु विश्वकर्मा।। अ. 2.35.2
2. इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षते। अ. 4.21.2
3. श्रद्धां च मेघां च जातेवेदाः प्र यच्छतु। अ. 19.64.1
4. भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते। अ. 20.25.3
5. अथर्ववेद 6.5.1
6. अथर्ववेद 7.33.1
7. यज्ञ इन्द्रम् अवर्धयत्.। अ. 20.27.5
8. त्रयो वरा यतमान् त्वं वृणीषे। अ. 11.1.10

सकता है। आत्मिक बल से व्यक्ति सदा विजयी होता है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–घृतादि के द्वारा यज्ञ करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है इसका अनेक बार उल्लेख मिलता है। यजमान स्वर्ग प्राप्त करता है।[2] यज्ञ से मनुष्य की उन्नति होती है अर्थात् मनुष्य यज्ञ से उन्नति को प्राप्त करता है वह उन्नति करता हुआ नाक अर्थात् स्वर्ग पहुँचता है।[3] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–यज्ञ से मनुष्य देवयान मार्ग पर चलता है अर्थात् यज्ञ करने वाला सदा सन्मार्ग पर चलता है, अतएव वह स्वर्ग प्राप्त करता है।[4] अथर्ववेद में आगे बतलाते हैं कि– जो यज्ञ के लाभ बताये गए हैं, वे ही सोमयाग करने वाले के बताये गये हैं। सोमयाग से मनुष्य–धनलाभ, शत्रुनाशन, ईश्वरीय कृपा और शक्ति आदि लाभ प्राप्त करता है।[5] यज्ञ के मन्त्रों में अन्तिम शब्द 'स्वाहा' शब्द शुभवाचक है। इनकी जय हो, आदि भावों का सूचक है। इसी प्रकार 'दुराहा' शब्द अशुभवाचक है। इसकी पराजय हो इत्यादि भावों को बताता है।[6]

यज्ञ के विविध प्रकार–आगे अथर्ववेद में यज्ञों के विविध प्रकार का वर्णन करते हुए बतलाया है अथर्ववेद में यज्ञों के इन भेदों का उल्लेख है–एकरात्र (एकरात्र चलने वाले), द्विरात्र, सद्यःक्री प्रक्री, उक्थय चार पाँच छः सात से लेकर 16 रात्रि तक चलने वाले, प्रतीहार, निधन, विश्वजित्, अभिजित, अतिरात्र, द्वादशाह, अर्धमास (15 दिन चलने वाले), मासिक और चातुर्मास्य (चार महीने चलने वाले)। वेदों को यज्ञ से प्रसन्न करे, पितरों को स्वधा से और ब्राह्मणों आदि को दान से, इस प्रकार ये तीन यज्ञ हैं।[7] इसी प्रकार आगे कुछ मुख्य यज्ञों की ओर संकेत करते हुए बतलाया है कि–सात विविध यज्ञों को विद्वान् करते थे। अर्थात् सात मुख्य यज्ञ माने जाते थे।[8] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में गृहस्थ के लिए करने योग्य यज्ञों का वर्णन करते हुए बतलाया

---

1. अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सामो अभिभूरिन्द्रः।
   अभ्यं हं विश्वाः प्रतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः। अ. 6.97.1
2. स्वर्यन्तु यजमानाः। अ. 4.14.5
3. उत्तमं नाकम् अधि रोहयेमम्। अ. 11.1.4
4. ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्। अ.18.4.2
5. वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः। सुन्वान इत सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः। सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं.....।। अ. 20.67.1
6. स्वाहा एभ्यः, दुराहा अभीभ्यः। अ. 8.8.24
7. स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः। अ. 12.4.32
8. सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन.। अ. 12.1.39

है कि–गृहस्थ के लिए करने योग्य 5 यज्ञों या पंचयज्ञों को यज्ञ के भेद में गिना गया है, पाँच यज्ञ यह हैं–ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथि यज्ञ। इनमें प्रथम ब्रह्मयज्ञ है। ब्रह्मयज्ञ का अर्थ सन्ध्या है। प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्या करनी चाहिए। अथर्ववेद में प्रातःकाल उठते ही परमात्मा की स्तुति करने का उल्लेख है[1] तथा अन्यत्र मनसा-परिक्रमा के मन्त्र दिए हैं।[2] सन्ध्या में मनसा-परिक्रमा की विधि के द्वारा ईश्वर की सत्ता चारों ओर विद्यमान है, ऐसा अनुभव करना चाहिए।

यज्ञ में आत्म समर्पण का भाव मुख्य रूप से बताया गया है। 'स्वाहा' और 'इदं न मम' आदि शब्द आत्मसमर्पण के सूचक हैं? अतएव कहा गया है कि उपासक अपने आप को ईश्वरार्पण कर दे।[3] आगे स्पष्ट करते हैं कि–आत्मसमर्पण यज्ञ को सर्वोत्तम माना गया है कहा है कि इससे बढ़कर और कोई यज्ञ नहीं है।[4] इसी प्रकार आगे मानस यज्ञ का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि मनुष्य के शरीर में मन अमर्त्य अर्थात् दिव्य शक्ति है। उस अमर्त्य शक्ति के द्वारा अर्थात् मन के द्वारा अमर्त्य देवों की उपासना करनी चाहिए।[5] आगे अथर्ववेद में विविध यज्ञों का विस्तार रूप से वर्णन मिलता हैं कि–विष्टारी ब्रह्मौदन का वर्णन है।[6] अथर्ववेद में यज्ञ के विविध प्रकार का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि–किस प्रकार ब्रह्मौदन से मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है।[7] आगे अथर्ववेद में पौर्णमास यज्ञ अर्थात् पूर्णिमा वाले दिन किए जाने वाले यज्ञ का वर्णन है तथा दर्श यज्ञ अर्थात् अमावस्या के दिन किऐ जाने वाले यज्ञ का वर्णन है।[8] आगे बतलाते हैं कि अथर्ववेद में सौत्रामणी याग का भी वर्णन है।[9] इसी प्रकार आगे बतलाते

---

1. अथर्ववेद में 3.16.1 से 7
2. अथर्ववेद 3.27.1 से 6
3. वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि। अ. 2.35.5
4. ओजीयो यद् विहव्येनेजिरे। अ. 7.5.4
5. यद देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन।
   मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य।। अ. 7.5.3
6. ब्रह्मास्य शीर्ष बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
   छन्द्रांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः। अ. 4.34.1 से 7
7. तेनौदनेतानि तराणि मृत्युम्। अ. 4.35. 1 से 7
8. अथर्ववेद 7.79. 1 से 4
9. दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
   यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः।। अ. 3.3.2

हैं कि–राजा का कर्तव्य है कि वह सौत्रामणी याग के द्वारा अपनी बिखरी हुई शक्ति को केन्द्रित करे। इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में पितृयज्ञ के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए बतलाया है कि–पितृयज्ञ का अभिप्राय है–अपने माता-पिता और अपने ज्येष्ठ लोगों का आदर-सत्कार करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनके प्रति श्रद्धा पूर्वक व्यवहार करना। इस हार्दिक श्रद्धा के व्यवहार के कारण पितृयज्ञ को श्राद्ध भी कहा जाता है। अथर्ववेद में माता-पिता को देवता कहा गया है। देवों के तुल्य ही उनकी पूजा करनी चाहिए।[1] अथर्ववेद के अगले मन्त्र में यह भी कहा है कि माता-पिता को किसी प्रकार का कष्ट न दें। यदि किसी प्रकार का कोई कष्ट दिया है तो वह दुःखदायी होगा। उसके लिए प्रायश्चित करना चाहिए।[2] अथर्ववेद के पूरे 18वें काण्ड में पितृमेध का विवरण दिया गया है। उसका वर्णन आगे संस्कारों के वर्णन में अन्त्येष्टिसंस्कार के साथ दिया गया है अपने माता-पिता आदि की स्मृति में जो विविध कर्म किए जाते हैं, उन्हें पूर्त या आपूर्त कहते हैं। जैसे उनके स्मारक के रूप में धर्मशाला, अतिथिशाला, कूप या शिक्षासंस्था आदि का निर्माण कराना। इसी प्रकार यज्ञ आदि करने-कराने को इष्ट कहते हैं। पूर्वजों की स्मृति के रूप में किए जाने वाले इन कर्मों को इष्टापूर्ति कहते हैं। अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर इष्टापूर्ति करने का उल्लेख है।[3] अथर्ववेद में आगे बलिवैश्वदेवयज्ञ के सम्बन्ध में बतलाते हैं कि–जो भोजनादि पकाया जाता है, उसको खाने के पूर्व उसका कुछ अंश अग्नि में डालना तथा कुछ अंश पशुपक्षियों और कृमियों आदि को निकालकर डालना 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' कहा जाता है। अथर्ववेद में शिक्षा दी गई है कि जो कुछ भी अन्न पकाया जाय, उसका कुछ अंश दान रूप में देना चाहिए और कुछ अन्न अग्नि में आहुति देनी चाहिए।[4] यह भी कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह बलिवैश्वदेवयज्ञ और दान के अतिरिक्त इस प्रकार के अन्य दयाभाव वाले काम भी करे।[5] अथर्ववेद में आगे अतिथि यज्ञ का वर्णन विस्तार पूर्वक करते हुए बतलाया

1. देवाः पितरः पितरो देवाः। अ. 6.123.3
2. यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम्।
   अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्।। अ. 6.120.1
3. इष्टापूर्तम्. अ. 6.123.2, 2.12.4
4. यद वा पक्वं परिविष्टम् अग्नौ.। अ. 6. 122.3
5. कर्मन् करुणेऽधि जाया। अ. 12.3.47

है कि—अतिथियज्ञ का अभिप्राय है कि अतिथि को आदरणीय समझते हुए उसका स्वागत-सत्कार विधिपूर्वक किया जाय। अथर्ववेद में अतिथि-सत्कार का बहुत विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद के 109 मन्त्रों में अतिथिसत्कार का वर्णन है।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में अतिथिसत्कार का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि—अतिथिसत्कार में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि, ये तीनों अग्नियाँ विद्यमान हैं। इन तीनों अग्नियों में यज्ञ करने का जो माहात्म्य है, वही अतिथि-सत्कार करने में है।[2] अतिथि का दर्शन देवयज्ञ है।[3] अतिथि का स्वागत करना प्राजापत्य यज्ञ है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में अतिथि के गुण का वर्णन करते हुए बतलाया है कि—अतिथि कैसा होना चाहिए या अतिथि में क्या गुण होने चाहिए? इसके विषय में कहा गया है कि—वह संयमी और जितेन्द्रिय होना चाहिए। ऐसा अतिथि ही सत्कार के योग्य है।[5] आगे बतलाते हैं कि अतिथि का सत्कार करना यज्ञ की दीक्षा के तुल्य है। अतिथिसत्कार के अन्य कार्य भी यज्ञ के कार्यों के तुल्य पवित्र कर्म है।[6] अतिथिसत्कार में पाँच काम कहे गए हैंः—अतिथि की प्रेमपूर्वक अगवानी करना, उसका अभिवादन करना, उसे अर्धरूप में जल देना, भोजनादि का सामान भेंट करना उच्छिष्ट अर्थात् उसके भोजन करने के बाद भोजन करना।[7] अथर्ववेद में अतिथि के गुण का तथा उसका सत्कार कैसे होना चाहिए विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि—अतिथि के आने पर खड़ा होकर उसका स्वागत करना, उसे जल देना और उसकी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहिए।[8] आगे बतलाते हैं कि—अतिथि का यहाँ तक महत्त्व का वर्णन किया गया है कि यदि गृहपति यज्ञ कर रहा है तो वह यज्ञ छोड़कर अतिथि सत्कार करे। जब अतिथि की आज्ञा मिल जाए, तब पुनः यज्ञ में लगें।[9] अतिथि

---

1. अथर्ववेद 9.6.1. से 62; 15 सूक्त 10 से 13
2. यो अतिथोनां स आहवनीयः। 9.6.30
3. यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते। अ. 9.6.3
4. प्राजापत्यः............यज्ञो विततो य उपहरति। अ. 9.6.28
5. जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
   विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि। अ.7.73.9
6. तेषां न कश्चनाहोता।। 9.6.4., यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्यं गृहानुपो दैत्यबभृथमेव तदुपावैति।। 9.6.5
7. अथर्ववेद 9.6. (5). 8.9.
8. अथर्ववेद में 15.11. 1-2
9. अथर्ववेद में 15.12. 1 से 4

अन्न खाकर गृहस्थ को पापों से मुक्त करता है अर्थात् अतिथि को भोजन खिलाने से गृहस्थ के पाप कट जाते हैं।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि– वेदज्ञ विद्वान् ही उत्तम अतिथि है, उससे पहले भोजन न करे।[2] अतिथि को खिलाकर ही खाना खावे। यह एक नियम है। ऐसा करने पर ही अतिथियज्ञ पूरा होता है।[3]

जो गृहस्थ अतिथि से पहले भोजन कर लेता है, वह अपने इन शुभ वस्तुओं से हाथ धो बैठता है– इष्ट, पूर्त रस, अन्न, पुष्टि, बुद्धि, प्रजा, पशु, कीर्ति और यश।[4] आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि–राजा विद्वान् व्रात्य अर्थात् व्रती का सत्कार करे। इससे राष्ट्र की और क्षात्रधर्म की वृद्धि होती है। ऐसा करने से ब्रह्म और क्षत्र दोनों शक्तियों की उन्नति होती है।[5] अतिथि को उसकी इच्छा के अनुसार अनेक दिन रुकने दे। अतिथि-सत्कार से अनन्त पुण्य होते हैं। अतिथि जितने दिन अधिक रुकेगा, उतना ही अधिक पुण्य गृहस्थ को प्राप्त होगा।[6] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में अगुणी अतिथि के सम्मान के सम्बन्ध में बतलाते हैं कि–पाखण्डी और ढोंगी अतिथि भी आवे तो उसका स्वागत करें या न करें, इस विषय पर मत दिया गया है कि ऐसे अतिथि का भी तिरस्कार न करे। उसके साथ भी सामान्य शिष्टता का व्यवहार करे।[7] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में यज्ञ की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है।

यज्ञ की प्रक्रिया–यज्ञ के लिए वेदी बनाई जाती है। यज्ञ वेदी को चारों ओर से स्वच्छ करके उस पर कुश आदि बिछाई जाती है। यज्ञ वेदी के चारों ओर हरियाली होनी चाहिए। यज्ञ वेदी पर बैठने वाले दुर्भावों से मुक्त होने चाहिए।[8] यज्ञ तीन समय होता है:–प्रातः, दोपहर और सायंकाल। प्रातः

---

1. यद् वा अतिथि पतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभूथमेव तदुपावैति। 9.6.5
2. एव वा अतिथिर्यत् क्षोत्रियः, तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्। अ. 9.6.37
3. अथर्ववेद 9.3.38
4. अथर्ववेद 9.6.31 से 36
5. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।।1।। श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते। तथा राष्ट्राय ना वृश्चते।।2।। अतो बै ब्रह्म........विशावेति।। अ. 15. 10. 1 से 3
6. तद् यस्यैव विद्वान्............. वसति।।15.13.9
   य एवापरिमिताः पुण्या.......... रुन्द्धे।।10।। अ. 15.13 9 - 10
7. कर्षेदेनं चैनं कर्षेत।। 15.13.12
8. परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम्। होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके।। 7.99.1

सवन का देवता अश्विनी है, द्वितीय सवन का इन्द्र और अग्नि, तृतीय सवन का ऋभु।[1] आगे बतलाया है कि– देवों ने यज्ञ किया, उससे यज्ञ की सात परिधियाँ बनाईं और 21 समिधाएँ रखीं।[2] यज्ञ की सात परिधियों से अभिप्राय गायत्री अनुष्टुप आदि सात छन्द लेने चाहिए। यज्ञ सम्बन्धी सभी मन्त्र इन सात छन्दों में बने हुए हैं। आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि–21 समिधाएँ से यहाँ अभिप्राय लिया जाना चाहिए–7 तत्त्व अर्थात् 5 महाभूत, तन्मात्रा और अहंकार। इन सात को तीन गुणों से अर्थात् सत्त्व रजस् और तमस् से गुणा करने पर 21 तत्त्व होते हैं। ये 21 तत्त्व समिधा माने गए हैं।

यज्ञ में वेद के सूक्तों और मन्त्रों का पाठ किया जाता है।[3] यज्ञ में भूलचूक से जो त्रूटियाँ हो जाती हैं, उनके लिये प्रायश्चित आहुति दी जाती है और त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना की जाती है।[4] अथर्ववेद का कथन है कि यज्ञ में गाय कुत्ते आदि पशुओं की बलि देना मूर्खता का काम है। मूर्ख इस प्रकार की बलि आदि देते हैं।[5] इससे ज्ञात होता है कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' यह बाद की कल्पना है। यज्ञ की समाप्ति पर पुरोहितों को दक्षिणा दी जाती है। इसके लिए कहा है कि दक्षिणा में ब्रह्मा आदि को गाय और भूमि दे।[6] दक्षिणा में नया वस्त्र और सुवर्ण आदि धन।[7] दक्षिणा में ब्राह्मणों को गाय मुख्य रूप से दी जाती है।[8] बड़े यजमान, राजा आदि दक्षिणा में हजारों रुपये तक देते हैं।[9]

संस्कार

अथर्ववेद में संस्कारों पर विशेष बल दिया गया है। प्रायः सभी संस्कारों का अथर्ववेद में वर्णन है। उसका संक्षेप में यहाँ विवरण दिया जा रहा है।

1.
2. सप्त परिधयः त्रिः सप्त समिधः। अ. 19.6.15
3. एष तें यज्ञो यज्ञपते सह सूक्तवाकः। सुवीर्य स्वाहा। अ. 7.17.6
4. ये भक्षयन्तो............विश्वकर्मा।। 2.35.1, यज्ञपतिमृषय...........विश्वकर्मा।। 2.35.2, अदान्यान्सोमपान्। .... स्वस्तये।।3 धोरा..........स्मान् 4, यज्ञस्य..........सुमनस्यमानाः।।5 तथा अथर्ववेद का 19.40 1 से 4
5. मुग्धा देवा शुनायजन्तोत गोरङ्गैः। 7.5.5
6. पृश्निं वरुणं दक्षिणां ददावान्। अ. 5.11.1
7. वासो दद्याद् हिरण्यमपि दक्षिणाम्। अ. 9.5.14
8. अ. 12 सुक्त 4 और 5
9. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन डा. कपिलदेव

(१) गर्भाधान संस्कार–अथर्ववेद में गर्भाधान संस्कार का विवरण दिया गया है और इस संस्कार को विश्वहित का साधक बताया गया है। इसे विस्तार पूर्वक इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि– जैसे इस बड़ी पृथिवी ने पञ्चमहाभूतों के गर्भ को यथावत् धारण किया है वैसे ही तेरा गर्भ संतान को अनुकूलता से उत्पन्न करने के लिये स्थिर होवे। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–जैसे पृथिवी बीज को अपने में धारण करके अनुकूल समय पर उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रयत्न किया जावे कि संतान गर्भ से पूरे दिनों में उत्पन्न होकर बली और पराक्रमी होवे।[1] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–अथर्ववेद में गर्भाधान का वर्णन है।[2] इसमें यह प्रार्थना की गई है कि बालक में सभी उत्तम गुण विद्यमान हों। उसमें विद्या, रूप, तेज और सोम्यता आदि गुण मुख्य रूप से हो।

(२) पुंसवन संस्कार–अथर्ववेद में पुंसवन संस्कार का वर्णन किया गया है यह बतलाया गया है कि–मनुष्य बड़े लोगों से ब्रह्मचर्य विद्या और ओषधि विद्या प्राप्त करके बली धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करें। और बलवती माता अपने बच्चों को अपना दूध पिला कर बलवान करे, जैसे गौ दूध पिला कर बच्चे को पुष्ट बनाती है।[3] इसी प्रकार आगे बताते हैं कि–अन्यत्र भी पुंसवन संस्कार का वर्णन है। शमी पर उगे हुए पीपल के फलादि के सेवन से पुत्रलाभ की प्राप्ति बताई है।[4]

(३) सीमन्तोन्नयन संस्कार–अथर्ववेद में सीमन्तोन्नयन संस्कार का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि–बलवानों में ठहरने वाला पुरुष शान्त स्वभाव स्त्री के प्रति आरूढ़ हो चुकता है, उस काल में सन्तान का उत्पत्ति कर्म किया जाता है। वह कर्म ही कुल शोधक संतान की प्राप्ति का कारण है, उस कर्म को स्त्रियों में हम पहुँचाते हैं, इस प्रकार कह सकते हैं कि–वीर्यवान् पति और शान्त स्वभाव पत्नी यथाविधि परस्पर संयोग करके सन्तान उत्पन्न करें।[5] आगे अथर्ववेद में राका, कुहू और सिनीवाली देवियों

---

1. अथर्ववेद में 6.17.1 से 4 तक
2. अथर्ववेद में 5.25. 1 से 13
3. अथर्ववेद 3.23. 1 से 4
4. शमीमश्वत्थ.........। तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि अ. 6.11. 1 से 3
   पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते।
   तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत्।। अ. 6.11.2
5. शमीमश्वत्थ आरूढ़ः तत्र पुंसवनं कृतम्। अथर्ववेद 6.11.1

से प्रार्थना है कि वे वीर पुत्र को जन्म दें।[1] आगे स्पष्ट किया है कि– हे सबके उत्पन्न करने वाले परमेश्वर श्रेष्ठ रूप के साथ इस नारी की दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में रक्षा करने वाला कुल शोधक सन्तान दसवें महीने में उत्पन्न होने को अच्छे प्रकार स्थापित कर। अर्थात्–विदुषी पत्नी परमेश्वर के गुणों का विचार करती हुई उत्तम गुण स्वभाव वाला सन्तान गर्भ के पूरे दिनों में उत्पन्न करे।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–अनुकूल बुद्धिवाली, अन्नवाली प्रजापालक शक्ति परमेश्वर ने यह शक्ति दी है। दूसरे प्रकार में (स्त्री का रज अधिक होने में) स्त्री जन्म सम्बन्धी क्रिया वह (ईश्वर) धारण करता है और इसमें (पुरुष का वीर्य अधिक होने पर) निश्चय करके बलवान संतान को वह स्थापित करता है। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–पुत्र हो या पुत्री उसका जन्म सुख पूर्वक हो।[3]

४. जातकर्म संस्कार–अथर्ववेद में जातकर्म संस्कार का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है कि–प्रसव समय रहने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर को भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रखे जिससे बालक सुखपूर्वक उत्पन्न होवे। इसी प्रकार आगे बताते हैं कि–अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है, मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को माता और गर्भ में स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे। आगे बतलाते हैं कि–सन्तान उत्पन्न करने वाली माता अङ्गों को कोमल करे प्रसूतिका गृह को हम प्रस्तुत करते हैं। हे जन्म देने हारी माता! तू प्रसन्न हो। वीर स्त्री! तू (बालक को) उत्पन्न कर। आगे बतलाते हैं कि जेली वा जेरी (जिसमें बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है, कुछ उसमें से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे। यह जरायु (जेली वा जेरी) बालक उत्पन्न होने पर नाभि आदि के बन्धन से छुट जाती है और सार रहित होकर माता के उदर में ऐसे फिरती है जैसे

---

1. अथर्ववेद 7 सुक्त 46 से 48
2. सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः।
   पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे।। अ. 5.25.12
3. प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।
   स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह।। अ. 6.11.3

संवार नामक घास जलाशय में। शरीर में उसके रह जाने से रोग हो जाता है। इससे उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिससे प्रसूता नीरोग होकर सुखी रहे।[1] अथर्ववेद में आगे संस्कार का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है कि– तेरे गर्भ मार्ग को विशेष करके और गर्भाशय को विशेष करके और पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों को विशेष करके अलग करती हूँ और माता को और क्रीड़ा करने वाले पुत्र को जरायु से अलग-अलग (करती हुई), जरायु नीचे गिर जावे। आगे स्पष्ट किया है कि–जैसे पवन और जैसे मन और जैसे पक्षी चलते हैं। वैसे ही हे दश महीने वाले (गर्भ के बालक) तू जरायु के साथ नीचे आ, जरायु नीचे गिर जावे।[2] इसी प्रकार आगे इसमें धात्री के कर्तव्य भी बताए गए हैं कि वह क्या कार्य करे जिससे बालक सरलता से उत्पन्न हो। इसमें सुख से प्रसव का वर्णन है। नवजात शिशु को शुभाशीर्वाद देने का विधान है।[3] उसके दीर्घायु के लिए शुभकामना की गई है।[4]

(५) नामकरण संस्कार–नामकरण का भी उल्लेख है।[5] बालक का नाम कैसा रखना चाहिए? इसका भी संकेत है कि तेजस्विता आदि गुणों से युक्त नाम रखना चाहिए, जिससे बालक में गुण आवें और वह जीवन में कभी भी पराजित न हो।

(६) अन्नप्राशन संस्कार–अथर्ववेद में अन्नप्राशन का भी उल्लेख है।[6] अन्नप्राशन का समय बताया गया है कि जब बालक के दो दाँत निकल गए हों, तब संस्कार करना चाहिए। धीरे-धीरे बालक को अन्न देना आरम्भ करना चाहिए। भोज्य अन्नों का भी उल्लेख है कि इन अन्नों को खाने को दो।

(७) मुंडन संस्कार–अथर्ववेद में मुंडन संस्कार या चूडाकर्म संस्कार का उल्लेख है।[7] मुंडन की विधि में बताया गया है कि नाई गर्म पानी से बालों को भिगो कर उस्तरे से मुंडन करे।

---

1. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन
2. बषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
   सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ।। 1.11. 1 से 6
3. अथर्ववेद 6.76. 1 से 4
4. अथर्ववेद 6. 110. 1 से 3
5. नाम गृह्णात्यायुषे। अ. 6.76.4
6. अथर्ववेद 6.140. 1 से 4
7. अ. 5.18. 1 से 14

(८) उपनयन और वेदारम्भ संस्कार—उपनयन और वेदारम्भ संस्कारों का वर्णन आश्रम-व्यवस्था के प्रसंग में ब्रह्मचर्य आश्रम के वर्णन में किया गया है अथर्ववेद में उपनयन (यज्ञोपवीत) का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।[1]

अथर्ववेद में आगे बतलाया है कि—यज्ञोपवीत में तीन धागे होते हैं और इन तीन धागों में भी तीन-तीन धागे होते हैं। इस प्रकार यज्ञोपवीत 9 धागों का होता है। इन तीन धागों के विषय में उल्लेख है इनमें से सुवर्ण के तीन, चाँदी के तीन और ताँबे के तीन धागे होने चाहिए।[2]

यज्ञोपवीत के तीन धागों में तीन-तीन धागे होने की प्रक्रिया को त्रिवृत्करण कहते हैं। इसका अभिप्राय है—तीनों में तीनों तत्त्व हों इन तीन तत्त्वों का सामूहिक रूप यज्ञोपवीत है। ये तीन धागे तीन प्रकार की पुष्टि के सूचक हैं। सूर्य, अग्नि और इन्द्र इन तीनों के अन्दर जो गुण हैं, वे यज्ञोपवीत के द्वारा प्राप्त हों। त्रिवृत्करण का यह भी अभिप्राय है कि तीनों में तीनों तत्त्व हैं। जिस प्रकार सोने में अग्नि, सोम और जल इन तीनों का अंश है।[3]

यज्ञोपवीत के तीन धागे तीन पुष्टियों के भी सूचक हैं—अन्न की विपुलता, परिजनों की विपुलता और पशुओं की विपुलता हो।[4] यज्ञोपवीत के तिहरे धागे में । सूत्र हैं, अतः उनके 9 देवता हैं जो इस प्रकार हैं— अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, जल द्युलोक अन्तरिक्ष, दिशा और ऋतु। यज्ञोपवीत इन 9 देवों का प्रतीक है।[5] यज्ञोपवीत दीर्घायु और शतायु का साधन माना गया है। यज्ञोपवीत के द्वारा शिष्य ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करता है और इन्द्रियों पर संयम के कारण दीर्घायु होता है। यज्ञोपवीत के 1 धागे के द्वारा यह शिक्षा दी गई है कि 9 प्राणों को 9 इन्द्रियों के साथ संबद्ध करे अर्थात् अपनी इन्द्रियों को संयम में रखते हुए प्राणायाम के द्वारा अपने शरीर के सभी दोषों को दूर करें।[6]

---

1. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन
2. हरिते त्रीणि, रजते, अयसि त्रीणि.। अथर्ववेद 5.28.1
3. अथर्ववेद 5.18.4 से 6
4. अन्नस्य भूमा, पुरुषस्य भूमा, भूमा पशूनाम्। अ. 5.28.3
5. अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दशिश्च।
   आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु।। 5.28.2
6. नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते। अ. 5.28.1

यज्ञोपवीत में सुवर्ण, चाँदी और ताँबा, ये तीनों तीन लोकों के प्रतीक हैं। सुवर्ण द्युलोक का, चाँदी अन्तिरिक्ष का और ताँबा पृथिवी का। इसका यह अभिप्राय है कि यज्ञोपवीत के द्वारा तीनों लोकों की विभूति प्राप्त हों।[1]

अथर्ववेद में आगे संस्कार के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक बतलाया है कि यज्ञोपवीत सौभाग्य का सूचक माना गया है। यज्ञोपवीत पोषयिष्णु अर्थात् शरीर को पुष्ट करने का साधन है। पारयिष्णु अर्थात् दुःखों से पार करनेवाला है। अच्युत अर्थात् यज्ञोपवीत पतन से बचाती है। भमिदृंह अर्थात् राष्ट्रीय भावना को दृढ़ करने वाला है और शत्रुओं को नष्ट करने वाला है। जीवन में माधुर्य और ऐश्वर्य का दाता है।[2]

चरित्र निर्माण

चरित्र-संबन्धी विविध शिक्षाएँः–अथर्ववेद में सत्य के महत्त्व का वर्णन किया गया है कि–सत्य बल वाला, सब नरों का हित करने वाला, सुख वर्षाने वाला वा ऐश्वर्यवान् सर्वव्यापक परमेश्वर उन सबको भस्म कर डाले जो हमें दुष्ट माने और मारना चाहे, और भी जो हमसे बैरी सा बर्ताव करे। जो मनुष्य धर्मात्माओं सत्यभाषियों को बिना कारण सतावे, और जो दुष्ट धर्मात्माओं सत्यभाषियों को उनके दण्ड देने पर भी दुष्ट आचरण करें, उन शत्रुओं को राजा परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से ऐसे कुचल डाले जैसे डाढ़ों के बीच अन्न को।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में चरित्र शिक्षा सम्बन्ध में कहा है कि–सत्य के द्वारा मनुष्य सारी दुर्भावनाओं और आसुरी वृत्तियों को नष्ट कर सकता है। सत्यवादी की नीच मनुष्यों के साथ मित्रता और संगति नहीं हो सकती है। सत्यवादी जहाँ रहता है, वहाँ से वह पापी, दुर्जनों और नीचों को भगा देता है। सत्यवादी के गाँव में पिशाच, राक्षस आदि नहीं रह सकते हैं। वह पापियों का सुधार करता है। सत्यवादी तेजस्वी होता है, अतः वह किसी से दबता नहीं है। सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्थिर है।[4] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–

---

1. दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्।
   भूभ्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम्।। अ. 5.28.9
2. घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु।
   भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय।। अथर्व. 5.28.14
3. अथर्ववेद 4.36. 1 से 10
4. अथर्व. 4.36. 1 से 10

जैसे प्रकाश के साथ सूर्य का और दिन के साथ रात्रि का नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही मनुष्य का सत्य के साथ नित्य सम्बन्ध है। इससे राजा और प्रजा सदा सत्य में प्रवृत्त होकर मिथ्या कार्यों की विपत्तियों से बचें। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–सत्य का तेज और प्रकाश सूर्य के समान है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–यह वज्र (दण्ड) सत्य धर्म की तृप्ति करे इस (शत्रु) के राज्य को नाश करके (उसके) जीवन को नाश कर देवे, गले की नाड़ियों को काटे और गुद्दी की नाड़ियों को तोड़ डाले, जैसे कर्मों वा बुद्धियों का पति (मनुष्य) अपने शत्रु के (ग्रीवा आदि) को। संक्षिप्त रूप में यह भी कह सकते हैं कि–सत्य वज्र के तुल्य प्रभावकारी है।[2] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में स्पष्ट करते हुए कहा है कि–गतिमान् पुरुष तीनों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) पदों (अधिकारों) के पीछे पीछे प्रसिद्ध हुआ है, और व्रत (ब्रह्मचर्य आदि नियम) के साथ चारों (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) में अधिकार वाली वेदवाणी के पीछे पीछे चला है। वह व्यापक वा अविनाशी (ओ३म् परमात्मा) के साथ पूजनीय विचार को प्रत्यक्ष कर्ता है, और सत्य धर्म की नाभि में (सब को) सब ओर से यथावत् शुद्ध करता है। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सत्य जीवन को पवित्र करता है और वह ऋत अर्थात् शाश्वत प्राकृतिक नियमों का केन्द्र है।[3] (हे मनुष्य) सत्य धर्म के मार्ग को साधुपन से महाविद्वान् सुकर्मी लोग चलते हैं। उन मार्गों से सुख पहुँचाने वाले पद को प्राप्त हो जिन (मार्गों) में अखण्ड व्रतधारी विद्वान् लोग ज्ञान रस को भोगते हैं और तीसरे (दोनों जीव और प्रकृति से भिन्न) सुख स्वरूप (वा सब के नायक) परमात्मा में अधिकार पूर्वक फैलकर विश्राम कर।।[4] इस प्रकार आगे भी कहा है कि–सत्य के मार्ग को अपनाने से उन्नति होती है और स्वर्ग प्राप्त होता है। (हे प्राणी!) निर्बलता ने तुझको बांधा है, बलवान् बैल को जैसे रस्सी से जिस मृत्यु ने उत्पन्न वा प्रसिद्ध होते हुए

---

1. समं ज्योतिः सूर्येणाह्रा रात्री समावती।
   कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः।। अ. 4.18.1
2. अयं वज्रस्तर्यपतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
   शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूण्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः।। अ. 6.134.1
3. त्रीणि पदानि रूपो अन्वरोह च्चतुष्पदीमन्वैतद्व्रतेन।
   अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति।। अ. 18.3.40
4. ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सृकृतो येन यन्ति। तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व। अ. 18.4.3

तुझको दृढ़ फंदे से बन्धन में किया है। उस (मृत्यु) को सत्य के तेरे दोनों हाथों के हित के लिये बड़ों-बड़ों के रक्षक (देवगुरु) परमेश्वर वा आचार्य ने (तुझसे) छुड़ा दिया है।[1] हे विस्तृत पदार्थों के न गिराने वाले! हे बड़े जयशील वा मधुरभाषी विद्वान्! सत्य के चलने योग्य मार्गों की ज्ञात से प्रकट करता हुआ स्वाद ले कर्मों के साथ ज्ञानों और पूजनीय व्यवहार की सिद्ध करता हुआ तू विद्वानों के बीच हमारे लिये सन्मार्ग देने वाला वा हिंसा रहित व्यवहार को अवश्य कर।[2] इस प्रकार आगे बताया है कि–सत्य जीवन को सुरक्षित करता है। में सत्य धर्म से और सब ऋतुओं से रक्षा किया हुआ और बीते हुये से और होने वाले से रक्षा किया हुआ है और मुझे पाप न पावे, और न मृत्यु (पावे) मैं वेद वाणी के जल के साथ अन्तर्धान करता हूँ (डुबकी लगाता हूँ[3] इस प्रकार आगे अथर्ववेद में चरित्र के संबन्ध में बताते हैं कि–सत्य जीवन को सुरक्षित करता है।

ज्ञानी पुरुष के लिये सुमन विज्ञान है। (कि) सत्य और असत्य वचन दोनों परस्पर विरोधी होते हैं। उन दोनों में से जो सत्य और जो कुछ अधिक सीधा है। उसको ही सर्वप्रेरक राजा मानता है और असत्य को नष्ट करता है।[4] इस प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–परमात्मा सत्यवादी की रक्षा करता है और असत्य का नाश करता है। सूर्य और पृथिवी (के समान उपकारी) मुख सत्यवाणी वाली (दो प्रजायें स्त्री और पुरुष) निश्चय करके सत्य धर्म से पूरी कीर्ति के बीच होते हैं क्योंकि दानी प्रकाशमान (परमेश्वर) मनुष्य को परस्पर मिलाने के लिये बनाता हुआ और अपनी बुद्धि को प्राप्त होता हुआ। सामने बैठता है।[5] इस प्रकार आगे स्पष्ट करते हैं कि–सत्य-भाषण के द्वारा मनुष्य आदरणीय होता है और लोग उसकी बात ध्यान से सुनते हैं। हे धनों के स्वामी! हे विद्याओं के पहुँचाने वाले। हे वीर। जिस तेरी स्तुति है। (उस तेरी) विभूति (ऐश्वर्य) प्यारी और सच्ची वाणी होवें।[6] इस प्रकार आगे बताया है

---

1. यस्त्व मृत्युरभ्यधत जायमानं सुपाश्यां ।
   तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामद्रमुञ्जद वृहस्पति।।
2. तनुनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
   मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः। 5.12.2
3. ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सवैर्मूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
   मा मा पापत्, पाप्मा मोत मृत्युरन्तदधेऽहं सलिलेन वाचः। अ. 17.1.29
4. अथर्ववेद 8.4.12
5. अथर्ववेद 18.1.29
6. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य तै। विभूतिरस्तु सूनृता।। अ. 20.45.2

कि–सत्य और प्रिय वचन मनुष्य की सम्पति है। ज्ञानी पुरुष के लिये सुगम विज्ञान है, सत्य और असत्य वचन दोनों परस्पर विरोधी होते हैं। उन दोनों में से जो सत्य और जो कुछ अधिक सीधा है। उसको ही सर्वप्रेरक राजा मानता है और असत्य को नष्ट करता है।[1] इस प्रकार आगे बताते हैं कि–संसार में सत्य व असत्य का घोर संघर्ष रहा है। विद्वान् के लिये सत्य ज्ञान और विज्ञान है। जो सत्य का प्रेरक परमात्मा समुद्र (हृदय आदि गहरे स्थानों) के भीतर है। उस ही संयोग वियोग करने वाले अथवा महाबली, द्रोह रहित वाणी वाले अत्यन्त सुख वाले परमेश्वर की स्तुति कर।। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–परमात्मा सत्य एवं अहिंसा से युक्त है, अतः सत्य एवं अहिंसा को अपनाना चाहिए।[2] आगे अथर्ववेद में स्पष्ट किया है कि–वह बड़ा परस्पर मिला हुआ वा फैला हुआ, अनित्य जगत् भूमि से उत्पन्न हुआ है। (जो जगत्) जिस (भूमि) को चला जाता है। उसी कारण वह (दुष्ट कर्म) अवश्य लौटकर हिंसक को सन्ताप देता हुआ (उसको ही) पहुँचे। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–जैसे ईश्वर नियम से स्थूल पदार्थ भूमि आदि तत्वों के उत्पन्न होकर फिर छिन्न भिन्न होकर भूमि आदि अपने कारणों में लौट जाते हैं। ऐसे ही राजा के दण्ड से दुष्ट की धृष्टता उसी को ही लौटती और सताती है। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–असत्य दुःखदाई है।[3] अथर्ववेद में आगे चरित्र शिक्षा के सम्बन्ध में शिक्षा देते हुए वर्णन किया है कि– जो (दुराचारी परिपक्व (दृढ़) मन से विचरते हुए मुझको असत्य, वचनों से झिड़कता है। हे परम ऐश्वर्य वाले राजन्। मुट्ठी में लिए हुए जल के समान, (वह) असत्य का बोलने वाला अविद्यमान हो जावे। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–असत्य बोलने वाले का समाज में अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है जैसे मुट्ठी में बाँधा हुआ जल वा वायु बिखर जाता है।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि–ऐश्वर्यवान् राजा पापी को न कभी भी बढ़ाता है, और न (प्रजा की) हिंसा धारण करने वाले क्षत्रिय (बलवान्) को। वह राक्षस को मारता है, वे दोनों राजा की बेड़ी में सोते हैं।

---

1. अथर्ववेद 8.4.12
2. अथर्ववेद 6.1.2
3. असद् भूम्याः समभवत् तद् यामेति महद् व्यचः।
   तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारभृच्छतु।। अ. 4.19.6
4. यो मा पाकेनं मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः। अ. 8.4.8

संक्षेप में यह भी कह सकते हैं कि सोमरूप परमात्मा असत्यवादी, पापी और छली को कष्ट देता है।[1] आगे बतलाया है कि– क्या मैं झूठे व्यवहार वाला हूँ अथवा, हे विज्ञान राजन्! स्तुति योग्य पुरुषों का व्यर्थ निन्दित जानता हूँ। हे बड़े ज्ञान वाले राजन्! तू किस लिये हम पर क्रोध करता है, अनिष्ट बोलने वाले पुरुष तेरे क्लेश को भोगें। अर्थात् राजा सत्यवादी और असत्य वादियों का निर्णय करके यथोचित व्यवहार करे जो अनृतदेव अर्थात् असत्य को देवता की तरह मानते हैं वे नाश को प्राप्त होते हैं।[2] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–जैसे पर्वतों पर जल के स्रोते मिलने से वेगवती और उपकारिणी नदियां बनती हैं जो ग्रीष्म ऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षय धन बढ़ावें और उसे उत्तम कर्मों में व्यय करें। आगे स्पष्ट किया है कि–घृत की दूध की और जल की जो धारायें मिलकर बह चलती हैं। उन सब धाराओं के साथ अपने धन को उत्तम रीति से हम व्यय करें। अर्थात् अपने धन को परोपकार्य वितरण में करें।[3] आगे अथर्ववेद में चरित्र शिक्षा देते हुए बतलाया है कि–गो अर्थात् इन्द्रियों पर विजय या संयम करने से सुख-प्राप्ति और सभी प्रकार के धनों की प्राप्ति होती है।[4] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि– जो मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना और आज्ञा पालन करते और नेता वा वीर पुरुषों को अपनाते हैं, वे संसार में उन्नति करके यशस्वी और ऐश्वर्यवान् होते हैं। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–सत्पुरुषों की संगति से उन्नति होती है।[5] इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया है कि– मनुष्य उस परमात्मा को सदा धन्यवाद दें कि उसने उनको वेद शास्त्र सुनने, विचारने और उपकार करने के लिये अमूल्य श्रवण आदि इन्द्रियाँ दी

---

1. न वा उ सोमो बृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धरयन्तम्।
   हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते।। अ. 8.4.13
2. यदिवाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
   किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोधवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्।। अ. 8.4.14
3. ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सामः सदमक्षिताः।
   तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।। अ. 1.15.3
   ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च।
   तेभिर्मे सर्वैः सस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।। अ. 1.15.4
4. अथर्ववेद 17.1.1
5. भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
   भग प्रणो जनय गोभिश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम।। अ. 3.16.3

हैं। अर्थात् आगे बतलाया है कि– मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से अपने श्रवण आदि इन्द्रियों को विकल न होनें दें और ऐसा स्वास्थ्य रक्खें की वे अपने विषयों को पूर्ण रीति से शीघ्र अङ्गीकार कर लें। आगे बतलाते हैं कि–मनुष्य विघ्नों में हृदय को शान्त रखकर वेद मार्ग की दृढ़ता और विस्तीर्णता फैलावे, क्योंकि परमेश्वर ने मनुष्य को बड़ा सामर्थ्य दिया है। अर्थात् हृदय शोक से रहित हो और प्रसन्नचित हो।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में स्पष्ट किया है कि–मनुष्य आत्मा बल बढ़ाकर उत्तम गुण प्राप्त करें और वीर के समान पराक्रम करके सब के प्रिय हों। अर्थात्–हृदय में जनता से सहानुभूति हो।[2] आगे बतलाया है कि–मनुष्य को कामना करना चाहिए कि–मेरा जीवन उत्तम, बल उत्तम, मेरा किया हुआ कार्य उत्तम, कर्तव्य कर्म उत्तम, बुद्धि उत्तम, इन्द्रपन अर्थात् परम ऐश्वर्य उत्तम बनाओ। जीवन पालने वाली माता और जीवन करने वाले पिता तुम दोनों अन्न वाले होकर मेरे रक्षक होओ। मुझको बचाओ। मेरे आत्मा में रहने वाले होओ। मुझे दुःखी मत होने दो। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि– मनुष्य उत्तम माता पिता से उत्तम विद्या, पुरुषार्थ आदि प्राप्त करके संसार में सुखी रहते हैं।[3]

अथर्ववेद में आगे चरित्र शिक्षा के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए शिक्षा दिया गया है कि–दिव्यगुण वाले व्यापनशील वा दर्शनशील (अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आँख और मुख) हमें न त्यागें, जो शरीर की रक्षा करने हारे और जो हमारे शरीर के विस्तार के साथ उत्पन्न हुए हैं। हे अमर! (नित्य उत्साहियो) मरते हुए (निरुत्साही) मनुष्यों के हित करने वाले हमसे सब ओर से मिले रहो, और हमें अधिक श्रेष्ठ आयु जीवन के लिये दान करो। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि–मनुष्य ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, विद्याप्राप्ति आदि कर्मों से हृष्ट पुष्ट कर संसार का उपकार करके कीर्ति पावें अर्थात्–उत्तम आयु और उत्तम जीवन हो।[4] आगे बतलाते हैं कि–जैसे ईश्वर कृत नियमों

---

1. असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मण।। 16.3.6
2. बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः। अ. 16.3.5.
3. उदायुरुद्बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम्।
   आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा।
   आत्मसदौ मे स्तं मा हिंसिष्टम्।। 5.9.8.
4. मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
   अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः। अ. 6.41.3

के अनुसार सूर्य कृत नियमों के अनुसार सूर्य और उषा के सम्बन्ध से प्रकाश, और पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध से सन्तान होता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग सुखस्वरूप परमात्मा की आज्ञा में रहकर नियम पूर्वक सुख भोगते हुए अपना जीवन बढ़ावें। अर्थात्–उन्नति के लिए शुभ कर्मों को ही करें।[1] इसी प्रकार आगे बतालाया है कि–मनुष्य माता पिता आदि से पाये हुए और अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुए पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें। और पृथिवी के गुणों को परीक्षण द्वारा जानकर और उपकार लेकर सुखी होवें। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–सन्मार्ग को ठीक जानकर सन्मार्ग पर ही चलें।[2] इसी प्रकार आगे चरित्र शिक्षा के सम्बन्ध में बताते हैं कि– विद्वान लोग परमात्मा की उपासना करते हुए सदा वैदिक मार्ग पर चल कर श्रेष्ठ कर्म करें और सुपुत्रों को योग्य दान देते रहें। संक्षिप्त रूप में कहते हैं कि–ऐश्वर्य को हम सब और आगे बढ़ावें, और जैसे सूर्य के उदय में प्रकाश बढ़ता जाता है वैसे ही देवताओं के अनुकरण से हम अपनी धार्मिक बुद्धि का अभ्युदय करें। अर्थात्–सन्मार्ग पर चलने से श्रीवृद्धि होती है। अतः देवों के निर्देशन में चलें।[4] आगे बतलाते हैं कि इस पथ (अधर्मपथ) पर मत कभी चल, यह भयानक है, जिस (मार्ग) से पहिले तू नहीं गया है, उसी (मार्ग) को मैं कहता हूँ। हे पुरुष! इस अन्धकार में आगे मत पद रख दुरस्थान (कुपथ) में भय इस ओर (धर्म पथ में) तेरे लिये अभय है। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–कुमार्ग भयप्रद है और सन्मार्ग अभयप्रद है।[5] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–जो तेरा जीवन सामर्थ्य पराङ्मुख होकर घट गया है, वे दोनों प्राण और अपान फिर आवें। वैद्य का शरीराग्नि उस (आयु) को महा विपत्ति के पास से लाया है, उसको तेरे शरीर में फिर प्रविष्ट करता हूँ। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–जो रोग आदि के कारण शरीरबल में हानि हो जावे,

1. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
   यात्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्।। अ. 20.107.15
2. वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः।
   देवागातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।। अ. 7.97.7
3. मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
   मान्त स्थुर्नो अरातयः।। अ. 13.1.59
4. अथर्ववेद 3.26.4
5. मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्व ने यथ तं ब्रवीमि।
   तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्। अ. 8.1.10

मनुष्य वैद्यों की सम्पत्ति से जठराग्नि की समता से स्वस्थ रहें। अर्थात्–कुकर्मों से और कुमार्गगामी होने से आयु क्षीण होती है।[1] आगे बतलाते हैं कि मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से अपने श्रवण आदि इन्द्रियों को विकल न होने दे और ऐसा स्वस्थ रखें कि वे अपने विषयों को पूर्ण रीति से शीघ्र अङ्गीकार कर लें। अर्थात् आँखों में गरुढ़ का सा तेज हो।[2] आगे अथर्ववेद में स्पष्ट किया है कि–मनुष्य के लिए योग्य है कि वे समझबूझ कर सदा सत्य वचन बोल कर दृढ़ प्रतिज्ञा वाले होवें जिससे उनके जीवन में शक्ति बढ़े और कभी निन्दा न होवे। मनुष्य विद्वानों के सत्संग से सुशिक्षित होकर सदा ज्ञानयुक्त बोलें संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–वाणी में माधुर्य हो और मधुर वचन ही बोलें।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाते हैं कि–मनुष्य प्रयत्न करके अभ्यास करें कि वे कान इन्द्रियों को सचेत रख कर श्रेष्ठ कर्मों के करने में शीघ्रता करते रहें। अर्थात् कानों से अच्छी बातें ही सुनें।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में कहा गया है कि–मुख में वाक्शक्ति हो, नाक में प्राण शक्ति हो, आँखों में देखने की शक्ति हो, कानों में सुनने की शक्ति हो, केश श्वेत न हों, बाहुओं में बल हो, पैरों में शक्ति हो।[5] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि सौ वर्ष से भी अधिक देखने सुनने आदि की शक्ति रहे।[6] आगे बतलाते हैं कि– सूर्यलोक और पृथिवी लोक को और अन्तरिक्ष लोक को नमस्कार करके मृत्यु नाश करने के लिये ऊपर ठहरता हुआ मैं चलता हूँ (कोई) बलवान् मुझको न हानि करें। अर्थात् मनुष्य ऊपर, नीचे और मध्य विचार कर और संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर उच्चपद प्राप्त करें।[7] इसीप्रकार आगे बतलाते हैं कि–मङ्गल करने वाली (विद्याओं बा शक्तियों से तेरे हृदय को मैं तृप्त करता हूँ, तू नीरोग और उत्तम कान्ति वाला होकर हर्ष प्राप्त कर मिलकर निवास करने वाले दोनों (स्त्री पुरुष) माता पिता के स्वभाव और बुद्धि को सर्वथा धारण करके इस रस का पान करें। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते

---

1. अथर्ववेद 7.53.3
2. सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः। अ. 16.2.5
3. निर्दुरर्मण्य ऊर्जामधुमतीवाक्। 16.2.1
   मधुमतीस्थ मधुमतीं वाचमुदेयम्।। अ. 16.2.2
4. सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।। अ. 16.2.4
5. अथर्ववेद 19, 20.1-2
6. अथर्ववेद 19. 67. 1 से 7
7. अथर्ववेद 7.102.1

हैं कि–सद्भावनाओं और सद्विचारों से ही हृदय की तृप्ति होती है।[1] आगे बतलाया है कि–जो मन में हो, वही बाहर हो और जो बाहर हो वही मन में हो अर्थात् मन, वचन और कर्म में एकरूपता हो। इसी प्रकार दम्पत्ती के हृदयों में भी एकरूपता हो।[2] आगे बतलाते हैं कि–चरित्रहीनता, दुराचार और कुकर्म से उसी प्रकार नाश हो जाता है, जैसे बन्धन से छूटी हुई नौका का। वे अधोगति वाले लोग वा रोग बन्धन से छूटी हुई नाव के समान बहते चले जावें जिससे विविध बाधा डालने वालों में पड़े हुए लोगों का फिर लौटना नहीं हो। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–महादुष्ट रोग वा दुराचारियों के हटाने के लिए कठिन उपाय करने चाहिये, क्योंकि कोमलता से उनका सुधार नहीं हो सकता।[3] आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि–देवता पुरुषार्थी को चाहते हैं, आलसी को नहीं। जो लोग पुरुषार्थ करते हैं वे लोग ही आनन्द को प्राप्त करते हैं।[4] जो (कीड़ा) दोनों आँखों में रेंग जाता है, जो दोनों नथनों में रेंग जाता है, और जो दाँतों के बीच में रेंग जाता है, और जो दाँतों के बीच में चलता है, उस कीड़े को हम नाश करते हैं अर्थात् विज्ञानी पुरुष आत्म विघ्नों का इस प्रकार नाश करे जैसे वैद्य कृमि रोग को। सार शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्य को सदा पुरुषार्थी होना चाहिए।[5] आगे बतलाते हैं कि–हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले तेजस्वी वीर! बड़े वीरत्व (पाने) के लिये ब्रह्मओदन (वेदज्ञान, अन्न वा धन बरसाने वाले परमात्मा) के पक्का (मन में दृढ़) करने को तू उत्पन्न हुआ हैं उन उचित कर्म करने वाले सात ऋषियों (त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक और बुद्धि) ने तुझ (शूर) को प्रसिद्ध किया है; इसको सब वीरों से युक्त धन नियम से दे। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि विद्वान् मनुष्य पराक्रम के साथ परमेश्वर की आज्ञा का पालन करें और मन बुद्धि द्वारा श्रेष्ठ कर्मों से प्रसिद्ध होकर प्रजा पालन में तत्पर रहें। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–मनुष्य पुरुषार्थ और पराक्रम करने के लिए ही उत्पन्न हुआ है।[6] आगे बतलाते हैं कि–कर्म मेरे दाहिने हाथ में और जीत मेरे बायें

---

1. अथर्ववेद 2.29.6
2. अथर्ववेद 2.30.4
3. अथर्ववेद 3.6.7
4. अथर्ववेद 20.18.3
5. अथर्ववेद 6.23.3
6. अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदाः।
   सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ।। अ. 11.1.3

हाथ में स्थिर है। मैं भूमि जीतने वाला, घोड़े जीतने वाला, धन जीतने वाला और सुवर्ण जीतने वाला रहूँ। अर्थात् मनुष्य पराक्रमी होकर सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कर सुखी होवें। संक्षिप्त रूप में कहते हैं कि–मनुष्य के दाहिने हाथ में पुरुषार्थ और बाएँ हाथ में विजयलाभ है पुरुषार्थ से ही गाय अश्व, धन और सुवर्ण की प्राप्ति होती है।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद के अगले मंत्र में बतलाया है कि–योगी जन आदर से वेदविद्या प्राप्त करता, और उसके प्रचार से संसार को सुखी करके आप सुखी होता है। अर्थात्–इच्छा मात्र से ही सिद्धि नहीं होती, अपितु पुरुषार्थ से होती है।[2] अगले मंत्र में बतलाते हैं कि– पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम विद्या से उत्तम बुद्धि पाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं; यही वाणी उत्तम गुण पाने के लिये महात्माओं की संगत है अर्थात्–मनुष्य को योग्य है कि पुरुषार्थ से ही विद्या, सद्बुद्धि और ऐश्वर्य को चाहें।[3] इसी प्रकार अथर्ववेद में अगले मंत्र में बतलाया है कि–हे व्यवहारकुशल पुरुषों! बड़ी दुधेल गौ के समान उत्तम फल वाली व्यवहार शक्ति दान करो। कर्म की धारा (प्रवाह) से मुझको यथावत् बाँधो जैसे डोरी से धनुष को (बाँधते हैं) इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–मनुष्य विद्वानों से अनेक विद्यायें प्राप्त करके अपना जीवन सुफल करें। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–मनुष्य का जीवन पुरुषार्थ की धारा से युक्त हो जैसे धनुष प्रत्यंचा से।[4] परिश्रम से ही सफलता होती है और स्वर्ग मिलता है।[5] आगे बतलाया है कि–ऐश्वर्यवान् होने के लिए शारीरिक परिश्रम करें और अन्न या ऐश्वर्य प्राप्त करके प्रसन्न रहें।[6] अगले मंत्र में बतलाते हैं कि– दाह (डाह) न करने वाले पुरुषों ने (जगत् को) धारण किया है, उसी प्रकार से ही वह (जगत् का धारण) सर्वज्ञ परमेश्वर करके किया गया है विघ्न को निर्बल मैं करता हूँ जैसे बैलों के अण्डकोष तोड़ने वाला

---

1. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
   गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित्।। अ. 7.50.8
2. न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे।
   केन नु त्वमथर्वन् काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः।। अ. 5.11.2
3. सरस्वतीमनुतिं भगं यन्तो हवामहे।
   वाचं जुष्टां मधुमतीमहादिषं देवानां देवहूतिषु।। अ. 5.7.4
4. अक्षाः फलवती द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव।
   सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नान्वेव नह्यत।। अ. 7.50.9
5. अ. 11.1.30
6. अ. 20.23.6

(बैलों को निर्बल कर देता है)। संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि– न थकने वाले परिश्रमी ही दुःखनाश करके जीवन में स्थायित्व लाते हैं।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि–गतिशील परिश्रमी को ही इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य की पाप्ति होती है।[2] मन्यु अर्थात् उत्साह मनुष्य का रक्षक और स्वामी है।[3] आगे बतलाया है कि–ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए ज्ञान और बल दोनों का समन्वय होना चाहिए।[4] मन में दान की भावना जागृत हो।[5] हृदय में अदान का भाव नष्ट हो और दान का भाव उत्पन्न हो।[6] आगे बतलाते हैं कि–मनुष्य जब भी दान देता है तो श्रद्धा के साथ दान दें। अर्थात् दानी के हृदय में दान के साथ ही श्रद्धा का भाव भी हो।[7] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि –दान करने वालों की उन्नति होती है और अदाता का पतन होता है।[8]

और बड़ा व्यवहार कुशल पुरुष उपद्रवी शत्रु को जीत लेता है। धन नाश करने वाला जुआरी (हार के) समय पर ही अपने काम का विवेक करता है। जो शुभ गुणों का चाहने वाला धन को शुभ कामों में नहीं रोकता है। अनेक धन उसको ही अत्मधारण शक्तियों के साथ मिलते हैं। इसे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, जो शुभ कर्मों में धन व्यय करता है। उसके पास स्थायी ऐश्वर्य होता है।[9] हे विद्वान्। परमेश्वर वा पुरुष विद्वानों के द्वारा तू हमारे वेद ज्ञान वा ब्रह्मचर्य और यज्ञ विद्वानों के पूजन, 2-पदार्थों के संगति करण और 3-विवादि के दान को बड़ा है, दानशील! तू हमारे से दान शील पुरुष को दान के लिये धन भेज। इसे इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते है कि दान के लिये संघर्ष करें।[10] सबका पोषण करने वाला ईश्वर

1. अथर्ववेद 3.9.2
2. अथर्ववेद 3.13.2
3. अथर्ववेद 4.31.5
4. अथर्ववेद 20.29.3
5. अथर्ववेद 20.58.2
6. अथर्ववेद 5.7.6
7. अथर्ववेद 5.7.5
8. अथर्ववेद 20.74.4
9. उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वध्नी वि चिनोति काले।
   यो देव कामो न धनं रुणद्धि समित् तंरायः सृजति स्वधाभिः।। अ. 7.50.6
10. त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय।
    त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय।। अ. 3.20.5

उदार चित पुरुष को अच्छे प्रकार आदर योग्य अक्षय जीविका देवे। सर्वधनी प्रकाश स्वरूप ईश्वर की सुमति (यथासंत विजयवाली बुद्धि) को हम धारण करें।। इसे हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि दान से जीवन में अक्षय जीवन शक्ति प्राप्त होती है।[1] ऐसे ही वे दूसरे (वेद विरोधी) दुर्बुद्धि लोग नीच गति में होवें, जिन के कठिनाई से जुझने वाले (अति प्रबल) घोड़े बांध दिये गए (ठहरा दिये गये) हैं। इसी प्रकार उत्तम गति में वे होवें जो लोग निवृत (विषयों पर के परित्याग) में दान के लिये जिन दान में बहुत से कर्म और पालन साधन धन आदि हैं। इसे संक्षिप्त रूप से कह सकते हैं कि–दाता को सभी प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं।[2] बल के उत्पत्ति में ही हम समर्थ हुये है और यह सब लोक (उसी के) भीतर ज्ञान वान ईश्वर देने की इच्छा न करने वाले से भी दिलावे। और (हे ईश्वर) हमें सर्ववीरों से युक्त धन नित्य दे, इसे हम संक्षिप्त रूप से भी कह सकते है कि–अदाता को भी दानी बनावें।[3] हे प्रसिद्ध ज्ञान वो तेजस्वी वीर। बड़े वीरत्व (पाने) के लिये ब्रह्मओदन वेदज्ञान अन्न वा बरसाने वाले परमात्मा) के पक्का (मन में दृढ़) करने को तू उत्पन्न हुआ है। उन उचित कर्म करने वाले सात ऋषियों (त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि) ने तुझ (शूर) को प्रसिद्ध किया है, इस (प्रजा म. 1) को सब वीरों से मुक्त धन नियम से दे। इसे संक्षिप्त रूप से कह सकते हैं कि–धन और बल दोनों साथ-साथ हों।[4] हे असमृद्धि! परे चली जा तेरी बरछी को हम अलग हटाते हैं। हे आदान शक्ति। (निर्धनता) में तुझको निर्बल करने वाली और भीतर चुभने वाली जानता हूँ। इसे संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि– कृपणता से ये हानियाँ होती हैं –मानसिक निर्बलता, हार्दिक क्षोभ और असन्तोष। कृपणता से अशिष्टता और आलस्य या प्रमाद होता है[5] और हे आनन्द शक्ति या अदान शक्तिः (निर्धनता) मनुष्य के चित और संकल्प असिद्ध करती हुई लज्जित वार वार होती हुई तू नींद (आलस्य) के साथ जन समूह को प्राप्त होती है। इसे हम संक्षिप्त रूप से स्पष्ट कर सकते हैं

---

1. अथर्ववेदः 7.17.2
2. अथर्ववेदः 20.97.7
3. वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविभेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
   उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ।। 3.20.8
4. अथर्ववेदः 11.1.3
5. परोऽपेह्य समृद्धे वितेहेतिं नयामसि।
   वेद त्वाहं निमीवन्ती नितुदन्तीमराते।। अ. 5.7.7.

कि–चित्त और संकल्प दूषित होते हैं।[1] (जो) बड़े ऐश्वर्य वाली सुवर्ण का रूप धारण रखने वाली सुवर्ण के वस्त्र वाली बलवती है। उस सुवर्ण द्वारा गति से बचाने वाली अदान शक्ति (निर्धनता) को मैंने नमस्कार किया है। संक्षिप्त रूप से कहते हैं कि–कृपणता से जीवन भोग और विलासमय होता है।[2] संक्षिप्त रूप से आगे अर्थ बतलाते हैं कि– अदाता सदा पतित होते हैं।[3] अधिक धन संग्रह में बहुत दोष है।[4] अशुभ लक्ष्मी पतन का साधन है, अतः वह हमसे दूर रहे।।[5]

नीतिशास्त्र

जो सभ्य (सभाओं में चतुर) विद्वानों में प्रशंसनीय तत्व रस निकालने वाला और मिलनसार पुरुष है। उस सूर्य (के समान प्रतापी) को निश्चय करके तब हिंसकी के नाश करने वाले विद्वान् ने पहिले (ऊँचे स्थान पर) माना है।। इसको हम संक्षिप्त रूप से कह सकते हैं कि–सज्जन पुरुष के ये गुण बताये गये हैं–वह सभ्य समाजसेवी और यज्ञ कर्ता होता है।[6] जैसे अति शीघ्र कारिणी पूजनीय पत्नी (वैसे ही) सुख के साथ (जीव चुराकर) मुग्ध में चल देने वाला और आलसी शासन करने वाला (निकम्मा है) यह कर्म शास्त्र विद्वानों में प्रमाणित है। संक्षिप्त रूप से बतलाते हैं कि–वह अपनी पत्नी से प्रेम करता है। युद्ध में जाता है।[7] जो मनुष्य कुल स्त्री को गिराता है। वह पुरुष और जो मित्र को मारना चाहता है और जो अति वृद्ध होकर अज्ञानी है वह अधोगामी है। ऐसा वे लोग कहते हैं। अतः आगे संक्षिप्त रूप से बताया भी गया है; दुर्जन व पतित के ये लक्षण बताये गये हैं–वह दुश्चरित्र, मित्र को

---

1. उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम्।
   अराते चितं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च।। अ. 5.7.8
2. हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्महीं।
   तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः।। अथर्व. 5.7.10
3. अथर्ववेदः 20.94.7
4. त्वं ह्य 1ङ्ग वरुण व्रवीषि पुनर्मधेष्ववधानिभूरि।
   मो षु पणरिम्भे३ तावतो भून्मा त्वां वोचन्नराधसं जनासः।। अथर्व. 5.11.7
5. अथर्ववेदः 7.115.2
6. यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुष।
   सूर्यं चामू रिशादयस्तद देवाः प्रागकल्पयन्।।1।। अ. 20.128.1
7. अथर्ववेदः 20.128.11

हानि पहुँचाने वाला और दुर्विचार वाला होता है।[1] जब श्रेष्ठ पुरुष का पुत्र विद्या के धारण करने वाला पुरुष ने निश्चय करके यह मनोहर वचन कहा है (कि) जो मनुष्य कुव्यवहारी अत्यन्त हल्का है और जो विद्वानों को नहीं दान देने वाला है। वह सब धीर पुरुषों में दूर रहने योग्य है। ऐसा हमने सुना है। अतः आगे संक्षिप्त रूप से बतलाया गया भी है। वह कंजूस धन का भोग न करने वाला, व देवों को दान न करने वाला होता है।[2] जो ब्रह्म (वेद ज्ञानी) का पुत्र सुब्रह्मा (बड़ा वेद ज्ञानी, सुमार्गी) शुद्ध व्यवहार वाला और बड़ा विख्यात हो वह बहुत मणियों वाला और बड़ा तेजस्वी होवे यह कर्म शास्त्र विद्वानों में प्रमाणित है।[3] आगे अथर्ववेद में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहा है कि—असभ्य के लक्षण हैं—आँख में अंजन, लगाना, उबटन न लगाना, मणि और सुवर्ण के आभूषण न पहनना, ब्राह्मण होने पर भी वेदज्ञ न होना।[4] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि—जीवन प्रकाशमय हो।[5] हम बड़े गौरव से युक्त होकर प्रसिद्ध हो।[6] आगे बतलाते हैं कि—सभी जीव, पुरुष, पशु आदि सुखी हों और संसार का कल्याण हो।[7] आगे बतलाते हैं कि सफलता का साधन है— स्वाहा अर्थात् स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण।[8] आगे अथर्ववेद में उन्नति के मार्ग का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि—उन्नति के दो मार्ग हैं—आरोहण अर्थात् उच्च विचार और आक्रमण अर्थात् दुर्गुणों दुर्विचारों पर विजय प्राप्त करना। अतः उन्नति के मार्ग पर ही चलना चाहिए।[9] आगे

---

1. यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति।
   ज्येष्ठो यदप्रचेतास्वदाहुरधरागिति।। अ. 20.128.2
2. अथर्ववेद 20.128.4
3. य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः।
   सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता। अ. 20.128.7
4. अथर्ववेदः 20.128.4
5. अथर्ववेदः 20.69.1
6. अथर्ववेदः 11.1.19
7. स्वस्तिमात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
   विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्।। अथर्ववेद 1.31.4
8. न्वे३ तेनारात्सीरसौ स्वाहा।
   तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः।। अ. 5.6.5
9. अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः।
   आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम्।। अ. 5.30.7

बतलाते हैं कि–कुमार्ग दुःखदायी है, उस पर नहीं चलना चाहिए।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि– हम अच्छे मार्ग पर चलकर ओजस्वी हों।[2] आगे बतलाते हैं कि–तेजस्वी और यशस्वी हों।[3] आगे बतलाया है कि–संसार में सबसे अधिक यशस्वी हों।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में तेजस्वी यशस्वी ओजस्वी होने को कहा है आगे यशस्वी के लाभ बतलाते हुए कहा है कि–यश से मनुष्य प्रगतिशील होता है, वह दूरदर्शी होता है।[5] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–यश यज्ञ के तुल्य है। यश ईश्वर भक्ति से और पुरुषार्थ से मिलता है।[6] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम विद्या से उत्तम बुद्धि पाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं यही वाणी उत्तम गुण पाने के लिये महात्माओं की संगत है। संक्षिप्त रूप में ऐसा भी कह सकते हैं कि–सदा मधुर वचन ही बोलें।[7] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–ऐसा वचन बोलना चाहिए जिसमें माधुर्य और तेज हो।[8] आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि–मनुष्य को सर्वदा दिव्य वचन बोलना चाहिए।[9] आगे बतलाते हैं कि–गोलोक (गोओं वा स्वर्ग) को देने वाली वाणी को मैं बोलूं। (हे ईश्वर! तेज के साथ मेरे ऊपर सब ओर से उदय हो। प्राण वायु (मुझको) सब प्रकार से घेरे रहे। विश्वकर्मा परमेश्वर वा सूर्य मेरे लिए पोषण देता रहे। अर्थात्–ऐसे वाणी बोलें, जो दूसरे के मन को हर्षित कर दें।[10] आगे बतलाया है कि–हमारे मुँह से निकलने वाली वाणी शक्तिशाली और मधुर हो।[11] हम सदा अद्रोह वाली वाणी बोलें।[12] इसीप्रकार आगे बतलाते हैं कि कटुवचन दुःख का कारण है, अतः मधुर वचन ही बोलना चाहिए।[13] आगे बतलाया है कि, विद्वान् लोग मधुर वचन से शत्रुओं के कटु

---

1. अथर्ववेद – 8.1.10
2. अथर्ववेद – 2.17.1
3. अथर्ववेद – 6.69.3
4. अथर्ववेद – 6.69.3
5. अथर्ववेद – 6.39.1
6. अथर्ववेद – 6.39.1
7. अथर्ववेद – 5.7.4
8. अथर्ववेद – 6.4.1
9. अथर्ववेद – 7.105.1
10. अथर्ववेद – 16.2.2
11. अथर्ववेद – 16.2.1
12. अथर्ववेद – 11.1.2
13. अथर्ववेद – 12.3.18

वचनों पर विजय लाभ करते हैं।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि मधुर वचनों से हम अपने सभी साथियों के प्रिय बनें।[2] आगे बतलाया है कि– द्वेष दुःख का कारण है, अतः अपने प्रेमियों से प्रेम करना चाहिए।[3] आगे बतलाया है कि–हे सूर्य और चन्द्रमा (के समान नियम वाले पुरुष!) जैसे यह लद्दू पशु (घोड़ा बैल आदि) मिलकर आता है और ठीक ठीक वर्तता है। वैसे ही मेरी ओर तेरा मन मिलकर आवे और ठीक ठीक बर्ताव करें। इस प्रकार भी इसे कह सकते हैं कि– जैसे मनुष्य पशु आदि को शिक्षा देकर सुमार्ग पर चलता है, वैसे ही जितेन्द्रिय पुरुष मन को वश में करके शुभ मार्ग में अपने को चलावें। अर्थात्–व्यक्तियों में परस्पर प्रेम हो। उनके मन समान हों।[4] आगे बतलाया है कि–तृप्त करने वाली ओषधि का जो यह मस्तकबल और सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर करके दिया हुआ जो वीरत्व है। उससे सब प्रकार उत्पन्न हुए (साहस) से तेरी हार्दिक शक्ति को हम शोक में डालते हैं। संक्षिप्त रूप में यह भी कह सकते हैं कि–प्रेम का भाव बहुत बलवान् होता है। यह भाव सोम ने बुद्धि में दिया है।[5] अथर्ववेद के अगले मंत्र में नीति शिक्षा का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–प्रेम से हृदय और मन प्रदीप्त होता है और पारस्परिक प्रेम बढ़ता है।[6] आगे बतलाया है कि– यह नमस्कार तेजस्वी पोषक (परमेश्वर) को है, जो व्यवहारों में शरीरों का वश में रखने वाला है। प्रकाश के साथ गिनने वाले (परमेश्वर) को मैं सीखता हूँ वह हमें ऐसे (कर्म) में सुखी करे। संक्षिप्त रूप में यह भी कह सकते हैं कि–स्नेह से द्वेष और कलह का भाव नष्ट होता है।[7] आगे बतलाया है कि– हे मनुष्य तेरे हृदय से क्रोध को मैं उतारता हूँ, जैसे धनुष से डोरी को। जिससे एकमन होकर दो मित्रों के समान हम दोनों मिले रहें। अर्थात् मनुष्यों को ईर्ष्या

---

1. अथर्ववेद – 20.89.1
2. अथर्ववेद – 17.1.5
3. अथर्ववेद – 12.3.49
4. यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते।
   एवा मामभि तेमनः समैतु सं च वर्तताम्।। अ. 6.102.1
5. इदं यत प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
   ततः परि प्रजातेन हार्दि ते शोचयामसि।। अथर्ववेद – 6.89.1
6. अथर्ववेद – 6.89.2
7. अथर्ववेद – 7.109.1

द्वेष छोड़कर सदा मित्र होकर रहना चाहिये।[1] आगे बतलाया है कि–तेरे क्रोध को (तेरी) एड़ी से और ठोकर से मैं दबाता हूँ जिससे परवश न होकर तू बातचीत करे, मेरे चित्त में तू पहुँच करता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि– मनुष्य क्रोध वश न होकर परस्पर शान्तचित्त रहें। अर्थात्–दोनों मित्रों के मन एकरूप हों।[2] आगे बतलाया है कि–दो मित्रों के समान हम दोनों मिले रहें तेरे क्रोध को मैं उतारता हूँ तेरे क्रोध को उस पत्थर के नीचे दबाकर हम गिराते हैं जो भारी पत्थर है। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि–मित्रता को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक है कि क्रोध का भाव दूर करें।[3] अगले मंत्र में बतलाया है कि–मित्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने मित्र की बात न टाले।[4] आगे बतलाया है कि–(हमारा) क्रोधवचन कुवचन बोलने वाले को प्राप्त हो और जो अनुकूल हृदय वाला (शुभचिन्तक) है उस (मित्र) के साथ हमारा सहवास हो। आँख से गुप्त बात करने वाले दुष्ट हृदय वाले पुरुष की पसलियों को ही हम तोड़ डालें। अर्थात् सज्जन और सहृदय व्यक्ति के साथ ही मित्रता करनी चाहिए।[5] अथर्ववेद के अगले मंत्र में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए बतलाया है कि– विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं इससे मुनष्य विद्वानों के सत्संग पाकर सदा अपनी अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें। अर्थात् संगठन बढ़ाते रहें।[6] आगे बतलाया है कि–सब समुद्र अत्यन्त अनुकूल बहें, विविध प्रकार के पवन और पक्षी बहुत अनुकूल (बहें) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग इस मेरे सत्कार को स्वीकार करें बहुत आर्द्रभाव (कोमलता) से भरी हुई भक्ति के साथ (उनको) मैं स्वीकार करता हूँ। संक्षिप्त एवं सार शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि–

---

1. अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
   यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै।। अ. 6.42.1
2. अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च।
   यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि।। अ. 6.42.3
3. सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते।
   अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः।। अ. 6.42.2
4. अथर्ववेद – 18.4.60
5. शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह।
   चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि।। अ. 2.7.5
6. एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूमतां यम।
   सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः।। अ. 1.14.2

संगठन एक यज्ञ है, इसमें संगठन की भावना से आहुति डालें।[1] दोनों सुख से बुलाने योग्य सूर्य और पवन (के समान स्त्री पुरुष) को यहाँ पर ही हम बुलाते हैं। जिससे सभी जने हमारी संगति में प्रसन्न चित वाले होवें, और हमारी दान के लिये कामना होवे, इसे हम संक्षिप्त रूप से कह सकते हैं कि– सबका कर्त्तव्य है कि संगठन के काम में सहयोग दें।[2] बल की उत्पत्ति में ही हम समर्थ हुये हैं और यह सब लोक (उसी के) भीतर ज्ञानवान ईश्वर देने की इच्छा न करने वालों से भी दिलावे। और (हे ईश्वर) हमें सर्ववीरों से युक्त धन नित्य दें। इसे इस प्रकार से भी स्पष्ट कर सकते हैं कि–शक्ति संवर्धन के लिये आवश्यक है कि हम संगठित रहें।[3] हे नियम में चलने वाले, वर राजा यह कामना योग्य कन्या तेरी वधू नियम से व्यवहार को वह (तेरी) माता के और भी पिता के और भ्राता के साथ घर में नियम से बंधी रहे। आगे भी स्पष्ट करते हैं कि–संगठन से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।[4] आगे हम संक्षिप्त रूप से कह सकते हैं कि–संगठन से सभी प्रकार के धनों और पशुओं की प्राप्ति होती है।[5] विजयी लोगों ने प्रजाओं के बीच ध्यान शक्ति के साथ अत्यन्त प्रकाशमान जिस स्मरण समर्थ को सींचा है। उस (स्मरण समर्थ) को तेरे लिये सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर के धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य ऐश्वर्य युक्त करता हूँ। इस मंत्र को आगे संक्षिप्त रूप से स्पष्ट कर सकते हैं कि–काम आदि दुर्गुणों को हटाना– काम वासना को संयम के द्वारा वश में रखें।[6] रमणीय पदार्थों को जिताने वाली और स्मरणीय पदार्थों के विजयी पुरुषों के समीप रहने वाली आकाश जल प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों का यह जो स्मरण सामर्थ्य है। हे विद्वानों! उस स्मरण सामर्थ्य को अच्छे प्रकार बढ़ाओं, वह (स्मरण सामर्थ्य) मुझ में व्यापार शुद्ध रहे। या मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विज्ञानपूर्वक संसार की

---

1. भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
   महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्।। अथर्व. 1.14.1
2. अथर्ववेद – 30.20.6
3. अथर्ववेद – 30.20.8
4. इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
   इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः। अ. 1.15.2
5. अथर्ववेदन, पूर्ववत्, अ. 1.15.2
6. यं देवाः स्मरभसिञ्चन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।
   तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा।। अ. 6.132.1

उपकारी विद्याओं को स्मरण रखकर उपयोगी बनावें।। या हम संक्षिप्त रूप से कह सकते हैं कि–काम-विकारों को मन से हटाना चाहिये। काम का प्रभाव मन पर न हो।[1] इस मंत्र के अर्थ को आगे बतलाया गया है या मनुष्य विजयी शूरों को अनुकरण करके ध्यान पूर्वक स्मरण शक्ति बढ़ाकर ईश्वर नियम से ऐश्वर्य प्राप्त करें।[2] हे प्राण और अपान इस (विद्या) के लिये (मेरे) हृदय के विचारों को फैलाओ और इनको अहिंसिका (हितकारिणी) करके मेरे ही बस (वश) में करो।। या इस मंत्र को हम संक्षिप्त रूप में बतला सकते हैं कि: काम से विचार शक्ति का नाश होता है और व्यक्ति मोह के कारण पराधीन हो जाता है।[3] तुझको (अपनी) गो अर्थात् वाचनालय वा गोशाला से हम निकाले देते हैं। व्यवहार से निकाले अन्नगृह वा धान्य की गाड़ी से निकाले देते हैं। ज्ञान की मिथ्या करने वाली (कुवासना वा निर्धनता) की (पुत्री समान उत्तम पीड़ाओं) तुमको (अपने) घरों से निकालकर हम नाश करते हैं। इस (जीव) के दोनों गतिशील व्यथा देने वाले बड़े लोभी (काम क्रोध) आकाश को जैसे उड़ गये अत्यन्त दुःखाने वाले और सब ओर से दुःखाने वाले लोग दोनों इसके हृदय के अत्यन्त दुःखाने वाले हैं।[5] और भी दोनों सब ओर से सताने वाले नित्य सताने वालों और मिलकर सताने वालों को यहाँ पर (हमारे बीच) जिस किसी स्त्री (वा) पुरुष ने स्वीकार किया है। उसके सेचन सामर्थ्य (वृद्धि शक्ति) को सर्वथा मैं बांधता हूँ।[6] मैंने इन दोनों को उठा दिया है। जैसे थक कर बैठे हुये दो बैलों को जैसे घुरधुराते हुये (कुर-कुर करने वाले) कुत्तों को और जैसे दो घुसआने वाले भेड़िये को। आगे संक्षिप्त रूप से बतलाते हैं कि – इन दोनों के वश में नहीं आना चाहिये और इन पर विजय

---

1. रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः।
   देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु।। अ. 6.130.1
2. यं देवा स्मर................ धर्मणा।। अ. 6.132.1
3. अथर्ववेद 3.25.6
4. निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्।
   निर्वो भगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे।। अ. 2.14.2
5. उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
   उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः।। अ. 7.95.1
6. अतोदिनौ नितोदिनावथोसंतोदिनावृत।
   अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार। अ. 7.95.3

प्राप्त करनी चाहिये।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए बतलाया है कि–निर्धनता के कारण मनुष्य घर से निकल जाता कुरूप हो जाता है, दीन वचन बोलता और मतिभ्रष्ट हो जाता है, और निर्धनता की पीड़ाएँ क्रोध अर्थात् काम, क्रोध, मोह आदि दुष्टताओं से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को चाहिये कि दूरदर्शी होकर पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके निर्धनता को न आने दे और सदा सुखी रहे। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–क्रोध से सद्‌बुद्धि का नाश होता है, राक्षसी वृत्तियों का उदय होता है और व्यक्ति कर्तव्य तथा अकर्तव्य का विवेक न करने के कारण गृहहीन भी हो जाता है। वेदों में क्रोध को दुर्गुण माना गया है, परन्तु मन्यु को सद्‌गुण माना गया है मन्यु क्रोध का सात्त्विक रूप है। यही उत्साह उद्योग अध्यवसाय आदि के रूप में परिणत होता है। पाप और पापी के प्रति किया गया क्रोध मन्यु है।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–प्रकाशमान् क्रोध ऐश्वर्यवान् क्रोध ही दिव्यगुण वाला क्रोध दाता वा गृहीता, वरणीय अङ्गीकारयोग्य और धन प्राप्त करने वाला हुआ है। क्रोध को उद्योग करने वाली मनुष्य जातीय प्रजाएं सराहती हैं। हे क्रोध ऐश्वर्य से प्रीति करता हुआ तू हमें बचा। अर्थात् यथावत् प्रयुक्त क्रोध के गुण पहिले से विदित हैं। नीतिज्ञ पुरुष विधिपूर्वक क्रोध से ऐश्वर्य बढ़ाकर रक्षा करते हैं। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–अथर्ववेद में मन्यु को इन्द्र और देवता कहा गया है।[3] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि–यह जो बहुत प्रतिष्ठा वाला होकर अन्तरिक्ष लोक तक फैलता है वह दर्भ सुकर्मों का गूंथने वाला पुरुष पृथिवी से उठकर क्रोध शान्त करने वाला कहा जाता है। अर्थात्–जो मनुष्य विवेक द्वारा प्रतिष्ठित होकर अन्तरिक्ष आदि लोक तक अधिकार जमाता है, वह संसार में यशस्वी और शान्तचित्त माना जाता है।[4] आगे बतलाया है कि – तू तृष्णा लोभ में टिकने वाली है विषैली विष से जीवन दुःखित करने वाली है।

---

1. अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव।
   कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव।। अ. 7.95.2
2. निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्।
   सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः।। अ. 2.14.1
3. मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।
   मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः।। अ. 4.32.2
4. अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति।
   दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते।। अ. 6.43.2

जिससे तू परित्यक्ता हो जावे जैसे श्रेष्ठ पुरुष की वशीभूत (प्रजा त्याज्य होती है वैसा किया जावे) अर्थात् मनुष्य बुद्धिमान् पुरुष लोलुपता आदि अनिष्ट चिन्ताओं को इस प्रकार त्याग दे, जैसे शूर सेनापति शरणागत शत्रु सेना को छोड़ देता है।[1] इसी प्रकार आगे बतलाया है कि– हे मनुष्य तेरी डाह की पहली गति को और पहली गति की दूसरी गति को, हृदय में भरी सताने वाली अग्नि और शोक को सर्वथा हम नष्ट करते हैं। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईर्ष्या हृदयस्थ शोकाग्नि है। यह हृदय को जलाती है।[2] आगे बतलाते हैं कि–जैसे भूमि मरे मन वाली होकर मरे से भी अधिक मरे मन वाली है। और जैसे मरे हुए मनुष्य का मन है वैसे ही दाह करने वाले का मन मरा होता है। इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि जैसे भूमि उसर हो जाने से उपजाऊ नहीं रहती और जैसे मृतक प्राणी का मन कुछ नहीं कर सकता वैसे ही डाह करने वाला जल-भुन कर उद्योगहीन हो जाता है। अर्थात् ईर्ष्या करने वाले का मन मृत अर्थात् मरा हुआ होता है। उसमें उत्साह और सद्विचार आदि नहीं होते।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में बतलाया है कि–वह जो तेरे हृदय में रखा हुआ धड़कता हुआ छोटा मन है उससे तेरी ईर्ष्या को बाहिर निकालता हूँ जैसे धोंकनी से श्वास को अर्थात् मनुष्य कभी किसी से ईर्ष्या द्वेष न करे क्योंकि उससे मन गिर जाता है, किन्तु पुरुषार्थ से अपनी उन्नति करे। संक्षिप्त रूप में यह भी कह सकते हैं कि ईर्ष्यालु का मन पतित होता है।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि–इस जलती हुई अग्नि के समान अथवा जलती हुई वन अग्नि के (समान) इस पुरुष की इस ईर्ष्या को शान्त कर दे, जैसे जल से आग को। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–ईर्ष्यालु अर्थात् दूसरे के अभ्युदय को न सहने वाला मनुष्य आग के समान भीतर ही भीतर जल कर राख के समान नाश हो जाता है, इससे वह ईर्ष्या दोष को ऐसा शान्त रखे जैसे अग्नि

---

1. तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि।
   परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव।। अ. 7.113
2. ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
   अग्निं हृदयं । शोकं तं ते निर्वापयामसि।। अ. 6.18.1
3. यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
   यथोत मम्रुषो मनं एवेर्ष्योर्मृतं मनः।। अ. 6.18.2
4. अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
   ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव।। अ. 6.18.3

को जल से।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में ईर्ष्या और क्रोध को दूर करने के लिए दूसरी विधि बतलाते हैं कि– हे मनुष्य सब के बनाने वाले परमेश्वर के वचन से मैंने तेरी ईर्ष्या को मद रहित कर दिया है और हे स्वामिन (परमेश्वर) जो तेरा क्रोध है, तेरे उसको अवश्य हम शान्त करते हैं। इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि–जैसे वैद्य द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा की जाती है, वैसे ही वेदादि शास्त्रों द्वारा मानसिक रोगों की निवृत्ति करनी चाहिये, जिससे परमेश्वर कभी क्रोध न करें।[2] आगे स्पष्ट किया है कि–जैसे मनुष्य बहुमूल्य उत्तम ओषध को दूर देश से लाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग सर्वहितकारी विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके ईर्ष्या छोड़ एक दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति समझें। इसे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–ईर्ष्या को सर्वथा त्याग कर दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति समझें।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में नीतिशिक्षा का उपदेश देते हुए बतलाया है कि–क्या मैं झूठे व्यवहार वाला हूँ अथवा हे विज्ञानी राजन्! स्तुति योग्य पुरुषों को व्यर्थ निन्दित जानता हूँ। हे बड़े ज्ञानवाले राजन्! तू किस लिये हम पर क्रोध करता है, अनिष्ट बोलने वाले पुरुष तेरे क्लेश को भोगें। अर्थात् राजा सत्यवादी और असत्यवादियों का निर्णय करके यथोचित व्यवहार करे, द्वेष वाली वाणी करने वाले सदा दुर्गति को प्राप्त होते हैं।[4] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि–हे सच्चे। (सत्यवादी, सत्यगुणी) हे सोम (तत्व रस) पीने वाले! (वा ऐश्वर्य के रक्षक राजन्) जो कभी भी निन्दनीय कर्म वालों के समान हम होवें। हे महाधनी इन्द्र। (बड़े प्रतापी राजन्) निश्चय करके हम को सहस्त्रों शुभ गुण वाले विद्वानों और कर्मों में व्यापक बलवानों में सब ओर से बड़ाई वाला कर। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि यदि धार्मिक लोगों से किसी कारण विशेष से अपराध हो जावे, नीतिज्ञ राजा यथायोग्य बर्ताव करके उन भूले

---

1. अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्।
   एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय।। अ. 7.45.2
2. त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्।
   अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि।। अ. 7.74.3
3. जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
   दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम्।। अ. 7.45.1
4. यदिवाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवां अप्यूहे अग्ने।
   किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्।। अ. 8.4.14

भटकों को फिर सुमार्ग पर लावें।[1] आगे बतलाया है कि–हे प्राण और अपान (अथवा हे दिन और रात्रिः) हमारे लिये यहाँ पर अभय होवें; (तुम दोनों अपने) तेज से खा डालने वालों को उलटा हटा दो। वे लोग न तो सन्तोषक पुरुष को और न प्रतिष्ठा को पावें आपस में मारते हुए मृत्यु को प्राप्त हों अर्थात्– मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और समय का ऐसा सुन्दर प्रयोग करें जिससे शत्रु लोग कहीं शरण न पावें और आपस में कट मरें। संक्षिप्त रूप में यह भी कह सकते हैं कि–पारस्परिक कलह के कारण राक्षस मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[2] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में नीतिशिक्षा का उपदेश करते हुए बतलाया है कि–हे अति उत्तम परमेश्वर मनुष्य यह कुछ भी अपकार विद्वानों के बीच विद्वान् मनुष्य पर करते हैं। और भी अचेतनपन से तेरे धर्म को हमने तोड़ा है हे प्रकाशमय परमात्मन्! हमें उस पाप से मत नष्ट कर। अर्थात्–यदि मनुष्य अज्ञान से कोई पाप कर्म करें तो वे दण्ड रूप प्रायश्चित्त, अनुताप आदि करके धर्म आचरण में सदा प्रवृत्त रहें। इसे संक्षिप्त रूप में ऐसा व्यक्त कर सकते हैं कि–अपने से बड़ों और आदरणीय लोगों से द्रोह न करें। द्रोह को पाप कहा गया है।[3] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि– बड़ा रक्षक, बहुत से ज्ञानी पुरुषों वाला, बहुत धन वा ज्ञान वाला बड़े ऐश्वर्य वाला राजा अनेक रक्षाओं से अत्यन्त सुख देखने वाला होवे। वह वैरियों को हटावें हमारे लिये निर्भयता करें और हम बड़े पराक्रम के पालन करने वाले होवें। अर्थात्–राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों का नाश करके प्रजा की रक्षा करें। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–द्वेष भाव को नष्ट करने से ही मनुष्य अभय होता है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि –हे विजयी देवताओं जिस (मार्ग) से असुरों के बलों को तुमने रोका है, उसी से हमें सुख दान करो। संक्षिप्त रूप में

---

1. यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि।
   आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ।। अ. 20.74.1
2. अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्त्रिणोनुदतं प्रतीचः।
   मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्।। अ. 6.32.3
3. यत् किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति।
   अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः। अ. 6.51.3
4. इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः समृडीको भवतु विश्ववेदाः।
   बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम।। 7.91.1

यह कह सकते हैं कि–अद्रोह के कारण ही देवों ने असुरों का ताज छीन लिया।[1] अथर्ववेद में नीतिशिक्षा का उपदेश करते हुए बतलाया गया है कि–जो कोई चोर आज आवे, चूर-चूर किया हुआ वह हट जावे, और मार्गों के विनाश से चला जावे ऐश्वर्यवान् प्रतापी मनुष्य वज्र से उसको मार डाले। अर्थात्–मनुष्य घर और रक्षकों का ऐसा प्रबन्ध करें कि यदि चोर आदि आ भी जावें तो मार्ग भूलकर निराश होकर भागने लगे, और राजा पकड़ कर उसे यथोचित्त दंड देवे। सार शब्दों में ऐसा कह सकते हैं कि–चोरी करने को दुर्गुण और पाप कहा गया है। चोरी से ही मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।[2] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–हे अग्नि (समान तेजस्वी राजन्!) जो (दुष्ट) हमारे रक्षा साधन अन्न आदि के और जो घोड़ों के और गौओं के शरीरों के इस (तत्त्व) को मिटाना चाहे। वह तस्कर, चोरी करने वाला शत्रु कष्ट को प्राप्त हो और वह अपने शरीर से और धन से सर्वथा हीन हो जावे। अर्थात्–राजा प्रजा की सम्पत्ति हरने वाले डाकू चोर आदिकों को दण्ड देकर स्वाधीन रखे। संक्षिप्त रूप में यह भी कह सकते हैं कि–चोरी करने वाला सदा अवनति को प्राप्त होता है।[3] अथर्ववेद में आगे नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए बतलाया है कि–हे दुःख निबारक परमेश्वर! हमसे सब फन्दों को खोल दे, जो ऊँचे और जो नीचे (फन्दे) दोष निवारक वरुण परमेश्वर से आये हैं। नींद में उठे कुविचार और विघ्न को हमसे निकाल दें, फिर धर्म के समाज में हम जावें। अर्थात्–जो मनुष्य भूत भविष्यत् क्लेशों का विचार करके दुष्कर्मों से बचते हैं, वे धर्मात्माओं में सत्कार पाते हैं संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–दुर्गुणों और दुर्व्यसनों को छोड़ें।[4] इसीप्रकार आगे बतलाया है कि–जैसे ज्ञान, जैसे ऐश्वर्य, जैसे अनेक व्यवहार बहुत व्यवहारयुक्त राजद्वार में रहते हैं। जैसे अपने को ऐश्वर्यवान् मानने वाले पुरुष का मन स्तुति किया (वा अपनी पत्नी) में स्थिर रहता है। वैसे ही हे न मारने योग्य प्रजा!

---

1. येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम्।
   तेना नः शर्म यच्छत।। अ. 6.7.3
2. यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति।
   पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम्।। अ. 4.3.5
3. यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्।
   रिपुस्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च।। अ. 8.4.10
4. प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
   दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।। अ. 7.83.4

तेरा मन सब में निवास करने वाले परमेश्वर में अच्छे प्रकार दृढ़ होवें। अर्थात् मद्य, मांस, मैथुन और द्यूत, ये सब दुर्व्यसन हैं। इन्हें छोड़ना चाहिए।[1] आगे अथर्ववेद में नीतिशिक्षा का उपदेश करते हुए बतलाया है कि—हे तेजस्वी राजन्। अत्यन्त शत्रुनाशक शूर होकर (अथवा) नीच गति वालों को लांघकर हिंसकों को लांघकर पापबुद्धि प्रजाओं को लांघकर और द्वेष करने वालों का तिरस्कार करके, तू ही सब संकटों को पारकर और हमें वीर पुरुषों के सहित धन के अर्थात्—राजा सावधानी से प्रजा के सब क्लेशों को हरे, और ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा के सब पुरुष उत्साही, शूर, वीर और धनाढ्य हों।[2] आगे स्पष्ट किया गया है कि— हे अन्नों के रक्षक! ब्रह्मा (वेदज्ञाता) के समान (होकर) तू आलसी कभी भी मत हो, वेदवाणी से युक्त तत्त्व रस का आनन्द भोग। अर्थात्—मनुष्य विद्वानों के समान निरालसी होकर तत्वज्ञान के अभ्यास से सुखी होवें। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि—आलस्य दुर्गुण है। आलसी न हों।[3] आगे अथर्ववेद में बतलाया गया है कि—हे शत्रुओं के मारने वाले शूरों जो (दुष्ट पुरुष) हम पर हाथ बढ़ा कर मान करे, अथवा जो उपयुक्त किये हुए (हमारे) वेद विज्ञान वा धन की निन्दा करे, (उसके) पाप कर्म उसके लिये तापकारी (तुपक रूप) हों, दीप्यमान परमेश्वर वेद विरोधी जन को सब प्रकार से सन्ताप दे। अर्थात्—जो मनुष्य वेदों की सर्वोपकारी आज्ञाओं का उल्लंघन करे उसको शूरवीर पुरुष योग्य दण्ड देवें, वह दुराचारी परमेश्वर की न्याय व्यवस्था से भी कष्ट भोगता है। संक्षिप्त रूप में सार शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि—अभिमान से नाश होता है। दुरभिमानी को उसके कार्य दुःख देते हैं।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाया है कि वैरियों की नाशन शक्ति तू है मुझे वैरियों के मिटाने का बल दे, यही सुन्दर आशीर्वाद हो। अर्थात्—वे छली पुरुष हैं जो देखने में भ्राता के समान प्रीति, और भीतर से दुष्ट आचरण करे। परमेश्वर वा राजा ऐसे दुराचारियों का नाश करता है, ऐसे

---

1. यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
   यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियाँ निहन्यते मनः।
   एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्।। अ. 6.70.1
2. अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
   विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः।। अ. 2.6.5
3. मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते। मत्स्वा सुतस्य गोमतः।। अ. 20.60.3
4. अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम्।
   तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति।। अथर्व. 2.12.6

ही मनुष्य मृगतृष्णारूप, इन्द्रिय लोलुपता और अन्य आत्मिक दोषों का नाश कर के सुख से रहें।

हे ईश्वर तू प्रकट शत्रुओं की नाशक्ति है मुझे प्रकट शत्रुओं के मिटाने का बल दे, यह सुन्दर आशीर्वाद हो अर्थात्–जैसे ईश्वर वा राजा प्रकट कुचालियों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य अपने प्रकट दोषों का नाश करके सुख भोगें। आगे बताते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् और महाधनी है, ऐसा विचार कर मनुष्य अपनी दुष्टता और दुर्गति से अथवा अन्य विघ्नों से उत्पन्न निर्धनता को उद्योग कर के मिटावें। हे ईश्वर! तू मांस खाने वालों के मिटाने का बल दे। यह सुन्दर आशीर्वाद हो। अर्थात् परमेश्वर की न्याय शक्ति का विचार करके मनुष्य कुविचार, कुशीलता और रोगादि दोषों को जो शरीर और आत्मा के हानिकारक हैं मिटावें तथा हिंसक सिंह सर्पादि जीवों का भी नाश करें। आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि–हे ईश्वर! तू सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) की नाश शक्ति है, मुझे सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) के मिटाने का बल दे, यही सुन्दर आशीर्वाद हो। अर्थात् निर्धनता और दुर्भिक्षता (अकाल) आदि विपत्तियों के मारे सब प्राणी महादुःखी होकर आर्त्तध्वनि करते, और चोर आदि उन्हें सताते हैं। परमेश्वर की दयालुता और पूर्णता पर ध्यान करके, मनुष्य प्रयत्नपूर्वक प्रभूत धन और अन्न का संचय करके आनन्द से रहें। आगे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि–शत्रुता पारिवारिक कलह कृपणता का भाव, राक्षसी और आसुरी वृत्तियाँ इन सब दुर्गुणों को अथर्ववेद में नष्ट करने का आदेश दिया गया है।[1] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद के दूसरे मन्त्रों में भी आसुरी वृत्तियों को नष्ट करने का उपदेश है उपदेश करते हुए बतलाते हैं कि–(हे परमात्मन्!) वेदी पर (यज्ञभूमिरूप हृदय में) उदय हो सन्तान के साथ इस (प्रजा अर्थात् मुझ) को बढ़ा राक्षस (विघ्न) को हटा, इस (प्रजा अर्थात् मुझको अधिक उत्तमता से पुष्ट कर। सब समानों (तुल्य गुण वालों) से लक्ष्मी द्वारा हम बढ़ जावें, शत्रुओं को पैरों के तले मैं गिरा दूँ। अर्थात् –जो मनुष्य परमात्मा को अपने हृदय में विद्यमान जानते हैं, वे अपने सन्तानों सहित उन्नति करके विघ्नों को हटाकर

---

1. अथर्ववेद का 2.18.1 से 5 मन्त्र

सुख पाते हैं।[1] आगे अथर्ववेद में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि– जिस प्रकार पूर्वज विद्वान् लोग क्लेशों के कारण शीघ्र जान चुके हैं, जैसे घोड़ा मार्ग से लौटते समय अपने थान की ओर शीघ्र चलता है, अथवा जैसे शूरवीर पुरुष संग्राम में शत्रुओं को हराकर शीघ्र विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य आई हुई विपत्तियों का कारण सावधानी से जानकर शीघ्र प्रतिकार करे और सुख से आयु को भोगे।[2] आगे बतलाया है कि–हे जल के समान शुद्धि करने वाले विद्वानों! इस (सब) को बहा दो, जो कुछ (मुझमें) अकथनीय (निन्दनीय) और मलिन कर्म है और जो कुछ झूठ मूठ बुरा चाहा है, और जो कुछ निर्भय (निरपराधी) पुरुष को मैंने दुर्वचन कहा है। अर्थात्–मनुष्य शुद्धाचारी विद्वानों के सत्सङ्ग से अपने आचरण को सुधारें और द्रोह करना, असत्य बोलना और गाली देना, ये पाप है। सत्कर्म करके इन पापों को नष्ट करें।[3] अथर्ववेद में नीति शिक्षा के सम्बन्ध में उपेदश करते हुए बतलाया गया है कि– हे अति श्रेष्ठ बड़े ऐश्वर्य वाले राजा! तुझ क्रोधरूप को नमस्कार होवे, हे प्रचंड! तू सम्पूर्ण ही द्रोह को सदा जानता है (मैं) सहस्र दूसरे जीवों को एक साथ आगे बढ़ाता हूँ, तेरा यह (सेवक) सौ शरद् ऋतुओं तक जीता रहे अर्थात्–सर्वज्ञ परमेश्वर के महाक्रोध से भय मान कर मनुष्य पातकों से बचें और सबके साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें। इसे संक्षिप्त रूप में सार शब्दों में भी कह सकते हैं कि– मनुष्य सबके साथ अच्छा व्यवहार करें। आगे बतलाते हैं कि जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी होकर उस प्रभु की शरण लेते हैं और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छुटकर आनन्द भोगते हैं। अर्थात् मनुष्य को द्रोह करना, असत्य बोलना और पाप की भावना नहीं रखना चाहिए।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद

---

1. उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम्।
   श्रिया समानानति सर्वांन्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि।। अ. 11.1.21
2. परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन्।
   अजैषं सर्वांनाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः।। अ. 2.14.6
3. इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।
   यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेषे अभीरूणम्।। अ. 7.89.3
4. नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युउग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
   सहस्रमन्यान् प्रसुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्।। अ. 1.10.2
   यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।
   राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्।। अ. 1.10.3

में स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि—अधर्मी लोग अनेक विघ्नों में पड़कर दुख उठाते हैं और धर्मात्मा लोग विघ्नों को हटा कर सुख पाते हैं। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि वे पापों को छोड़ दें।[1] आगे बतलाया है कि— कपि (चंचल जीवात्मा) ने मेरे स्वच्छ किये हुए प्यारे कर्मों को विरुद्धपन से दूषित कर दिया है इस (पाप कर्म के शिर को अब में काट डालूँ, और दुष्ट कर्म में सुगम नहीं हो जाऊँ इन्द्र (बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य) सब (प्राणिमात्र) से उत्तम है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि—विद्वान् जितेन्द्रिय मनुष्य के मन में यदि पाप की लहर उठे वह ज्ञान से उस को सर्वथा नष्ट करके अपना महत्त्व दृढ़ बनाये रखे।[2] अथर्ववेद में नीति शिक्षा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए बतलाया गया है कि—जैसे चतुर सेनापति अस्त्र शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर झपट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो, एकत्र हो सकते हैं और न धन जोड़ सकते हैं ऐसे बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को वश में करके सुमार्ग में चलावें और आनन्द भोगें। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि—पापी समृद्ध नहीं होते हैं।[3] इसी प्रकार अथर्ववेद में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए बतलाया गया है कि—यह विजयी महात्माओं का प्राणदाता (वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्) परमेश्वर बड़ा राजा है, वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ राजा परमेश्वर की इच्छा सत्य ही है। इसलिये वेद ज्ञान से सर्वथा तीक्ष्ण होता हुआ मैं प्रचंड परमेश्वर के क्रोध से इसको (अपने को) छुड़ाता हूँ। अर्थात्—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रखें। आगे बताते हैं कि—सर्वज्ञ परमेश्वर के महाक्रोध से भय मान कर मनुष्य पातकों से बचें और सबके साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें।

जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी होकर उस प्रभु की शरण लेते हैं और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के

---

1. यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्।
   पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम्।। अ. 6.26.2
2. प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्।
   शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्रः उत्तरः।। अ. 20.126.5
3. विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती।
   विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अधायवः।। अ. 1.27.2

अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं। इसी प्रकार आगे बताते हैं कि–(हे आत्मा!) विशाल समुद्र के समान गंभीर सब नरों के हितकारक वा सबको[1] नायक परमेश्वर से तुझको मैं छुड़ाता हूँ प्रचण्ड स्वभाव (परमेश्वर) (मेरे) तुल्य जन्म वालों को इस विषय में उपदेश कर और हमारे वैदिक ज्ञान को आनन्द से तू जान। अर्थात्–मनुष्य पाप कर्म छोड़ने से पूर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सबकी सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है। अथर्ववेद में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि–आकाश में व्यापक शक्तियाँ (वायु, जल, बिजली आदि) ग्राह्यपदार्थ के आधार (भूलोक) और सूर्य के बीच परस्पर आनन्द भोगती हैं वे मेरे दोनों हाथों धृत (सार पदार्थ) से संयुक्त करें, और मेरे ज्ञान नाशक (ठग, जुआरी) वैरी को नाश करें। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–मनुष्य वायु, जल, बिजुली आदि से यथावत् उपकार लेकर दरिद्रता आदि दुख नाश करें। सार शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि–जुआ खेलने वाला नष्ट होता है।[2] इसी प्रकार आगे बतलाया गया है कि–जैसे बिजुली सब दिनों बेरोक होकर पेड़ को गिरा देती है। वैसे ही मैं आज बेरोक होकर पाशों से ज्ञान नाश करने वाले, जुआ खेलने वालों को नाश करूँ। अर्थात्–मनुष्य को योग्य है कि जुआरी लुटेरे आदि को तुरन्त दण्ड देकर नाश करें।[3] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–जो न शाप देने वाले हम लोगों को शाप देवे, और जो शाप देने वाले हम लोगों को शाप देवे। बिजुली से मारे गये वृक्ष के समान वह जड़ से लेकर निरन्तर सूख जावे। अर्थात् – जो दुष्ट धर्मात्माओं में दोष लगावे, राजा उसको यथोचित दण्ड देवे।

---

1. अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
   ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि।। अ. 1.10.1
   नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युऽग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
   सहस्रमन्यान् प्रसुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्।। अ. 1.10.2
   यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।
   राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्।। अ. 1.10.3
   मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि.........चिकीहि नः।। अ. 1.10.40
2. अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
   ता मे हस्तौ संसृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु।। अ. 7.109.3
3. यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
   एवाहमद्य कितवानक्षैर्वध्यासमप्रति। अ. 7.50.1

सार शब्दों में यह कह सकते हैं कि–दूसरों को शाप या गाली देने वाला, इसी प्रकार सूख जाता है, जैसे बिजुली गिरने से वृक्ष।[1] अथर्ववेद के अगले मन्त्र में नीतिशिक्षा का उपदेश करते हुए बताया गया है कि– यह (देशीय) और वे (विदेशीय) कुत्ते के समान पीड़ा देने वाले उड़ते हैं और दुःख देने वाले लोग न दबने वाले प्रतापी राजा की हानि करना चाहते हैं। शक्तिमान राजा छली लोगों के लिए मारु हथियार तेज करता है, वह निश्चय करके वज्र को पीड़ा देने वालों पर छोड़ देवें। अर्थात्–राजा भीतरी और बाहिरी हानिकारक शत्रुओं को शस्त्र आदिकों से नष्ट करे। सार शब्दों में यह कह सकते हैं कि– चुगली करना दुर्गुण है। अतः इन्द्र चुगली करने वालों को नष्ट करता है।[2] अथर्ववेद में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए बतलाया गया है कि– मुझ बोलने वाले का जो (मन) किसी हिंसा से व्याकुल हो गया है, (अथवा) मनुष्यों के पास चलकर मुझ माँगने वाले का जो (मन व्याकुल हो गया है) (अथवा) मेरे शरीर के आत्मा में जो कष्ट है, विज्ञानयुक्त विद्या उसको प्रकाश वा सारतत्व से भली भाँति भर देवे। अर्थात्–मनुष्य अविद्या के कारण से प्राप्त हुए क्लेशों को विद्या द्वारा नाश करें। इसे सार शब्दों में कह सकते हैं कि– अपने स्वार्थवश चापलूसी करना, माँगना और लोगों के पीछे लगे रहना, ये दुर्गुण हैं। ऐसा करने से स्वाभिमान को क्षति पहुँचती हैं।[3] आगे बतलाया गया है कि– पाण्डगाः पण्डितों (तत्वविवेकियों) के निन्दक, व्यवहार से गिरे हुए पुरुष न कदापि शासन कर्ता हों और न (हमारी) स्त्रियों में मिलनेवाले होवें। हे भय निवारक पुरुष! (उसको) गिरा दे, जो पति न होकर इस अपने पति वाली स्त्री के पास आना चाहता है। अर्थात् राजा कुबुद्धि व्यभिचारी, पतिव्रताओं के ठगने वाले पुरुषों को यथावत् दण्ड देवे। सार शब्दों में कह सकते हैं कि–परस्त्रीगमन पाप है इससे व्यक्ति का पतन होता है।[4] इसी प्रकार आगे अथर्ववेद में बतलाया गया है कि–जो कोई प्रतिकूलगामी पुरुष वेदवाणी को पग से

---

1. योनः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
   वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु।। अ. 7.59.1
2. एत उत्ये पतयन्ति श्यातव इन्द्र दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
   शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमदभ्यः।। अ. 8.4.20
3. यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु।
   यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन।। अ 7.57।
4. पर्यस्ताक्षा ग्रप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः।
   अव भेषज .. ..स्त्रियम्।। अ. 8.6.16

(तिरस्कार के साथ) ठोकर मारता है, और सूर्य (समान प्रतापी विद्वान् मनुष्य) को सताता है। उस तेरी जड़ को मैं काटता हूँ तू छाया (अन्धकार वा अविद्या) को फिर न फैलावे। इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि–जो मनुष्य सत्य वेदवाणीं का तिरस्कार करके विद्वानों को कष्ट देवें, उसको लोग दण्ड देकर नाश करें। अगले मन्त्र में बताया है कि–जैसे जलते हुए अग्नि का प्रकाश किसी वस्तु पर पड़ता है और कोई दोनों के बीच में पड़कर प्रकाश को रोक दे, ऐसे ही जो दुराचारी वेद विद्या और ब्रह्मचारी के बीच विघ्न डालकर उत्तमव्यवहार के प्रचारों को रोके, उसे लोग दण्ड देकर नाश करें। सार शब्दों में यह कह सकते हैं कि–उत्तम व्यवहार के प्रचारों को नहीं रोकना चाहिए।[1] अथर्ववेद में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए बतलाया है कि–(हे विद्वान्!) विद्या (वा यज्ञभूमि) सब ओर फैला और सब ओर पुष्टकर उस (विद्या) के साथ वर्तमान गति को मत लूट। दाता का घर हरा भरा (स्वीकार योग्य) और सोने से भरा (होता है) यह सब सुनहरे अलङ्कार यजमान (विद्वानों के सत्कार करने वाले) के घर में (रहते हैं) अर्थात् जो मनुष्य विद्या प्राप्त करके उसकी प्रवृत्ति नहीं रोकता, वह महाधनी होकर सुखी रहता है। संक्षिप्त रूप में यह भी कह सकते हैं कि–चोरी न करें। सोती हुई स्त्री का धन न चुरावें।[2] इसी प्रकार आगे बतलाते हैं कि–आपस में जान पहिचान करो, आपस में मिले रहें। ज्ञानवाले तुम लोगों के मन एक से होवें (अथवा तुम्हारें मन एक से होवें) जैसे प्रथम स्थान वाले, यथावत् ज्ञानी विद्वान् लोग सेवनीय परमेश्वर अथवा ऐश्वर्यों के समूह को सेवन करते हैं अर्थात्–मनुष्य परस्पर मिल कर वेदादि शास्त्रों का विचार करके ज्ञानी पुरुषों के समान ईश्वर आज्ञा पालन करते हुए अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करें। (हे मनुष्यों तुम्हारा) मन्त्र, विचार एक सा और समिति (सामाजिक व्यवस्था) एक सी, धर्म का आचरण एकसा और इन तुम सबका चित्त (सब पदार्थों का ज्ञान) मिला हुआ होवे। एक से ग्राह्य धर्म के साथ तुम को मैं ग्रहण करता हूँ एक से चिन्तन (भूत, भविष्य के अनुभव के स्मरण)

---

1. यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
   तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्।। अ. 13.1.56
   यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा।
   तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्।। अ. 13.1.57
2. परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामि मोषीरमुया शयानाम्।
   होतृषदनं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके।। अ. 7.99.1

में तुम भली भाँति प्रवेश करो। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्यों को योग्य है कि सदा वेदमार्ग पर चलकर एक चित्त होकर धर्मसभा, विद्यासभा, राजसभा आदि बनाकर बुद्धि, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुण बढ़ावें। आगे बतलाया है कि–तुम्हारा निश्चय, उत्साह अथवा सङ्कल्प एकसा और तुम्हारे हृदय (हार्दिककर्म) एक से होवें। तुम्हारा मन (मननकर्म) एकसा होवे, जिससे तुम्हारी गति बड़ा सहाय करने वाली होवें। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि– मनुष्य धर्म के विचारों में प्रीतिपूर्वक एकमत होकर अपने सब काम समाज द्वारा सिद्ध करके सुख बढ़ावें। अथर्ववेद में नीति शिक्षा का उपदेश देते हुए बतलाया गया है कि– (हे विद्वान्!) पुरुषवध से हटता हुआ दिव्य (परमेश्वरीय) वचन मानता हुआ तू सब सखाओं (साथियों) सहित उत्तम नीतियों (ब्रह्मचर्य स्वाध्या आदि मर्यादाओं) का सब ओर से बर्ताव कर। अर्थात् मनुष्य सर्वहितकारी वेद मार्गों पर चलकर और दूसरों को चलाकर पवित्र जीवन करके आनन्दित होवें। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि– उत्तम नीति को अपनावें।[2] आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि–जिस (परमात्मा) ने बनाया है वही निस्तारा करेगा वह ही बड़ा भारी वैद्य है। वह ही पवित्रात्मा वैद्य रूप से तेरे लिए ओषधियों को करेगा। अर्थात्– जिस परमेश्वर ने इस सृष्टि को रचा है, वही जगदीश्वर अपने आज्ञाकारी, और पुरुषार्थी सेवकों का क्लेश हरण करके आनन्द देता है। सार शब्दों में यह कह सकते हैं कि–निरन्तर काम करने से अभ्यास बढ़ता है। निरन्तर अभ्यास से ही उत्तम वैद्य बनता है।[3] इसीप्रकार आगे बतलाया है कि–जो जैसा हो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें। शठ के साथ शठता करें। इन्द्र ने कपट करने वालों को कपट

---

1. सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
   देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।। अथ. 6.64.1
   समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
   समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्।। अ. 6.64.2
   समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मानो यथा वः सुसहासति।। अ. 6.64.3
2. अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
   प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह।। अ. 7.105.1
3. यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः।
   स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः।। अ. 2.9.5

से नष्ट किया और दस्युओं को माया से।[1] इसी प्रकार आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि–हे तेजस्वी राजन् अपने क्षत्रिय धर्म वा धन के साथ उत्साह कर हे तेजस्वी राजन्। मित्र वर्ग के साथ मित्रों का पुष्ट करने वाला होकर प्रयत्न कर। और हे तेजस्वी राजन् तुल्य जन्म वालों के बीच पंचों में बैठने वाला, और क्षत्रियों के बीच में विशेष करके आह्वान योग्य होकर यहाँ पर प्रकाशमान हो। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि– नीति कुशल राजा धर्म कार्यों में स्फूर्ति रखे, और जिससे सब छोटे और बड़ों में प्रेम के साथ उसकी कीर्ति बढ़े। संक्षिप्त रूप में यह कह सकते हैं कि–मित्र के साथ मित्रता का व्यवहार करना चाहिए।[2] अथर्ववेद में नीतिशिक्षा के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए बतलाया गया है कि–जैसे यह आकाश और पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम पालन से अपने-अपने स्थान और मार्ग में स्थिर रह कर जगत् का उपकार करते हैं ऐसे ही मनुष्य ईश्वर की आज्ञा मानने से पापों को छोड़कर और सुकर्मों को कर के सदा निर्भय और सुखी रहता है। जो मनुष्य अपने काल प्रयोग में नहीं चूकते वे अपने सुप्रबन्ध से सदा निर्भय रहते हैं। आगे बतलाया है कि–जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपनी राशियों में घूमकर संसार में किरणों और प्रकाश द्वारा वृष्टि आदि से, और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेकर अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके उपकार करते और निर्भय विचरते हैं, ऐसे ही मनुष्य भी वेदविहित धर्म की रक्षा करके सदा प्रसन्न रहें। जैसे सत्यवक्ता ब्राह्मण और सत्य पराक्रमी क्षत्रिय न सताते और न भय करते हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य सत्यवक्ता और सत्यपराक्रमी होकर ईश्वरआज्ञा पालन में निर्भय होकर आनन्द उठावे। जैसे निश्चय करके सत्य अर्थात् धर्म का विधान, और असत्य अर्थात् अधर्म का निषेध यह दो प्रधान अंग न्याय के हैं। मनुष्य विधि और निषेध के यथावत् रूप को समझ कर, कुमार्ग छोड़ कर सुमार्ग में निर्भय चले और अचल आनन्द भोगें। समर्थ, सत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य पहले विजयी हुए हैं और आगे होगें। इसी प्रकार सब मनुष्य भूत और भविष्यत् का विचार करके जो कार्य करते हैं वे सुखी रहते हैं। इसे संक्षिप्त रूप में सार शब्दों में यह भी कह सकते

---

1. महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
   वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः।। अ. 20.11.6
2. क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व।
   सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदीहीह।। अ. 2.6.4

हैं कि–द्यौ पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि नहीं डरते। अतः कभी नहीं डरना चाहिए।[1] अथर्ववेद में नीति शिक्षा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए बतलाया गया है कि– सारी दिशाएँ हमारे लिए मित्र के तुल्य हों। अर्थात् कल्याणकारी हों।[2] आगे बतलाया है कि–हे निर्हानि! सो तू नहीं मरेगा, तू नहीं मरेगा मत भय कर। वहाँ पर (कोई) भी नहीं मरते हैं और नहीं नीचे अन्धकार में जाते हैं अर्थात् जहाँ पर मनुष्य ब्रह्म का विचार करते रहते हैं वहाँ मृत्यु का भय नहीं होता। सार शब्दों में यह कह सकते हैं कि – मृत्यु से भी नहीं डरना चाहिए।[3] आगे बतलाते हैं कि – परमेश्वर महा उपकार करके संसार के चर और अचर का शासक और नियन्ता है, इसी प्रकार मनुष्य को उपकारी होकर प्रयत्न करना चाहिए कि उसका स्वयम्, आत्मा और अन्य मित्र अथवा शत्रु सब प्रीति से आनन्द बढ़ाते रहें। अर्थात्–मित्रों से शत्रु दोनों से अभय हो अर्थात् शत्रुओं और मित्रों दोनों से सावधान रहें।[4] आगे बतलाया है कि–राजा अपने सुपरीचित न्याय मन्त्री और युद्ध मन्त्री आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिए सदा चैतन्य करता रहे कि कोई सजातीय वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे। अर्थात्–अपने संबन्धियों और दायादों से भी सावधान

---

1. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
   एवा मे प्राण मा बिभेः। अ. 2.15.1
   यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः।
   एवा मे प्राण मा विभेः। अ. 2.15.2
   यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
   एवा .... बिभेः।। अ. 2.15.3
   यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः।
   एवा मे ....।। अ. अ. 2.15.4
   यथा सत्यं ....न रिष्यतः। एवा ....विभेः।। अ. 2.15.5
   यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
   एवा मे प्राण मा बिभेः।। अ. 2.15.6
2. अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
   अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वाआशा मम मित्रं भवन्तु।। अ. 19.15.6
3. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
   न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः।। अ. 8.2.24
4. त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः।
   मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः।। अ. 2.28.3

रहना चाहिए, जिससे वे हानि न पहुँचा सकें।[1] आगे स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि–अभय के लिए द्वेष और हिंसा के विचारों को नष्ट करना चाहिए।[2] आगे बताते हैं कि अभय का उपाय है–दूसरों से द्वेष न करना।[3]

1. विश्वदेवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन्।
   मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मे मं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः।। अ. 1.30.1
2. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं वृधि।
   मघवंछग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि। अ. 19.15.1
3. इदमुच्छ्रेयोवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
   असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वैत्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।। अ. 19.14.1

षष्ट अध्याय

जिन्दा अवेस्ता की संस्कृति पारसियों का मूल धर्म ग्रन्थ

हिन्दी भावार्थ– परम ज्ञान की प्राप्ति के बाद जरथुश्त्र ने परमात्मा अहुरमज़्दा के संदेशों का प्रचार करने हेतु सम्पूर्ण ईरान का पर्यटन किया और लोगों को सही सुख का मार्ग बताया। प्रारम्भ के दस वर्ष तक उन्हें घोर निराशा व असफलता प्राप्त हुई। कोई उनका उपदेश सुनने को तैयार नहीं होता था यहाँ तक के उनके कुटुम्बी भी अनुयायी नहीं हुए। प्रचलित धर्म के विरुद्ध प्रचार करने के कारण पुरोहित वर्ग एवं शासक उनके शत्रु हो गये परन्तु वे हताश नहीं हुए। अपने सत्य धर्म में अडिग होने के कारण उनकी दृढ़ता बढ़ती गई। अब तक सात बार उनको अहुरमज़्दा के दर्शन हो चुके थे। उन्हें प्रगतिमान विश्व धर्म का उपदेश करने और दुष्टों को सुधारने की आज्ञा अहुरमज़्दा के द्वारा दी गई। अवेस्ता में कई बार वर्णन आता है कि गायों के आर्तनाद द्वारा उन्हें परमात्मा के संदेश मिलते थे। वे परमात्मा की ही प्रार्थना करते, उन्हीं का ही भरोसा करते, और उन्हीं की शरण जाते थे।

पारसी धर्म की विशेषता अशुभ की समस्या का समाधान कही जाती है। प्रायः ईश्वरवादी धर्म के सम्मुख अशुभ की व्याख्या करना एक बहुत बड़ी समस्या हो जाती है। जिसका समाधान ईश्वरवादी धर्मों में साधारणतः।

YASNA XXIX

page-6-13

अंग्रेजी-अनुवाद–

1. Unto you (O Ahura and Asha!) the soul of the kine (our sacred herds and folk) cried aloud: for whom did ye create me,

and by whom did ye fashion me? On me comes the assault of wrath and of Violent power, the blow of desolation, audacious insolence, and (theievish) might. None other Pasture– giver have I than you, therefore do ye teach me good (tillage) for the fields (my only hope of welfare)..............................!

2. Upon this the creator of the kine (the holy herds) asked of Righteousness : How (was) thy guardian for the kine (appointed) by thee when, as having power (over all her fate), ye made her? (In what manner did ye secure) for her, together with pasture, a cattle-chief who was both skilled and like wise energetic? whom did ye select as her (life's) master who might hurl back the fury of the wicked...?

3. To Him the (Divine Righte ousness) answered with his Sanctity. (Great was our per plexity); a chieftain who was capable of Smiting back (their fury), and who was himself without hate (was not to be obtained by us); amony such things as these, those things are not to be known (by beings such as we) which are the influences which approach (and move) the lofty fires (re vealing the favour and the will of God)...

....

Ahunavaiti

हिन्दी भावार्थ– कठिन दिखता है। परन्तु पारसी धर्म ईश्वरवादी धर्म होने के बावजूद अशुभ की समस्या का समाधान करने में सक्षम सिद्ध हुआ है।

जरथुश्त्र के अनुसार– अशुभ वास्तविक है यह नाम मात्र का नहीं है जीवन का शुभ के साथ सहयोग और अशुभ के साथ निरन्तर संघर्ष चला आ रहा है। अतः शुभ और अशुभ दोनों की सत्ता है।

जरथुश्त्र के अनुसार– अशुभ का कारण अंगरामेन्यु को जिसे अहरिमान भी कहा जाता है, ठहराया जाता है। यह शुभ का सक्रिय दुश्मन है विश्व के अशुभ, असत्य, पाप आदि के लिए अहरिमान को उत्तरदायी कहा जाता है। अहरिमान अंधकार का प्रतीक है। इस प्रकार अहरिमान की स्वतंत्र सत्ता को मानकर जोरेस्ट्रियन धर्म अशुभ की व्याख्या करने का प्रयास करता है।

अशुभ अहुरमज़्दा का वैसा ही दुश्मन है जैसा वह एक व्यक्ति का है। जरथुश्त्र अशुभ से बचने का संदेश प्रदान करता है। अशुभ से संघर्ष करना व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है। विश्व अपनी सभी अवस्थाओं में अपूर्ण है। परन्तु मानव उद्देश्य उसे पूर्ण बनाना है। यह विश्व युद्ध भूमि है तथा मानव उसके सैनिक है प्रत्येक

अंग्रेजी-अनुवाद–

4. The Great Creator (is himself) most mindful of the Uttered indications Which have been fulfilled beforehand hitherto in the deeds of demongods and (good or evil) men, and of those which shall be fullfilled by them here after. He Ahura is the discerning arbiter; so shall it be to us as We shall will.

5. Therefore it is that we both, my soul and (the soul) of the mother kine, (are) making our Supplications for the two worlds to Ahura, and with hands stretched out in entreaty, when (we pray to the Great Creator with questions in our doubt with questions in our doubt; (and He will answer).

Not for the righteous liver, not for the thrifty.

6. Upon this the Lord, the Great Creator, He who understands the my sterious grace by His insight, spake thus. Not in this manner is a spiritual master found for us, nor a chieftain moved by Righteousness and appointed (in its spirit); therefore Thee have I named (as such a head) to the diligent tiller of the ground..!

7. Mazda has created the inspired word-of -reason which is a Mathra of fatness (for the offering), the (Divine) Righteousness

Yasna

हिन्दी भावार्थ– मनुष्य को इस संग्राम का सामना करना है। जो मनुष्य इस संग्राम से भाग खड़ा होता है, वह कायर है। इस प्रकार व्यक्ति और अहुरमज़्दा दोनों मिलकर एक साथ अशुभ का विरोध करते हैं।

प्राचीन ईरान के भविष्यवक्ता ने मनुष्यों को यह चेतावनी दी है कि सुख

ही मानव जीवन की कसौटी नहीं है। सुख मानव जीवन का कोई आदर्श या मापदण्ड नहीं है। मानव का कर्त्तव्य शुभ के लिए प्रयत्नशील रहना तथा अशुभ का त्याग करना है। अतः पारसी धर्म अशुभ से बचने के लिए मानव को प्रेरित करता है।

जरथुश्त्र ने शुभ की तरह अशुभ को महत्त्वहीन नहीं बतलाया है।

अंग्रेजी-अनुवाद–

Consenting with him in his deed. Food he has prepared for the kine and for the eaters, He the one bountiful. with his (saving) doctrine: but Whom hast Thou, endowed with the Good mind, Who may give forth those (doctrines) by word af mouth of mortals. ....?

8. This man is found for me here who alone has hearkened to our enunciations. Zarathustra spitama ! Our mighty and Completed acts of grace he desires to enounce for us, for (me), the Great Creator and for Righteousness; wherefore I will give him the good abode (and authoritative place) of Such an one as speaks. ....!

9. Upon this the soul of the kine lamented (Woe is unto me) Since (I have obtained for myself) in my wounding a lord who is powerless to effect (his) wish, the (mere) Voice of a feeble and pusillanimous man, whereas. I desire one who is lord over his will (and able as one of royal state to bring what he desires to effect) ....!

(Aye) When shall he ever appear who may bring to her help strong-handed?

....!

Ahunavaiti

हिन्दी भावार्थ– उसके अनुसार जीवन में इन दोनों परस्पर विरोधी शक्तियों का महत्त्व है क्योंकि अशुभ की उपस्थिति से ही शुभ का मूल्यांकन आँका जाता है। जीवन में सुख जितना सत्य है उससे कम दुःख नहीं है। एक की उपस्थिति से

दूसरे का महत्त्व जाना जाता है अशुभ शुभ का विरोध करता है तथा अपना महत्त्व निर्धारित करता है अशुभ के अभाव में शुभ का मूल्यांकन करना कठिन है अतः जरथुश्त्र ने अशुभ को शुभ का मापदण्ड बतलाया है।

अंग्रेजी-अनुवाद–

10. Do ye, O Ahura and thou, O Righteousness ! grant gladness unto these (our disciples), and the sovereign kingdom (of the Deity) Such as (is estalished) in (His) Good mind by Which one bestows upon them the peaceful amenities of home and quiet happiness (as again the fearful ravages which they suffer), for of these, O Great Creator ! I ever thought thee first Possessor!.........
....!

11. And when shall the (Divine) Righteousness, the Good mind (of the Lord, and His) sovereign power (come) hastening to me (to give me strength for my task and mission), O Great Creator, the Living Lord ! (for without his I cannot advance or undertake my toil) Do ye now therfore assign unto us your aid and in abundance for our great cause. May we be (Partakers) of the bountiful grace of these your equals (your counsellors and servants).

Ahunavaiti

हिन्दी भावार्थ– जरथुश्त्र के अनुसार अहुरमज़्दा का विरोधी देवता अहरिमान है।

अहरिमान अंधकार और बुराई का देवता है। अहरिमान को अंगरामेन्यु भी कहा जाता है। अहरिमान अहुरमज़्दा से अलग रहता है इन दोनों सत्ताओं में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है इस प्रकार अहुरमज़्दा और अहरिमान नामक दो विरोधी शक्तियों को पारसी धर्म में मान्यता मिली है। यस्न जो अवेस्ता का अंग है में इन दोनों शक्तियों का द्वैत बताया गया है। परन्तु यह विचार ठीक प्रतीत नहीं होता।

जरथुश्त्र के अनुसार यद्यपि

Yasna-XXX

page-28-35

अंग्रेजी-अनुवाद–

1. And now I will proclaim, O ye who are drawing near and seeking to be taught ! those animadversions which appertain to Him who knows (all things) What soever; the praises which are for Ahura, and the sacrifices (which spring) from the Good Mind, and like wise the benignant meditations inspired by Righteousness. And I pray that propitious results may be seen in the lights.

2. Hear ye then with your ears; see ye the bright flames with the (eyes of the) Better Mind. It is for a decision as to religions, man and man and man, each individually for himself. Before the great effort of the cause, awake ye (all) to our teaching!

3. Thus are the primeval spirits Who as a pair (combining their opposite strivings), and (yet each) independent in his action, have been famed (of old). (They are) a better thing, they two, and a worse, as to thought, as to word, and as to deed. And between these two let the wisely acting choose aright. (choose ye) not (as) the evil-doers !

Ahunavaiti

हिन्दी भावार्थ– अहुरमज़्दा अहरिमान के समान प्रतीत होता है फिर भी वह अहुरमज़्दा से भिन्न है। अहुरमज़्दा शाश्वत है परन्तु अहरिमान शाश्वत नहीं है। एक निश्चित समय में अहरिमान का विनाश माना जाता है। ज्यों ही विश्व पूर्ण होगा त्यों ही इस सत्ता का अंत होगा अहुरमज़्दा के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वह पहले भी था, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा परन्तु अहरिमान के लिए हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि उसकी सत्ता भूत में थी, वर्तमान में है, परन्तु भविष्य में इस सत्ता का अंत हो जायेगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अहरिमान का अंत किसी न किसी दिन अवश्य होगा।

जरथुश्त्र एक दिन अथवा तारीख की ओर संकेत कर्त्ता है कि जब अहुरमज़्दा अहरिमान पर विजय प्राप्त करेगा ऐसा–

अंग्रेजी-अनुवाद–

4. (yea) When the two spirits came together at the first to make life, and life's absence, and to determine how the world at the last shall be (ordered), for the wicked (Hell) the worst life, for the holy (Heaven) the Best mental state,

5. (Then when they had finished each his part in the deeds of creation, they chose distinctly each his separate realm). he who was the evil of them both (chose the evil), thereby working the worst of possible results. but the more bounteous spirit chose the (Divine) Right eousness;........

6. And betwen these two spirits the Demon-Gods (and they who give them worship) can make no righteous choice, since we have beguiled them. As they were questioning and debating in their council the (Personified) worst mind approached them that he might be chosen. (They made their fatal decision) and thereupon they rushed together.............

7. Upon this Aramaiti (the personified piety of the saints) approached, and with her came the sovereign power, the good mind, and the righteous order. And (to the spiritual creations of good and of evil) Aramaiti gave a body, she the abiding and ever strenuous ....

8. And (when the great struggle shall have been fought out which began when the Devas first seized the Demon of wrath as their ally), and when the (just) vengeance shall have come upon these wretched, then, O Mazda ! the kingdom shall have been gained for Thee by (Thy) Good Mind (with in Thy folk) ....

Yasna

हिन्दी भावार्थ– कहा जाता है कि अहुरमज़्दा अहरिमान निरन्तर बारह हजार वर्ष तक संघर्ष करते रहेंगे। बारह हजार वर्ष के बाद अहुरमज़्दा अहरिमान के ऊपर अपना आधिपत्य जमा लेगा। इसलिए जोरोस्टर धर्म को एकेश्वरवाद कहना युक्ति संगत है यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जोरेस्टर धर्म को द्वैतवाद और एकेश्वरवाद का उदाहरण माना जा सकता है।

जिस समय जोरेस्टर धर्म विकसित हो रहा था उस समय अनेक देवी-देवताओं का प्रचलन था ऐसे देवताओं में पृथ्वी, वृक्ष, वायु, सूर्य आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन देवताओं के अतिरिक्त पारसी अपने पूर्वजों की पूजा भी किया करते थे। जोरेस्टर ने अनेकेश्वरवाद का घोर विरोध करते हुए कहा कि विभिन्न देवतागण एक ही देवता अहुरमज़्दा की अनेक अभिव्यक्तियां हैं। इस प्रकार एकेश्वरवाद को प्रस्थापित कर जोरेस्टर ने धर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अंग्रेजी-अनुवाद–

9. I and may we be such as those who bring on this great renovation, and make this world progressive, (till its perfection shall have been reached). (As) the Ahuras of Mazda (even) may we be; (yea, like Thyself), in helful readiness to meet (Thy people), presenting (benefits) in union with the Righteous order.

10. And when perfection shall have been attained) then shall the blow of destruction fall upon the Demon of falsehood.

11. Wherefore, Oye men ! Ye are learning (thus) these religious incitations which Ahura gave in (our) happiness and (our) sorrow. (And ye are also learning) what is the long wounding for the wicked, and the blesings which are in store for the righteous.

Haptanghaiti

हिन्दी भावार्थ– अग्नि की पूजा को जोरेस्टर धर्म में महत्ता दी गई है इसके लिए पुरोहित वर्ग का विकास हुआ। पुरोहितों का कर्त्तव्य अग्नि की देखभाल करना था ताकि उसकी रक्षा व उत्पादन हो सके।

इस जोरेस्टर धर्म में अग्नि को भगवान् का भौतिक रूप मानकर उपासना करने का उपदेश है। इस धर्म के अनुयायी ने मूर्ति पूजक न होकर अग्निपूजक हैं। पूजा करते समय अग्नि या सूर्य को सम्मुख रखा जाता है। अग्नि को परम प्रकाशमान्, सर्वशक्तिमान्, परमपवित्र, परमदयालु, परमउदार परमात्मा का प्रतीक माना गया है। अग्नि प्रकाश, ज्ञान, पवित्रता एवं–

Page 284-285

YASANA-XXXVI

अंग्रेजी-अनुवाद–

1. We would approach you two O (ye) primeval ones in the house of this Thy holy fire, O Ahura Mazda, Thou most bounteous spirit !....................

2. But as the most friendly do Thou give us zeal, O fire of the Lord ! and approach us, and with the loving blessing of the most friendly, ...

3. The Fire of Ahura Mazda art thou verily; yea, the most bounteous one of His spirit wherefore Thine ....

YASANA

हिन्दी भावार्थ– शुद्धता की द्योतक है।

अग्नि तीन प्रकार की मानी गई है –

1. आताश बेहराम– जो कि सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ है।

2. अदेरियन

3. आतशदग्ध

चिरकाल से पारसी लोगों ने पवित्र अग्नि सदा से प्रज्वलित रखी है जिसे ये कभी बुझने नहीं देते। अग्निपूजा सर्वाधिक पवित्र मानी गई है। प्रत्येक घर में अग्नि अहर्निश प्रज्वलित रखी जाती है। यह प्रथा वैदिक धर्म में भी रही है।

अंग्रेजी-अनुवाद–

4. And therefore we would approach Thee, (O Ahura !) with the help of Thy Good Mind .

5. We therefore bow before Thee, and we direct our prayers to Thee with confessions of our guilt, O Ahura Mazda ! with all the good thoughts ....

6. And to Thy most beauteous body do we make our deep acknowledgments, O Ahura Mazda .

Yasna

हिन्दी भावार्थ– हम अहुरमज़्दा की उपासना करते हैं । हम ऐसी आत्माओं

की उपासना करते हैं जैसे अमेशास्पेंता भोहुमन्ह, आशा वशिष्ट स्पेंता जिन्होंने अशुभ के उन्मूलन में अहुरमज़्दा को सहयोग प्रदान किया।

हम अग्नि की पूजा करते हैं, हम पानी की उपासना करते हैं, हम चन्द्रमा की उपासना करते हैं हम फ्रेवान्सिस की उपासना करते हैं जिसको अहुरमज़्दा ने जगत् में भेजा जो स्त्रियों व पुरुषों का रक्षक है। मानव को अशुभ से छुटकारा प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है।

हम स्वर्ग की उपासना करते हैं,

हम पृथ्वी की उपासना करते हैं, हम सभी पेड़ों की उपासना करते हैं। हम अग्नि की पूजा करते हैं क्योंकि वह अहुरमज़्दा का बेटा है हम अच्छे एवं पवित्र जल की उपासना करते हैं क्योंकि वह अहुरमज़्दा ने बनाया है हम सभी पवित्र पेड़ों की उपासना करते हैं क्योंकि वह अहुरमज़्दा ने बनाया है।

Page 255-258

YASNA XVI (Sp. XVII)

अंग्रेजी-अनुवाद–

1. We worship Ahura Mazda, the holy lord of the ritual order, who disposes (all) aright, the greatest yazad, who is also the most beneficent, and the one who causes the settlements to advance, the creator of good creatures;..

2. And we worship Zarathustra Spitama in our sacrifice, the holy lord of the ritual order with these Zaothras and whith faithfully delivered words; ....

3. And we worship the former religions of the world devoted to Righteousness which were instituted at the creation, the holy religions of the creator Ahura Mazda, the respledent and glorious ....

4. Yea, we worship the Creator Ahura Mazda and the fire, Ahura Mazda's son, and the good waters which are mazda – made and holy, and the resplendent sun of the swift horses, and the moon with the seed of cattle (in his beams); and we worship the star Tistrya, the lustrous and glorious; ....

Yasna

हिन्दी भावार्थ– जोरोस्टर ने जीवमात्र में आत्मा के अस्तित्व को माना है, जो मृत्यु के पश्चात् अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगती है। उन्होंने उर्वन अर्थात् आत्मा और फर्वशी अर्थात् एक प्रकार की शक्ति, इन दोनों के बीच विभेद माना है। शरीर द्वारा जो कुछ अच्छे और बुरे कर्म किये जाते हैं उसका उत्तरदायी उर्वन होता है। उसे ही कर्म-फल भुगतना पड़ता है। फर्वशी का उल्लेख अवेस्ता में आता है पर गाथा में नहीं। यह विचित्र अदृश्य शक्ति है जो प्रत्येक जीवधारी में होती है। यही आत्मा को प्रेरणा देती है और अच्छे व बुरे कार्यों के लिये पथप्रदर्शन करती है, परन्तु यह परिणाम की भोक्ता नहीं। उर्वन के साथ यह शरीर में प्रविष्ट होती है और उर्वन के साथ ही अलग भी हो जाती है।

जोरोस्टर मानव में इच्छा-स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मानव-जीवन को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है– सज्जन और दुर्जन। मनुष्य अच्छे व बुरे मार्गों में से एक को चुनता है, यदि अच्छे का चयन करता है तो उसे सुख, शांति और समृद्धि प्राप्त होती है, और यदि बुरे का चयन करता है तो परिणाम में उसे दुःख, हानि और निराशा प्राप्त होती है।

जोरोस्टर ने एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि जिस तरह पशु-पक्षियों एवं प्राणियों में आत्मा है उसी तरह विश्व की भी आत्मा होती है। इस आत्मा को 'गावो' नाम से पुकारा जाता है।

अंग्रेजी-अनुवाद–

5. And its creator Ahura Mazda; and we worship Mithra of the wide pastures, and sraosha (obedience) the blessed, and Rashnu the most just, and the good, heroic, victory Ahura- given (as it is) ....

6. And (its) Creator Ahura Mazda, and the good Mazdayasnian Religion, and the good blessedness and Arstat..........

7. And we worship the glorious works of Righteousness in which the souls of the dead find ....

8. And we worship the two, the milk-offering and the libation, the two which cause the waters to flow forth, and the Plants

to Flourish, the two foes who meet the Dragon demon-made; and who are set to meet. ....

9. And we worship all waters and all plants, and all good men and all good women. ....

10. And we worship thee (our) dwelling – place who art the (earth, our) bounteous Aramaiti, and Thee, O Ahura Mazda. O holy Lord of this abode !................

Vendidad

हिन्दी भावार्थ– जरथुश्त्र अहुरमज्दा से पूछता है कि इस जगत् को बनाने वाले, तू एक पवित्र है। मैं कैसे घर को स्वच्छ कर सकता हूँ? और आगे कैसे स्वच्छ कर पाऊँगा ?

अहुरमज्दा कहता है कि जब वे तीन बार अपने शरीर को साफ करेंगे, जब तीन बार अपने कपड़े साफ करेंगे तब घर स्वच्छ होगा, तब जल घर में प्रवेश करेगा, तब अग्नि घर में प्रवेश करेंगी और तब अमेशा स्पेंटा घर में प्रवेश कर सकता है।

अंग्रेजी-अनुवाद–

2. O maker of the material world, thous Holy one ! How shall I cleanse the house ? How shall it be clean again ?

Ahura Mazda answered : 'They shall wash their bodies three times, they shall wash their clothes three times, they shall chant the Gathas three times; they shall offer up the boundles of baresma, they shall bring libations to the good waters; then the house shall be clean, and then the waters may enter, ...

Vendidad

हिन्दी भावार्थ– जरथुश्त्र अहुरमज़्दा से पूछता है कि ओ अहुरमज़्दा ! सबसे आध्यात्मिक और पवित्र, इस भौतिक जगत् को बनाने वाले, तू एक पवित्र है यह बता कि कैसे यह अग्नि, घर, जल, पृथ्वी, गाय, पेड़, विश्वासी व्यक्ति, विश्वासी महिला, तारे, चाँद, सूर्य आदि को मैं कैसे पवित्र या साफ बना सकता

हूँ।

तब, अहुरमज़्दा जवाब में कहता है कि तू इस जगत् को स्वच्छ कर सकता है। तू घर को स्वच्छ कर सकता है। तू ही अग्नि, जल, पृथ्वी, गाय, पेड़, विश्वासी पुरुष, विश्वासी महिला, तारे, चाँद, सूर्य आदि को स्वच्छ कर सकता है और जितनी भी वस्तुएं मज़्दा ने बनाई है, तू उन सबको स्वच्छ बना सकता है।

PAGE 138-139

FARGARD XI

अंग्रेजी-अनुवाद–

1. Zarathustra asked Ahura Mazda : O Ahura Mazda ! most beneficent spirit. maker of the material world, thou Holy one ! How shall I cleanse the house ? How the Fire ? How the water? How the earth? How the tree? How the faithful man and the faithful woman ? How the stars? How the moon? How all good things, made by Mazda, the offspring ....

2. Ahura Mazda answered : 'Thou shalt chant the cleansing words, and the house shall be clean; clean shall be the fire, clean the water, clean the earth, clean the cow, clean the tree, clean the faithful man and the faithful woman, clean the stars, clean the moon, clean the sun, clean the boundless light, clean all good things, made by Mazda ....

जिन्दा अवेस्ता और वेद– यदि ऐतिहासिक क्रम से देखा जाए तो वेदों के पश्चात् जिन्दा अवेस्ता ही, जो कि पारसियों का वेद माना जाता है, का काल निश्चित होता है। वैदिक भाषा और जन्द् भाषा का सादृश्य विविध रूपों में प्राप्त होता है। संस्कृत और अवेस्ता के व्याकरण सम्बन्धी रूपों की उत्पत्ति एक ही प्रकार से होने का सबसे अधिक सुदृढ़ प्रमाण यह है कि जहाँ व्यत्यय वा किसी नियम के अपवाद है वहाँ भी उनमें अनुकूलता पाई जाती है। उदाहरणार्थ सर्वमान और संज्ञा सम्बन्धी विभक्तियों के भेद दोनों भाषाओं में एक से ही हैं अहमै 'उनके लिए' = संस्कृत अस्मै, कहमै 'किसके लिए' = संस्कृत कस्मै; यशाम 'जिनका' = संस्कृत येषाम्। यही बात हम कुछ विशेष संज्ञाओं की विभक्तियों में भी पाते हैं जैसे जन्द स्पन् संस्कृत श्वन् (कुत्ता) शब्द के रूप देखिये[1] –

विभक्ति	जन्द	संस्कृत
एक वचन प्रथमा	स्पा	श्वा
एक वचन द्वितीया	स्पानम्	श्वानम्
एक वचन चतुर्थी	सुने	शुने
एक वचन षष्ठी	सुनो	शुनः
बहुवचन प्रथमा	स्पानो	श्वानः
बहुवचन षष्ठी	सुनाम्	शुनाम्

ऐसे ही जन्द पथन् संस्कृत पथिन् के रूप—

बहुवचन प्रथमा	पन्ता	पन्थाः
बहुवचन तृतीया	पथा	पथा
वहुवचन प्रथमा	पन्थानो	पन्थानः
बहुवचन द्वितीय	पथो	पथः
बहुवचन षष्ठी	पाथम्	पथाम्

जिन्दावस्ता के विद्वान् अनुवादक पादरी एल. एच. मिल्स का कथन है कि— मैंने भी गाथाओं की भाषा का बहुत-सा भाग वैदिक संस्कृत में परिवर्त्तित किया है वस्तुतः यह एक सार्वभौमिक प्रथा हो गई है कि गाथा और ऋचाओं के मध्य जहाँ तक समानता रहती है वहाँ तक समस्त शब्दों की तुलना वैदिक भाषा से की जाती है।

यूनिज बर्नफ (Eugene Burnof) के ग्रन्थों और वौप्यसाहब के मूल्यवान् लेख से जो उन्होंने अपनी (Comparative Grammar) नामक पुस्तक में दिया है, यह बात स्पष्ट है कि जन्द भाषा अपने व्याकरण और शब्दकोश के विचार से किसी अन्य आर्य Indo-European भाषा की अपेक्षा संस्कृत से अधिक सामीप्य रखती है। जन्द के बहुत से शब्दों में केवल जन्द अक्षर बदल कर उनके स्थान में वैसा ही संस्कृत अक्षर लिख देने से वे विशुद्ध संस्कृत के शब्द बन जाते हैं। जन्द भाषा और संस्कृत में भेद विशेषकर उष्म, अनुनासिक और विसर्ग का है। उदाहरणार्थ संस्कृत 'स' के स्थान में जन्द 'ह' आता है। जहाँ

1. धर्म का आदि-स्रोत (श्री पं० गंगाप्रसाद) पृष्ठ० 73

संस्कृत भाषा आर्य जाति की उत्तरीय भाषाओं अर्थात् यूरोप की भाषाओं से शब्द और व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं में भेद रखती है वहाँ यह ज़न्द भाषा से बहुधा सादृष्टा रखती है। गिनती के शब्द भी दोनों में 100 तक एक से ही हैं। हजार का नाम सहस्र केवल संस्कृत में पया जाता है और जन्द के अतिरिक्त जिसमें वह हजार हो जाता है, अन्य (Indo-European) यूरोपियन किसी बोली में वह नहीं आता।

दोनों भाषाओं के मध्य पाठकों को स्पष्ट और घनिष्ठ सम्बन्ध का बोध कराने के उद्देश्य से यहाँ हम कुछ मुख्य शब्दों की एक सूची देते हैं जिसमें संस्कृत और जन्द भाषा के रूप पास-पास रखे गये हैं और उन छोटे-छोटे परिवर्तनों को भी दिखलाया है जो संस्कृत से जन्द में जाते हुए शब्दों में हो जाते हैं। जिन शब्दों के नीचे रेखा खींची गई है वे विशेष ध्यान देने योग्य हैं। संस्कृत 'स' का जन्द् में 'ह' हो जाता है।

संस्कृत	**जन्द**	**अर्थ**
असुर	अहुर	ईश्वर, प्राण या जीवन दाता

संस्कृत	**जन्द**	**अर्थ**
सेना	हेना	फ़ौज
अस्मि	अहमि	मैं हूँ
सन्ति	हेन्ति	वे हैं
असु	अहु	जीवन, प्राण
सोम	होम	एक औषधि वा बूटी
सप्त	हप्त (फारसी हफ़्त)	सात
मास	माह (फा० माह)	महीना
विवस्वत्	विवंहुत	सूर्य, एक-व्यक्तिवाचक संज्ञा

संस्कृत 'ह' का जन्द में 'ज' हो जाता है–

संस्कृत	**जन्द**	**अर्थ**
हृदय	ज़रदय	दिल
हस्त	जस्त (फा० दस्त)	हाथ
वराह	वराज	सूअर
होता	ज़ोता	यज्ञ में आहुति देने वाला
आहुति	आजुति	आहुति

हिम	ज़िम	वरफ-शील
ह्व	ज्वे	पुकारता
बाहु	बाज़ु	भुजा
अहि	अजि	1. सर्प, 2. पाप, 3. मेघ
मेधा	मज़्दा	बुद्धि, ईश्वर जो सर्वज्ञ है।

संस्कृत 'ज' जन्द के 'ज' से बदल जाता है :–

संस्कृत	जन्द	अर्थ
जन	ज़न	उत्पन्न करना
वज्र	वज्र	इन्द्र का अस्त्र-बिजली
जिह्वा	हिज़्वा (फा० ज़बान)	जीभ
अजा	अज़ा	बकरी
जानु	ज़ानु	घुटना
यज्ञ	यस्नु	पूजा, बली
यजत	यज़त	उपास्य पूज्य देवदत्त

संस्कृत 'श्व' ज़न्द के 'स्प' से बदल जाता है–

संस्कृत	जन्द	अर्थ
विश्व	विस्प	सब
अश्व	अस्प	घोड़ा
श्वन्	स्पन्	कुत्ता

संस्कृत 'श्व' और 'स्व' कभी-कभी जन्द में 'क्' में बदल जाता है–

संस्कृत	जन्द	अर्थ
श्वसुर	कुसुर (फा०खुसर)	सुसुर
स्वप्न	कफ्न	1. सपना
स्वाप	ख्वाब (फा०)	2. सोना, सपना देखना

संस्कृत 'त' जन्द के 'थ' से बदल जाता है–

संस्कृत	जन्द	अर्थ
मित्र	मिथ्रू (फा०मिहिर)	1. मित्र 2. सूर्य्य

		3. ईश्वर
त्रित	त्रिथ	चिकित्सक
त्रतान	थ्रै तान (फा०फरीदून)	चिकित्सक
मन्त्र	मन्थ्र	मन्त्र

संस्कृत के बहुत से शब्द जन्द में बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के चले गये है और कुछ अन्य शब्दों में स्वर आदि थोड़ा सा परिवर्तन हुआ है–

पितर् (पितृ)	पितर (फा० पिदर)	बाप
मातर् (मातृ)	मातर (फा० मादर)	माँ
भ्रातर (भातृ)	ब्रातर (फा० ब्रादर)	भाई
दुहितर	दुग्धर (फा० दुख़्तर)	लड़की
पशु	पशु	जानवर
गो	गाउ (फा० गाव)	गाय
उक्षन	उक्षन	बैल
स्थूर	स्तोर	बछड़ा

संस्कृत	**जन्द**	**अर्थ**
मक्षी	मक्षी (फा० मगस)	1. मक्खी 2. मधुमक्खी
शरद्	सरध (फा० सर्द)	शीतकाल
वात	बाद (फा० बाद)	हवा
अभ्र	अब्र (फा० अब्र)	बादल
यव	यव	जौ
वैद्य	वैध्य	चिकित्सक
ऋत्विज्	रथ्वि	यज्ञ करने वाला
नमस्ते	नमस्ते	मैं तुमको नमता हूँ
मनस्	मनो	मन विचार
यम	यिम	शासक, राजा विशेष का नाम
वरुण	बरेन	देवताओं के नाम
वृत्रहन्	वृथ्रन्ध	

वायु	वायु	
अर्य्यामन्	एर्यमन	
अर्मेति	अर्मेति	1. भक्ति
		2. पृथ्वी
इषु	इशु	बाण
रथ	रथ	रथ
रथस्थ रथेष्ट	रथेस्थ	रथ का सवार
गांधर्व	गाधर्व	
प्रश्न	प्रश्न	सवाल
अथर्वन्	अथर्वन	पुरोहित
गाथा	गाथा, भजन	प्रार्थना पवित्र गीत
इष्टि	इष्टि	पूजने की क्रिया वा यज्ञ
अपांनपात्	अपांनपात	बादलों की बिजली
छन्दः	जन्द	1. पद्यात्मक भाषा
		2. ईश्वरीर ज्ञान

संस्कृत	**जन्द**	**अर्थ**
अवस्था	अवस्ता	जो स्थापित की गई व्यवस्था
इन्द्र		इन्द्र
देव		देव[1]

यदि हम यहाँ जन्दावस्ता के दो एक वचनों को उद्धृत करके उनका संस्कृत भाषा में अनुवादन कर दें तो कदाचित् यह अरुचिकर कार्य न होगा। उससे पाठकगण यह बात ज्ञात कर सकेंगे कि इन दोनों भाषाओं के मध्य कितना थोड़ा अन्तर है।

जन्द	**वैदिक संस्कृत**
विस्प द्वक्ष जनैति	विश्व दुरक्षी ज़िन्वति
जन्द	**वैदिक संस्कृत**
विस्प द्वक्ष नशैति	विश्व दुरक्षो नश्यति
यथा हणोति ऐषाम्वाचम्	यदा श्रृणोति एतां वाचम्

प्रत्येक बुरी आत्मा का नाश हो जाता

है। प्रत्येक बुरी आत्मा भाग जाती है।
जब वह इन शब्दों को सुनता है।
(यसन 31 वचन 8 डॉक्टर हाँग के
ग्रन्थ के पृष्ठ 196 से उद्धृत किया गया)

तद्ध्वा परसा अर्श मई वच अहुर	तत् त्वा प्रष्ठा ऋतम्
कसन ज़ाथा पिता अशह्म पौर्व्यो, कसन	मे वच असुर? को नः
क्वें स्तारांच दाद् अद्वानम्, के या	जनिता पिता
माओ उख्श्यति निरेफस्ति थ्वद्।	ऋतस्य पौर्व्यः
ताचिद् मज़दा बमेसी अन्यय विदुये	को नः कं (स्वः?)
(उशतावेति गाथा यसन मन्त्र 44 जो 3 जो	तारश्चि
जो हांग के ग्रन्थ कें 144 पृष्ठ पर उद्धृत है)	दाद अध्वानम् को माँस
	उक्ष्यति निरपस्यति त्वत्।
हे अहुर, मैं तुझे पूछता हूँ मुझे सत्य बता कि	ताहक् मेधा वशिम
किस पैदा करने वाले, सत्यनिष्ठा के जनक ने	अन्यच्च वित्तवे।

सूर्य और नक्षत्रों को मार्ग दिया। तेरे अतिरिक्त
ऐसा कौन है जो चन्द्रमा को बढ़ाता और घटाता है।
हे मजदा ! मैं ऐसी और बातों को भी जानना चाहता हूँ।[1]

---

1. 'अवस्ता' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में डॉक्टर हाँग लिखते है, सबसे उत्तम व्युत्पत्ति वही है कि यह शब्द 'अव + स्था' से (जिसका अर्थ 'स्थापित किया गया' या 'मूल' है) निकला है जैसे कि जे. मूलर (J. Muller) साहब ने 1839 ई० में प्रस्ताव किया था।
इससे भी अधिक सन्तोषजनक अर्थ उपलब्ध हो सकते हैं यदि 'अवस्था' को अ +विस्ता से निकाला जाय (जो विद् जाने धातु का 'क्त' प्रत्यायान्त रूप है) ऐसी व्युत्पत्ति करने से उसके अर्थ "जो कुछ जाना गया" या "ज्ञान" के होंगे जैसे कि वेद शब्द के अर्थ है जो ब्राह्मण की पवित्र पुस्तक है।' (Haug p11)
इससे पिछले निर्वचन में हमको कुछ खेंचातानी ज्ञात होती है। हमारे विचार विद ज्ञाने धातु से जिससे वेद शब्द निकला है अवस्ता शब्द निकालने का वृथा प्रयत्न किया गया है। हम प्रो. मैक्समूलर साहब से सहमत हैं और मानते हैं कि 'अवस्ता संस्कृत 'अवस्था' शब्द का दूसरा रूप है क्योंकि संस्कृत स्था जन्द से स्ता रूप ही जाता है। संस्कृत शब्द 'अवस्था' अब तक 'स्थापित और स्थिरता के अर्थों में आता है। यद्यपि उनका प्रयोग "स्थापित नियम अथवा आदेश" के अर्थ में नहीं होता, तथापि हम 'व्यवस्था' शब्द को (जो 'अवस्था' ही का रूपान्तर है केवल 'वि' उपसर्ग उससे पूर्व अ लगा है। इस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।

जिन्दा अवेस्ता और वैदिक धर्म के अनुयायिओं का समान नाम—"आर्य"

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि जो लोग आज हिन्दू कहलाते हैं उनके पुरखा प्राचीन समय में आर्य नाम से पुकारे जाते थे। परन्तु यह सब बात अधिक प्रसिद्ध नहीं है कि प्राचीन समय के पारसी लोग भी अपने को आर्य कहते थे।

आर्य शब्द जन्दावस्ता में अनेक स्थलों पर आया है : कुछ प्रमाण हम उद्धृत करते हैं –

"आर्यों की प्रतिष्ठा में" (सिरोजह I,9)[2]

"आर्यों की प्रतिष्ठा में जिन्हें मजदा ने बताया" (सिरोजह I,25)[3]

"हम आर्यों की प्रतिष्ठा के सन्मानार्थ हवन करते हैं जिन्हें मज़दा ने बनाया" (सिरोजह II,9)[4]

"आर्यों में का आर्य, तीव्र बाण चलाने वाला"[5]

"आर्यों के देश किस प्रकार उर्वरा शक्ति प्राप्त करेंगे"?

"आर्य जाति उस पर भेंट चढ़ावे"[6]

"गोचरों के स्वामी मिथ्र की प्रतिष्ठा और प्रभुता के उपलक्ष्य में ऐसी हवि चढ़ाऊँगा जो अवश्य ही स्वीकार की जावेगी। विस्तृत गोचरों के स्वामी को जो आर्य जाति के निमित्त आनन्दायक सुन्दर निवास स्थान प्रदान करता है हम हवि चढ़ाते हैं।"[7]

"अहुरमज़दा ने कहा यदि लोग वृत्रहत को भेंट चढ़ायेंगे जिसे अहुर ने बनाया है तो आर्यों के देशों में किस शत्रु की सेना का प्रवेश न हो सकेगा, न कुष्ठा, न विषैले वृक्ष, न किसी शत्रु का रथ और न बैरी का उठा हुआ भाला स्थान पा सकेगा।"[8]

---

1. वे दोनों शब्द जन्द में बुरे अर्थों में प्रयुक्त होने लगे हैं। 'देव' के अर्थ 'बुरी आत्मा' और 'इन्द्र' के अर्थ 'बुरी आत्माओं का राजा' हो गये हैं। (इन्द्रसभा आदि नाटक देखने वा पढ़ने वालों ने इन्द्र की सभा में लाल देव और काले देव देखे होंगे) पाठक आश्चर्यपूर्वक स्मरण करेंगे कि इसी प्रकार 'असुर' शब्द का लैकिक संस्कृत में बिगड़ा हो गया है। इन तीनों शब्दों के अर्थ भ्रंश होने से कुछ पाश्चात्य विद्वान यह परिणाम निकालते है कि सम्भवतः किसी समय में भारतवासी और ज़रदुश्तियों के मध्य मतभेद हो गया, परन्तु प्रो. डारमेस्टेटर इस धार्मिक फूट को स्वीकार नहीं करते।
2. Ibid. P. 11.
3. Ibid. P.15.
4. Ibid. P. 95.
5. Ibid. P.15.
6. (10 यश्त 4) Ibid, P. 110
7. Zend Avesta. Part, II, P. 244
8. Ibid. P. 283.

अस्तद यश्त का 18 वाँ अध्याय केवल आर्यों की वीरता से भरा हुआ है।

"अहुरमज़दा ने स्पितामा जरदुश्त से कहा मैंने आर्यों को भोजन, पशु समूह धन, प्रतिष्ठा, ज्ञान भण्डार और द्रव्य राशि से सम्पन्न किया है जिससे वे आवश्यकताओं की पूर्ति और शत्रुओं का सामना कर सकें।'

समाज का चतुर्विध विभाग– इस बात को स्वीकार करने में अब समस्त विद्वान् सहमत हैं कि जिस जन्मपरक जातिभेद से वर्तमान हिन्दूसमाज ने भयानक रूप धारण कर रखा है तथा जिसके कारण हिन्दुओं का इतना अधिक अधः पतन और ह्रास हो चुका है वह वैदिक काल में प्रचलित न था और न वेद उसकी आज्ञा ही देते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में मनुष्य समाज का वैदिक विधि से विभाग सर्वथा भिन्न वस्तु थी। उसका बिगड़ा हुआ रूप प्रचलित जाति भेद है।

इस विषय में अधिक जानने के लिए ग्रन्थकार का लिखा "जाति-भेद" नामक पुस्तक पढ़ना चाहिए। संक्षेपतः प्राचीन वर्ण व्यवस्था वर्तमान जाति-भेद से दो मुख्य बातों में भेद रखती है–

1. वह मनुष्यमात्र को 4 समुदायों में विभक्त करती है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्णविभाग इससे आगे नहीं बढ़ता। वेद और वैदिक साहित्य की अन्य पुस्तकों में उन असंख्य उपजातियों का बिल्कुल विधान न था जो अब प्रत्येक प्रधान जाति में पाया जाता है। इसने समाज के अगणित टुकड़े कर डाले, जिसके कारण आपस का स्वतन्त्र व्यवहार कठिन हो गया है।

2. यह वर्ण व्यवस्था जन्म से नहीं मानी जाती थी, प्रत्युत यह योग्यता के ठीक और न्यायसंगत सिद्धान्त पर अवलम्बित थी। या यों कहिये कि यदि कोई मनुष्य ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त कर लेता था, अर्थात् विद्या, सत्यनिष्ठा और सदाचारपूर्वक पुरोहित, अध्यापक और धार्मिक पथप्रदर्शक का कार्य करता था, वह शूद्र कुल में पैदा होने पर भी ब्राह्मण माना जाता था। यदि वह "सैनिक कर्म" को पसन्द करता था तो क्षत्रिय होता था, उसके कुल का तनिक भी विचार नहीं किया जाता था और यदि वह व्यापार, वाणिज्य, कृषि या शिल्पकला में जो पहले द्विजन्मों के लिये अनुचित न समझे जाते थे, व्युत्पन्न होता था तो वैश्य कहलाता था। जो इनमें से किसी वर्ण के आवश्यकीय गुणों से अलंकृत न होता था और केवल सेवा कर सकता था वह शूद्र कहलाता था। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था उन सब दोषों से रहित थी जो वर्तमान जाति-भेद में पाये जाते हैं

और जिनके कारण यह भेद जैसा सर हेनरी मेन साहब ने लिखा है "सब मानुषी प्रथाओं में सबसे अधिक हानिकर और नाश करने वाला" हो गया है। वह किसी मनुष्य को आजन्म नीच कर्म करने की इसलिये व्यवस्था न देता था कि उसका जन्म दैव योग से शूद्र कुल में हुआ है किसी मनुष्य को समाज में प्रतिष्ठा और उन्नति केवल इसलिये न मिलती थी कि उसने ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया है। वर्णव्यवस्था व्यक्तिगत योग्यता और उत्कृष्टता के सिद्धान्तों पर मनुष्य समाज का वर्ण विभाग करती थी और यह सब कुछ कार्य विभाग (Division of Labour) एवं सहकारिता (Co-operation) की शिक्षा के आधार पर था, जो सब प्रकार की सभ्यता की उन्नति और उत्पत्ति का कारण स्वरूप है। जो वेद-मंत्र पौराणिक हिन्दूओं के विचार में जाति-भेद का विधान करता है वह वस्तुतः मानव शरीर की उपमा देकर उन कार्यों का वर्णन करता है जिसको चारों वर्ण करते हैं। हम उस मन्त्र को नीचे उद्धृत करते हैं–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याँशूद्रो अजायत।। अथर्व। 9/6/6

"ब्राह्मण उसके (मनुष्य जाति के) मस्तक हैं। क्षत्रिय उसकी भुजा हैं, जो वैश्य हैं वे उसके जंघा हैं और शूद्र उसके पाँव हैं।"

मनुष्य समाज की यही चतुरंग वर्णव्यवस्था जन्दावस्था में भी पाई जाती है। डॉक्टर हाँग लिखते हैं– "इरानियों की (जो हिन्दुस्तानियों से इतनी घनिष्ठता रखते हैं) धार्मिक पुस्तक जन्दावस्ता स्पष्टता वर्णों का उल्लेख है, केवल नामों का भेद है 1- अथवा "पुरोहित" (संस्कृत अथर्वण) 2- रचेस्तो "योद्धा" 3- वास्त्रियोफ्श्या "कृषिकार" 4- हुइती (पहलवीहुइतोख्श) कारीगर (मजदूर)- (यसन 19-17 Werterj)"

प्रो० डारमेस्टेटर जिन्दावस्था के अनुवाद में लिखते हैं– हम उसमें (अर्थात् दिनकिर्त में) चार वर्णो का वर्णन पाते हैं जो आचार्य के साथ हमें उस वर्णन का स्मरण दिलाता है जो ब्राह्मणों की पुस्तकों में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में है और जो निःसन्देह भारतवर्ष से लिया गया है।' हम ज़िन्दावस्ता के प्रश्नोत्तरों से एक प्रमाण उद्धृत करते हैं–

प्रश्न– मनुष्य की किन कक्षाओं की ओर शासक ध्यान दें?

उत्तर– "पुरोहित, रथारोहित (योद्धाओं का मुखिया), विधिपूर्वक भूमि जोतने वाला और शिल्पकार, जीवन की वे अवस्था और कक्षाएँ हैं जो शासकों के ध्यान देने योग्य हैं। ये धार्मिक नियमों की पूर्ति करती हैं जिनके द्वारा समाज की

सच्चाई के क्षेत्र में वृद्धि होती है।"

पारसी धर्म की अर्वाचीन पुस्तकों में भी इन चार वर्णों का वर्णन है। यद्यपि उनके नामों में पीछे परिवर्तन हो गया है उदाहरणार्थ नामा मिहाबाद में लिखा है– हे आबाद ! ईश्वर की इच्छा आबादियों के धर्म के विरुद्ध नहीं है। निम्नलिखित चार वर्णों में से जो कोई इस मार्ग पर चलेगा वह स्वर्ग पावेगा –होरिस्तान, नूरिस्तान्, सोरिस्तान, रोजिस्तारान। पारसियों का सबसे पिछला धर्म-ग्रन्थ लेखक समान पंचम उपर्युक्त कथन पर इस प्रकार टीका करता है–

होरिस्तान को पहलवी में रथोर्नान कहते हैं कि वे पुरोहित हैं और इसलिये बनाये गये हैं कि धर्म की रक्षा करें, उसकी उन्नति और अन्वेषण करें और राज्य प्रबन्ध में सहायता दें।

नुरिस्तान को पहलवी में रथेस्तारान् कहते हैं। वे राजा और योद्धा है और ऐसी योग्यता रखते हैं कि उन्हें मुखिया, सरदार, शासक तथा देश का प्रबन्धकर्ता नियुक्त किया जावे।

पोरिस्तारान को पहलवी में वास्तरयोशान् कहते हैं। वे सब प्रकार की सेवा करते हैं।

रोज़िस्तारान को पहलवी में होथथायन् कहते हैं। वे सब प्रकार के उद्यम और कृषि कार्य करते हैं। इन समुदायों के अतिरिक्त तुझे और कोई मनुष्य जाति न मिलेगी (अर्थात् इन चार वर्णों के समस्त मनुष्य जाति आ जाती है।)

आर्यों की चारों वर्णों की व्यवस्था से अभिज्ञ ऐसा कौन पुरुष हो सकता है जो पारसी ग्रन्थों में लिखित उपर्युक्त वर्ण-विभाग की उत्पत्ति वेदों से न माने।

इसी सम्बन्ध में यह कथन करना भी मनोरंजक होगा कि वैदिक धर्म के अनुयायी द्विजों (अर्थात् पूर्व के तीन वर्णों) की भाँति पारसियों के लिये भी यज्ञोपवीत धारण करने का विधान किया गया है, जिसे वे 'कुश्ती' कहते हैं। हम वेन्दिदाद से निम्नलिखित प्रमाण देते हैं–

''जरदुश्त्र ने अहुरमज़दा से पूछा– हे अहुरमज़दा ! किस अपराध के कारण अपराधी मृत्यु-दण्ड पाने के योग्य होता है? अहुरमज़दा ने कहा– बुरे मत वा धर्म की शिक्षा देने से हे स्पितामा ज़रदुश्त्र ! जो कोई तीन वसन्त ऋतुओं तक पवित्र सूत्र (कुश्ती) नहीं धारण करता, गाथाओं का पाठ नहीं करता, पवित्र जल की प्रतिष्ठा नहीं करता इत्यादि।

पारसियों की किश्ती सातवें वर्ष में होती है। वैदिक धर्म में यज्ञोपवीत का समय आठवें वर्ष से आरम्भ होता है।

ज़िन्दा अवेस्ता एवं वेद में ईश्वर का स्वरूप–

ईश्वर के सम्बन्ध में वैदिक और जरदुश्ती शिक्षाओं में समानता दिखाने के पूर्व उन भ्रमों को दूर कर देना आवश्यकीय समझते हैं जो अब तक वेदोक्त ईश्वर के सम्बन्ध में फैल रहे हैं।

वेदों पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि वे बहुदेवोपासना, तत्त्व पूजा और प्रकृति-पूजा आदि की शिक्षा देते हैं। यह दोषारोपण सर्वथा न्याय विरुद्ध है। इस भूल का कारण अग्नि, इंद्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक शब्दों के दो भिन्न अर्थों का मिश्रित करना है। वैदिक निर्वचन का यह प्राचीन और सुनिश्चित सिद्धान्त है, जिसका महत्त्व जितना ही अधिक समझा जाय उतना ही अच्छा है कि वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ लिये जाने चाहिये। इस प्रकार वेदों में जो शब्द व्यवहृत हुए हैं उनके दो अर्थ होते हैं और कभी-कभी दो से भी अधिक उदाहरणार्थ 'इंद्र' शब्द जो इदि ऐश्वर्ये धातु से निकला है कम से कम तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। कभी उसके अर्थ सूर्य के होते हैं क्योंकि उसका प्रकाश ऐश्वर्य व तेजयुक्त होता है, कभी उसके अर्थ राजा के होते हैं जिसके अधिकार में सांसारिक ऐश्वर्य होता है और कभी-कभी उसके अर्थ ईश्वर के होते हैं जिसका अनुपम ऐश्वर्य है। स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में इस विषय की पूर्ण व्यवस्था की गई है। उसमें ग्रन्थकार ने ऐसे बहुत से शब्दों के यौगिक अर्थ देकर भली-भाँति सिद्ध किया है कि जब वे शब्द उपासना के विषय से प्रयुक्त होते हैं तो उन सबसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ही बोध होता है। इन शब्दों में से कुछेक को उनके अर्थों सहित नीचे उद्धृत करते हैं–

(1) इन्द्र, (इदि, ऐश्वर्य धातु से)
= (1) सूर्य, (2) राजा, (3) परमेश्वर

(2) मित्र, (मिद, स्नेहने धातु)
= (1) सूर्य, (2) सखा, (3) सबका मित्र परमेश्वर।

(3) वरुण, (वृ-वरणे' ईर्ष्यायाम् धातु से)
= (1) आकाश, (2) परमेश्वर जो महान् और सर्वोत्तम है।

(4) अग्नि, (अंचु गतिपूजनयोः धातु से)
= (1) अग्नि या उष्णता जो शीघ्रतापूर्वक गमन करती है, (2) सर्वव्यापक और उपासनीय परमेश्वर।

(5) वायु, (वा-गतिर्गंधनयोः धातु से)
= (1) हवा, (2) परमेश्वर जो सबसे अधिक बलवान् है।

(6) चन्द्र, (चदि, आह्लादे धातु से)
= (1) ऐन्द्रमा जिसे देख आनन्दित होते हैं,
(2) सर्वमुखों का दाता परमेश्वर।
(7) यम, (यम उपरमे धातु से)
= (1) राजा, (2) सबका शासक।
(8) काल, (कल संख्याने धातु से)
= (1) समय, (2) परमेश्वर जो सबकी गणना करता है।
(9) यज्ञ, (यज्ञ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु धातु से)
= (1) उपासना या आहुति देने की प्रक्रिया,
(2) परमेश्वर जो पूजा के योग्य है।
(10) रुद्र, (रुदिर अश्रुविमोचने धातु से)
= (1) राजा जो दुष्टों का दमन करता है,
(2) ईश्वर जो दुष्टों को दंड देता है।

और भी शब्द हैं जो वेदों में साधारणतया ईश्वर के लिये प्रयुक्त होते हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् अपने हृदयों पर पुराणों की कथा, वर्तमान समय के हिन्दुओं के मिथ्या भ्रम और मूर्ति पूजा का कुप्रभाव पड़ने के कारण बहुधा उन्हें विविध देवताओं के अर्थ में लेते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रसिद्ध शब्द इसी प्रकार के हैं। जो हिन्दुओं के देवालय में तीन प्रधान देवताओं के लिये आते हैं। सुविज्ञ पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे विचार वेदों से सर्वथा बाहर हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती उपर्युक्त नामों की निम्न प्रकार व्युत्पत्ति और व्याख्या करते हैं–

ब्रह्मा– (बृहि वृद्धौ धातु से) परमात्मा जो बड़ा है।

विष्णु– विष्–(विष्लृ व्याप्तौ धातु से) ईश्वर जो समस्त वस्तुओं में व्यापक है।

शिव– (शिव कल्याणे धातु से) ईश्वर जो सब भलाइयों का कारण है।

शंकर– का शब्दार्थ 'वह जो कल्याण करता है।'

महादेव– का शब्दार्थ 'वेदों में बड़ा' है।

गणेश– का शब्दार्थ 'गणों का स्वामी' है।

ये समस्त शब्द एक ईश्वर का ही बोध कराते हैं। इस बात की पुष्टि देवों की आन्तरिक साक्षी होती है। हम यहाँ ऋग्वेद का मन्त्र उद्धृत करते हैं–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः

स सुपर्णो गुरुत्मान। एकं सद् विप्राः
बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानाहुः।।

ऋ०वे०मं०1 सू० 164 मन्त्र 46।।

उस एक अविनाशी ब्रह्म को जो दिव्य स्वरूप, उत्तम गुणों से युक्त परमात्मा है विद्वान् लोग बहुत से नामों से पुकारते हैं, जैसे इन्द्र (ऐश्वर्य युक्त), मित्र (सबका सखा), वरुण (सर्वोत्तम) अग्नि (सबका उपास्य), यम (सबका राजा), मातरिश्वा (सबसे बलवान्) उसी वेद के स्थान में हम पाते हैं–

सुपर्ण विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

ऋ०वे०मं०10 सू०113 मन्त्र 5।।

विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुष अनेक गुण-युक्त एक परमेश्वर की सत्ता को अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में फिर हम पढ़ते हैं–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।

यजुर्वेद अध्याय 32 मन्त्र 1।

वह अग्नि (उपसनीय) है, वह आदित्य (नाशरहित) है, वह वायु (अनन्त बल युक्त) है, वह चन्द्रमा (हर्ष का देने वाला) है, वह प्रजापति (सब प्राणियों का स्वामी है।)

उपर्युक्त विचार की पुष्टि नीचे लिखी बाह्य साक्षी में भी होती है– कैवल्योपनिषद् में लिखा है–

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः सोऽक्षरः स परमः स्वराट्।
स इन्द्र स कालाग्निः स चन्द्रमाः।।

कैवल्योपनिषद्

वह ब्रह्मा (महान्) है, वह विष्णु (सर्वव्यापक) है, वह रुद्र (दण्ड देने वाला) है, वह शिव (सब आनन्द और भलाइयों का मूल) है, वह अक्षर (अविनाशी) है, वह सबसे अधिक उच्च और सबसे अधिक दीप्तिमान् है, वह रुद्र (ऐश्वर्यवान्) है, वह कालाग्नि (पूजनीय और सबकी गणना करने वाला) है, वह चन्द्रमा (आनन्द का देने वाला) है।

मनुस्मृति में लिखा है–

प्रशासितारं सर्वेषामणीयां समणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्।।
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।

इन्द्रमेकेऽपरे प्राणामपरे ब्रह्म शाश्वतम्।।

मनु० 12-122-23

मनुष्य को चाहिये कि परमेश्वर को जाने, जो सबका शासक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, प्रकाशयुक्त और ध्यान द्वारा जानने योग्य है। कोई उसे अग्नि (पूजा के योग्य), कोई मनु (मनस्वी), कोई प्रजापति (सब प्रजा का स्वामी) कहता है, कोई उसे इन्द्र (ऐश्वर्यवान्) कोई प्राण (जीवन मूल) और कोई उसे सनातन ब्रह्म कहता है।

इस विषय में भ्रम फैलाने का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण कारण 'देव' या उससे निकले हुए देवता शब्द का अशुद्ध अर्थ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'देव' शब्द के शुद्ध अर्थ और विद्वतापूर्ण व्याख्या करके सर्व साधारण को हलचल में डालने से पूर्व, जबकि यूरोप में संस्कृत के विद्वानों का यह ढंग था कि वे देवता शब्द का अर्थ सदैव "ईश्वर" किया करते थे, वेदों में बहुत सी वस्तुओं को देव या देवता के नाम से विशेषित किया है। इसलिये यह सहज ही में कल्पना कर ली गई कि वेद अनेक ईश्वरों में विश्वास रखने की शिक्षा देते हैं। समस्त संस्कृत साहित्य में अन्य किसी एक शब्द के अनुवाद ने इस सनातन और महान् धर्म के किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर इतना भ्रम नहीं फैलाया जितना कि उपर्युक्त शब्द के अनुवाद ने।

देव शब्द दिव प्रकाशने[1] धातु से निकला है अतएव उसका अक्षरार्थ चमकीली या प्रकाशयुक्त वस्तु है और इसी कारण उसका गौरव व रूढ़ि अर्थ वह वस्तु है जो दिव्य गुण रखती है। इसलिये सूर्य, चन्द्र और सृष्टि की अन्य शक्तियों अर्थात् अग्नि, वायु आदि के लिये देवता शब्द का प्रयोग किया गया है। हम यजुर्वेद में पढ़ते है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

यजु० 14-20।।

---

1. दिव धातु के अति साधारण अर्थ चमकने के हैं परन्तु उसका प्रयोग 20 भिन्न अर्थों में होता है। व्याकरण के आचार्य पाणिनि जी कहते हैं—
"दिव क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वरूप कान्ति गतिषु", क्रीड़ा, विजय-कामना, व्यवहार, घृति स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति प्राप्त के अर्थों में दिव धातु व्यवहृत होता है।

इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखों ने समस्त विचारों की काया पलट दी है। प्रो० मैक्समूलर अपने एक सबसे पिछले ग्रन्थ में अर्थात् India : What can it teach us? में जिसमें स्वमी दयानन्द के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलक रहा है, स्वीकार करते हैं –"कोष हमें बतलाते हैं कि देव के अर्थ ईश्वर और देवताओं के हैं निस्संदेह ऐसा है भी, परन्तु यदि हम वेदों के मंत्रों से देव शब्द का उल्था-सदैव (God) परमेश्वर करे तो भाषान्तर न होकर वैदिक कवि के विचारों का रूपांतर करना होगा। प्रारम्भ में देव के अर्थ 'प्रकाशयुक्त' के थे। अतएव वह निरन्तर आकाश, नक्षत्र, सूर्य, उषा, दिन, वसन्त ऋतु, नदी और पृथ्वी के लिये प्रयुक्त होता था और जब कोई कवि सब वस्तुओं को एक शब्द में जिसे हम सामान्य संज्ञा कहते हैं, वर्णन करना चाहता था तो वह उन सबको देव कहता था।[1]

वे फिर लिखते हैं– "हमें कभी नहीं भूलना चाहिये कि प्राचीन धार्मिक गाथाओं में जिन्हें हम देवता कहते हैं, वे वास्तविक और जीवित व्यक्ति न थे जिनके विषय में हम कह सकते हैं कि वे ऐसे या वैसे थे। देव जिसका अनुवाद कि हमने 'ईश्वर' किया है केवल गुण वाचक संज्ञा है। वह ऐसे गुणों को प्रकट करता है जो अन्तिरिक्ष और पृथ्वी में, सूर्य और नक्षत्रों में, उषा और समुद्र में समान है अर्थात् प्रकाश।"[2]

इसलिये हम प्राचीन ऋषियों को केवल इस कारण कि वे ऊपर लिखे भौतिक पदार्थों को देवता के नाम से विशेषित करते हैं बहु ईश्वरवादी अथवा प्रकृतिपूजक नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा कहें तो उस मनुष्य को भी ऐसा ही कहना होगा जो सूर्य और चन्द्रमा को प्रकाशयुक्त कहता है अथवा प्रकाशयुक्त आकाश या चमकती हुई विजय आदि का वर्णन करता है।

यास्कमुनि जिनकी प्रमाणिकता वेद विषय पर सबसे अधिक मानी जाती है और जो वैदिक कोष (निघण्टु) और वैदिक निर्वचन शास्त्र (निरुक्त) के सुप्रसिद्ध कर्त्ता हुए हैं, देव शब्द की व्याख्या और भी अधिक विस्तृत अर्थों में करते हैं।

वह देव शब्द की इस प्रकार निरुक्ति करते हैं–

देवो दानाद्वा द्वीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो वा भवति।

निरुक्त 6/15।

---

1. India : What can it teach us? page 218.
2. Ibid p-.160.

जो हमें किसी प्रकार का लाभ पहुँचाता है, जो वस्तुओं को प्रकाशित कर सकता है या उन पर प्रकाश डाल सकता है और जो प्रकाश का मूल स्रोत (वा स्थान) है वह 'देव' है।

अतएव देव शब्द वस्तुओं के लिये प्रयुक्त होता है। हम यहाँ उसके कुछ विशेष अर्थों का उल्लेख करते हैं–

(1) वह माता पिता के लिये व्यवहृत होता है, क्योंकि वे हमको असीम लाभ पहुँचाते है। तैत्तिरीयोपनिषद् में माता, पिता, आचार्य देव कहे गये हैं–

मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्य्य देवो भव।

तै०उ०अनु० 11

(2) वह विद्वान् पुरुषों के लिये भी आता है क्योंकि अनेक आत्मा प्रकाशयुक्त होते हैं और वे अनेक बातों पर प्रकाश डालते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है "विद्वान् सो हि देवाः"– विद्वान् पुरुष देवता है।

(3) उसका इन्द्रियों के लिये भी प्रयोग किया जाता है, क्योंकि उनके द्वारा भौतिक (दृश्यमान्) जगत् का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद में लिखा है–

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।

यजु०अ० 40 मं० 4

परमेश्वर एक है वह गतिशील नहीं तथापि उसकी गति मन से भी अधिक है। यद्यपि यह पूर्व से ही इन्द्रियों में है तथापि इन्द्रियाँ (देव) उस तक नहीं पहुँच सकतीं। फिर मुण्डकोपनिषद् में (2/8) पढ़ते हैं–

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

परमेश्वर नेत्र या वाणी अथवा अन्य इन्द्रियों (देवों) के द्वारा नहीं जाना जाता है न तप वा कर्मों से प्राप्त होता है प्रत्युत जो मनुष्य विशुद्ध भाव से उसका ध्यान करता है वह ज्ञान की शान्त ज्योति से उसका दर्शन करता है।

(4) हमारे पाठकों में से बहुत से इस बात को जानते होंगे कि प्रत्येक वैदिक मंत्र का देवता होता है। यूरोपीय संस्कृत विद्वान् इससे उस देवता विशेष का अर्थ लेते हैं जिस मंत्र में सम्बोधन किया गया है। विविध मन्त्रों के विविध देवता होने के कारण यह कल्पना कर ली गई है कि वैदिक ऋषि बहुत से देवताओं को पूजने और सम्बोधन करने वाले थे परन्तु यह बहुत बड़ी भूल है यास्कमुनि कहते हैं–

अथातो दैवतं। तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां

तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति।।

निरुक्त 7/1

इसका यह भावार्थ है कि मंत्र के देवता से उस विषय का ग्रहण करना चाहिये जिसकी उसमें व्याख्या की गई है। "India : What can it teach us?" नामक पुस्तक में जिससे हम पूर्व भी उदाहरण दे चुके हैं प्रो० मैक्समूलर स्वीकार करते हैं कि– ''यदि हम उन वस्तुओं को जिनका वर्णन वैदिक मंत्रों में किया गया है देव या देवी कहते हैं तो हमें एक प्राचीन हिन्दू धर्मवेत्ता (प्रकट रूप से उनका अभिप्राय यास्कमुनि से है) की बात स्मरण रखनी चाहिये कि मंत्र के देवता से निर्वाचित विषय के अतिरिक्त और कुछ अभिप्राय नहीं है।''[1]

देव शब्द परमेश्वर के लिये भी आता है, जो सब वस्तुओं का प्रकाशक, समस्त प्रकाश और ज्ञान का मूल स्रोत और उन सब वस्तुओं का प्रदाता है, जिनका हम संसार में उपभोग करते हैं, परन्तु उसका अर्थ सदैव ईश्वर ही नहीं होता। वस्तुतः जैसा कि प्रोफेसर मैक्समूलर मानते हैं देव शब्द वस्तु वाचक नहीं प्रत्युत गुणवाचक है। अतएव इसका प्रयोग उन समस्त वस्तुओं के लिये हो सकता है जिसमें उसके निर्वाचित गुण पाये जाते हैं जैसे प्रकाश, लाभ पहुँचना, चमकना अथवा किसी वस्तु पर प्रकाश डालना आदि।

अब पाठकगण देख सकेंगे कि यदि पुराने आर्य लोग सूर्य, चन्द्र, आकाश, समुद्र, पृथ्वी, अन्तरिक्ष को देवता कहते थे तो इससे यह समझना चाहिए कि वे उन्हें ईश्वर मानते थे अथवा उनकी पूजा करते थे। ये सब तथा बहुत सी और वस्तुएँ ईश्वर के समान देवता के अर्थों के अन्तर्गत आ जाती हैं, परन्तु इन सब में से केवल एक ईश्वर ही पूजने के योग्य है। यजुर्वेद स्पष्ट रीति से कहता है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

यजुर्वेद 31/18

हम उस परमात्मा को जाने जो पूर्ण प्रकाश स्वरूप और अन्धकार से परे है। केवल उसी का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।

---

1. India : What can it teach us? P. 147.

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट और जोरदार शब्दों में बतलाया गया है–

योऽन्यां देवतामुपासते न स वेद यथा पशुरेव स देवाम्।

शतपथ कां 14 अ० 4

जो किसी दूसरे देवता की पूजा करता है वह नहीं जानता, वह विद्वानों के मध्य पशुवत् है।

हम यहाँ ऋग्वेद से कुछ मंत्र उद्धृत करते है जिनसे प्रकट होगा कि वेद में कितनी स्पष्ट और युक्तिसंगत रीति से विशुद्ध और पूर्ण ईश्वरवाद की शिक्षा दी गई है–

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। 1

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यछायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।2।।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।3।।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।4।।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।5।।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेता मनसा रेजमाने।
यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय, हविषा विधेम।।6।।

आपो ह यद् वृहतीविश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवा हविषा विधेम।।7।।

यश्चिदापो महिनापर्य पश्यद् दक्षं दधानाः जनयन्तीर्यज्ञम्।
ततो देवानामधिदेव एक आसीत कस्मै देवाय हविषा विधेम्।।8।।

मानोहिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवम् सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम।।9।।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयोरयीणाम्।।10।।

ऋ० वे० मं०10 सू० 12 म० 1-10।।

आरम्भ काल में ईश्वर था जो प्रकाश का मूल है। अखिल विश्व का वही एक स्वामी था। उसी ने पृथ्वी और आकाश को स्थिर कर रखा था। वही है जिसकी हमें प्रार्थना करनी चाहिये।

जो आत्मिक ज्ञान और बल का देने वाला है संसार जिसकी पूजा करता है, जिसकी आज्ञा का पालन सब विद्वान् लोग करते हैं, जिसकी शरण (छाया) अमरत्व है, जिसकी छाया से दूर रहना मृत्यु है उसी देव की हम उपासना करें।

जो अपनी महत्ता के कारण इस चराचर जगत् का एकमात्र राजा है, जो दुपाये और चौपायों का उत्पादक और स्वामी है उसी देव की हम उपासना करें।

हिमवान् पर्वत और जल से भरे समुद्र जिसके महत्त्व की घोषणा करते हैं, ये दिशाएँ जिसकी भुजा हैं, उसी देव की उपासना करें।

जिसने इतने बड़े आकाश को धारण किया हुआ है और पृथ्वी को अचल कर रखा है, जिसके द्वारा स्वर्ग और मोक्ष स्थित है, जो समस्त अन्तरिक्ष में अपने आत्मबल से व्याप्त है, उसी देव कि हम उपासना करें।

जिसकी ओर पृथ्वी और अन्तरिक्ष देखते हैं, क्योंकि वे उसी की रक्षा में स्थित और उसी की इच्छा से परिचित होते हैं जिसमें सूर्य उदय होता और चमकता है उसी देव की हम उपासना करें। जिस समय इस विस्तृत प्रकृति वा उपादान कारण ने जो अग्नि की दशा में था तथा जो विश्व को अपने गर्भ में धारण किये था– अपने आपको प्रगट किया उस समय वही समस्त प्रकाशवान् पदार्थों (देवों) का जीवन था उसी देव की हम उपासना करें।

जिससे अपनी महत्ता से उस फैले हुए उपादान कारण को जिसमें उष्णता और शक्ति धारण की हुई थी और जिससे यह सृष्टि प्रादुर्भूत हो रही थी, जो समस्त प्रकाश युक्त पदार्थों (देवों) का एकमात्र अधिदेव है उसी देव की हम उपासना करें।

जो पृथ्वी का उत्पादक है और जिस सत्य नियम वाले ने आकाश को भी पैदा किया है और जिसने विस्तृत और प्रकाश मुक्त उपादान का प्रादुर्भाव किया है, वह हमें दुख न पहुँचावे, उसी देव की हम उपासना करें।

हे विश्व के स्वामी ! तेरे अतिरिक्त इन उत्पन्न हुए पदार्थों को वश में रखकर शासित करने वाला कोई दूसरा नहीं है। जिन वस्तुओं की कामना में हम तेरी उपासना करते हैं वह हमारी हों और हम संसार के समस्त उत्तम पदार्थों के स्वामी हों।

इन दस मंत्रों के सूक्त में 'एक' शब्द चार बार से कम व्यवहृत नहीं

हुआ। यदि पाठकगण ईश्वर के अद्वितीय होने में इससे अधिक स्पष्ट असंदिग्ध, सुन्दर और प्रौढ़ वर्णन की खोज दूसरे धर्मं ग्रन्थों में करेंगे तो खोज निष्फल होगी।

जब कभी वेदों या उपनिषदों के एक या दो वाक्य जिसमें ईश्वर एकत्व का वर्णन होता है, पाश्चात्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तो वे झट कह उठते हैं।[1] कि ये 'अद्वैतवाद' की शिक्षा देते हैं, ईश्वर वाद की नहीं और इनका अर्थ यह है कि केवल एक ईश्वर है दूसरी कोई वस्तु नहीं, यह नहीं है कि परमेश्वर एक है दूसरा परमेश्वर नहीं अर्थात् ऐसे वाक्यों का अभिप्राय अद्वैतवाद परक है। एक ईश्वरवाद परक नहीं। हमें खेद है कि ग्रन्थ के प्रकृत विषय से हम अधिक दूर नहीं जा सकते। हम इस बात का निर्णय पाठकों के ऊपर छोड़ते हैं कि इन मंत्रों को जिनमें परमेश्वर को विश्व का विधाता और स्थिर रखने वाला, समस्त विश्व का एक मात्र राजा, स्वर्ग को व्यवस्थित रखने वाला, अमरत्व का प्रदान करने वाला और हमारी पूजा के योग्य वर्णन किया है, किसी प्रकार की अद्वैतवाद की शिक्षा देने वाला समझा जा सकता है? अब हम अथर्ववेद के कुछेक मन्त्रों को प्रो० मैक्समूलर के भाष्य सहित नीचे उद्धृत करते हैं–

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
य स्तायन् मन्यते चरन् सर्वं देवा इदं विदुः ।।1।।

यस्तिष्ठिति चरति यश्च वञ्चति यो निलायम् चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषध यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः।।2।।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उत्तास्मिन्नल्प उदके निलीनः।।3।।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न समुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवस्पशः प्रचरन्ति दमस्य सस्त्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम्।।4।।

---

1. उदाहरणार्थ मि. जे. मरऽक Mr. J. Murdouch अपनी वैदिक हिन्दूइज्म (रिलीजन रिफार्म सीरीज, तृतीय भाग) में कहते है– "अद्वैतवाद और बहुईश्वरवाद की शिक्षा का कभी-कभी संमिश्रण कर दिया जाता है, परन्तु यथार्थ में एक ईश्वर की पूजा हिन्दू धर्म में नहीं पायी जाती। छान्दोग्य के 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (ईश्वर एक है बिना एक दूसरे के) वाक्य को केशव चन्द्र सेन ग्रहण कर लिया था परन्तु इसके यह अर्थ नहीं है कि कोई दूसरा ईश्वर नहीं है प्रत्युत ये है कि अन्य दूसरी वस्तु नहीं है, जो सर्वथा भिन्न सिद्धान्त है।"

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिवश्वघ्नी निमिनोति तानि।।5।।

ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषितारुशंत।
छिनन्तु सर्वे अनृतम् वदन्तं यः सत्य वाद्यति तं सृजंतु।।6।।

अथर्व का०4 सू० 16।।

इन सबका अधिष्ठाता वरुण ऐसे देख रहा है, मानो वह समीप है, यदि कोई मनुष्य खड़ा होता है, चलता है, छिपता है, या लेटने को जाता है, वा उठता है या दो मनुष्य परस्पर कानाफूसी या मन्त्रणा करते हैं वरुण उसे जानता है, वह तीसरा वहाँ उपस्थित है -1-2

यह पृथिवी तथा विस्तृत आकाश जिसके सिरे बहुत दूर हैं राजा वरुण के अधिकार में है। दोनों समुद्र (आकाश और समुद्र) वरुण की कुक्षी हैं और वह पानी के इस छोटे से बिन्दु में भी व्याप्त हैं।

यदि कोई पुरुष आकाश से भी बहुत परे भाग जाय तो भी वह राजावरुण से नहीं बच सकता।3 ।

उसके गुप्तचर आकाश से संसार की ओर आते हैं और सहस्रों नेत्रों से इस पृथ्वी पर दृष्टिपात करते हैं।4।

राजा वरुण उन सबको देखता है जो आकाश और पृथिवी के मध्य में हैं। आकाश इनसे भी परे है उसने मनुष्यों के नेत्रों के पलक मारने की भी गणना कर ली है। खिलाड़ी के पांसा फैंकने के समान उसने समस्त वस्तुओं को अखण्ड रूप से स्थित कर रखा है। 5।

हे वरुण ! तेरे भयानक पाश जो सात-सात और तीन-तीन करके फैले हुए हैं मिथ्यावादियों को फाँस लें और सत्य बोलने वालों को छोड़ देवें।6।

अब यह स्पष्ट हो गया कि वेद विशुद्ध और पूर्ण एक ईश्वरवाद की शिक्षा देते हैं जो अद्वैतवाद के सिद्धान्त से उतनी ही भिन्न है जितनी वह ईश्वर के मानने वाले दूसरे धर्मों (विशेषतः सैमीतिक Semitic अर्थात् यहूदी, ईसाई और महुम्मदी मतों) के ईश्वरवाद से। यहाँ हम इस बात को दिखलावेंगे कि जब ईश्वर संबंधी वेदों का ज्ञान एक मत से दूसरे मत में गया तो उसकी अवनति ही हुई, उन्नति नहीं। जैसी उसकी शिक्षा वेदों में दी गई वह उतनी उत्कृष्ट और पूर्ण है जितना मानवीय बुद्धि के लिये सोचना या समझना संभव है। जिंदावस्ता में उस Ansthropomorphism ईश्वर को मनुष्य के से गुण और स्वभाव वाला समझने की कुछ रंगत चढ़ जाती है। हम देखते हैं कि अहुरमज़्दा सतज़रदुश्त से बातें

और परामर्श करता है। इंजील और कुरान में वह सर्वथा मनुष्य के गुण को धारण कर लेता है और परमेश्वर का इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि मानो वह एक स्वेच्छाचारी सम्राट् है, जो मनुष्य के सभी भाव और विचार, त्रुटि और दूषणों के वशीभूत है। बाइबिल में हम ठण्ड के समय ईश्वर को 'अदन के बाग में टहलता हुआ' पाते है। वह 'आदम को पुकारता' है, जो उसकी पुकार को सुनता है। फिर वह आदम और हौवा को अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने के लिये धिक्कारता तथा शाप देता है। हम उसको पश्चाताप करता हुआ पाते हैं कि उसने पृथ्वी पर मनुष्य को क्यों बनाया और इससे उसे हार्दिक दुःख पहुँचा। वह क्रोधपूर्वक कहता है कि मैं मनुष्य और पशु रेंगने वाले जन्तु और हवा में उड़ने वाले पक्षियों को नष्ट कर दूँगा। क्योंकि इस बात से मुझे पश्चाताप होता है कि मैंने उन्हें बनाया।' और वह अपने असहाय जीवों पर जल-प्रलय भेजता है, परन्तु दूरदर्शिता के विचार से कि कहीं ऐसा न हो कि सबको नष्ट करके मुझे फिर पश्चाताप करना पड़े, वह नूह और उसके परिवार को बचा रखता है तथा उसे अपनी नाव में प्रत्येक प्रकार के जानवरों का एक जोड़ा रखने की आज्ञा देता है। जब जल वाढ़ समाप्त हो जाती है तो नूर उसके लिये अग्नि में आहुति देता है और ईश्वर सुगन्धि सूंघता है' और अब पूर्वापेक्षा अधिक शान्त अवस्था में होने के कारण अपने किये पर प्रकट रूप से पश्चाताप करता हुआ कहता है–

मनुष्य के लिये फिर मैं कभी पृथ्वी को न धिक्कारूँगा। क्योंकि मनुष्य के हृदय की कल्पना लड़कपन के कारण बुरी होती है (मानों वह पूर्व इस बात से अभिज्ञ ही न था) और जैसा कि मैंने कहा है फिर प्रत्येक जीवधारी को नष्ट करूँगा[1]।'

यह चित्र है जो बाइबिल में ईश्वर का खींचा गया है। कुरान इस दुर्गति की जो बाइबिल में ईश्वर की हुई है और अधोगति कर देता है।

उसमें ईश्वर की तस्वीर इस ढंग की खींची गई है मानों वह एक बिल्कुल स्वेच्छाचारी सम्राट् है और वह भी अच्छे स्वभाव का नहीं। वह उस सिंहासन पर बैठता है जिसे अर्श मुअल्ला पर आठ फ़रिश्ते धारण किये हुए हैं[2]। वह काफिरों को शाप देता[3] तथा उनसे युद्ध ठानता है और अपने अनुयायियों को भी वैसा ही

---

1. देखो बाइबिल उत्पत्ति की पुस्तक अ०4. आयत 8-9. 14-19। अ. 6. आयत 6.7. 13-22। अ. 8. आ. 21
2. कुरान अध्याय 69
3. कुरान अध्याय 2

करने का आदेश देता हैं।[1] वह ऐसे कड़ी शपथें खाता है जिनको खाना अपनी प्रतिष्ठा का विचार रखने वाले बहुत ही कम लोग पसन्द करेंगे।[2] वह अपने आपको 'मारकर' कहने तक में नहीं हिचकता।[3] जिस प्रकार उसकी शक्ति असीम है वैसे ही उसकी महान् स्वेच्छाचारिता भी अत्यन्त है। कुरान कहता है ईश्वर जिसे चाहता है बुरे मार्ग की ओर ले जाता है और जिसे चाहता हैं उसे सतपथ की ओर प्रेरित करता है।[4]

दूसरा दोष जिससे वैदिक ईश्वरवाद सर्वथा मुक्त है और जो ज़िन्दावस्था इंजील व कुरान के ईश्वरवाद पर धब्बा लगाता है, प्रथम अध्याय में वर्णित किया जा चुका है, अर्थात् शैतान के व्यक्तित्व की शिक्षा। चतुर्थ अध्याय के चौथे अंश में हम सिद्ध कर चुके हैं कि वह सिद्धान्त वेदों के एक अलंकार को ठीक न समझ कर निकाला गया है जिसमें उस संग्राम का वर्णन किया गया है जो संसार में प्रकाश और अंधकार के बीच और भलाई और बुराई के बीच सदा होता रहता है ज़िन्दावस्ता मैं शैतान के लिये पुरुषाभावरोपण का विचार अपूर्ण है। उस ज़िन्दावस्ता में 'आकममनो' (बुरा विचार) अगरामन्यु (अग्नेय या हानिकारक मन) अज्हिदक जलता हुआ साँप कहा गया है, परन्तु इंजील और कुरान में उसका व्यक्तित्व उतना ही वास्तविक हो जाता है जितना कि स्वयम् परमेश्वर का, यहाँ तक कि यह भौतिक रूप धारण कर लेता है और साँप[5] के रूप में मानव जाति के आदिकालीन माता पिता को छलकर उनसे ईश्वराज्ञा का उल्लंघन कराता है और इस प्रकार संसार में पाप का बीज बोता है जिसका परिणाम यह होता है कि आदम और हव्वा उस स्वर्ग से बाहर कर दिये जाते है जो ईश्वर ने उनके लिये रचा था।[6] वह ईश्वर के पुत्र और अवतार ईसामसीह तक को प्रलोभन देता है।[7]

हम देखते हैं कि इंजील, कुरान और बाइबिल में जाने से वेदोक्त ईश्वरवाद में पवित्रता और उत्कृष्टता की न्यूनता ही हुई है, अधिकता नहीं और जो कुछयहाँ ईश्वर के सम्बन्ध में कथन किया गया है वह धर्म के अन्य महत्त्वपूर्ण विचारों के सम्बन्ध में भी यथार्थ है, क्योंकि परमेश्वर का विचार उन चारों मतों का मूल

---

1. कुरान अध्याय 46 9।
2. कुरान अध्याय 36. अ० 42 अ० 69. अ०
3. कुरान अध्याय 8
4. कुरान अध्याय 6
5. उत्पत्ति का पुस्तक अध्याय 3,1
6. कुरान अध्याय 3.23-24
7. मत्ती की इंजील अ० 4,1-11

सिद्धान्त है जिनके विषय में हम यहाँ लिख रहे हैं। धर्म रूपी नदी की धार अपने उद्गम स्थान के निकट स्वच्छ होती है, जहाँ वह आकाश से गिरने वाले अत्यन्त श्वेत हिम से निकलती है। परन्तु जब वह नीचे आकर घाटियों और मैदानों में बहती है जहाँ उसमें किनारों की जमीन से आने वाला पानी मिल जाता है तो वह क्रमशः सर्वोत्तम प्रारम्भिक पवित्रता को खो बैठती है। उसके न्यूनाधिक गंदले पानी से भी प्यासों के सूखे होंठ शीतलता का आस्वादन करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य के लिये बिल्कुल जल न मिलने की अपेक्षा ऐसा जल प्राप्त हो जाना भी उत्तम है। परन्तु क्या इस मैले जल की उस विशुद्ध निर्मल जल से तुलना हो सकती है जो आकाश से गिरे हुए हिम से बिना पार्थिव परमाणुओं के मल से, निकल कर बहता है। ईश्वर ऐसा करे कि हम उस स्रोत के समीप पहुँचे और अपनी आत्मिक तृष्णा बुझाने के लिये उसके स्वर्गीय जल का पान करें। तथास्तु !

ऊपर के लेख से पाठकों को ईश्वर सम्बन्धी वैदिक शिक्षा का कुछ ज्ञान होगा। चतुर्थ अध्याय में यह दिखाया गया है कि ईश्वर के सम्बन्ध में ज़रदुस्त का क्या विचार था। पाठक सुगमता से देख लेंगे कि (उपर्युक्त दो दूषणों को छोड़कर) अहुरमज़दा का विचार वेदोक्त परमेश्वर के विचार से पूरी समानता रखता है। केवल दोनों में ही समानता हो सो बात नहीं प्रत्युत वेदों में जो नाम ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुए हैं उनमें से बहुत से शब्द ज़िन्दावस्ता में भी व्यवहृत हुए हैं। स्वयं अहुरमज़दा शब्द ही ऐसा है जो अवस्ता में ईश्वर के लिये अनेक बार आया है। यह शब्द वैदिक असुरमेध से समानता रखता है। इसी प्रकार के निम्नलिखित शब्द भी हैं—

संस्कृत	**जन्द**
अर्य्यमन्	ऐर्यमन्
मित्र	मिथ्र
नाराशंस	निर्योसंह
वृत्रहन्	वृत्रघन्
भग्	बघ

इससे भी अधिक आश्चर्ययुक्त यह बात है कि इनमें से अधिकतर शब्द ऐसे हैं जो ज़िन्दावस्ता में भी उन्हीं दो अर्थों में व्यहृत हुए हैं जिनमें कि वे वेदों में आये हैं। हम 'अर्यमन्' शब्द के सम्बन्ध में डॉ. हाँग के लेख को उद्धृत करते है—

"दोनों धर्मों के ग्रन्थों में 'अर्यमन्' दो अर्थों का बोधक है। (1) मित्र और साथी............और (2) एक देव या आत्मा का नाम (जिसे हमको ईश्वर या परमात्मा कहना चाहिये) जो विशेषतः विवाह का देवता है और उस अवसर पर ब्राह्मण तथा पारसी दोनों ही आह्वान करते हैं।"[1]

धर्म का आदि-स्त्रोत

जन्द में मिथ्र शब्द उन्हीं तीनों अर्थों में आता है जिनमें 'मित्र' शब्द वेदों में व्यहत हुआ है, अर्थात् 'सूर्य, सहायक और ईश्वर'। फारसी का 'मिहिर' शब्द अब भी पूर्वोक्त दो अर्थों में प्रयुक्त होता है।

भग (ज़न्द-बध) ईश्वर और भाग्य इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। वृत्रहन् के भी दो अर्थ हैं अर्थात् (1) बुराई को नष्ट करने वाला ईश्वर और (2) अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाला सूर्य।

नाराशंस के सम्बन्ध में डॉक्टर हॉग कहते हैं– नाराशंस (देखो यास्क निरुक्त 8.6) और निर्योसंह एक ही है। नरयोसंह ज़िन्दावस्ता में एक देवदूत का नाम है जो अहुरमजदा के सन्देशवाहक का कार्य करता है, (देखो वेन्दिदाद 22)। वेद मन्त्रों में इसी पद पर अग्नि और पूषण को पाते हैं। इस शब्द के अर्थ हैं "जो मनुष्यों से प्रशंसा किया गया हो" अर्थात् प्रसिद्ध नाराशंस या निर्योसंह दिव्य संदेशवाहक या दूत[2] कहता है। क्योंकि अग्नि या अधिक समुचित शब्दों में उष्णता द्वारा जल वाष्प और अन्य पदार्थों के रस एक स्थान से दूसरे को जाते हैं। इसलिये अग्नि या उष्णता का प्रकृति या उसके स्वामी ईश्वर का दूत कह सकते हैं।

देवता– हमारे कुछेक पाठकों ने वेदों के 33 देवताओं के सम्बन्ध में सुना होगा कि जब भारतवर्ष में अवनत होते हुये वैदिक धर्म ने बहु-ईश्वरवाद का स्वरूप धारण कर लिया तो कदाचित् ये 33 देवता ही बढ़ते-बढ़ते हिन्दू देवालय के 33 कोटि देवता बन गये। वेदों के 33 देवता क्या थे? क्या वे ईश्वर थे ? कदापि नहीं। पण्डित गुरुदत्त की Terminology of the Vedas नामक पुस्तक में जो इस विषय की व्याख्या की गई है वह इतनी स्पष्ट है कि हम उसका विस्तारपूर्वक यहाँ अनुवाद देते हुए क्षमा याचना की आवश्यकता नहीं समझते।

---

1. देखो Haug's Essays. p 273 (जो शब्द कोष्टक में हैं वे हमारे हैं)।
2. देखो यजुर्वेद 23.17 जिसमें अग्नि या गरमी को दूत कहा गया है– अग्नि दूत पुरोदधे हव्यवासुपब्र वे। देवान् आसादयादिह यजु० 23/16

हम देख चुके हैं कि यास्क मुनि उन चीजों के नामों को (मंत्रों का) देवता कहते हैं, जिनके गुण मंत्रों में वर्णित हैं तो फिर देवता क्या पदार्थ हैं ? वे समस्त वस्तुएँ जो मानवी ज्ञान का विषय हो सकती है, मनुष्य का सारा ज्ञान देश और काल इन दो बातों से घिरा हुआ है। हमारी कारणकार्य-अभिज्ञता विशेषतः घटनाओं का क्रम, यह क्रम क्या है? केवल समय में घटनाओं का नियम से संगठित होना। फिर हमारा ज्ञान किसी वस्तु का ज्ञान होना चाहिये उस वस्तु के लिये किसी स्थान का होना आवश्यकीय है। इस प्रकार हमारे ज्ञान की परिस्थिति देश और काल हैं। अब ज्ञान के आवश्यकीय अंगों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। ज्ञान के सबसे अधिक विस्तृत भेद आन्तरिक और बाह्य है। जो कुछ मनुष्य देह के बाहर घटित होता है उसका ज्ञान बाह्य ज्ञान कहाता है। यह दृश्यमान् जगत् के विभव का ज्ञान है विज्ञानवेत्ता लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्राकृतिक विज्ञान अर्थात् भौतिक जगत् का विज्ञान दो वस्तुओं के अस्तित्व को प्रकट करता है (1) प्रकृति का उपादान कारण और (2) शक्ति। उपादान कारण का हमें स्वयमेव बोध नहीं होता। हम प्रकृति में केवल शक्ति के प्रकाश को देखते हैं जिनसे, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है इस प्रकार बाह्य जगत् का ज्ञान शक्ति और उसके परिवर्तनों का ज्ञान रह जाता है। अब हम आन्तरिक ज्ञान की ओर आते हैं, आन्तरिक ज्ञान का उल्लेख करने में सबसे पूर्व मनुष्य की आत्मा जो चेतन सत् है। आन्तरिक भाव दो प्रकार के हैं। वे या तो आत्मा के स्वाधीन और ज्ञात कर्म वा ऐसे में जिनका उसे स्वयम् ज्ञान होता है और इसलिए जिन्हें हम चेष्टित कर्म कह सकते हैं अथवा शरीर के ऐसे कर्म हैं जो आत्मा के शरीर में उपस्थित रहने से प्रादुर्भूत होते हैं। अतएव उन्हें हम जीवन-संबन्धी कर्म व प्राण नाम से पुकार सकते हैं। इसलिए ज्ञेय पदार्थों का (apriori) विश्लेषण हमें छः बातों की ओर ले जाता है, काल, देश, शक्ति, आत्मा, प्राण और चेष्टित कर्म। ये वस्तुएँ देवता कहाने योग्य हैं। उपर्युक्त गणना से हमें यह परिणाम निकालना चाहिये कि निरुक्त में लिखा हुआ वैदिक देवताओं का ज्ञान यदि वास्तव में सत्य है तो हमें वेदों में काल, देश, शक्ति, आत्मा, प्राण और चेष्टित कर्म इन छः बातों का देवताओं के रूप में समावेश मिलना चाहिए अन्य किसी का नहीं। आइये, कसौटी से परीक्षा करें—

नीचे लिखे मन्त्रों में हम 33 देवता का वर्णन पाते हैं—

त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्

यजुर्वेद 14.31

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्राविभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः।

अथर्व॰ 10.7.27

सबका स्वामी, विश्व का नियंता, सबको स्थिर रखने वाला देवताओं द्वारा सब वस्तुओं को ग्रहण किये हुए हैं।।1।। सच्ची ब्रह्मविद्या को जानने वाले 33 देवताओं को मानते हैं जो अपने-अपने कर्मों को यथाविधि करते हैं।

अब हम विचार करते हैं कि ये 33 क्या हैं, जिससे हम अपनी पूर्व विवेचना से तुलना कर सकें और इस समस्या की पूर्ति कर सकें।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाइति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्ता एक-त्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।।3।। कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्चद्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदं सर्वं वसुहितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ।।4।।

कतमे रुद्रा इति? दशेमे पुरुषे प्राण आत्मैकादशस्ते यदास्मान् मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्मादुद्रा इति।।5।।

कतम आदित्या इति? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः एते हीदं सर्वमाददानायन्ति तद्यदिदं सर्व ँ माददानायन्ति तस्मादादित्य इति।।6।।

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति। स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति। कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। कतमो यज्ञ इति ? पशव इति।।7।।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति

करतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चैति। कतमौ अध्यर्ध इति ? योऽयं पवते।।8।।

तदाहुः। यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति? यदस्मिन्निद ँ सर्व मध्याध्नोत्तेनाध्यर्ध इति। कतम एको देव इति?स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते

शतपथ पृ॰ 14,16

(देखें स्वामी दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ॰ 49) (आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट)

उपर्युक्त वचनों का अर्थ है कि याज्ञवल्क्य शाकल्य से कहते हैं— कि ये 33 देवता परमेश्वर की महिमा का प्रकाश करते हैं। 8 वसु, 12 आदित्य, 11 रुद्र, इन्द्र और प्रजापति मिलकर सब 33 हुये। 8 वसु ये हैं—

अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, शरीर और नक्षत्र। ये वसु इसलिये कहते हैं कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और समस्त जीवित, गतिशील और सत्तात्मक पदार्थों के निवास स्थान हैं।

रुद्र 11 हैं। 10 प्राण जो मनुष्य की देह को जीवित रखते हैं और ग्यारहवाँ आत्मा ये रुद्र कहलाते हैं क्योंकि जब वे शरीर का त्याग करते हैं तो वह मृतक हो जाता है और मृतक के सम्बन्धी प्राण निकल जाने के कारण रोते हैं। 12 आदित्य 12 सौर्य मास हैं जो समय की गति का परिणाम बताते हैं उन्हें आदित्य इसलिये कहते हैं कि वे अपनी गति से समस्त पदार्थों में परिवर्तन कर देते हैं और इसीलिए उनके द्वारा प्रत्येक वस्तु की अवधि की समाप्ति करते हैं। इन्द्र यह सर्वव्यापक विद्युत् या शक्ति का नाम है। प्रजापति यज्ञ है (अर्थात् मनुष्य का विविध पदार्थों को शिल्पकला सम्बन्धी उद्देश्य-पूर्ति के लिये इच्छापूर्वक एकत्र करना अथवा अन्य पुरुषों के साथ अध्ययन वा अध्यापन के लिए सहयोग करना। उसके अर्थ पशु (उपयोगी जानवरों) के भी हैं। यज्ञ और उपयोगी पशु प्रजापति इसलिये कहाते हैं कि ऐसे कार्यों और पशुओं से ही संसार साधारणतया अपनी स्थिति की सामग्री ग्रहण करता है। शाकल्य ऋषि पूछते हैं कि 3 देवता कौन से है? याज्ञवल्क्यजी उत्तर देते हैं कि वे तीन लोक है (अर्थात् स्थान, नाम और जन्म)। उन्होंने पूछा कि दो कौन से है? याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राण (संयोजक पदार्थ) और अन्न (विभाजक पदार्थ)। वह पूछते हैं कि अध्यर्द्ध क्या है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि वह विश्व की पालन करने वाली विद्युत् है जो संसार की स्थिति स्थिर रखती तथा सूत्रात्मा कहाती है। अन्त में उन्होंने पूछा कि देव कौन सा है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि एक उपासनीय परमेश्वर हैं।

इन 33 देवताओं का वेदों में वर्णन है। अब हमें यह देखना चाहिये कि यह व्याख्या हमारी पूर्वकृत विवेचना से कहाँ तक मिलती है। शतपथ के गिनाये हुए 8 वसु स्पष्ट रूप से स्थानों (वा देश) के नाम हैं। 11 रुद्रों में प्रथम आत्मा है और दूसरे 10 प्राण हैं, 12 आदित्यों में काल आ जाता है। विद्युत् वह शक्ति है जो सब में व्याप्त है और प्रजापति (पशु और यज्ञ) में हम साधारण दृष्टि से आत्मा चेष्टित कर्मों को सम्मिलित मान सकते हैं।

इस प्रकार 33 देवता हमारी स्थूल विवेचना के 6 तत्त्वों से मिल जाते हैं, क्योंकि यहाँ विस्तार की यथार्थता दिखाने से हमारा अभिप्राय नहीं है जितना

साधरण समानताओं का दिखना इष्ट है। अतएव आंशिक भेद त्यागा जा सकता है।[1]

डॉक्टर हांग कहते हैं "वेदों के इन 33 देवताओं की जिन्दावस्ता (यास 1.30) के 33 ऋतियों से तुलना की जा सकती है। एक और स्थान पर डॉ० हॉग लिखते है कि "वेद और जिन्दावस्ता के देवताओं की गणना के सम्बन्ध में अत्यन्त आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है।"[2]

ज़िन्दावस्ता से प्रकट नहीं होता कि पारसी लोग 33 देवताओं के यथार्थ को जानते थे। डॉक्टर हॉग इस बात को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि जिन्दावस्ता में उनके पृथक्-पृथक् भेदों के अनुसार उन्हें प्रकट रूप से नहीं गिनाया गया, जैसा वेदों में 33 देवताओं को गिनाया गया है। अतएव हम कुछ निश्चय के साथ यह परिणाम निकाल सकते हैं कि 33 ऋतु ईश्वरीय सत्ताओं की गिनती करने के लिये केवल एक वाक्य रह गया था, जो प्राचीन होने के कारण पवित्र समझा गया जिसके प्रयोग तथा वास्तविक अर्थ ईरानियों को ब्राह्मणों से पृथक् होने के पश्चात् नहीं ज्ञात रहे।[3]

सृष्टि-उत्पत्ति

प्रकृति और जीवात्मा का अनादि होना और सृष्टि का प्रवाह से अनादि होना।

यह विश्व किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? यह प्रश्न है जिसका उत्तर देने का प्रयत्न प्रत्येक धर्म के लिये आवश्यक होना चाहिए।

बौद्ध धर्म जो ईश्वर या सृष्टिकर्ता में विश्वास नहीं रखता, इस प्रश्न का केवल यह कहकर खण्डन कर देता है कि इस संसार का न कभी प्रारंभ हुआ और न कभी अन्त होगा, अर्थात् यह संसार सदा से उसी दशा में चला आता है जिसमें वह अब है और अनन्त काल तक इसी दशा में रहेगा, परंतु बौद्ध धर्म का यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रमपूर्ण है। वैज्ञानिक लोग बतलाते हैं कि एक समय था जब उष्णता की अधिकता के कारण पृथ्वी Molten state जलरूप थी अर्थात् जल के समान तप्त हुई थी और वह यह भी बतलाते हैं कि यद्यपि उसके भीतर अब भी बहुत गर्मी है, जैसा कि इस घटना से प्रकट है कि ज्वालामुखी पर्वतों से

1. देखो पं गुरूदत्त कृत Terminology of the Vedas and European scholars.
2. Haug's Essays. P. 276.
3. Hang's Essays, p. 279.

जो वस्तुएं भूगर्भ के बाहर निकलती हैं वे सामान्यतः तप्त होती हैं हमें यह भी बतलाया गया है कि जली वा तई हुई अवस्था में आने से पूर्व पृथ्वी सूर्य के समान एक अग्नि का गोला थी और उससे भी पूर्व वह वायुरूप (Gaseous state) में थी। वस्तुतः जब पृथ्वी इतनी उष्ण होगी तब न तो उस पर कोई जीवधारी रह सकता था और न वनस्पति ही उग सकती थी।

जिन विविध अवस्थाओं में पृथ्वी को अपने विकास-चक्र में होकर निकलना पड़ा है, और जिसे पाश्चात्य विज्ञान द्वारा हाल ही में जाना गया है उसका वर्णन प्राचीन वैदिक साहित्य में पूर्व ही किया जा चुका है। आधुनिक विज्ञान वायु अवस्था पर ही ठहर जाता है परन्तु हमारे शास्त्र उससे भी एक पग पीछे जाते हैं और एक पाँचवीं अवस्था का वर्णन करते हैं जिसका नाम आकाश है जो वायु से भी अधिक सूक्ष्म है और किसी ग्रह वा खगोल के विकास की प्रथम अवस्था है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है–

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः।
वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भयः पृथिवी/पृथिव्या ओषधयः।
ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः।

तै. उपनि०ब्रह्मानन्दावली अनुवाक् 211

जिस समय परमात्मा ने विश्व की रचना प्रारम्भ की तो सबसे पूर्व आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष हुआ।

विज्ञान हमें यह भी बतलाता है कि सूर्य की उष्णता दिन प्रतिदिन कम हो रही है, अन्त में वह एक दिन इतना शीतल हो जायेगा जैसा कि हमारा भूगोल या चन्द्रमा शीतल है। इससे स्पष्ट है कि उस समय हमारी पृथ्वी मनुष्य या अन्य जीवधारियों का निवास-स्थान न रह सकेगी और न उस पर कोई वनस्पति उग सकेगी। यही दशा सूर्य-मण्डल के अन्य ग्रहों की होगी।

निदान, भौतिक विज्ञान की अन्वेषणा ने यह बात सिद्ध कर दी है कि एक समय था जब विविध प्रकार के पशु और वनस्पति जो सम्प्रति पृथ्वी पर निवास करते और उगते हुए पाये जाते हैं, मौजूद न थे। एक ऐसा समय आवेगा जब जीवन के सब रूप धरातल से विलीन हो जावेंगे। यह बात सूर्य के चारों और घूमने वाले अन्य ग्रहों के सम्बन्ध में भी सत्य है। अतएव बौद्धों का सिद्धान्त निराधार हो जाता है और प्रश्न बना रहता है कि वह कौन है जिसने इन समस्त परिवर्तनों को किया या कर रहा है? कौन है जो इस अनन्त आकाश में पृथ्वी

और असंख्य लोकों को विकास क्रम की अवस्था द्वारा जलरूप से ठोस वा दृढ़ करता गया, उस पर रहने वाले विविध प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करता और फिर विकृतावस्था में घूमता हुआ प्रलय दशा की ओर ले जाता है? हम उत्तर देते हैं कि वह ईश्वर है।

वैदिक शिक्षा बतलाती है कि अभाव से भाव नहीं हो सकता और जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता। भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक में यह बात स्पष्ट रीति से कही गई है–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्त-स्त्वनयोस्तत्त्वर्शिभिः।

गीता अ० 2 श्लोक 16 ।

कभी असत का भाव और सत् का अभाव नहीं हो सकता। इन दोनों का निर्णय तत्वदर्शियों ने जाना है। सांख्य सूत्र भी बताता है– 'नावस्तुनो वस्तु सिद्धिः' अविद्यमान् पदार्थ से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रकृति और जीवात्मा निर्लेप एवं तात्विक वस्तु हैं। वे किसी और वस्तु से मिलकर नहीं बने, न वे अभाव से उद्भूत हुए। अतएव वे अनादि पदार्थ हैं जो सदैव रहते हैं और जिनका कभी अभाव नहीं होता।[1]

इस प्रकार वैदिक तत्ववाद 3 पदार्थों को अनादि मानता है अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति। ऋग्वेद में यह बात भली भाँति स्पष्ट की गई है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ऋ०वे०मं०1 सू० 164 मन्त्र 20।

जैसे दो समान आयु वाले और मित्रतायुक्त पक्षी एक वृक्ष पर बैठते हैं, इसी प्रकार दो अनादि और मित्रता युक्त आत्मा (अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा) अनादि प्रकृति में रहते हैं। इन दोनों में से एक (अर्थात् जीवात्मा) इस प्रकृति

---

1. साधारणतया यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह शिक्षा परमेश्वर की सर्वशिक्तिमत्ता को परिमिति करती है, परन्तु यह आक्षेप निर्बल और अनुचित है। यदि कोई यह आपत्ति उठा सकता है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है क्योंकि यह अभाव से भाव को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखता तो यह भी कहा जा सकता है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है क्योंकि वह दो और दो पाँच नहीं कर सकता अथवा चतुष्कोण वृत नहीं बना सकता। सर्वशक्तिमत्ता का यह अर्थ है कि वह उसके करने की भी योग्यता रखता हो जिसका होना असम्भव है।

रूपी वृक्ष के फल को चखता है (अर्थात् दुःख सुख भोगता है जो भौतिक शरीर में बंधने का परिणाम है) और दूसरा (अर्थात् परमात्मा) इसके फल को न खाता हुआ (अर्थात् दुःख सुख न भोगता हुआ) सब कुछ देखता हुआ प्रकाशमान हो रहा है।

अर्थ तीन अथवा एक से अधिक ईश्वर में विश्वास रखना है। यह आक्षेप इतना दुर्बल है कि उसका गम्भीरतापूर्वक खण्डन करने की आवश्यकता नहीं। तीनों पदार्थों में अनादित्व समान है परन्तु शेष गुण ऐसे नहीं जो सबके लिये एक से हो। प्रकृति वास्तव में जड़ और निष्क्रिय है परन्तु ईश्वर और जीव चेतन हैं। ईश्वर और जीव में भी ईश्वर अनंत और अपरिमित है ईश्वर समस्त आकाश में भरा हुआ और सम्पूर्ण वस्तुओं में व्यापक है। जीवात्मा एक छोटे शरीर में बँधा हुआ है। ईश्वर दुःख-सुख से परे, परन्तु जीव उसके अधीन है। ईश्वर सर्वत्र है, किन्तु जीव अल्प। ऐसी दशा में क्या यह आक्षेप हो सकता है कि यह प्रकृति और जीव को ईश्वर मानने के समान है? क्या ईश्वरत्व अनादित्व का पर्याय है? क्या परमेश्वर का गुण केवल अनादित्व ही है?

ईश्वर संसार का मूल कारण और प्रकृति उसका उपादान कारण है। ये दोनों अनादि हैं और इसी प्रकार जीव भी। परन्तु यह सृष्टि जिसमें हम रहते हैं अनादि व अनन्त नहीं है (जैसा कि बौद्धों का विचार है) इसका आरम्भ हुआ है और अन्त भी होगा। जितने समय तक एक सृष्टि स्थित रहती है उसका नाम कल्प है और अलंकार रूप से उसको ब्रह्मदिन भी कहते हैं। वह हमारे 4,32,00,00,000 साधारण वर्षों के बराबर होता है। सृष्टि से पूर्व और पश्चात् भी इतना ही बड़ा समय होता है जिससे उपादान कारण प्रलीन अवस्था में पड़ा रहता है उसे ब्रह्मरात्रि कहते हैं। कारणरूप से कार्यरूप में आने का नाम सृष्टि है और फिर उसका कारणरूप में लीन हो जाना प्रलय कहाता है।

अभाव से सृष्टि उत्पत्ति होना अथवा उसका सर्वत्र अभाव हो जाना, दोनों ही असम्भव बातें हैं। इस सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व उपादान कारण प्रलीन अवस्था में था और उससे पूर्व दूसरी सृष्टि थी। उस सृष्टि से पूर्व फिर वही प्रलीन दशा और दशा से पूर्व फिर सृष्टि। निदान अनादि काल से ऐसा ही क्रम चला आता है। इसी प्रकार वर्तमान सृष्टि की भी दशा होगी। इसके पश्चात् प्रलय होकर फिर सृष्टि रची जायेगी और यही क्रम अनन्त काल तक चला जाएगा। जिस प्रकार दिन के बाद रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन आता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का अनादि, अनन्त चक्र सदा चलता है।

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि परमेश्वर के साथ जीव और प्रकृति को अनादि मानना तथा सृष्टि-क्रम को प्रवाह से अनादि समझना आर्यतत्व-ज्ञान का प्रधान सिद्धान्त है। सभी मत (अर्थात् यहूदी, ईसाई और मुहम्मदी मत) इसके विपरीत शिक्षा देते हैं। उनके मतानुसार यह सृष्टि सबसे प्रथम और अन्तिम है। वह एक विशेष समय पर अभाव से उत्पन्न हुई और जल प्रलय का समय आयेगा फिर अभाव को प्राप्त हो जायगी, परन्तु इस सर्वनाश में आत्माएँ बची रहेंगी; कुछ उनमें से स्वर्ग को भेज दी जावेंगी और कुछ नरक को जहाँ वे अपने कर्मानुसार अनादि काल तक रहेंगी।

यह बात कि कोई वस्तु अभाव से सत्तावान् हो सकती है फिर अभाव में परिणत हो सकती है, न केवल बुद्धि-विज्ञान के विरुद्ध है प्रत्युत उसके मानने वालों को अनेक कठिन प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा जैसे परमेश्वर इस विश्व को एक विशेष समय पर क्यों अभाव से भाव में लाया और फिर वह उसे क्यों एक नियत अवधि के पश्चात् नष्ट कर देगा? अपने शान्त अस्तित्व में परिवर्तन करने की ओर उसे किसने प्रेरणा की? जिस समय विशेष पर सृष्टि उत्पन्न की गई उससे पूर्व उसे उसके पैदा करने की इच्छा क्यों न हुई? हमारे जो मित्र उपर्युक्त सिद्धांतों को मानते हैं वे इन और ऐसे ही अन्य प्रश्नों के उत्तर में केवल यही कह देते हैं कि ये 'रहस्य' हैं। इस 'रहस्य' शब्द से इन मतों की बहुत त्रुटियों को आच्छादन करने में सहायता मिलती है। वैदिक फिलासफी की दृष्टि से न तो यह प्रश्न उठते हैं और न उठ सकते हैं क्योंकि ऐसा कोई समय न था जब पहले पहल ईश्वर ने सृष्टि की रचना की। यह बात भी उल्लेखनीय है कि सेमिटिक सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व और प्रलय-पश्चात् परमेश्वर में उन गुणों का सिद्ध करना कठिन कार्य होगा जो सामान्यतः उसके सम्बन्ध में कहे जाते हैं। इस सृष्टि से पूर्व उसको स्रष्टा कैसे कहा जा सकता था, जब उसने इस संसार से पूर्व कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं की थी और उसे सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है, जब कोई दूसरी वस्तु ही उपस्थित न थी जिसको वह जाने। उसे न्यायकारी कैसे कह सकते हैं क्योंकि जब कोई जीव ही न थे तो वह न्याय किसका करता? वह दयालु भी नहीं हो सकता क्योंकि कोई था ही नहीं जिस पर दया दिखाता और फिर इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि वह समय जब से यह सृष्टि स्थित है वा जब तक रहेगी, अनन्त काल के सामने बहुत ही कम प्रत्युत कुछ भी नहीं है। एक जल बिन्दु का समुद्र के सामने जिसका वह अंश है कुछ परिणाम हो सकता है परन्तु एक समाप्त होने वाले समय का चाहे वह

कितना ही लम्बा हो, अनादि अनन्त काल के सामने कुछ भी परिणाम नहीं हो सकता। इस विचार के अनुसार परमेश्वर को निर्विकार भी नहीं कह सकते, फिर क्या यह मानना अयुक्त नहीं है कि जिन जीवों का आदि है उनका अन्त न होगा?

परन्तु हम मूल विषयों को छोड़कर अन्यत्र जा रहे हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि वैदिक सिद्धांत दूसरे धर्मों से उत्कृष्ट है प्रत्युत हमारा उद्देश्य वैदिक शिक्षा ज़रदुस्ती शिक्षा के मध्य परस्पर सम्बन्ध दिखलाना है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि पारसी धर्म-ग्रन्थों में वे शिक्षाएँ पाई जाती हैं कि जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। सासान प्रथम ने लिखा है– "जीवात्मा, अप्राकृतिक, अखण्डनीय, अनादि और अनन्त है।"

उपर्युक्त वचन की टीका करते हुए सासान पंचम जो पारसी धर्म ग्रन्थों का अन्तिम लेखक हुआ है, पहले आत्मा को अप्राकृतिक और अखण्डनीय सिद्ध करता है और फिर लिखता है–

"इसके पश्चात् मैं कहता हूँ कि आत्मा अनादि और अनन्त है, क्योंकि प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु से पूर्व उसका उपादान कारण (जिससे वह पैदा हुई) होना आवश्यकीय है। इस प्रकार यदि आत्माएँ अनादि और अनन्त नहीं है तो वे प्राकृतिक होनी चाहिए जिसका हम पूर्व ही खण्डन कर चुके हैं। यही युक्ति उपादान कारण के अनादित्व और अनन्तता सिद्ध करने के लिये दी जा सकती है।

सृष्टि और प्रलय के चक्र की शिक्षा का वर्णन भी स्पष्टतया किया गया है। पारसी धर्म-ग्रन्थों से सृष्टि को (उसके पश्चात् होने वाले प्रलय सहित) "मिहचर्ख" कहा गया है, जो संस्कृत से निकला है। हम सासान प्रथम में पाते हैं–

"मिहचर्ख" के आदि में सृष्टि के बनाने का कार्य नवीन प्रकार से प्रारम्भ होता है। रूप, क्रिया और ज्ञान जो इस मिहचर्ख में प्रादुर्भूत होते हैं वे सर्वथा वैसे ही होते हैं, जो पूर्व के मिहचर्ख में प्रकट हो चुके हैं। प्रत्येक भावी मिहचर्ख आदि से अन्त तक अपने पूर्व के मिहचर्ख के सदृश होता है।

उपर्युक्त लेख पर सासान पंचम निम्नलिखित टीका करता है–

मिहचर्ख के आदि तत्त्वों का मिलना आरम्भ होता है और उस समय जिन वस्तुओं का प्रादुर्भाव होता है वे वचन और कर्म में पूर्ववर्ती मिहचर्खों के समान ही होता है, परन्तु सर्वथा नहीं होता।"

इसके साथ ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र की तुलना की जा सकती है।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः।। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहो रात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।।

ऋ०वे०मं०10 सू० 190 मन्त्र 1।

सृष्टि विकास से पूर्व– ईश्वर ने अपने ज्ञान और पराक्रम से प्रथम अनादि उपादान कारण को प्रकट किया। उस समय दिव्य रात्रि थी। उसके पश्चात् आकाश व अन्तरिक्ष की स्थापना की। आकाश स्थापित करके साँवत्सरिक गति पैदा की गई फिर संसार को वश करने वाले परमात्मा ने दैनिक गति की उत्पत्ति की जिससे रात्रि और दिन होते हैं। संसार के धारण करने वाले ने सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा आकाश के अन्य नक्षत्रों को मध्यवर्ती अन्तरिक्ष सहित उसी प्रकार रचा जैसा कि उसने पूर्व कल्प में रचा था।

पारसी धर्म ग्रन्थों में सृष्टि उत्पत्ति विषयक बातें वैसे विस्तारपूर्वक नहीं लिखी गई जैसी कि वैदिक पुस्तकों में, तथापि उपर्युक्त प्रमाण सिद्ध करते हैं कि पारसी-मत की शिक्षाएँ वैदिक धर्म से ग्रहण की गई। पिछले अध्याय के चतुर्थ अंश में हम पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि विविध वस्तुओं, आकाश, पृथ्वी, वनस्पति, पशु और मनुष्य की रचना का जो क्रम ज़िन्दावस्ता में दिया गया है वह वही है जिसका वर्णन यजुर्वेद में आया है। सृष्टि उत्पत्ति-सम्बन्धी मूसा का लेख जैसा कि पैदायश की किताब के प्रथम अध्याय में आया है ज़रदुस्ती सिद्धान्तों का अनुकरण मात्र है, परन्तु बाइबिल के कर्ताओं ने केवल इतना ही अंश लिया। यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने विचारों को वर्तमान सृष्टि से आगे नहीं जाने दिया और न उस समस्या को सिद्ध करने का कष्ट उठाया कि इस संसार से पूर्व भी कोई संसार था अथवा नहीं, इसके नष्ट होने के पश्चात् भी कोई संसार होना वा नहीं और न यह प्रकट होता है कि उन्होंने अपने आप यह प्रश्न किया हो कि यह संसार अभाव से उत्पन्न हुआ अथवा किसी ऐसे उपादान कारण से जो पूर्व ही से उपस्थित था। क्योंकि बाइबिल में इस सेमी सिद्धान्त का कि संसार शून्य से उद्भूत हुआ और वह पहली बार ही पैदा किया गया, कोई स्पष्ट वर्णन नहीं। वस्तुतः यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि 'हिब्र' शब्द बारा 'Bara' का जो पैदायश की किताब के प्रारम्भ में ही आया है और जिसका अनुवाद "उत्पन्न हुआ" किया गया है, शुद्ध अर्थ "काटा गया" किसी में "काटकर बनाया गया" है। उससे सिद्ध होता है कि 'पैदायश की किताब' का कर्ता कदाचित् उपादान

कारण की सत्ता में विश्वास रखता था। पीछे जैसे लोग वैदिक शिक्षा के मूल तत्व को भूलते गये, वैसे सभी मतों का यह विश्वास दृढ़ हो गया कि यह संसार सबसे पहला और सबसे पिछला है और वह अभाव से पैदा हुआ तथा फिर से सत्ताहीन हो जायेगा। हम यह पूर्व ही बता चुके हैं कि यह अनुमान कितना अयुक्त और विज्ञान-विरुद्ध है।

अब यह सुलभतापूर्वक सिद्ध हो जाएगा कि बौद्धों का सिद्धान्त भी वैदिक शिक्षा से सम्बन्ध रखता है। बौद्ध सिद्धान्त वहाँ तक ठीक है जहाँ तक वह सृष्टि की अनादिता और अनन्तता का समर्थन करता है, परन्तु जब वह वर्तमान संसार का जिसमें हम रहते हैं, आदि और अन्त होना नहीं मानता तो भूल करता है। सेमी सिद्धान्त इसके ठीक प्रतिकूल है, उस अंश तक तो वह ठीक है। जब तक उसका विश्वास है कि सृष्टि का आदि भी है और अंत भी। परन्तु जब वह इस बात को नहीं मानता कि इस सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व दूसरी सृष्टि थी अथवा इसके पश्चात् और संसार होगा तो वह भूल करता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि बौद्ध और सेमी दोनों मतों के विचार वहाँ तक तो ठीक हैं जहाँ तक वे मानते हैं परन्तु न मानने के अंश में वे ठीक नहीं रहते, दोनों ही अपूर्ण हैं। एक, एक बात में भूल करता है तो दूसरा, दूसरी ओर चलकर रुक जाता है। दोनों एक दूसरे की पूर्ति करने वाले हैं। वैदिक शिक्षा मूल सिद्धांत है जिससे दोनों मत निकले हैं तथा जिसके दोनों ही पृथक् और अपूर्ण अंश है।

पुनर्जन्म

मैं कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? इस प्रश्न को सभी किसी समय करते हैं। ये जीवन-सम्बन्धी वैसे ही प्रश्न है जैसे कि पिछले अंश से सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न दिये जा चुके हैं। उनका सम्बन्ध उपादान कारण से है, इनका आत्मा से। वे भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं और ये आध्यात्मिक ज्ञान से; परन्तु धर्म की विस्तृत सीमा के अन्तर्गत दोनों ही हैं और प्रत्येक धर्म को उक्त दोनों प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए।

सृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों के समान ही इस विषय में भी वैदिक धर्म के उत्तर सेमी मतों के सर्वथा विपरीत प्रतीत होंगे। वस्तुतः प्रस्तुत प्रश्नों में से प्रत्येक प्रश्न के उत्तर वैसे ही हैं जो उन्होंने सृष्टि सम्बन्ध में दिये थे।

हम देख चुके हैं कि वैदिक मत के अनुसार ऐसी ही अनन्त सृष्टियों में से वर्तमान सृष्टि भी एक है। उसी प्रकार हम यह भी मानते हैं कि हमारा वर्तमान जीवन असंख्य योनि चक्र के क्रम में से एक है। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि

पूर्व के समस्त जीवन मनुष्य जीवन ही रहे हों। उपादान कारण के समान आत्मा भी अनादि अनन्त है अथवा समुचित शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह अजर और अमर है। कठोपनिषद् कहता है–

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

कठो०अ०1 व० 18।।

यह चेतन आत्मा न पैदा होता और न मरता है। न वह किसी वस्तु से बनता है, न उससे कोई वस्तु बनाई जा सकती है। वह अजर, अनादि, अनन्त और सनातन है। वह शरीर नष्ट होते समय नष्ट नहीं होता।

आत्मा का किसी शरीर विशेष से संयोग होना जन्म और उससे वियोग मरण कहाता है। आत्मा एक नाशवान् चोले को छोड़कर स्वकर्मानुसार मनुष्य, पशु और वनस्पतियों तक की योनि में जा सकता है। हम कठोपनिषद् से फिर उद्धृत करते हैं–

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनं।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम।।
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरंवायं देहिनः।
स्थाणु मन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्।।

कठ० वल्ली 5/6-7

हे गौतम ! मैं तुम पर वह सनातन और दिव्य रहस्य प्रकट करूँगा कि मरने पर आत्मा कहाँ जाता है? कुछ आत्माएँ अपने कर्म और ज्ञानानुसार दूसरे शरीर धारण कर लेती हैं और कुछ वनस्पति अवस्था में चली जाती हैं।

यह आवागमन का क्रम इस समय तक रहता है, जिस समय तक आत्मा अपने समस्त पापों से मुक्त हो योग द्वारा सत्य और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति या निर्वाण पद प्राप्त करती तथा परमेश्वर से सहयोग करके पूर्णानन्द का उपभोग करती है।

जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है सेमी मतानुसार संसार अपने ढंग का सबसे पहला और सबसे पिछला है। तदनुसार उन मतों का यह भी सिद्धांन्त है कि हमारा वर्तमान जीवन इस प्रकार का एक ही जीवन है। आत्मा अपने भौतिक देह के साथ पैदा होता है, शरीर के साथ ही नष्ट नहीं होगा और न वह फिर शरीर ही धारण करेगा, प्रत्युत्त मृतोत्थान के उस दिन तक अपने भाग्य के निर्णय की प्रतीक्षा करेगा, जिस दिन कि ईश्वर प्रत्येक आत्मा के लिए न्याय-व्यवस्था

देगा और कुछेक को सदैव के लिए स्वर्ग में और शेष को सदैव जलने वाली नरकाग्नि में भेजेगा।

सृष्टि संबंधी प्रश्नों के समान ही इस सिद्धांन्त के मानने वाले पुरुषों को अनेक कठिन प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं। ईश्वर ने अभाव से आत्मा को क्यों उत्पन्न किया और किसी को दुःखी और किसी को सुखी बनाया? यदि यह मान भी लिया जावे कि उसने आत्माओं को उत्पन्न किया तो उसने किसी किसी को ही शारीरिक, मानसिक और सदाचारिक उत्तम गुण क्यों प्रदान किये? सबको क्यों नहीं? उसने किसी को बुरी दशा में क्यों रखा? दुःख सुख और ज्ञान व आचार सम्बन्धी गुणों का विषय होना ऐसी सत्य घटना है कि उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता और वह इतनी स्पष्ट है कि कोई कितना ही तक करें उसकी यथार्थता को नहीं हटा सकता। यदि दण्ड या उपहार योग्य आत्मा के पूर्व शुभाशुभ कर्म न थे तो क्या परमेश्वर अन्यायी है? जब हमारे मित्रों पर इस प्रकार के जटिल प्रश्नों का भार पड़ता है तो वे 'रहस्य' शब्द की शरण टटोलते फिरते हैं, जो इस प्रकार के कठिन प्रश्नों से त्राण पाने का सुगम मार्ग है।

यह सिद्धान्त अन्याय से प्रारम्भ होकर अन्याय पर ही समाप्त होता है। मनुष्य का जीवन चाहे जितना दुष्टतापूर्ण हो तथापि वह अन्याय की दृष्टि से अनन्तकाल के लिये नरक यन्त्रणा भोगने का भागी नहीं हो सकता। न्याय के साथ यदि दया को न भी सम्मिलित किया जाय तथापि आवश्यकता है कि दण्ड की मात्रा अपराध के अनुसार ही होनी चाहिये। एक दुष्टतापूर्ण जीवन में चाहें वह 200 वर्ष का ही माना जाय और अनन्त काल तक रहने वाली नरकाग्नि की कठोर यन्त्रणा में भला क्या सम्बन्ध हो सकता है? सदा के लिये दण्ड का विचारमात्र ही अत्यन्त भयावह और घृणास्पद है। इसमें आश्चर्य नहीं कि इसी कारण बहुत से विचारशील ईसाइयों की आत्मा उससे विरोध करने लगी। लोक (Locke) जैसे कुछेक विद्वान् विचारकों ने यह उत्तर देकर छुटकारा पाया है कि केवल पुण्यशील आत्मा अनन्तकालीन जीवनोपभोग करती है और पापात्मा नष्ट हो जाती है, अर्थात् उनका अस्तित्व ही नहीं। क्या ही अच्छा उत्तर है? आत्मा का सर्वथा अस्तित्वहीन हो जाना उतना ही असम्भव है जितना अभाव से उसका उत्पन्न होना। इस उत्तर के अनुसार केवल नरक सम्बन्धी सिद्धान्त ही नहीं प्रत्युत आत्मा का अमरत्व भी कोरी कल्पना रह जाती है।

इसके अतिरिक्त क्या यह न्याय है कि जब उसका सारा भविष्य, नहीं नहीं, अनन्त काल खतरे में हो, आत्मा को केवल एक ही परीक्षा का अवसर

दिया जावे। इसे कोई अस्वीकार नहीं करता कि मनुष्य जीवन एक कठिन परीक्षण है। पद-पद पर प्रत्येक प्रकार के प्रलोभन हमारे मार्ग में उपस्थित होते हैं और बहुत से लोग सुलभतया उनके चंगुल में फंस जाते हैं। यहाँ तक कि ईसाई लोग संसार में इतने अधिक पापों का कारण बताने के लिए शैतान के व्यक्तित्व को और इस सिद्धान्त को मानना आवश्यक समझते हैं कि आदम के पाप करने से सब मनुष्यों के आत्मा में पाप का बीज आ गया। इस पर भी आत्मा को केवल एक बार ही परीक्षा का अवसर दिया जाता है, अधिक नहीं। यदि वह परीक्षा में सफल होकर निकल आती है तब तो अच्छी बात है नहीं तो दुःख है; क्योंकि इस दशा में उसको अनन्त काल के लिये दण्डित किया जाता है और फिर उसको मुक्ति की कोई आशा नहीं रहती। पाठकगण ! इसकी तुलना पुनर्जन्म सम्बन्धी वैदिक शिक्षा से कीजिए जिसके अनुसार भूली हुई आत्माओं को लघुत्तर श्रेणी के जीवों के शरीरों में नियत अवधि तक अपने कुकर्मों का फल भोगना पड़ता है और जब वे अपने पापों से मुक्त हो जाती हैं तो फिर वे मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करती हैं। इस प्रकार उनको स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान द्वारा सन्मार्ग या कुमार्ग ग्रहण करके मुक्ति के लिये प्रयत्न करने का नवीन रूप से अवसर दिया जाता है। हम यह भी कहना चाहते हैं कि समस्त आत्माओं को साधारण दृष्टि से भलाई बुराई की दो श्रेणियों में विभक्त करके उनमें से एक को सदा के लिये स्वर्ग भेज देने और दूसरी को नरकानल में झोंक देने से न्याय का पेता पूरा नहीं होता। मनुष्यों के कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और उनमें भलाई या बुराई की उतनी ही श्रेणियाँ हैं जितने कि मनुष्य हैं उनके साथ न्याय-पूर्ण और समुचित व्यवहार करने के विचार से यह आवश्यकीय है कि उपहार व दण्ड भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हों और ऐसा होना पुनर्जन्म द्वारा ही सम्भव है, जिसमें सुख और दुःखों की असंख्य कक्षाएँ नियत की जा सकती हैं।

इस आवागमन की शिक्षा पारसी पुस्तकों में भी दी गई है, जैसा कि ''वैदिक धर्म'' मे होरांग में लिखा है– ''पुराना चोला छोड़कर नया शरीर धारण करना अनिवार्य है।'' फिर 'नामा मिहावाद' में पढ़ते हैं– ''अपने कर्म व ज्ञान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वर्ग व नक्षत्रों में स्थान पाता तथा वहाँ सदैव रहता है। जिसने अच्छे कर्म किये हैं और जो संसार में आना चाहता है, वह राजा, मन्त्री, शासक व धनी पुरुष का जन्म धारण करता है, जिससे वह अपने कर्मों का फल पा सके।'' बाशदाबाद नबी की सम्मति है कि जो दुःख, शोक और रोग राजाओं को अनन्तोपभोग के बीच में सताते हैं वे उनके पूर्वजन्म कृत कुकर्मों का

परिणाम होते हैं।

उपरोक्त लेख पर सासान पंचम टीका करते हैं कि "अशुभ कर्मों का अशुभ और शुभ कर्मों का शुभ फल भोगते हैं क्योंकि यदि ईश्वर कुकर्मों का दण्ड न दें या अपर्याप्त रूप से दे तो वह न्यायकारी नहीं हो सकता।"

मिहावाद से हम फिर उद्धृत करते हैं– 'जो लोग कुकर्मी हैं उन्हें पहले मनुष्य शरीर में ही दुःख दर्द का दण्ड दिया जाता है। उदाहरणार्थ रोग, माता के गर्भ में तथा उससे बाहर पीड़ा, आत्मघात, क्रूर और हानिकारक जीवों द्वारा कष्ट पाना, मृत्यु द्वारा ये जन्म ग़हण करने की तिथि से मरने तक अपने पिछले कर्मों के परिणाम हैं और यही बात वस्तुओं के उपभोग के विषय में सत्य है।

सिंह, चीता, बाघ, बघेरा, भेड़िया तथा समस्त क्रूर जीव जो अन्य पशु, पक्षी, चौपाए और कीड़े-मकोड़े को हानि पहुँचाते हैं, पहले प्रतिष्ठित और उच्च पदस्थ मनुष्य थे और वे पशु।[1]

जिन्हें अब ये मनुष्य मारते हैं उनके मन्त्री, सेवक और सहायक थे। लोग उनकी मन्त्रणा वा सहायता से बुरे कर्म करते तथा अनुपकारी और निरपराध जीवों के लिए दुःखदायी होते थे। अब वे अपने शासक और स्वामी के हाथों से दण्ड पा रहे हैं।

अन्त में ये जानवर जो किसी समय में उच्च पदस्थ थे अब क्रूर पशुओं के रूप में कर्मानुसार किसी दुःख, दर्द या आघात से मरे जाते हैं। यदि फिर भी उनके पापों का कोई अंश रहेगा तो वह अपने सहायकों सहित पुनः जन्म धारण कर दण्ड भोगेंगे।

उपरोक्त लेख पर टीका करते हुए सासान पंचम लिखते हैं– "जब तक पाप की मात्रा समाप्त न हो जायेगी तब तक वह दण्ड भोगते ही रहेंगे, चाहे उसकी पूर्ति एक ही जन्म में हो वा 10 और 100 में अथवा इससे भी अधिक में।"

मिहावाद लिखता है– तुम ज़न्दवार जानवरों को मत मारो, आर्थिक ऐसे जानवरों को नहीं मारते अथवा हानि नहीं पहुँचाते, जैसे घोड़ा, गाय, ऊँट,

---

1. सम्भव है यह व्याख्या कोरी कल्पना प्रतीत होगी। कुछेक संस्कृत पुस्तकों में भी ऐसी ही अथवा इनसे भी अधिक कल्पित व्याख्यान मिलेंगे परन्तु वास्तव में वे पुनर्जन्म सिद्धान्त के आवश्यकीय अंग नहीं है और उनसे इस सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं होना चाहिये जो ईश्वरीय न्याय को युक्त और तात्विक रीति से सिद्ध करता है और संसार में दुःख सुख के विषय विभाग का कारण बतलाता है।

खच्चर, गधा तथा इसी प्रकार के जन्तु। तुम उन्हें निर्जीव मत करो, क्योंकि सर्वज्ञ परमेश्वर ने उनके दण्ड का प्रकार दूसरा नियत कर दिया है और वह उनके पूर्व कर्मों का फल दूसरी रीति से भुगवाता है, जैसे घोड़े से सवारी का काम लिया जाय, और बैल, ऊँट, खच्चर और गधे बोझ ढोने के काम आवें।"

"यदि कोई समझदार मनुष्य जानबूझ कर जन्दावर जानवरों को मारता है और परमेश्वर या राजा से उसके लिये अपने जीवन दण्ड नहीं पाता तो फिर वह दूसरे जन्म में उसका फल भोगता है।"

जन्दावर जानवरों की हत्या करनी उतनी ही बुरी है जैसा कि मूर्ख और निरपराध मनुष्य को मारना।"

(क्योंकि मूर्ख मनुष्यों के समान) जन्दावर भी बोझ ढोने के काम आते हैं, परमेश्वर के कोप से इस दशा को प्राप्त हुये हैं।

यदि तुन्दवार[1] जानवर अर्थात् जो दूसरे जानवरों को मारता अथवा कष्ट पहुँचाता है ज़न्दवार को मारे, तो यह मारे जाने वाले का दण्ड है, जिसका रक्त बहाया गया उसके कार्यों का परिणाम है, जिसके प्राण लिये गये उसके कर्मों का फल है क्योंकि तुन्दवार जानवर दण्ड देने के लिये बनाये गये हैं।"

तुन्दवार जानवरों का मारना उचित और उपयोगी है, क्योंकि वे अपने अन्तिम और पूर्व जीवन में क्रूर तथा घातक (मनुष्य) थे और निरपराध जीवों की हत्या किया करते थे। जो उन्हें मारता है पुण्य कमाता है। मनुष्यों में जो लोग मूर्ख, अज्ञानी और दुराचारी हैं वे अपनी मूर्खता, अज्ञानता और दुराचारिता का दण्ड वनस्पति के रूप में पाते हैं।

वे लोग जिनके आचार-विचार बुरे हैं धातु[2] बनते हैं और जब तक

---

1. युक्ति इस प्रकार है— तुन्दवार जानवर सिंह आदि विचारहीन होने के कारण अपने कर्मों के उत्तरदाता नहीं है। वे परमेश्वर के हाथ में दण्ड देने के अस्त्र के समान है। अतएव यदि तुन्दवार जानवर किसी जानवर को मार दे तो ऐसी कल्पना न करनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य विचारवान् होने के कारण अपने कर्मों का उत्तरदाता है, सो यदि वह ज़न्दवार को मारता है तो पाप करता है। वस्तुतः यह सिद्धान्त वही है जिसकी व्याख्या वैदिक धर्म में की गई है। मनुष्य नीची श्रेणी के जीव 'भोग योनि' कहाते है, अर्थात् वे योनि ऐसी है जिनमें जीवों को बुरे कर्मों का दण्ड दिया जाता है। इसके विपरीत मनुष्य 'कर्म योनि' में है अर्थात् वह न केवल अपने पिछले जन्म के भले बुरे कर्मों का फल भोगता है प्रत्युत्त जो कुछ इस जीवन में करता है उसका भी उत्तरदाता है। यह बात सासान प्रथम के 83 वचन में भी स्पष्टतया वर्णन की गई है।
2. यह विचार कि आत्मा धातु का रूप भी ग्रहण करता है, वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है।

प्रत्येक जीव पापों का दण्ड नहीं मिल जाता कि कोई पाप शेष न रहे तब तक वे धातु बने रहते हैं। फिर क्लेश और अधः पतन सहन करने के पश्चात् पुनः मनुष्य-देह प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त फिर वे उन कर्मों का फल भोगेंगे जिन्हें वे मनुष्य योनि में करेंगे।

पिछले अध्याय में पाँचवें और छठे अंशों में हमने कहा था कि बाइबिल और कुरान ने स्वर्ग और नरक सम्बन्धी अपने विचार ज़िन्दावस्ता से लिये हैं। यह ठीक है परन्तु हमें केवल यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि पारसिया का सातवाँ या सर्वोच्च स्वर्गधाम 'गरत्मान' अर्थात् 'प्रकाशगृह'[1] कहाता है, जिसमें अहुरमज़दा-अमश, स्पन्द तथा पवित्र लोगों की आत्माओं के साथ रहता है। यह बात वैदिक सिद्धान्त में मुक्ति के विषय में घटती है जिसमें जीवात्मा ईश्वर से संयोग करके पूर्णानन्द का उपभोग करता है। ज़रदुस्तियों के शेष दर्जे उस उच्च दशाओं के स्थानापन्न हैं जिनमें होकर मनुष्य की आत्मा मुक्ति तक पहुँचता है और जो नरक के दर्जे कहे गये हैं उनसे उन नीच योनियों की ओर किया गया है जो मनुष्य को आवागमन के चक्र में पड़कर प्राप्त होती हैं। इस बात की पुष्टि दसातीर ने भली-भाँति की है। सासान प्रथम कहते हैं–"आत्मा एक शरीर से दूसरे में जाती है। जो लोग सब प्रकार के बुरे कर्मों से मुक्त होते हैं वे ईश्वर का दर्शन करते हैं। जिनके शुभ कर्म कुछ कम श्रेणी के होते हैं वे स्वर्ग में निवास करते हैं। जो और भी नीची श्रेणी के होते हैं वे एक भौतिक शरीर से दूसरे में जाते हैं।" इस पर सासान पंचम टीका करते हैं–

"जो सबसे प्रथम और उच्च श्रेणी के अच्छे आदमी हैं तथा जो वचन और कर्म से पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं वे प्रकाशमय[2] जगत् को जाते हैं। उनसे दूसरे दर्जे पर वे लोग हैं जिन्होंने भौतिक सम्बन्ध से अपने को मुक्त कर लिया है। ये लोग उस स्वर्ग विशेष को जाते हैं जिससे उन्होंने सम्बन्ध पैदा कर लिया है और वे उससे सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानानन्द को प्राप्त होते हैं। यदि जीवात्मा भौतिक सम्बन्ध से मुक्त नहीं होती और उसकी भलाई या धर्म अधिक होता है तो वह मनुष्य देह से दूसरे में जाता है यहाँ तक कि मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यह चक्र फरगसार कहलाता है, वह नंगसार कहलाता है। कभी-कभी

---

1. वेदों में भी मुक्ति या स्वर्ग को स्वः द्यौ आदि प्रकाश बोधक नामों से पुकारा गया है।
2. इसका वैदिक मुक्ति से सादृश्य जान पड़ता है और पारसियों का गरत्मान नामक यही सातवां आसमान है।

वह वनस्पति में जाता है जिसको तंगसार कहते हैं। कभी-कभी वह धातु बन जाता है और इसको संगसार के नाम से पुकारते हैं। ये ही नरक के दर्जे का विभाग कहाते हैं।" इससे स्पष्ट है कि जरदुस्तियों का नरक स्वर्ग सम्बन्धी विचार जैसा उनके सुप्रसिद्ध पारसी दस्तूरों ने लिखा है भौतिक अर्थों में नहीं समझना चाहिये और वह किसी प्रकार आवागमन के सिद्धान्त के विपरीत नहीं। यहूदी, ईसाई और मुसलमानी मतों में इस शिक्षा का यथार्थ और भी अधिक भुला दिया गया है। वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भूल गये और नरक स्वर्ग आत्मा की दशा में न मानकर स्थान-विशेष के नाम समझे जाने लगे।"

मांस-भोजन-निषेध– आवागमन में विश्वास रखने से स्वभावतः ही पशु जीवन के प्रति प्रतिष्ठा का भाव उत्पन्न होता है जिससे जीवों के प्राण पवित्र माने जाते हैं। इस परिणाम के उदाहरणार्थ हम पिछले अंश में उद्धृत किये हुए "नामामिहावाद के 74 से 77 वचनों की ओर ध्यान दिलाते हैं।" कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वैदिक और पारसी धर्म दोनों ही माँस-भक्षण और रसना के स्वाद के निमित्त निरपराध पशुओं के वध का निषेध करते हैं। इसे हर कोई जानता है कि वैदिक धर्म में माँस खाने की आज्ञा नहीं, पारसी मत की पुस्तकें भी इसका खण्डन करती हैं। पाठकों के ध्यान में यह बात हमारे उद्धृत किए हुए मिहावाद के 71-76 वचनों से पूर्व ही आ गई होगी। आगे चलकर वे लिखते हैं–

"बहुत से विचारवान् बनाए गए हैं तथापि वे बुरे कर्म करते हैं; जैसे वे मनुष्य जो निरपराध पशुओं के वध करके उनके माँस से अपने उदर की पूर्ति करते हैं।"

फिर 'जवांशेर' में एक 'सम्मेलन' की बातें लिखी हैं जिसमें मनुष्य और जानवरों के प्रतिनिधि विवाद के लिये एकत्रित हुए थे। उसमें लोमड़ी ने मनुष्य से इस प्रकार कहा– "जन्तु अन्य जीवों का हनन करने के लिये बाध्य हैं क्योंकि उनका प्राकृत भोजन मांस है। परन्तु मनुष्य को मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। तब वह क्यों उनके जीवन का हरण करता है? तुम इस प्रकार के कार्य करने से पापी बन गए हो अतएव धर्मात्मा और ईश्वर भक्त पुरुष तुमसे बहुत दूर भागते हैं।" मनुष्य का प्रतिनिधि इसका उत्तर देने में असमर्थ रहा।

यद्यपि मांस खाने का निषेध किया गया है, परन्तु यह बात नहीं कि किसी प्रकार जानवर का वध ही न किया जावे। वैदिक और पारसी दोनों धर्म हानिकारक और भयङ्कर जीवों को मारने की आज्ञा देते हैं। (देखों पूर्व के अंश में

उद्‌धृत मिहावाद 80)

गौ की प्रतिष्ठा-- इसमे सन्देह नहीं कि हिन्दू और पारसी दोनों खेतों और गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों में उपयोगी होने के कारण, गाय के प्रति विशेष प्रतिष्ठा का भाव रखते हैं। ज़न्दावस्ता के निम्नलिखित वाक्य की अपेक्षा इस विषय में अधिक स्पष्ट एवं ललित साक्षी और क्या हो सकती है?

"बैल में हमारी आवश्यकता है, बैल में हमारी वाक् शक्ति है, बैल में हमारी विजय है, बैल में हमारा भोजन है, बैल में हमारा कृषि-कर्म है जो हमारे लिये अन्न उपजाता है।"

गौ की पवित्रता के भाव की जड़ पारसी धर्म में वैदिक धर्म से भी अधिक गहरी है, क्योंकि उनके ईश्वरीय ज्ञान और ज़रदुस्ती मिशन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम पादरी एल०ए० मिल्स लिखित यास्त 21 के भावार्थ से उदधृत करते हैं– "गौओं की आत्मा पवित्र ईरानी लोगों के समुदाय की प्रतिनिधिस्वरूप होकर (क्योंकि उत्तम जीविका का एक मात्र साधन गौ ही थी) उच्चस्वर से पुकारती है और संकटापन्न लोगों की महान् आवश्यकताओं को प्रकट करती हुई अत्यन्त करुणापूर्वक अहुर और उनके दिव्य सेवक आशा को सम्बोधित करती है।"*

"हे अहुर और अशा ! तुम्हारे समक्ष गौ (हमारे पवित्र और जनसमूह) की आत्मा पुकारती है –तुमने मुझे किसके लिये पैदा किया था? मेरे ऊपर कोप और क्रूर शक्ति का आक्रमण होता है, मृत्यु का आघात पहुँचाया जाता है। ढीठ, दुष्ट और चोरों की शक्ति का आक्रमण किया जाता है। आपके अतिरिक्त मेरे पास दूसरा चारा नहीं। अतएव आप मुझे खेतों में अच्छी कृषि करना सिखाओ, मेरे भले की केवल यही आशा है।"

इस अवसर पर जरदुश्त भी आकर गौ की आत्मा के साथ उनके विनती तथा प्रार्थना में सम्मिलित हो जाते हैं। तब बहुर इनको ऋषि स्मृतिकार के पवित्र पथ पर प्रतिष्ठित करता है।

इस बात को दर्शाने के लिए कि पारसी लोग गौ के कितने भक्त हैं, यह लिखना आवश्यक है कि गौमूत्र जो जन्दाअवस्ता में गोमेज़ (सं० गोमेह) कहलाता है, उनके संस्कार और कृत्यों में लाया जाता है। डॉक्टर हॉग इसके सम्बन्ध से बरशनोम नामक संस्कार का वर्णन करते हैं जो नौ रात्रि तक होता है और

---

* देखो जन्दावस्ता भाग 3 पृ० 3.

जिसमें संस्कार करने वाला गौ-मूत्र पीता है। वे आगे लिखते हैं– "यह प्रथा बहुत पुराने समय से चली आई है जब कि प्राचीन आर्य गौ-मूत्र में रोग दूर करने और शुद्ध करने के गुण मानते थे।"

हिन्दुओं के संस्कारों में पंचगव्य और गौमूत्र के उपयोग का वर्णन करते हुए डॉक्टर हॉग लिखते हैं– यह प्रथा बहुत ही पुराने समय से चली आई है जब कि गौ-मूत्र सारे शारीरिक रोगों के लिये एक बड़ी प्रभावशाली औषधि समझा जाता था। युरोप के देशों में भी हमारे समय तक किसानों के वैद्य गौमूत्र और गोबर जैसी औषधियों का प्रयोग करते आये हैं।[1]

यज्ञ क्रिया– ज्ञान काण्ड वा धार्मिक सिद्धान्तों से अब हम यज्ञ-कृत्यों की ओर आते हैं। इस विषय में पारसी या वैदिक धर्म के मध्य जो समानता पाई जाती है, वह बहुत ही आश्चर्यजनक है।

वैदिक कर्मकाण्ड में अग्निहोत्र की अधिक प्रधानता है वह आर्यों के पंच नित्यकर्मों में से एक कर्म है। मनुष्य को जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त जो 16 संस्कार करने पड़ते हैं, प्रत्येक में उसका विधान किया गया है। हम यह बात भी बता चुके हैं कि पारसी लोग इस कृत्य को करने में कितने नियमित है, यहाँ तक कि उनका नाम ही अग्निपूजक हो गया।

दोनों धर्मों के कृत्यों की समानता उन नामों में भी पाई जाती है जो उनके लिए व्यवहृत होते हैं! हम डॉक्टर हॉग का लेख उद्धृत करते हैं– "वेद और ज़िन्दावस्ता को पढ़ने वाले लोगों को आरम्भ ही में ज्ञात होगा कि पुरोहिताई के कृत्यों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से शब्द एक ही हैं। जन्दावस्ता में पुरोहित के लिये अथर्व शब्द आता है जिसका मिलान वेदों में अथर्वण से किया जा सकता है। इसके अर्थ अग्नि और सोम पुरोहित के हैं। वैदिक शब्द इष्टि और आहुति की पहचान जन्दावस्ता के इश्ति और आहुति से होती है। दोनों धर्मों में वे मुख्य-मुख्य नाम एक ही हैं जो किसी बड़े यज्ञ का सम्पादन करते समय कतिपय पुरोहितों को दिये जाते हैं। ऋग्वेद का उच्चारण करने वाले 'होता' और 'जोता' पुरोहित एक ही बात है। अध्वर्य्यु अथवा प्रबन्धकर्त्ता पुरोहित जो होता के लिये सब सामग्री संचित करता है यह रथ्वी है जो अब रस्मी कहाता है यह अब प्रधान पुरोहित या जोता का एक सेवकमात्र होता है।"[2]

यस्न शब्द संस्कृत 'यज्ञ' शब्द से पूर्ण मिलता है।[3]

---

1. देखो Haug's Essays. P. 241. 252. 295.
2. Haug's Essays. P. 280
3. Ibid. P. 130

समानता की इतिश्री यही नहीं हो जाती। डॉक्टर हॉग साहब पारसी और इस देश के प्राचीन आर्यों में बहुत मुख्य-मुख्य यज्ञों में सादृश्य दिखाते हैं।

"ज्योतिष्टोम वा इजश्ने" यज्ञ में सोमलता के रस की आहुति देना सबसे अधिक महत्त्व की बात है। दोनों के यज्ञों में इस पौधे की डालियाँ प्राकृतिक रूप से उस पवित्र स्थान पर लाई जाती हैं जहाँ यज्ञ होता है और वहाँ प्रार्थना पढ़ते हुए उसका रस निचोड़ा जाता है। रस निकालने की विधि तथा उसके लिये जो पात्र व्यवहृत होते हैं उनमें कुछ भेद है परन्तु यदि अधिक अन्वेषणा की जावे तो इन दोनों में भी वास्तविक समता पाई जाती है।"

"दर्शपौर्णिमा इष्टि" (अमावस्या और पूर्णमास का यज्ञ पारसियों के दारुन (Darun) से मिलता हुआ मालूम होता है। दोनों बहुत साधारण हैं। ब्राह्मण लोग यज्ञ में विशेषतः पुरोडास ही उपयोग करते हैं और पारसी लोग 'पवित्र रोटियाँ' (दारून) का जो पुरोडास से मिलती हुई है।

"चातुर्मास्येष्टि यज्ञ" जो चार मास अथवा दो ऋतुओं के पश्चात् किया जाता है, पारसियों के 'गहन बार' से मिलता है जो वर्ष में छः बार होता है।[1]

बहुत से विद्वानों का कथन है कि वेद में पशु-वध की आज्ञा है, यहाँ तक कि यज्ञ के लिये गौवध तक का विधान है। यह प्रश्न इतना विवादास्पद है कि उसकी इस पुस्तक में विवेचना नहीं की जा सकती, तथापि हम वैदिक यज्ञ गोमेध के सम्बन्ध में जिसके अर्थ गोवध के लगाये जाते हैं– कुछ कहना उचित समझते हैं। हम उस यज्ञ को जिन्दावस्ता में भी पाते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने सत्यार्थप्रकाश[2] में बतलाते हैं कि संस्कृत भाषा के 'गो' शब्द के अर्थ केवल गाय के ही नहीं प्रत्युत पृथ्वी और इन्द्रियों के भी हैं। गोमेध का आधिभौतिक अर्थ इन्द्रिय-दमन हैं कुछ लोग इस व्याख्या का उपहास करते हुए उसे अर्थ की खींचतान बताते हैं। वे यहाँ तक कह डालते हैं कि वेद के इस प्रकार अर्थ लगाना अन्याय है। हमें देखना चाहिये कि डॉक्टर हॉग जैसे प्रामाणिक और विश्वस्त पुरुष पारसियों के विषय में क्या सम्मति देते हैं।

"गीश उर्व" का अर्थ पृथ्वी की सार्वभौमिक आत्मा है जो सब प्रकार के जीवन और वृद्धियों का कारण है शब्द का अक्षरार्थ 'गौ की आत्मा' है। यहाँ उपमालङ्कार है क्योंकि पृथ्वी की तुलना की गई है। उसको काटने और

---

1. Haug's Essays, P. 215
2. देखो सत्यार्थ प्रकाश, 11 समुल्लास, पृ० 305

बाँटने से पृथ्वी में हल लगाने का अर्थ लिया जाता है। अहुरमज़दा और स्वर्गीय सभा ने जो आदेश दिया है उसका मतलब यह है कि धरती को जोतना चाहिये। अतएव वह खेती के काम को धार्मिक बतलाता है।''

हम पाठकों का ध्यान उपरिलिखित वाक्य की ओर विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। क्या वह वही बात नहीं जो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक 'गोमेध' के विषय में कही है?

एक पाद-टिप्पणी डॉक्टर हॉग लिखते हैं कि संस्कृत में गौ के दो अर्थ हैं– गाय और धरती। यूनानी शब्द Ge (जो Geography जुगराफिये शब्द में मौजूद हैं) और पृथ्वी के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसी शब्द (गौ) का रूपान्तर है। यह बड़े महत्त्व की बात है कि संस्कृत और जन्द दोनों भाषाओं में 'गो' शब्द के गाय और धरती दो अर्थ होते हैं। दशवें अंश में ज़रदुश्त के ईश्वर की ओर से भेजे जाने के सम्बन्ध में हम पारसियों की प्राचीन कथा का उल्लेख कर चुके हैं। गाय की आत्मा ने (या डॉक्टर हॉग की व्याख्यानुसार पृथ्वी की आत्मा ने) मनुष्यों के अत्याचार से दुःखित होकर अपने कातर शब्द को स्वर्ग तक किस प्रकार पहुँचाया और किस प्रकार अहुरमज़दा ने उसे सुनकर ज़रदुस्त को अपनी ओर से दूत नबी और मनुष्यों के लिये उपदेशक नियुक्त किया। पाठकगण ! इसकी तुलना भगवत् की उस कथा से करना चाहेंगे कि कलियुग के आरम्भ में पृथ्वी गाय का रूप धारण कर किस प्रकार विष्णु भगवान् के समीप गई और उनसे दया के लिये विनती की और किस प्रकार विष्णु ने मनुष्य-देह धारण कर मर्त्य लोक में आ उसके दुःख दूर करने की प्रतीज्ञा की। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों कथाओं में से ज़न्दावस्ता की कथा पुरानी है। परन्तु हम जो बात पाठकों के हृदय पर अङ्कित करना चाहते हैं वह यह है कि संस्कृत और ज़न्द दोनों भाषाओं में गाय और पृथ्वी दोनों का 'गो' नाम होने से केवल भाषा विषयक सम्बन्ध ही नहीं प्रत्युत विचार का भी सम्बन्ध है। इन दोनों की संयोजक-शृङ्खला निश्चय ही कृषि कर्म है, जिसके लिये भूमि और गाय दोनों ही आवश्यक हैं। पाठकों को गौ की आत्मा की उस अन्तिम प्रार्थना का स्मरण होगा जो उसने अहुरमज़दा से की थी– ''इसलिये तुम मुझे खेतों को अच्छी तरह जोतना सिखाओ जो मेरी भलाई की एकमात्र आशा है।'' डॉक्टर हॉग लिखते हैं पारसी धर्म खेती को धार्मिक कृत्य बतलाता है। यदि पाठकगण वेदों की ओर आवें तो देखेंगे कि उनमें भी कृषि-कर्म को ऐसा ही पवित्र मानने की शिक्षा दी गई है।[1]

---

1. जो पाठक देखना चाहें ऋग्वेद मं० 10 सूक्त 101 मन्त्र 3 से 6 तक देख सकते है।

पाश्चात्य विद्वानों के लिये इसमें कोई अचरज की बात नहीं हैं क्योंकि उनके मतानुसार 'आर्य' शब्द ही जिससे पारसी और हिन्दू दोनों के पुरखे अपने को पुकारते थे (Earth) (अर्थात् पृथ्वी) शब्द से सम्बन्ध रखता है, वे सभ्य होने के कारण खेती करते थे और खेती पर ही उनकी जीविका निर्भर थी, जबकि प्राचीन काल की दूसरी जातियाँ साधारणतया असभ्य होने के कारण गृह-हीन दशा में फिरती थीं। जिनकी जीविका विशेषकर शिकार से होती थी।

हिन्दुओं की गाय के लिये प्रतिष्ठा प्रसिद्ध है। यह भी निश्चित है कि प्राचीन काल के पारसी लोग भी उसका बहुत आदर करते थे तो फिर क्या यह कहना अयुक्त नहीं कि गोमेध का अर्थ गो वध है जबकि भाषा और भाव दोनों का समुचित विचार रखते हुये उसका अर्थ हम धरती का जोतना कर सकते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जहाँ पश्चिमी विद्वान्, डॉक्टर हॉग कृत उपर्युक्त पारसी यज्ञ की व्याख्या के विरुद्ध कुछ नहीं कहते वहाँ वैसे ही यज्ञ की तद्रूप व्याख्या करने के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती का उपहास करने वाले लोगों की कमी नहीं है।

कुछ छोटी समानताएं– अब हम दोनों धर्मों की कुछ छोटी-छोटी समानताएँ दिखाते हैं– (क) वैदिक और जरदुश्ती दोनों ही फिलासफ़ियों में कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं, अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक। यजुर्वेद के ब्राह्मण से हम नीचे एक वचन देते हैं–

यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति यद् वाचा,
वदति तत् कर्मणा करोति।

(क) "मनुष्य जो विचार करता है वही वाणी से कहता है।" जो वाणी से कहता है वही कर्म से करता है।[1]

अब हम ऋग्वेद के कुछ मन्त्र उद्धृत करते हैं :

सना च सोम जेषि च पवमान महिश्रवः। अथा नो वस्यसस्कृधि।।
सना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा च सोम सौभगा। अथा नो वस्यास्कृधि।।
सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि। अथानो वस्यसस्कृधि।।

ऋग्वेद 9.4-1-3

1. इसी प्रकार मनु जी ने भी कर्मों का विभाग मानस, वाचिक और कायिक तीन प्रकार का किया है। देखो मनु० अ०12.3-9.

हे पवित्र सोम ! तू बड़ा पुष्टिकारक भोजन है। हमें कृपया (नीचे लिखी) वस्तुएँ प्रदान कर। हमें विजयी और हर्षित कर।

हे सोम ! हमें प्रकाश (देदीप्यमान बुद्धि) दो। हमें आनन्द दो, हमें समस्त उत्तम वस्तुएँ दो और हर्षित करो।

हे सोम ! हमें बल, बुद्धि दो, हमारे शत्रुओं को दूर भगाओ और हमें हर्षित करो।

कुछेक पाश्चात्य विद्वान् जो यह सिद्ध करने की चिन्ता में रहते हैं कि आर्य लोग मांस-मदिरा के सेवन से घृणा नहीं करते थे, सोम को एक मादक पौधा और उसके रस को एक प्रकार का मादक द्रव्य बताते हैं। वेद और ज़न्दावस्ता दोनों में सोम या होम के नाम से जो कुछ कहा गया है, उससे ऊपर लिखा विचार मिथ्या हो जाता है। जन्दावस्ता के विद्वान् अनुवादक डारमेस्टेटर ने ठीक लिखा है कि– "सोम या होम के अन्तर्गत समस्त प्रकार की वनस्पतियों की जीवन-शक्ति समावेशित है।[1] जन्दावस्ता में होम को "औषधियों का राजा" कहा गया है और यही नाम उसके लिये वेदों में प्रयुक्त हुआ है।[2]

अब इसमें कोई शंका नहीं रही कि सोम आयुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाली बूटी का नाम है। प्रोफेसर मैक्समूलर के कथानुसार यह सम्भव है कि सोम भारतवर्ष में न होकर उत्तर दिशा के किसी अज्ञात देश में पैदा होता हो। उसकी पहचान भूल जाने तथा अनभिज्ञता के कारण और असली रूप छिप जाने से कालचक्र ने उसके चारों और पवित्रता का मण्डल लगा दिया है। ज़न्दावस्ता में उसे अमरत्व देने वाली कहा गया और जब ज़रदुस्तियों ने पुनरुत्थान स्थिर किया तो इसी होम या सोम के द्वारा मृतकों में जीवन डालो ज़रदुश्त की फिलासफ़ी के विषय में डॉक्टर हॉग लिखते हैं, कि– "उसके फिलासफ़ी सम्बन्धी विचार मन, वचन और कर्म के त्रिकोण में घूमते थे।"[3]

वे फिर लिखते हैं–

"हुमतम् (अच्छी तरह सोचा हुआ) हुख्तम्[4] (अच्छी तरह से कहा हुआ) हूश्तम् (अच्छी तरह किया हुआ)" ये सब जरदुश्ती सदाचार के मूल सिद्धान्त है,

---

1. जन्दावस्ता भाग 1 भूमिका पृ० 69.
2. देखो ऋग्वेद 10.17.18-22.
3. देखो Haug's Essays. P. 300
4. हुमतम – (संस्कृत) सुमतम्, हुख्तम – (संस्कृत) सूक्तम्, हूश्तम – (संस्कृत) सुकृतम्

और बारम्बार[1] उनका अनेक स्थान पर वर्णन आता है।" यहाँ ज़न्दावस्ता के एक दो वचन उद्धृत करके इस बात को लिखते हैं–

"अच्छा सोचा हुआ, अच्छा कहा हुआ और अच्छा किया हुआ इन शब्दों द्वारा।"[2]

"अच्छा सोचा हुआ क्या है? शुद्ध मन (विचार)। अच्छी तरह कहा हुआ क्या है? उत्तम वचन। अच्छी तरह किया हुआ क्या है? जिसे उच्च कोटि के पवित्र आदमी करते है।"[3]

(ख) वेद पढ़ने वालों ने सोमलता का नाम अवश्य सुना होगा। इस लता का वेदों तथा प्राचीन वैदिक साहित्य में बहुत कुछ माहात्म्य वर्णन किया गया है। यह निश्चित नहीं कि सोम औषधि सम्बन्धी जड़ी बूटियों के समुदाय का बोध कराने वाली संज्ञा है, अथवा किसी बूटी विशेष का नाम है यदि पिछली बात ठीक मानी जाय तो इस प्रकार की बूटी का अब तक पता नहीं लगा और न वर्तमान बूटियों में से ही किसी का नाम है। प्रो० मैक्समूलर 25 अक्टूबर सन् 1884 के Academy पत्र में लिखते हैं–

"धर्म सम्बन्धी कृत्यों की प्राचीनतम पुस्तकों अर्थात् सूत्र तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से यह बात मानी गई है कि असली सोम का मिलना बहुत कठिन है और उसके स्थान में अन्य वस्तु काम में लाई जा सकती है। यह लिखा है कि जब वह मिल सकती थी तब जंगली लोग उसे उत्तराखण्ड से लाया करते थे। उस समय भी वह विशेष प्रयत्न करने पर ही मिल सकती थी।"[4]

वे फिर लिखते हैं कि– "रूसी और अंग्रेजी दूत निरपेक्ष भूप्रतिबंधों के उत्तरी देशों में बड़ा उपयोगी काम करेंगे, यदि वे अपने भ्रमण में सोमलता के सदृश पौधों को खोजते रहें।" प्रोफेसर साहब अन्त में लिखते हैं कि "जिस स्थान में उपयुक्त पौधा अपने आप उगता पाया जायेगा उसको आर्य जाति अथवा कम से कम उन लोगों के पुरुखाओं का निर्भयता-पूर्वक उत्पत्ति स्थान बताया जा सकेगा जो दक्षिण में आकर संस्कृत या ज़न्द भाषा बोलते थे।"[5]

---

1. ऐसे ही संस्कृत में मनसा वाचा कर्मणा शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर आता है।
2. यास्न 19.16.17
3. यास्त्र 19.19
4. देखो Zoroastrianism in the light of Theosophy. पृ० 18-19 में पवित्र होम (सोम) लता' नसरवार जी एफ. बेलमोरिया लिखित व्याख्यान।
5. देखो पृष्ठ A का फुट-नोट।

असली सोमलता चाहे जो हो परन्तु हमारा उद्देश्य यहाँ यह सिद्ध करना है कि ज़न्दावस्ता में होम[1] की सोम के समान ही प्रशंसा की गई है।

अब हम ज़न्दावस्ता के कुछ वचन उद्धृत करके यह दिखावेंगे कि जो भाव ज़न्दावस्ता में प्रकट किये गये हैं वे सोमलता सम्बन्धी वैदिक वर्णन से बहुत समानता रखते हैं।

"हे होम ! मैं तुझसे जो मृत्यु को दूर मार भगाता है यह दूसरा आशीर्वाद माँगता हूँ अर्थात् शरीर का नीरोग होना (उस आनन्दमय जीवन को प्राप्त करने के पूर्व), हे होम ! तू मृत्यु को दूर भगाता है अतएव मैं तुझसे तीसरा आशीर्वाद अर्थात् दीर्घ जीवन चाहता हूँ।"[2]

"हे पीतवर्ण होम, मैं तुझ में अपने वचनों से ज्ञान, सामर्थ्य, विजय, स्वास्थ्य, आरोग्य, उन्नति, वृद्धि, सारे शरीर का तेज और प्रत्येक प्रकार के विषय को समझने की बुद्धि स्थापित करता हूँ। मैं तुझ में (अपने वचन से) वह शक्ति स्थापित करता हूँ जिसके द्वारा मैं संसार भर में स्वेच्छापूर्वक विचार सकूँ, दुखों की समाप्ति करता हुआ और अच्छे विश्व के शत्रुओं की नाशकारिणी शक्ति को नष्ट करता हुआ।"[3] संचार किया गया। फिर इसी सोम के दो भेद पहला सफेद होम और दूसरा दुःख रहित पौधा है, जिनका बाइबिल में ज्ञानतरु और जीवनतरु रूप से वर्णन है और जिनकी बाइबिल के स्वर्ग में कल्पना की जाती है। पिछले अध्याय के आठवें अंश में इस विषय पर हम डॉ० स्पीगल की सम्मति उद्धृत कर चुके है और प्रोफ़ेसर मैक्समूलर के वचन उद्धृत कर के यह दिखला चुके हैं कि वे भी सोम वा होम और बाइबिल के जीवन-तरु में समानता को स्वीकार करते हैं। अब हम मैडम ब्लैवस्तकी की सम्मति उद्धृत करते है–'सामान्य शब्दों में सोम ज्ञान वृक्ष के फल का नाम है। ईर्षालु एलोहिम के आदम, हव्वा अथवा यहुवी से इन्हीं को न खाने के लिये कहा था, क्योंकि 'कहीं ऐसा न हो कि आदमी उनके समान हो जाय।'
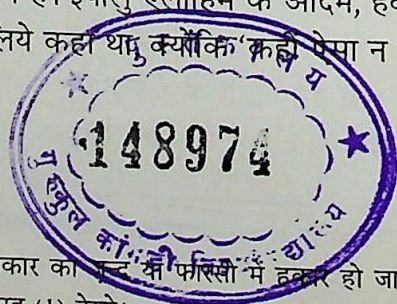
1. जैसा हम पहले लिख चुके है संस्कृत सकार का [illegible] फारसी में हकार हो जाता है, इसी अध्याय के अंश एक में शब्द समूह (1) देखो।
2. होम यश्त-याश्न 9.
3. होम यश्त० 17

नाम	:	डॉ. जयदेव वेदालंकार
पिता का नाम	:	श्री जुगलाल
जन्मस्थान	:	झड़ौदा कलाँ, नई दिल्ली-४३
जन्म तिथी	:	०५-१२-१६४१ ईस्वी
शिक्षा	:	वेदालंकार (बी.ए.) एम.ए., गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पी.एच.डी.	:	मेरठ विश्वविद्यालय डी.लिट् - राँची विश्वविद्यालय, बिहार
ग्रन्थ	:	वैदिक दर्शन, भारतीय दर्शन की समस्यायें, उपनिषदों का तत्त्वज्ञान भारतीय दर्शन में प्रमाण, वैदिक साहित्य का इतिहास, भारतीय दर्शन तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय, भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (वैदिक दर्शन, सांख्य और योग), द्वितीय भाग (न्याय दर्शन), तृतीय भाग (वैशेषिक), चतुर्थ भाग (मीमांसा वेदान्त, गीता जैन और बौहर चार्वाक),पञ्चम भाग (धर्मसमाज आयुर्वेद राजनीतिदर्शन और विज्ञान)

१. वेदरत्न पुरस्कार श्री गुरुगंजशरानन्द बंग्लौर कर्नाटक २००३
२. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार १६८७
३. आर्यसाहित्य पुरस्कार शान्ताक्रूज, मुम्बई-१६६८
४. विशेष पुरस्कार उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी